जनवरी-फरवरी 1999 : मूल्य : 40 रु

कथादेश

साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक

उर्दू कहानी विशेषांक

इस्मत चुग़ताई, गुलामुस्सकलेन नक़वी, गुलाम अब्बास, अहमद नदीम क़ासमी, अशफ़ाक़ अहमद, मुमताज़ मुफ़्ती, इंतज़ार हुसैन, क़ुर्रतुल ऐन हैदर, खालिदा हुसैन, जोगिन्दर पाल, ग़यास अहमद गद्दी, सुरेन्द्र प्रकाश, रशीद अमजद, रामलाल, बलराज मैनरा, क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार, रतन सिंह, जीलानी बानो, इक़बाल मजीद, फहीम आजमी, सायरा हाशमी, नैयर मसऊद, अहमद हमेश, गुलज़ार, सलाम बिन रज़ाक़, शौकत हयात, हसन मंज़र, सैयद मोहम्मद अशरफ़, साजिद रशीद, ज़ाहिदा हिना, ज़ाबिर हुसैन, अनवर खान, अनवर क़मर, मुहम्मद मंशा याद, तारिक छतारी, शमोएल अहमद, ग़ज़नफर, सलीम आगा कजलवास, हुसैन उल हक़, आसिफ़ फ़र्रुखी, अली इमाम नक़वी, मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी, कृश्न चन्दर, सआदत हसन मंटो, राजेन्द्र सिंह बेदी, इस्मत

गुलामुस्सकलेन नक़वी, गुलाम अब्बास, अहमद नदीम क़ासमी, अशफ़ाक़ अहमद, मुमताज़ मुफ़्ती, इंतज़ार हुसैन, क़ुर्रतुल ऐन हैदर, खालिदा हुसैन, जोगिन्दर पाल, ग़यास अहमद गद्दी, सुरेन्द्र प्रकाश, रशीद अमजद, रामलाल, बलराज मैनरा, क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार, रतन सिंह, जीलानी बानो, इक़बाल मजीद, फहीम आजमी, सायरा हाशमी, नैयर मसऊद, अहमद हमेश, गुलज़ार, सलाम बिन रज़ाक़, शौकत हयात, हसन मंज़र, सैयद मोहम्मद अशरफ़, साजिद रशीद, ज़ाहिदा हिना, ज़ाबिर हुसैन, अनवर खान, अनवर क़मर, मुहम्मद मंशा याद, तारिक छतारी, शमोएल अहमद, ग़ज़नफर, सलीम आगा कजलवास, हुसैन उल हक़, आसिफ़ फ़र्रुखी, अली इमाम नक़वी, मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी, कृश्न चन्दर, सआदत हसन मंटो, राजेन्द्र सिंह बेदी

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान से पिछले पचास सालों की 45 श्रेष्ठ उर्दू कहानियाँ

साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक

कथादेश

वर्ष : 18 अंक : 10-11 जनवरी-फरवरी 1999

कहानियाँ

लघुकथाएँ

संगोष्ठी/आलेख

कला

इस अंक के समस्त चित्र आवरण सहित : अफ़ज़ल

सम्पादक
हरिनारायण

उप सम्पादक
रवीन्द्र पांडेय
लक्ष्मीप्रसाद पन्त

प्रचार-प्रसार
निहारिका/पी. कुमार

इस अंक के अतिथि सम्पादक
डॉ. अतीक़ुल्लाह
मार्ग निर्देशन
जोगिन्दर पाल

सम्पादकीय कार्यालय
सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि.
1009 इंद्रप्रकाश बिल्डिंग
21, बाराखम्भा रोड,
नयी दिल्ली-110001
फोन : 3717743, 3717738

व्यवस्था कार्यालय
सी-52/जेड-3, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095 फोन : 2270252

शाखा कार्यालय
नरेन्द्र मौर्य
1-बी/7 सिविल लाइन
प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

यह अंक : 40/-
मूल्य एक प्रति : 15/-
मूल्य वार्षिक : 150/-
मूल्य वार्षिक (संस्था तथा लाइब्रेरी) : 200/-
आजीवन सदस्यता (व्यक्तिगत) : 1500/-
आजीवन सदस्यता (संस्था) : 2000/-
वार्षिक मूल्य (विदेश) : 40 डॉलर

सारे भुगतान चैक या बैंक ड्राफ्ट **सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि.** के नाम से किये जायें

कथादेश और सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि. से सम्बन्धित सभी विवाद केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन ही होंगे.

मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक हरिनारायण द्वारा सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., 1009 इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, 21 बाराखम्भा रोड, नयी दिल्ली-110001 के लिए नवप्रभात प्रिंटिंग प्रेस, गली नं. 2, बलवीर नगर, शाहदरा-32 से मुद्रित.

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, ईस्ट ज्योति नगर, शाहदरा, दिल्ली-93

'कथादेश' की अपनी अलग जगह

मैंने कथादेश के अक्टूबर 98 अंक को देखा. स्वयं प्रकाश जी का लेख समझने में अच्छा है लेकिन पता नहीं चल पाता कि आखिर लेखक कहना क्या चाहता है तथा अपने अनुभव और अनुभूति में वो किसे महत्त्वपूर्ण मानता है, यह भी स्पष्ट नहीं होता. 'मानुष गन्ध' सूर्यबाला जी की अच्छी कहानी है उसके लिए धन्यवाद. मुझे सम्पादकीय की कमी खटकती है. यदि आप सम्पादकीय नहीं देंगे तो आपके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति नहीं होगी जो कि अच्छा चिह्न नहीं है.

आपकी पत्रिका का महत्त्व अपनी जगह अलग है इसलिए आप तथा आपके पाठक प्रतीत होता है कि 'हंस' से या तो डरे हुए हैं या डरना चाहते हैं. मैं हंस भी नियमित पढ़ता हूँ तथा आपकी पत्रिका भी मुझे अच्छी लगी इसलिए पत्र लिख रहा हूँ. उम्मीद करता हूँ कि आगामी अंक और भी ज्यादा अच्छे तथा पठनीय होंगे

• **पीयूष रंजन सक्सेना, मेरठ शहर**

बर्फीली सिहरन

आपकी स्वनाम-धन्य पत्रिका हम सबकी धरोहर बनती जा रही है. पता नहीं क्यूँ अब तक दूर रहा. हालाँकि पत्रिका के बारे में पिछली दिसम्बर को ही सत्यनारायण जी से पता चल गया था कि उनका एक स्थायी स्तम्भ निकलने वाला है जनवरी से. सितम्बर' 98 का एक-एक पन्ना कीमती है. 'जितेन्द्र भाटिया का आत्मकथ्य' उनकी कहानियों की तरह बुना गया आत्मीय व रचनात्मक संघर्षों को रेखांकित करता है. सारे स्थायी स्तम्भ अति उत्तम. सत्यनारायण जी की डायरी का कोना मेरे अन्दर-शिराओं में सहमता सा गुजर जाता है. ठंड भरी हवा की बर्फीली सिहरन और उन तमाम बहिष्कृत-तिरष्कृत के प्रति भाव-बोध सोचने को मजबूर कर देता है. कहानियाँ एक से बढ़कर एक. लक्ष्मेन्द्र चोपड़ा-कनेरू के माध्यम से बढ़ती यांत्रिकता और सहजता का क्षरण, स्वाभाविकतया उन मूल्यों को प्रतिबन्धित करता हुआ कठघरे में ला खड़ा करता है. हम सुधारते-सुधारते पूरी ललक को ही हजम कर जाते हैं. सहज तरीके से बुनी गयी उत्कृष्ट शिल्प सृष्टि लक्ष्मेंद्र जी की विशेषता है यही लक्ष्य 'पहल' में प्रकाशित 'लालटेन' देखकर भी किया जा सकता है.

• **आशीष सिंह, लखनऊ**

किसे उन्नीस कहूँ ?

अक्टूबर '98 अंक का आवरण ही नहीं अन्तर्वस्तु भी प्रभावी बन पड़ी है. अरुण कमलजी एवं प्रताप राव कदम की कविताएँ पढ़कर दिल बाग-बाग हो उठा. संवेदना एवं विचार का अद्भुत संयोजन हुआ है इन कविताओं में. दोनों कवियों को शुभकामनाएँ.

भाई स्वयंप्रकाश जी ने बड़ी तीखी एवं बेबाक टिप्पणी की है अपने समय की पड़ताल करते हुए.

अब कहानियाँ...किसे उन्नीस कहूँ किसे बीस ? सभी कहानियाँ रोचक एवं प्रभावी हैं. फिर भी उत्कृष्टता की पड़ताल करते हुए मुझे जो तीन कहानियाँ सर्वोत्कृष्ट लगी हैं क्रमशः श्री राम त्रिपाठी की 'मुक्ति मार्ग', सुनील सिंह की 'कैपिटल रिपेयर' एवं सूर्यबालाजी की 'मानुष गन्ध'. लूशुन के अलावा राकेश प्रवीर एवं धनंजय श्रीवास्तव की लघुकथाएँ भी अच्छी लगी. देवेन्द्र इस्सर जी का आलेख एवं प्रेम जनमेय जी का व्यंग्य भी काबिले तारीफ है. व्यंग्य देकर आपने मेरी आकांक्षा पूरी की है. एतदर्थ साधुवाद !

टिप्पणी, अप्रासंगिक, विवाद कागद की लेखी, समीक्षाएँ स्तम्भ स्तरीय हैं.

'सत्या' फिल्म पर विष्णु खरे जी ने अच्छी टिप्पणी की है. यायावर की डायरी के क्या कहने ! मैं तो इस स्तम्भ को पढ़कर सत्यनारायण जी का मुरीद बन गया हूँ.

शिवप्रसाद सिंह का अवसान एक बड़ी दुर्घटना है साहित्य जगत के लिए....और अब बाबा नागार्जुन भी चले गये...यह लगातार आघात सहने का दौर है साहित्यकारों के लिए ? कैसी विडम्बना है ? हमारी श्रद्धांजलि.

• **रमण कुमार सिंह, सुपौल !**

लाजवाब एवं असरदार

अक्तूबर अंक पढ़ चुका हूँ. सुनील सिंह की 'कैपिटल रिपेयर' तथा अवधेश कुमार की 'मुठभेड़' लाजवाब एवं असरकारक हैं. पत्रिका बेहतर से बेहतरतम होती जा रही है.

• **विष्णु प्रसाद मेहता, बांसवाड़ा**

समकालीन सत्य की परख

'कथादेश' का अक्टूबर '98 का अंक मिला. अध्ययनोपरान्त लगा कि यह अंक अपने विविध पक्षीय आलेखों के माध्यम से समकालीन समाज में घटनेवाले घटनाचक्रों की स्थितियों के सत्य की परख या जाँच-पड़ताल कर रहा है. 'मानुष गंध' एवं 'मुठभेड़' इन्हीं परतों को खोलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं. 'खौफ' कहानी तो इन्हीं भ्रमजालों से उबरकर सत्य की मंजिल पर खौफ खाकर बेहौस की स्थिति तक पहुँचती है. स्वयं प्रकाश जी का संस्मरण न जाने कितने परतों को उघारता हुआ लगता है जो असत्य के अंधकार में ढके थे. साथ ही समय के सत्य को मुखरित करता है. इस्सर जी ने पाकिस्तानी संस्कृति के बयान में

इस्लामीकरण के दोषों का सुंदर खुलासा किया है. अरुण जी की कविताएँ सामयिक एवं सरल हैं. अनुवाद के विवाद पर उदयजी एवं विनीत तिवारी का दृष्टिकोण सही लगता है. प्रेम जनमेजय जी का व्यंग्य काफी सार्थक एवं समीचीन है. शेष सभी स्तम्भ प्रशंसनीय हैं.

● डॉ. प्रहलाद प्रसाद शर्मा, शहडोल

शीर्षक को समर्थन करता आलेख

'कथादेश' का ताजा अंक अभी पूरा नहीं पढ़ा, पर जो पढ़ा उसमें 'मैं और मेरा समय' काफी समय बाद शीर्षक को सार्थक करने वाला है. स्वयंप्रकाश यों ही नहीं माने जाते दृष्टि सम्पन्न कथाकार. वाकई बहुत धारदार और झिंझोड़ने वाला है इस बार यह स्तम्भ. छोटी कहानियाँ और अरुण कमल की कविताएँ भी अच्छी हैं. मध्यस्थता करते हुए उदय प्रकाश सन्तुलित हैं. कुल मिलाकर 'कथादेश' दिनों दिन एक जरूरी पत्रिका बन रही है.

● रघुनन्दन त्रिवेदी, जोधपुर

जीवन और जगत् दोनों की सच्चाई

'कथादेश' का अक्टूबर '98 अंक लगभग पूरा पढ़ डाला. इतना बेहतरीन संयोजन एवं रचनाओं का चयन कुशल सम्पादक का ही हो सकता है. 'मैं और मेरा समय' में स्वयं प्रकाश जी ने जीवन और जगत् दोनों की सच्चाई को उड़ेल दिया है. इस पर हर लेखक को चिन्तन करना चाहिए. कहानियों में 'मानुष गन्ध' अच्छी लगी. अरुण कमल और प्रताप राव कदम की कविताएँ भी अच्छी लगीं. देवेन्द्र इस्सर का लेख सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत करता है. आज पाकिस्तानियों के सामने संस्कृति की समस्या एक महत्त्वपूर्ण पहलू है. सोच त्रिशंकु की तरह लटक रही है. अन्ततः क्यों नहीं स्वीकार करते हैं, हमारा कल्चर भारतीयों से अलग नहीं है. बहरहाल पत्रिका में सम्पादक की कलम से कुछ पंक्तियाँ आनी चाहिए. सम्पादकीय किसी भी पत्रिका की पहचान होती है.

● विवेक द्विवेदी, रीवा

सुख और सुकून देता है

'कथादेश' की लोकप्रियता एवं उसका विस्तार, उसका स्तर मेरे मन को सुख एवं सुकून देता रहा है. बहुत जल्दी यह प्रतिष्ठित एवं स्तरीय पत्रिका बन गयी है.

● पूनम, हजारीबाग

इसी तरह जाया चला जाता है बहुत सारा साहित्य

'कथादेश' का अक्टूबर 1998 अंक प्राप्त हुआ. आपके कुशल सम्पादन में यह भी पिछले अंकों की तरह महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय बन पड़ा है. इस अंक में सबसे उत्तेजक रचना है 'मैं और मेरा समय' के अन्तर्गत स्वयं प्रकाश का आलेख. इसकी भाषा विलक्षण है और विचार एक गहरे पीड़ायुक्त मन्थन का परिणाम. अफसोस यही कि 'कथादेश' का सम्भवतः साहित्यप्रेमियों के एक सीमित दायरे में ही पठन होता है. हमारे शासकों, नौकरशाहों, आयोजन-कर्ताओं वगैरह तक यह महत्त्वपूर्ण लेखक शायद ही पहुँच सकेगा. हमारा बहुत सारा साहित्य और चिन्तन इसी तरह जाया चला जाता है.

इस अंक में प्रकाशित कहानियाँ साधारण ही प्रतीत हुई, यासुनारी कवाबाता की कहानियों को छोड़कर, जो इस अंक की उपलब्धि है. सूर्यबाला की कहानी अच्छी है लेकिन अवधेश कुमार की कहानी 'मुठभेड़' पल्ले न पड़ सकी. अरुण कमल की कविताओं पर विश्वनाथ त्रिपाठी की टिप्पणी यद्यपि कुछ अध्यापकीय है फिर भी उनके मर्म को उजागर करने में सफल है.

● सुकेश रावल, नयी दिल्ली

महामंत्र हैं वे

कथादेश का अक्टूबर का अंक मिला और मिलते ही उसे पढ़ भी लिया. अक्तूबर अंक सचमुच एक उत्कृष्ट अंक कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि जिस प्रकार के लेख और रचनाएँ कथादेश में पढ़ने को मिलती हैं वह अन्यत्र प्राप्त ही नहीं हो पाती. आप पत्रिका के माध्यम से जिस तरह देश की साहित्यिक विरासत को जन-जन तक पहुँचा रहे हैं उसके लिए आप कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं. इस बार के अंक में जो रचना सबसे ज्यादा हिलाने वाली और वास्तविकता को छूती हुई थी उसके बारे में मैं निष्पक्ष रूप से कह सकता हूँ कि वो स्वयंप्रकाश जी की 'मैं और मेरा समय' में छपने वाली थी जो कि न केवल पढ़ने योग्य थी बल्कि उसे कार्यरूप में लाने से सचमुच हमें अत्यधिक सुख भी पहुँचेगा. उनके द्वारा 'सादगी', 'स्वदेशी' और 'समता' के जो मूलमंत्र दिये गये हैं वे मात्र मंत्र न होकर महामन्त्र हैं. सूर्यबाला जी की कहानी 'मानुष गन्ध' भी बहुत अच्छी लगी और तीसरी जो एक अच्छी चीज थी वो है जितेन्द्र जी का स्तम्भ 'सोचो साथ क्या जायेगा'. सचमुच सोचने को बाध्य करता है और 'शुक्रिया' कहानी सचमुच सर्वश्रेष्ठ है. अंक की प्रत्येक रचना का मूल्यांकन सम्भव नहीं है फिर भी वे उत्कृष्ट तो हैं ही.

● राहुल श्रीवास्तव, कानपुर

कसा हुआ अंक

'कथादेश' का अक्टूबर अंक. काफी कसा हुआ और वजनदार. सुनील सिंह ने लंबे अर्से बाद चुप्पी तोड़ी है और साबित कर दिया है कि उनमें पुराना दम-खम अब भी बरकरार है. बल्कि उसमें अब और भी व्यापकता आ गयी है. पहले वे परिवार और रिश्तों की भावात्मक एवं मर्मस्पर्शी कहानियाँ लिखते थे. 'कैपिटल-रिपेयर' में उन्होंने राष्ट्रीय चरित्र और सामाजिक अपराधीकरण को विषय बनाया है और बहुत धारदार तेवर लेकर इसे अंजाम तक पहुँचाया है. बिहार की उर्वर कथाभूमि के सुनील एक सशक्त सर्जक हैं, इस स्थापना को यह कहानी साबित कर देती है.

'मैं और मेरा समय' में स्वयंप्रकाश जी ने बहुत मन से और बहुत जुड़कर एक बेहद सामयिक विषय को उठाया है. इस देश में सब कुछ है. सम्पदा भी और हुनर भी और योग्यता भी. फिर भी हम अपनी मौलिकता खोते जा रहे हैं और परिचय के प्रायः हरेक चरित्र में

अंधानुकरण में ही खुद की शान और प्रगति समझने लगे हैं ! स्वयंप्रकाश जी की यही खासियत है कि लिखते हैं तो लगता है आँखों में उँगली डालकर चेता रहे हों और यह प्रतीति देते हैं कि अरे यह तो मेरे मन की बात है...यही तो मैं सोच रहा था. एक ईमानदार और सहज व्यक्ति को बड़े कथाकार होते देखना हो तो स्वयंप्रकाश जी इसके एक अप्रतिम उदाहरण हैं.

● जयनंदन, जमशेदपुर

सांस्कृतिक संवेदना की...

'कथादेश' अक्टूबर '98. 'मैं और मेरा समय' के अन्तर्गत स्वयं प्रकाश का 'सपना देखने में क्या हर्ज है !' पढ़ा. तमाम पूँजीवादी दृष्टियों से उपजी अपसंस्कृति एवं सांस्कृतिक जागरण की स्थितियों एवं आवश्यकताओं पर रोशनी डालते हुए आपने (लेखक) बताया कि महत्त्वपूर्ण मन्त्र 'समता' है. दूसरे ही पल इन महत्त्वपूर्ण बदलाव के आने की सम्भावना से शंकित हो उठते हैं और आप कहते हैं—'यदि यह महज एक सपना है, तो भी क्या हर्ज है ?' ऐसा कहते हुए लगता है कि जहाँ आज समाज की तमाम असन्तुलित कारक अथवा घटक और सांस्कृतिक परिवेश को समझने में आप जैसे बुद्धिजीवियों द्वारा वैचारिक एवं बौद्धिक ऊर्जा मिलती है. लेकिन जब दूसरी ओर बुद्धिजीवियों की उक्त असफल एवं त्रासदपूर्ण अभिव्यक्ति जनमानस की सांस्कृतिक मौलिक चरित्र के आत्मचिन्तन एवं आत्मविश्वास को तोड़ती है. सांस्कृतिक संकट की ऐसी स्थिति में जब बुद्धिजीवी यह कहकर सन्तुष्ट हो जाये कि 'अभागा है वह जो अच्छे सपने भी नहीं देख सकता.' बुद्धिजीवियों की यह असमर्थता कहें ? पलायनवादी कहें ? या फिर यह चिन्ता करें कि यह राष्ट्र कैसा है, जहाँ बुद्धिजीवियों की इन त्रासदपूर्ण मानसिक अवस्था से गुजरना पड़ रहा है ? वगैरह-वगैरह.

समय के सच से छूटते आदमी और उसकी सांस्कृतिक संवेदना की तलाश तो होनी ही चाहिए. जो आदमी के अस्तित्व को कायम कर सके. ऐसे संकट की स्थिति में बुद्धिजीवियों की नैतिक जिम्मेदारी अधिक बढ़ जाती है. अगर इनकी सोच सपने देखने तक में ही सीमित हैं, तो आप सांस्कृतिक मुहिम का स्रोत कहाँ से लेंगे ?

क्योंकि यह तय है कि आज के बुद्धिजीवी अपने आपको सामाजिक परिवर्तनों से बेखबर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर गहराते संकट से दूर नहीं रख सकते.

● अरुण अभिषेक, पूर्णिया

बेजोड़ पठनीयता

कथादेश (अक्टूबर) में स्वयंप्रकाश जी ने 'सपना देखने में...' जहाँ प्राचीन भारतीय विरासत के अच्छे पहलुओं को बोल्डली बयान किया है वहीं पाश्चात्य के अच्छे पहलुओं की चर्चा तक न की है. वहाँ के कई तटस्थ विचारकों ने हमें अपनी अस्मिता के प्रति जागरूकता जगायी. सुनील सिंह ने 'कैपिटल रिपेयर' आज की व्यवसायिक दंद-फंद के उलझनों को बड़ी बेजोड़ पठनीयता में समेटा है एवं अन्तिम पंक्तियाँ तो मानो आम व्यवसायियों के अन्तर्द्वंद्व का प्रतिनिधित्व करती हैं. वैसे इस कहानी में अंग्रेजी पंक्तियों के हिन्दी मायने कोष्ठक में दिये होते तो आम पाठक को भी गंभीर साहित्य से जुड़ने में आसानी रहती.

सूर्यबाला जी ने प्रतिभा-पुत्रों के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया एवं उनका अपनी माटी से लगाव की मानसिकता को बड़ी खूबसूरती से उकेरा है 'मानुष गन्ध' में.

देवेन्द्र इस्सर ने मंटो के बहाने बड़े ही गम्भीर प्रश्न उठाये हैं. हालाँकि आज पाक ही नहीं हर देश के अच्छे लेखकों को विवाद में लाकर खुद को 'हाइलाइट' करने की अपसंस्कृति जोरों पर है. (एक उदाहरण बंकिम जिनका की बन्दे मातरम् आजादी की लड़ाई में मुस्लिम यथा अशफाक आदि ने सगर्व घोष किया—आज साम्प्रदायिक नारा हो गया). अरुण कमल की इस अंक की कविताएँ तो निस्संदेह 'बाबा' (नागार्जुन) की याद दिला देती हैं. अवधेश कुमार की 'मुठभेड़' हालाँकि पुलिस मानसिकता एवं आम-जनों के अफवाह-प्रेम का यथार्थ चित्रण करती है. पर इसमें कई जगह आकस्मिक परिवर्तन कथा-प्रवाह को भंग करती-सी प्रतीत होती है. हाँ श्री राम त्रिपाठी की कहानी 'मुक्ति-मार्ग' पढ़कर अनायास लगा कि मैं अपने गाँव के इर्द-गिर्द की सच्ची कहानी पढ़ रहा हूँ. उदयप्रकाश के अप्रासंगिक में साधारण अनुवाद के महत्त्व को प्रतिपादित किया है. यह ठीक भी है कि जब तक मानक अनुवाद नहीं आता तब तक कम से कम वह अनुवाद हमें एक सरसरी निगाह तो देता ही है. पैनी निगाह हेतु मानक अनुवाद भी आवश्यक है. अतः दोनों की अपनी-अपनी महत्ता है. प्रेम जनमेजय अध्यक्ष...' में आजकल के टुच्चे लेखकीय मानसिकता पर ठीक ही चुटकी ली है.

● दीपक, गया

इलेक्ट्रोनिक मीडिया से अधिक विजुअलाइज

कथादेश का अक्टूबर'98 का अंक पढ़ा. दोबारा पढ़ा शायद कुछ कहानियाँ तिबारा पढ़नी पड़ें.

सामग्री-चयन के मामले में तो आपने 'हंस' से अलग जगह बनायी है. कहानियों के चयन में गुणात्मक उत्कृष्टता विशेष रूप से दिखी. 'मुक्तिमार्ग' तो कई साल पहले छोड़े गाँव⁄गाँवनुमा शहर को परिवेश व भाषा के संदर्भ में दोबारा घसीटकर ले गया. बहुत ही अच्छा लगा. धन्यवाद डॉ. श्रीराम त्रिपाठी. 'कैपिटल रिपेयर' की विषय-वस्तु भाषायी सहजता, पात्रानुकूल शब्दावलियाँ—ओह ! लगा पटना-धनबाद के बीच झूला झूल रहा हूँ. पर जीवन मूल्यों की अधोगति, भ्रष्टाचार अपराध का समागम तो इलेक्ट्रानिक मीडिया से अधिक 'विजुअलाइज' कर दिया सुनील सिंह जी ने. 'आज डैडी सिद्दत के बाद याद आये' अत्यंत मार्मिक, जीवन मूल्यों की स्वीकृति सूचक तथा भ्रष्टाचार के पराजय का सूचक है.

श्रीमती सूर्यबाला की 'मानुष-गन्ध' प्रतिभा पलायन के वास्तविकताओं से रू-बरू कराती है. सूर्यबाला जी का रचना शिल्प तो प्रशंसनीय है ही. यह हिन्दुस्तान शताब्दियों से ऐसा चलता आया है और शताब्दियों तक ऐसा ही चलेगा. बस, साहित्यकार लोग समय-समय पर आइना दिखाते रहें.

● वैद्यनाथ झा, दिल्ली कैंट

सपना देखने में क्या हर्ज है !

'कथादेश' के अक्टूबर' 98 अंक में प्रकाशित स्वयं प्रकाश की रचना 'सपना देखने में क्या हर्ज है !' पढ़ा. उक्त रचना निःसंदेह कई संजीदा सवाल छोड़ जाती है. आजादी के पचास वर्षों बाद भी सही मायने में हमने हासिल क्या किया है ? गरीबी, भूखमरी, बेकारी, अन्याय, शोषण, बटमारी-लूटमार, दहशतगर्दी, उग्रवाद, आतंकवाद, मुनाफाखोरी, जमाखोरी, रिश्वतखोरी, सट्टेबाजी, शराबखोरी, छीना-झपटी और एक दूसरे को दलदल में धकेलकर आगे बढ़ जाने की असीम घातक एवं खतरनाक महत्त्वाकांक्षा के मकड़जाल और चंगुल में फँसा हुआ देश उबरने के लिए छटपटा रहा है. कौन होगा भविष्य का तारणहार ? कौन होगा गौतम और गाँधी जो गलाकाट प्रतियोगिता से भारत जैसे महान देश को बचा सकने की नैतिक और राजनैतिक जिम्मेदारी वहन करेगा ?

स्वयं प्रकाश जी की लेखनी की ओजस्विता निश्चित ही आशाएँ जगाती है. तमाम विसंगतियों और विरोधाभाषी परिस्थितियों के बावजूद हमें एकदम निराश नहीं होना चाहिए. सपने देखना बुरा नहीं है. इसे कार्य रूप में परिणत करना हम सबका राष्ट्रीय दायित्व होना चाहिए एवं कर्तव्य बोध भी. लेखक को साधुवाद !

● पंकज भारती, अकलतरा (म. प्र.)

'कथादेश' के नवम्बर '98 अंक के कवर पर प्रकाशित बाबा नागार्जुन के इस चित्र के छायाकार हैं प्रख्यात कवि पंकज सिंह.

—सम्पादक

उर्दू कहानी विशेषांक

आज़ादी के बाद के हिन्दुस्तानी-पाकिस्तानी समाज के पचाससाला सफ़र की उर्दू कहानी के माध्यम से पड़ताल की कोशिश है 'कथादेश' का यह विशेष अंक. सरहदों में बँटी एक क़ौम ने पिछले पचास सालों में क्या कुछ जिया-सहा है ? सामाजिक हालात और इनसानी रिश्तों के स्तर पर आज यह अवाम एक दूसरे से कितनी दूर है या कितनी पास ? ज़िन्दगी की बेरहम हकीकतों से जूझते और खोये सपनों का पीछा करते लोग आख़िर किस मुकाम पर आ पहुँचे हैं ?—ये सब और दूसरे बहुत से सवाल इन कहानियों को पढ़ते-परखते समय ज़ेहन में उभरते-सुलगते हैं.

हिन्दी और उर्दू एक ही जातीय समाज की दो सहोदर भाषाएँ हैं. इसलिए स्वाभाविक तौर से यह जिज्ञासा होती है कि हिन्दी व उर्दू का साहित्य और ख़ास तौर से इन भाषाओं की कहानियाँ किस सीमा तक और किस फर्क़ के साथ अपने समाज की वास्तविकताओं का इज़हार करती हैं; इन अभिव्यक्तियों में क्या विशिष्टता और नयापन है ? वस्तु और शिल्प के स्तर पर क्या भिन्नता है ? इस विशेषांक का मकसद हिन्दी पाठकों को उर्दू कहानियों की बहुरंगी और बहुआयामी दुनिया से परिचित कराने का है.

आज़ादी से पहले और बाद में काफ़ी अरसे तक यथार्थवाद उर्दू कहानी की मुख्यधारा रहा. फिर जदीद कहानी ने पर फैलाने शुरू किये. उर्दू कहानी में अमूर्तन, सांकेतिकता और प्रयोगवाद का अतिरेक हुआ. प्रसिद्ध उर्दू आलोचक क़मर रईस साहब का मानना है कि "...इस प्रकार के अफ़सानों का रवाज देने में महानामा 'शबखून' का बड़ा हाथ है. शबखून के सम्पादक फारुकी साहब ने एक सोची समझी योजना के तहत यह आन्दोलन छेड़ा था. इसका सबसे बड़ा मकसद यथार्थवादी और प्रगतिशील विचारधारा की परम्परा का विनाश था." प्रतिनिधि पत्रिकाएँ अकसर ऐसी भूमिकाएँ निभाती हैं और तत्कालीन लेखन की दिशा उसी ओर मुड़ जाती हैं. कभी-कभी तो यह भ्रम भी हो जाता है, ख़ासतौर से नये आने वाले लेखकों और पाठकों को, कि यही महान साहित्य है. खैर यह बात यहाँ ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती कि उर्दू अफ़साने में यह अमूर्तन और सांकेतिकता कहाँ से आये पर पिछले पचास साल की चुनी हुई इन कहानियों से गुजरने पर यह बात बहुत साफ हो जाती है कि उर्दू अफ़साने में अमूर्तन और सांकेतिकता का अतिरेक है. इससे उर्दू कहानी कलात्मक रूप से सम्पन्न हुई है या विपन्न यह कहना थोड़ा मुश्किल है पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी कहानियाँ अपने पाठकों की संख्या निरन्तर खोती चली जाती हैं. वैसे इस सबका फैसला पाठक स्वयं करेंगे कथादेश के इस विशेषांक की 45 चुनी हुई कहानियों को पढ़कर.

'कथादेश' की कोशिश यह है कि ऐसा कोई दुराग्रह न हो और उर्दू कहानी की असली और वैविध्यपूर्ण तस्वीर सामने आये. हालाँकि हमारा यह कतई दावा नहीं कि इन अपेक्षाओं पर हम सौ फीसदी खरे उतरे हैं.

जाने-माने उर्दू कथाकार जोगिन्दर पाल से हमने इस विशेषांक की जिम्मेवारी लेने का अनुरोध किया था. उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के प्रो. अतीकुल्लाह से मदद का सुझाव दिया. इन कहानियों के चयन और प्रस्तुतीकरण का श्रेय इन्हीं दोनों को है. हम उनके अत्यन्त आभारी हैं. हाँ, हम अपनी तरफ़ से भी कुछ कहानियाँ जोड़ने-बदलने का लोभ संवरण नहीं कर पाये हैं. इन कहानियों के हिन्दी पाठ-सम्पादन व संशोधन में कथाकार बलराम अग्रवाल और जितेन्द्र रघुवंशी का महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला है. उन्हें हार्दिक धन्यवाद.

एक अज़ीब विडम्बना है जब दो आज़ाद देशों भारत और पाकिस्तान की नींव रखी गयी थी, तब उर्दू कहानी का मुख्य विषय साम्प्रदायिक दंगे और उनकी मानसिकता थी; आज फिर समाज और कहानी के केन्द्र में वही विषय है. यह कितनी त्रासदी है, कितना प्रहसन—कहना मुश्किल है पर यह ज़रूर है कि बकौल साहिर लुधियानवी न सिर्फ़ पैकर बल्कि परछाइयाँ भी जल जाने का ख़तरा बना हुआ है. हम सब मिलकर इस आग को बुझा सकें—यही कामना है.

इस अंक के सम्बन्ध में पाठकों की प्रतिक्रियाओं का हमें विशेष इन्तज़ार रहेगा.

बीसवीं सदी का आख़िरी साल शुभ हो.

सम्पादक

◆ कहानी ◆

आधे घंटे का ख़ुदा

●

कृश्न चन्दर

दो आदमी उसका पीछा कर रहे थे.

इतनी ऊँचाई से वे दोनों नीचे सपाट खेतों में चलते हुए दो छोटे खिलौनों की तरह नज़र आ रहे थे. दोनों के कन्धों पर तीलियों की तरह बारीक़ राइफलें रखी नज़र आ रही थीं. निस्सन्देह उनका इरादा उसे जान से मार देने का था. मगर वे लोग अभी उससे बहुत दूर थे. निगाह की सीध से उसने नीचे की तरफ़ देखते हुए दिल-ही-दिल में अन्दाज़ा किया—जहाँ पर मैं हूँ, वहाँ तक उन दोनों को पहुँचने में चार घंटे लगेंगे. तब तक...!

उसने आशापूर्ण दृष्टि से घूमकर ऊपर पहाड़ की चोटी को देखा. सारदू पहाड़ की बारह हज़ार फुट ऊँची चोटी उससे अब सिर्फ़ एक घंटे की यात्रा पर थी. एक बार वह चोटी पर पहुँच जाये, फिर दोनों के हाथ न आ सकेगा. सारदू पहाड़ की दूसरी तरफ़ गडियाली का घना जंगल था जो उसका देखाभाला था. जिसके चप्पे-चप्पे से वह उतना ही परिचय रखता था, जितना उस जंगल का कोई जंगली जानवर रख सकता है. उस जंगल के गुप्त रास्ते, जानवरों के भिट, पानी पीने के स्थान—सब उसे मालूम थे. किसी तरह अगर एक दफा वह सारदू पहाड़ी की चोटी पर पहुँच गया तो फिर अपना पीछा करने वालों के हाथ न आ सकेगा.

जब वह चोटी पर पहुँच जायेगा तो उसे दूसरी तरफ़ की हरी-भरी ढलवानों पर गडियाली का जंगल दिखाई देगा और जंगल से परे सरहद का पुल जिसे डायनामाइट लगाकर उड़ा दिया गया था. गिरे हुए पुल के उस पार उसका अपना देश था. एक बार वह चोटी पर पहुँच जाये. फिर उसे नीचे ढलवान के घने जंगल को तय करने में देर नहीं लगेगी. अगर पुल नहीं है तो क्या हुआ—वह बहुत उम्दा तैराक है. वह गडियाली नदी पार करके अपने देश पहुँच जायेगा.

और चोटी तक पहुँचने में उसे केवल एक घंटा लगेगा. और वे दोनों उसके दुश्मन अभी भी उससे चार घंटे की यात्रा के फ़ासले पर थे. नहीं, वे उसे नहीं पकड़ सकते. वह जवान है, मज़बूत है और चार घंटे उनसे पहले चला है. वे उसे नहीं पकड़ सकते. वह अभी उस चट्टान पर पन्द्रह-बीस मिनट बैठकर दम ले सकता है और दूर नीचे खेतों से गुज़रते हुए घाटियों की तरफ़ आने वाले उन दोनों आदमियों को बड़े इत्मीनान से देख सकता है—जो उसकी जान लेने के लिए आ रहे हैं. वह मुस्करा भी सकता है क्योंकि वह उनसे बहुत दूर है.

यक़ीनन उन्होंने उसे देख लिया है क्योंकि नीचे के खेतों से चोटी तक, उस तरफ़ का पहाड़, जिसके ऊपर वह चल रहा है, बिलकुल नंगा है. बस छोटी-छोटी झाड़ियाँ हैं सनहते की और लाल टीना की, जिनमें आदमी छुप भी नहीं सकता और ज़मीन से लगी हुई पतली छिदरी घास है और नीची-नीची स्याह चट्टानें—रात की बारिश से भीगी हुई और पुरानी काई का फ़िसलाव. उस पुरानी काई से बन्द पानी की बू आती है और भुरभुरी मिट्टी पर क़दम फ़िसलते हैं. उसे बड़ी होशियारी से आगे का फ़ासला तय करना होगा. तभी तो उसने इस फ़ासले को तय करने के लिए, जो कि आधे घंटे में आसानी से तय हो सकता है, एक घंटा रखा है.

बस उसे सिर्फ़ इस बात का अफ़सोस है कि वह नीचे के गाँव से भागते वक़्त क्यों अपनी राइफल साथ न ला सका—भागते वक़्त उसने राइफल वहीं छोड़ दी. यह एक अक्षम्य घटना थी. मगर अब किया क्या जा सकता था ? अगर उसके पास इस वक़्त अपनी राइफल होती तो वे दोनों, नीचे से आने वाले, इस क़दर निडरता से उसका पीछा नहीं कर सकते थे. वह आसानी से किसी चट्टान की ओट में दुबककर किसी मुनासिब जगह पर उनका इन्तज़ार कर सकता था और अपनी राइफल की रेंज में आते देखकर उन लोगों को गोली का निशाना बना सकता था. मगर वह क्या करे ? इस वक़्त वह बिलकुल निहत्था है और अब हर तरह उसकी यह कोशिश होगी कि उनकी बन्दूक़ों की मार से आगे चलता रहे.

उसने पीछा करने वालों के पीछे भी दूर तक खेतों को देखा और खेतों से परे सेब, अलूचे और ख़ूबानियों के वृक्षों से घिरे मोगरी के गाँव को देखा. एक क्षण के लिए उसके दिल के अन्दर उदासी की एक गहरी लाल लकीर खिंचती चली गयी, उस खंजर की बारीक़ और तेज़ धार की तरह, जिसका फल उस वक़्त मोगरी के दिल में घुसा हुआ था. मोगरी, जो सेब के फूलों की तरह ख़ूबसूरत थी.

कासर के लिए आवश्यक हो गया था कि वह मोगरी की जान ले ले. चमकती हुई गहरी स्याह आँखों वाली मोगरी, अँगारों की तरह दहकते होंठों वाली उन्नीस वर्ष की मोगरी. वह जब हँसती थी तो ऐसा लगता था जैसे सेब की डालियों से फूल झड़ रहे हैं. ऐसी महकती हुई सफ़ेद हँसी उसने किसी दूसरी लड़की के पास न देखी थी. हँसी जो सेब के फूलों की याद दिलाये या अचानक पर खोलकर हवा में कबूतरी की तरह उड़ जाये और वो ज़रा से खुले ज़रा से बन्द अंगारों की तरह दहकते हुए शरारती होंठ. उन होंठों पर जब वह अपने होंठ रख देता था तो उसे ऐसा महसूस होता था जैसे उसके ख़ून के बहाव में चिंगारियाँ उड़ती चली जा रही हैं. जैसे जज़्बा पिघलकर ख़ून, ख़ून पिघलकर शोला, और शोला पिघलकर बोसा बन गया हो और वह पूरी तरह मोगरी के चेहरे पर झुक जाता था. इतने ज़ोर से कि मोगरी की साँस उसके सीने में रुकने लगती थी और वह अपने छोटे-छोटे हाथों से उसके मुँह पर तमाचे मारकर ही अपना चेहरा उसके चेहरे से अलग कर सकती थी.

"तुम बिलकुल जानवर हो, कासर." वह हाँफते हुए कहती.

"और तुम, आग हो !" वह स्वयं अपने जज़्बे की अधिकता से डरकर ज़रा पीछे हटता हुआ कहता.

"मेरे गाँव में कोई नहीं जानता कि मैं एक दुश्मन के बेटे से प्यार करती हूँ."

"मेरे सिपाहियों में से भी कोई नहीं जानता कि मैं गडियाली के जंगल में रोज़ किसी से मिलने जाता हूँ."

वे दोनों गडियाली के जंगल में जीप के किसी कच्चे रास्ते पर बैठ जाते. देवदार के एक टूटे हुए तने पर. पीछे जीप खड़ी होती. सामने एक छोटी-सी ढलवान थी—गहरी और लम्बी घास. कोई चश्मा लगभग शान्त होकर बहता. जंगली फूलों पर पानी के क़तरे गिरकर सो जाते और चारों तरफ़ बड़े-बड़े स्तूनों की तरह ऊँचे-ऊँचे देवदार और उनके घने छितनारों में से हरी रोशनी दूर ऊँचे लटके हुए फ़ानूसों की तरह छन-छनकर आती होती...कासर को ऐसा महसूस होता जैसे वह किसी मुग़ल बादशाह के दीवान-ए-ख़ास में बेइजाज़त आ निकला है. यहाँ आकर वे दोनों कई मिनट तक जंगल के गहरे सन्नाटे में खो जाते और आहिस्ता-आहिस्ता कनफूसियों में बातें करने लगते. कभी ऐसा लगता जैसे सारा जंगल चुप है. कभी ऐसा लगता जैसे उनका इर्द-गिर्द कनफूसियों में बातें कर रहा है.

मोगरी ग़ैर-इलाक़े के गाँव से एक टोकरी में फल उठाये हुए गडियाली के पुल तक आती थी—जो कासर और उसके सिपाहियों के अधिकार में था. सेब, नाश्पाती, केले, अलूचे, बिही, केम्ब, ऊदे, अँगूर, ख़ूबानियाँ जिन्हें देखकर सुनहरी अशरफ़ियों का धोखा होता है, और मोगरी इतनी ख़ूबसूरत थी कि पुल की रक्षा करने वाले सिपाही चंद मिनटों में उसकी टोकरी खाली कर देते थे. सबसे आख़िर में कासर आता था और जब कासर मोगरी के नज़दीक आता था तो सब सिपाही हट जाते थे क्योंकि वे जानते थे....

लेकिन जिस दिन मोगरी की मुखबरी पर ग़ैर-इलाक़े के गाँव वालों ने गडियाली का पुल, जो उसकी सीमा में था, डायनामाइट से उड़ा दिया, उस दिन उसे भारी धक्का-सा लगा—जैसे उसके अन्दर भी कोई पुल था जो डायनामाइट से पुर्ज़े-पुर्ज़े हो गया था और वह बाहर का पुल तो कभी-न-कभी फिर बन जायेगा लेकिन अन्दर का पुल कौन बना सकेगा फिर से ? इसलिए वह भयभीत-सा होकर पुल के टुकड़ों को उसके गहरे पानियों में जाता देखता रहा—जहाँ हल्की-से-हल्की भावनाएँ भी भारी पत्थर बनकर ऐसे डूब जाती हैं कि फिर कभी नहीं उभर सकतीं. वह रोना चाहता था मगर उसकी ज़बान पर शब्द न आ सके. वह जानता था कि हर सिपाही की निगाह उस पर है. वह निगाह, जो प्रकट रूप में कुछ नहीं कहती लेकिन खामोश लहजे में शिकायत करती हुई मालूम होती है. जब वह उन निगाहों की ताब न ला सका तो अपनी राइफल लेकर गडियाली नदी में कूद पड़ा और उसके सिपाही भौंचक्के होकर उसकी तरफ़ देखते रह गये.

वह नदी पार करके गडियाली के जंगल में घुस गया. कई दिन तक वह अकेला भूखा-प्यासा इसी जंगल में घूमता रहा और वह उन तमाम जगहों पर गया जहाँ पर वह मोगरी के साथ गया था और उन जगहों पर जाकर उसने उन तमाम भावनाओं को भुलाना चाहा जिन्होंने मोगरी की मौजूदगी में उसके लिए धुँधली-धुँधली लालिमा बनायी थी. कई बार वह मोगरी की अनुपस्थिति में भी यहाँ आया था तो भी उसे हर जगह मोगरी की अनुपस्थिति में भी उसकी उपस्थिति का अहसास हुआ था. वह पेड़ का तना जहाँ मोगरी बैठती थी उसके गिर्द एक गोला-सा खिंचा मालूम होता था. मोगरी न थी फिर भी जैसे झरने के पानियों में उसकी आवाज़ की रवानी घुल गयी थी. हर फूल में उसके बालों की महक थी और वह ज़मीन, जहाँ पर वे बैठते थे, वहाँ से मोगरी के जिस्म की सोंधी-सोंधी महक आती थी.

मगर आज वहाँ कुछ न था. भावनाओं की लालिमा छँट गयी थी. पेड़ का तना सिर्फ पेड़ का तना था और पानी का झरना पानी के झरने की तरह बह रहा था. हर चीज़ अनजानी और अजनबी उससे अलग-अलग खड़ी थी. वह चीख़ मारकर सारे जंगल को जगा देना चाहता

था. मगर उसका हलक बार-बार घुट रहा था. उसके सारे अहसासों पर एक धुन्ध-सी छायी हुई थी. जंगल में दिशा-रहित घूमते-घूमते कई बार उसे ख़याल आया कि अगर वह उस धुन्ध को अपने नाखूनों से चीर दे तो शायद अन्दर से मोगरी का ज़िन्दा और असली चेहरा सही-सलामत निकल आयेगा. वह मोगरी जिसे वह अपने दिल से पहचानता था. मगर धुन्ध किसी तरह न छँटी. वह गहरी होती गयी. जंगल में उसका दम घुटने लगा. पेड़ों का घेरा उसके लिए तंग होने लगा. उसे ऐसा लगने लगा जैसे चारों तरफ़ से जंगल के पेड़ झुककर उस पर गिरने वाले हैं.

फिर वह घबराकर जंगल से बाहर आ निकला और गडियाली का जंगल तय करके वह सारदू पहाड़ की बर्फ़ीली चोटी के दूसरी तरफ़ उतर गया जहाँ मोगरी का गाँव था.

कई दिनों तक वह भेस बदले हुए टोह लेता रहा. किसी को उस पर शक न हुआ क्योंकि उसकी शक्ल-सूरत ऐसी थी जैसी इलाक़े के लोगों की होती है. उसके कपड़े भी फटे हुए थे और वह उनकी ज़बान भली प्रकार बोल सकता था. इसलिए किसी को उस पर शक न हुआ. वह एक दिन मौक़ा देखकर आधी रात को मोगरी के घर के उस कमरे में घुस गया जहाँ मोगरी सो रही थी. मोगरी कमरे में अकेली सो रही थी. उसने आहट किये बग़ैर कुंडी अन्दर से चढ़ा दी. राइफल कन्धे से उतारकर एक कोने में रख दी. और वह आहिस्ता- आहिस्ता दुबककर मोगरी के बिस्तर के निकट चला गया. निकट जाकर उसने अपना खंजर निकाल लिया.

वह खंजर हाथ में लिये देर तक खड़ा रहा. वह मोगरी की साँसों की ख़ामोश आवाज़ सुनता रहा. चारों तरफ़ घुप्प अँधेरा था. वह मोगरी के चेहरे को नहीं देख सकता था. उसके दिल में तीव्र इच्छा पैदा हुई कि वह एक बार माचिस जलाकर मोगरी का चेहरा देख ले. मगर बड़ी ज़बरदस्ती से उसने पीड़ाजनक इच्छा को अपने दिल में रोक दिया. देर तक वह खंजर लिये यूँ ही खड़ा रहा और मोगरी की साँसों के उस शान्त निर्झर को सुनता रहा जो अब उसके दिल की तरफ़ बह रहा था. वह हौले-हौले मोगरी के चेहरे पर झुक गया. बस एक विदाई चुम्बन और फिर खंजर !...मगर झुकते-झुकते उसकी साँस की रफ़्तार तेज़ होती गयी. उसके दिमाग़ में सनसनाती हुई गूँज-सी चारों तरफ़ फैलने लगी और उसने अपने जलते हुए काँपते हुए होंठ मोगरी के होंठों पर रख दिये.

मोगरी के सारे जिस्म में झुरझुरी-सी पैदा हुई. उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे मोगरी चीख़ मारने को है. मगर उसने ऐसी मज़बूती से अपने होंठों को मोगरी के होंठों से मिला-रखा था कि चीख़ मारने का सवाल ही पैदा न होता था. पहले तो मोगरी का सारा जिस्म बर्फ़ की तरह [illegible] यूँ ही सर्द होने लगा. वह हमेशा यूँ ही होता था. उसे अपने पहले के बहुत से रंगीन और ख़ूबसूरत क्षण याद आये जब मोगरी प्यार करते-करते एकदम उसके बाज़ुओं में सर्द पड़ जाती थी और कई क्षणों तक उसकी यही हालत रहती थी जैसे वह दिल-व-जान से उसका विरोध कर रही हो. फिर धीरे-धीरे जैसे बर्फ़ पिघलने लगती और बदन में अंगड़ाइयाँ और फुरफुरियाँ जागने लगतीं और गर्म-गर्म साँस काँच की तरह पिघलने लगती और वह बे-अख़्तियार होकर कासर से लिपट जाती और अपने बाज़ू उसकी गर्दन में लपेट देती. मोगरी के दिल के अन्दर लगभग मुहब्बत और नफ़रत का हर क्षण बदलता हुआ जोड़-तोड़-सा चलता रहता था. अपना दुश्मन समझकर वह उससे नफ़रत करती थी और अपना महबूब समझकर उससे मुहब्बत करती थी और कभी किसी नतीजे पर न पहुँच सकी थी.

उस समय भी यही हुआ. मोगरी का सर्द पड़ता हुआ भयभीत और अपने आप में अकेला शरीर धीरे-धीरे लौ देने लगा. जैसे अंग-अंग से रौशनी फूट निकले. ऐसी रौशनी जिसे आँखें नहीं देख सकतीं सिर्फ़ हाथ महसूस कर सकते हैं. मोगरी ने यक़ीनन उस चुम्बन को पहचान लिया था. ख़ूबसूरत और ख़तरों से भरी ज़िन्दगी बिताने वाली औरत की ज़िन्दगी में बहुत से चुम्बन आते हैं. दीमक की तरह चाट जाने वाले चुम्बन और जोंक की तरह चिपट जाने वाले चुम्बन. रूखे-सूखे पापड़ जैसे चुम्बन और ऐसे लिजलिजे और गन्दे चुम्बन जैसे होंठों पर कीड़े चल रहे हों. शरमाये हुए, सहमे हुए चुम्बन और भयभीत, कमजोर और बीमार चुम्बन और स्वस्थ और शरारती चुम्बन मोगरी जैसी ख़ूबसूरत औरतों को हर क़िस्म के चुम्बनों से वास्ता पड़ता था. मगर वह यह भी जानती है कि उनमें से कौन-सा चुम्बन ऐसा होता है जो दिल पर दस्तक देता है. मोगरी सिर्फ़ उसी दस्तक के जवाब में चुम्बन देती है वरना केवल होंठ पेश करती है.

मगर इस बार मोगरी सिर्फ़ चंद क्षणों के लिए बर्फ़ की तरह ठिठुरी रही फिर उसने अपने ऊपर झुके हुए होंठों के स्पर्श को पहचान लिया और पहचानकर भी वह चंद क्षणों के लिए भयभीत और ठिठुरी-सी रही. मगर धीरे-धीरे उसका विरोध दूर होता गया. आधी रात के थोड़े गर्म अँधेरे से किसी अप्रत्याशित ख़ुशी से उसकी सारी रूह काँप उठी और वह ख़ुद से कासर की बाँहों में आ गयी और इस तरह आयी जैसे अब तक कभी न आयी थी. कासर ने महसूस किया जैसे आसमान ज़मीन पर उतर आया हो और ज़मीन लम्बे-लम्बे साँस लेकर हाँफने लगी हो. एक शोला-सा था जो बर्फ़ की गहराई में डूब रहा था. बर्फ़ की टूटती हुई टुकड़ियाँ, गुलाब की बिखरी हुई पत्तियाँ, सिसक-सिसककर सुलगता हुआ संगीत...जिस्म के परकोटे को तोड़ने की कोशिश में उत्सुक. यकायक घेरा टूट गया. मछलियाँ तूफ़ान में बह गयीं. बहुत सारे चिराग़ एकदम गुल हो गये. फिर सारे अहसास अर्धनिद्रा की सब्ज झील में खो गये.

जब वह जागा तो उसी तरह घुप्प अँधेरा छाया हुआ था और मोगरी उसकी बाँहों में बेख़बर सो रही थी. जाने उस बेख़बरी में कब कासर ने ख़ुद अपने हाथ का खंजर अपने पहलू में रख लिया था...

उसने पहलू बदलकर धीरे से खंजर निकाला. आहिस्ता से मोगरी नींद में कसमसायी. झुके हुए कासर को मोगरी का हाथ अपनी पीठ पर महसूस हुआ, थपकता हुआ, नींद को बुलाता हुआ. इससे पहले कि वह अपनी भावनाओं की धारा में बह जाये उसने एक ही झटके से पूरा खंजर हत्थी तक मोगरी के दिल में उतार दिया.

मोगरी चीख़ भी न सकी. धीरे-धीरे उसका तपता हुआ

देर तक वह खंजर लिये यूँ ही खड़ा रहा और मोगरी की साँसों के उस शान्त निर्झर को सुनता रहा जो अब उसके दिल की तरफ़ बह रहा था. वह हौले-हौले मोगरी के चेहरे पर झुक गया. बस एक विदाई चुम्बन और फिर खंजर !...मगर झुकते-झुकते उसकी साँस की रफ़्तार तेज़ होती गयी. उसके दिमाग़ में सनसनाती हुई गूँज-सी चारों तरफ़ फैलने लगी और उसने अपने जलते हुए काँपते हुए होंठ मोगरी के होंठों पर रख दिये.

जिस्म ठंडा होता गया. मगर कासर ने मोगरी को बहुत देर तक अपने जिस्म से अलग नहीं किया. धीरे-धीरे कासर के जिस्म ने मरते हुए मोगरी के जिस्म के हर कम्पन को अपने अन्दर समो लिया. और जब मोगरी का जिस्म बिलकुल ठंडा हो गया तो उसने मोगरी के जिस्म को अपने जिस्म से अलग कर दिया. उसके ठंडे होंठों को फिर इस तरह चुम्बन दिया जैसे वह किसी क़ब्र को चुम्बन दे रहा हो. फिर कुंडी खोलकर बाहर निकल आया और तेज़ क़दमों से चलते हुए वह आँगन की दीवार फलाँगकर एक अहमक की तरह सरपट भागने लगा क्योंकि अब उसके दिमाग़ की हर रग और नस ताँबे के तार की तरह झनझना रही थी और जिस्म के रोम-रोम में खतरे की घंटियाँ बज रही थीं...यह उसकी ख़ुशक़िस्मती थी कि सारा गाँव नींद में डूबा हुआ सो रहा था. किसी ने उसके जिस्म में बजती हुई ख़तरे की घंटियों की पुरशोर आवाज़ों को नहीं सुना. और वह खेतों से निकलकर सारदू पहाड़ की चढ़ाई चढ़ने लगा. सुबह जब मोगरी के भाइयों ने मोगरी की लाश देखी और दीवार से लगी हुई राइफल को पहचाना तो उसका पीछा किया. मगर तब तक उसे चार घंटे का स्टार्ट मिल चुका था.

इतनी दूरी से वह उन्हें देख सकता था. मोगरी के दोनों भाई बराबर क़दम-से-क़दम मिलाते हुए तेज़ क़दम चल रहे थे. वह मोगरी के भाइयों को जानता था. वे दोनों बहादुर और हिम्मती, दिलेर और मेहनती थे. उसकी तरह ख़तरों से भरी ज़िन्दगी के आदी थे, पक्के इरादे के, ख़ुद्दार और इन्तकाम पसन्द थे. वह उनसे किसी रहम की अपेक्षा न कर सकता था, दरख़्वास्त भी न कर सकता था. पहली बात उनके स्वभाव के ख़िलाफ़ होती. दूसरी उसके अपने मिज़ाज को नापसन्द होती. अगर राइफल उसके हाथ में होती तो वह उन दोनों का सामना कर सकता था. वह इतना फ़ासला जरूर रखेगा कि किसी तरह उनकी राइफल की पहुँच में न आ सके. वे दोनों बहुत तेजी से मंजे हुए अभ्यस्त पहाड़ी खच्चरों की तरह चल रहे थे. वह भी बराबर एक लय में छोटे-छोटे साँस लेता हुआ सारदू के ऊपर चढ़ रहा था. मगर फ़ासला धीरे-धीरे कम हो रहा था. क्योंकि वे दोनों खेतों में थे, सीधे और सपाट रास्ते पर. वह फ़िसलती चढ़ाई पर, जहाँ काई लटकी चट्टानें थीं और भुरभुरी मिट्टी और कल रात को जब वह मोगरी की आगोश (आलिंगन) में था, किसी वक़्त सारदू पहाड़ की ऊँचाई पर बारिश हो चुकी थी और सारा पहाड़ गीला था. वे भुरभुरी मिट्टी में धँसी हुई चट्टानें अपनी जगह से हिलती हुई मालूम होती थीं. और उसे हर क़दम निहायत अहतियात से और फूँक-फूँककर रखना पड़ता था. और जगह-जगह रुककर एक क्षण के लिए पीछे मुड़कर भी देखना पड़ता था कि दोनों कहाँ हैं और कितने फ़ासले पर हैं. पहाड़ इस कदर नंगा था कि दोनों पक्ष एक-दूसरे को देख सकते थे. और क्षण-क्षण बाद इस पीछा करने का अन्दाजा कर सकते थे—भागने वाला भी और पीछा करने वाले भी. दोनों इस पीछा करने में एक-दूसरे को निगाह में रखने पर मजबूर थे.

धीरे-धीरे सुबह के सफ़ेद, सुनहरे और गुलाबी पर्दे आसमान से सरका दिये गये और सूरज आसमान की नीलिमायुक्त खिड़कियों से नीचे झाँकने लगा. धीरे-धीरे उसकी रौशनी तेज़, असह्य और बेरहम होती गयी और कासर को अहसास होने लगा जैसे कि सूरज भी उसका पीछा कर रहा है. उसकी गर्दन, चेहरे और पीठ से पसीना फूट निकला. रौशनी उसे अपनी पलकों पर बैठी हुई महसूस होने लगी. और किरणों के कोड़े चुभने लगे तो भी वह चलता रहा, चलता रहा, चलता रहा. सारी सुबह चलता रहा, सारी दोपहर चलता रहा. कभी तेज़, कभी मध्यम, कभी मज़बूत क़दमों से, कभी थके भारी क़दमों से. एक क्षण रुके बग़ैर चलता रहा. प्यास ने उसका हलक बिलकुल ख़ुश्क कर दिया था. गाल, ज़बान, तालू, कान और नाक में ऐसा लगता था जैसे कहीं से कंटीली झाड़ियाँ उग आयी हैं. और हवा की नली से हवा यूँ अन्दर-बाहर जाती थी जैसे लोहार की ख़ुश्क और सख़्त खुरदरे चमड़े वाली धोंकनी से निकलती है. अब हवा की धार तक काँटे की तरह तेज और नुकीली थी तो भी

वह चलता रहा क्योंकि वह रुक नहीं सकता था, क्योंकि उसका पीछा करने वाले भी कहीं एक क्षण के लिए भी नहीं रुके थे. चलते-चलते जब वह सारदू पहाड़ का तीन चौथाई से ज़्यादा फ़ासला तय कर गया और जब उसे सारदू पहाड़ की बर्फ़ीली चोटी ऊँची, लम्बी-लम्बी चट्टानों से घिरी हुई अपने सिर से ऊपर नज़र आने लगी और वे सफ़ेद-सफ़ेद बादल जो उसके बिलकुल नज़दीक मँडरा रहे थे उसके कन्धों को छूते हुए महसूस हुए तो उसने कुछ क्षणों के लिए आराम करना ठीक समझा और खतरे से खाली भी. और वह लड़खड़ाता हुआ बिलकुल मज़बूर होकर चट्टानों में दबे हुए एक छोटे झरने पर झुक गया और जानवरों की तरह डीक लगाकर पानी पीने लगा. पानी पीते-पीते उसने बड़ी कोशिश से अपने आपको बीच में ही रोककर निगाह घुमाकर नीचे की तरफ़ देखा. उसका पीछा करने वाले पहाड़ का रास्ता आधे से ज़्यादा तय कर चुके थे फिर भी वह काफ़ी समय के लिए ख़तरे से बाहर था. और अब, चोटी दो हज़ार फुट के फ़ासले पर जैसे उसके सिर पर तसल्ली की छाया किये खड़ी थी. एक छँलाग और...और फिर वह ख़तरे से बाहर था. एक दफा वह चोटी पर पहुँच जाये और गडियाली के जंगल में उसे कोई नहीं पकड़ सकेगा.

यह विचार आते ही उसने सन्तुष्टि की एक साँस ली और अपना चेहरा सारे-का-सारा झरने के पानी में डुबो दिया. पानी पीकर उसका तना हुआ जिस्म एकदम जैसे सींचा हुआ हो गया—ढीला पड़ गया. उसने अपनी आँखें इत्मीनान से बन्द कर लीं. वह वहीं झरने के किनारे अपने शरीर को ढीला छोड़कर टांगें पसारकर पड़ गया. उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और चंद मिनट के लिए सुस्ताने के लिए आधी सोयी हुई अवस्था में खो गया. अभी थोड़ी देर के बाद, बस कुछ मिनटों के बाद, वह ताज़ादम होकर उठेगा और पहाड़ का आख़िरी हिस्सा तय करके चोटी पर होगा. और खतरे से बाहर पहुँच जायेगा.

वह यूँ ही कुछ मिनट के लिए आधी सोयी अवस्था में सुस्ताता रहा. कुछ मिनट के लिए उसके ज़िस्म को जो आराम मिला तो उसके दिल से वहम का अहसास मिट गया. आराम का एक गुनगुना थपकने वाला नशा था जो उसके ज़िस्म-व-जान में उतरा जा रहा था. उसी अवस्था में उसने पहले दो-एक मिनट में चोटी की भुरभुरी मिट्टी से फ़िसलकर गिरने वाली चट्टानों की एवालांश की आवाज़ नहीं सुनी. फिर जब एकदम बढ़ती हुई गड़गड़ाहट की वह आवाज़ उसके कानों में आने लगी तो वह चौंककर उठ बैठा. फिर वह भय और त्रास की एक चीख मारकर झरने से हटा और चोटी से गिरने वाली हज़ारों टन मिट्टी और चट्टानों के भयंकर तेजी से नीचे की ओर भागते हुए मलबे से अपनी जान बचाने के लिए एक तरफ़ को भागा. भागते-भागते भी वह अपने आपको उस भयानक एवालांश की चपेट से न बचा सका. हज़ारों तोपों की गड़गड़ाहट के साथ एक तूफ़ानी भूकम्प जैसे उसके सिर के क़रीब से गुज़रा और वह ज़मीन पर बिछ गया. उसे अपने हलक में और नथुनों में और साँस की नली में मिट्टी के कण घुसते हुए महसूस हुए और भयंकर कड़क से सारी ज़मीन काँपती हुई महसूस हुई. फिर कोई बहुत ही सख़्त-सी चीज़ उसकी टांगों से टकरायी. जैसे किसी ने बड़े ज़ोर से कोई लोहे का हथौड़ा उसके सारे धड़ पर गिरा दिया हो और वह बेहोश हो गया.

जब वह होश में आया तो कुछ क्षणों तक उसे यह अहसास हुआ कि वह मर चुका है और किसी गहरी क़ब्र में दफ़न है. उसके चारों तरफ़ दायें-बायें, ऊपर-नीचे, मिट्टी-कंकड़-रोड़े और छोटी-छोटी चट्टानें पड़ी थीं और वह उनमें औंधा लेटा था. फिर उसने आँखें खोलकर देखने की कोशिश की तो उसे अपने दोनों हाथ नज़र आये जो मिट्टी में धँसे थे. उसने पहले तो बड़ी हैरानी से अपने हाथों को देखा फिर आहिस्ता से उन्हें हिलाया. जब वे हिलने लगे तो उसका अचम्भा दूर होता गया. उसे यक़ीन आ गया कि वह ज़िन्दा है. उसने बड़ी कोशिश से लेटे-लेटे पहले अपने दायें हाथ से मिट्टी और कंकड़ों के ढेर से आज़ाद किया. फिर दूसरे हाथ को. फिर मिट्टी खोदकर उसने अपने धड़ को आज़ाद कराया. फिर अपनी बायीं टाँग को. फिर जब वह कसमसाकर और करवट लेने के अन्दाज़ में अपनी दायीं टाँग को आज़ाद कराने के लिए ज़ोर लगाने लगा, जो एक बड़ी चट्टान के नीचे दबी थी तो तेज़ दर्द और पीड़ा की एक ज़ोर की चीख़ उसके हलक से निकल गयी और वह अपनी कोशिश में नाकाम होकर वहीं ज़मीन पर पड़े-पड़े हाँफने लगा.

जहाँ पर वह लेटा था और जिस कोण से वह लेटा था वहाँ से उसे पहाड़ के निचले हिस्से का दृश्य भली प्रकार दिखाई देता था. वह देख सकता था कि एवालांश का भारी मलबा उसके ज़िस्म से बस चंद फुट के फ़ासले से होकर गुजरा है. चंद क्षणों की देर और हो जाती तो उसके ज़िस्म के टुकड़े-टुकड़े उड़ जाते. या कुछ क्षण पहले अगर वह सावधान हो जाता तो वह एवालांश की चपेट से साफ़ बच जाता ...उसने दूर तक पहुँचे एवालांश के रास्ते को देखा. एवालांश जहाँ-जहाँ से गुज़री थी झाड़ियों को उखाड़ती हुई, टीलों को ढहाती, चट्टानों को बहाती, एक गहरी खाई बनाती गुज़र गयी थी. एक क्षण के लिए उसके दिल में संतोषजनक ख़याल आया कि वे दोनों मर गये होंगे. इस एवालांश की चपेट में आकर लाखों टन मिट्टी के नीचे उनके जिस्म दब गये होंगे. दूसरे क्षण में उसने देखा कि नीचे एक चट्टान की ओट से वे दोनों भाई सही-सलामत निकल रहे हैं. राइफल उठाये हुए दोनों बड़ी सावधानी से पग धरते अपनी आँखों पर बार-बार हाथ रखकर ऊपर रास्ता देखते हुए चले आ रहे हैं. उसके चेहरे पर एक कटु-सी मुस्कराहट आ गयी.

अपने ज़िस्म-व-जान का पूरा ज़ोर लगाकर उसने अपनी दायीं टाँग को भी उस भारी चट्टान से आज़ाद करा लिया. चट्टान जो लुढ़की तो देर तक नीचे को गड़गड़ाती हुई उतर गयी. उसकी आवाज़ से नीचे पीछा करने वाले चौंके और उन्होंने उसे उठते हुए देख लिया. मगर अभी तक वे बहुत नीचे थे. और वह उनकी राइफल की पहुँच से बाहर था.

अपने बायें घुटने पर पूरा ज़ोर देकर वह हिम्मत से उठ खड़ा हुआ मगर पहला क़दम लेते ही वह लड़खड़ाकर गिर पड़ा. उसकी दायीं टांग की हड्डी टूट चुकी थी, बिलकुल बेकार हो चुकी थी और उसके धड़ के अन्दर ख़तरनाक टीसें उठ रही थीं और अब वह चल न सकता था तो भी वह कोशिश करके फिर उठा और अपनी दायीं टांग को उठाये हुए एक ही टांग से रास्ते पर फलाँग-फलाँगकर चलने की कोशिश करने लगा. यक़ीनन नीचे पीछा करने वालों ने उसे देख लिया था और अब वे तेज़-तेज़ क़दमों से उसका पीछा कर रहे थे. वह दाँत पीस-पीसकर, फलाँग-फलाँगकर आगे बढ़ता रहा. मगर दर्द क्षण-प्रति-क्षण बढ़ रहा था और वह बीच-बीच में मजबूर हो जाता कि किसी चट्टान पर बैठकर जानवरों की तरह हाँफ ले. दर्द की टीसें बढ़ रही थीं. उसका सारा शरीर असहनीय दर्द से काँप रहा था और फ़ासला कम हो रहा था. वे दोनों नज़दीक आ रहे थे. नज़दीक होते जा रहे थे. वह फलाँगते-फलाँगते लगभग दौड़ने लगा. बड़ी नाबराबर दौड़ थी. मगर वह कुछ नहीं कर सकता था. यदि एक क्षण के लिए भी टूटी हुई टांग को ज़मीन पर रखता तो आग और तेज़ाब की मिली-जुली जलन की स्थिति का-सा सामना करना पड़ता और फ़ौरन अपनी टूटी हुई टांग ऊपर उठा लेता.

फलाँगते-फलाँगते वह हज़ार-बारह सौ फुट और ऊपर चढ़ आया. चोटी अब उससे सिर्फ़ पाँच-सात सौ फुट के फ़ासले पर थी. मगर अब वह बिलकुल बेदम हो चुका था. उसके जिस्म में छुरियाँ-सी चल रही थीं. बार-बार उस पर अर्ध-बेहोशी के दौरे पड़ते और आँखों में तिरमिरे से नाचने लगते. अब उसने महसूस किया कि उसका धड़ एकदम बेकार हो चुका है. अब वह बिलकुल नहीं चल सकता. किसी-न-किसी तरह ज़ोर लगाकर उसने उठने की कोशिश की मगर जब उसमें नाकाम हुआ तो उसने सिर नीचा करके लेटे-ही-लेटे घिसटना शुरू कर दिया, ऊपर की तरफ़. अपने बाजुओं की शक्ति से वह हर फुट ऊपर-ही-ऊपर घिसटता रहा. इस घिसटने में उसके घुटने छिल गये. उसकी कुहनियों से ख़ून बहने लगा. हाथों की अँगुलियाँ छलनी होती गयीं. उसके कन्धे छिल गये. फिर भी वह क्षण-प्रति-क्षण आगे को ऊपर को ही घिसटता रहा. सारी ज़िन्दगी की उम्मीद और मेहनत और उसका दर्द और इन्तज़ार उसकी आँखों में खिंच आया था और वह अपने जिस्म से नहीं बल्कि अपनी आँखों से चलता हुआ मालूम होता था. आख़िरी सौ फुट...अब उसने नीचे को देखना छोड़ दिया था. आख़िरी पचास फुट...आखिरी तीस फुट...वह ऊपर-ही-ऊपर घिसटता गया. फिर दाँत पीसकर. अपने जिस्म से ज़्यादा अपनी आत्मा का पूरा ज़ोर लगाकर, अपनी ज़िन्दगी की गुप्त शक्तियों को आवाज़ देकर उसने आख़िरी तीस फुट भी इंच-इंच घिसटकर तय कर लिये और पहाड़ी की सबसे ऊँची चट्टान पर पहुँच गया—जो पीछा करने वालों की तरफ़ सीधी बल्लम की तरह खड़ी थी, लेकिन गडियाली के जंगल की तरफ़ एक आरामकुर्सी की तरह ढलवाँ शक्ल बनाये हुए थी.

चोटी पर पहुँचकर उसने अपने आपको उसी चट्टान की ऊँची आरामकुर्सी पर गिरा दिया और हाँफते-हाँफते अपनी आँखें बन्द कर लीं.

जब उसने अपनी आँखें खोलीं तो गडियाली का हरा-भरा जंगल दूर नीचे तक उसके क़दमों में फैला हुआ नज़र आ रहा था. नदी के पार उसके अपने देश में सूरज डूब रहा था और दूर-दूर तक क्षितिज-क्षितिज उसके देश की घाटियाँ और वादियाँ, धान के खेत और लहराती हुई नदियाँ एक नारंगी गुबार में खो गयी थीं. और जहाँ पर कभी पुल था वहाँ पर इन्द्रधनुष की मेहराब फैली हुई थी. वह देर तक आश्चर्य से ख़ूबसूरत रंगों की इस नाज़ुक-सी मेहराब को देखता रहा जो उसके दिल के सपनों की तरह हसीन थी और एकदम उसे अहसास हुआ जैसे उसके सफ़र की आख़िरी मंज़िल आ गयी. अब जिस जगह पर वह पड़ा है वहाँ से वह एक इंच इधर-उधर हरकत नहीं कर सकता. वह चोटी पर पहुँच गया था और उसके ज़िस्म ने उसे आखिरी जवाब दे दिया था.

उसने सिर की एक हल्की-सी जुम्बिश से टूटे हुए पुल के किनारे अपने वतन के सिपाहियों को सलाम किया और फिर आँख के किनारे से नीचे दूसरी तरफ़ पहाड़ पर चढ़ने वाले मोगरी के दो भाइयों को आते देखा. अब वह उनकी राइफल की पहुँच में था मगर वे उसे मार नहीं सकते थे क्योंकि उसकी पीठ पर एक मज़बूत और ठोस चट्टान थी. उन्हें उसे मारने के लिए चोटी तक आना होगा और चोटी तक आने में उन्हें अभी आधा घंटा और लगेगा.

उनके आने में अभी आधा घंटा बाक़ी है.

कुछ क्षणों में वह बहुत दूर अपने बचपन को लौट आया. और उन पहले कुछ क्षणों में उसे अपने बचपन के अपने गाँव के पहाड़ याद आये. ऊपर-नीचे, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, मोड़ पर खड़े हुए अचानक अजनबियों की तरह नज़र आने वाले देवदार और नदियाँ—शरारती चरवाहों की तरह घाटी पर दौड़ती हुई; और धूप का आँचल धीरे-धीरे किसी वादी के रुख पर सरकता हुआ, और खुशबू अँधेरी शामों की जिनमें नन्हे-नन्हे चिराग़ रात के धीमे सुरों की तरह जगमगाते हैं और मुहब्बत की सरगोशी की तरह महकते हैं. कुछ क्षणों के लिए वह बहुत दूर, वहाँ लौट गया, जो उसका आरम्भ था.

फिर आरम्भ से वह जो पलटा तो अगले कुछ क्षणों में वह अपनी पूरी ज़िन्दगी फलाँग गया और अचानक उसे महसूस हुआ कि अब तक उसने जितनी ज़िन्दगी गुज़ारी वह दूसरों के लिए थी. मोगरी की पहली वफ़ा के लिए, उसकी आख़िरी बेवफ़ाई के लिए, अपने मुल्क की मुहब्बत के लिए, और उसके आखिरी प्रतिशोध के लिए और आख़िर उस खन्दक के लिए जो दिलों को दिलों से जुदा करती है. बूँद-बूँद करके उसने जब अपनी ज़िन्दगी का सारा हिसाब चुका दिया तो उसे महसूस हुआ कि उसके पास सिर्फ़ यही आधा घंटा बचा है जो पूर्णतः उसका अपना था.

मगर आधा घंटा तो बहुत होता है. वह तो एक लम्बा अरसा होता है. इस अर्से में वह बहुत कुछ कर सकता है. वह दोनों हाथ फैलाकर आसमान से गले मिल सकता है. ज़मीन पर खिले हुए बसन्ती फूलों को सूँघ सकता है. हवा में उड़ती हुई कोमल कमनीय अबाबील और ज़मीन पर चलती हुई कँवारी नदी को देख सकता है. इस आधे घंटे में वह पूरी ज़िन्दगी गुज़ार सकता है. आधा घंटा तो बहुत होता है.

और जब उसने यूँ महसूस किया तो ऐसा लगा जैसे वह अभी-अभी पैदा हुआ है.

यकायक उसके सारे जिस्म से दर्द निकल गया. उसने अपने-आपको बिलकुल एक नवजात शिशु की तरह हल्का-फुल्का और मासूम महसूस किया. अचानक उसका जी चाहा कि वह बाँहें फैलाकर ज़ोर से कहक़हा लगाये. ऐसा खुशनसीब आधा घंटा किसी ज़िन्दगी में आया होगा ? शुरू से आख़िर तक उसका अपना. इसके आरम्भ से अन्त तक बिलकुल अनजान. इस आधे घंटे में वह अपनी तक़दीर पर पूरी तरह हावी था. वह इस आधे घंटे का ख़ुदा था.

ख़ुशी की एक लहर उसके दिल में दौड़ गयी. उसने बड़ी तसल्ली से अपनी टाँगें पसार दीं, अपने जिस्म को बिलकुल ढीला छोड़ दिया और दोनों आँखें बन्द करके मोगरी के भाइयों का इन्तज़ार करने लगा.

कृश्न चन्दर

मूल नाम : कृष्ण चन्द्र चोपड़ा
जन्म : 1913, वज़ीर आबाद, जिला-गुजरानवाला
मृत्यु : 1977 (बम्बई)
पहली कहानी : ''झेलम में नाव पर'' जो 1936 में हुमायूँ (मासिक) लाहोर में प्रकाशित हुई.
कृतियाँ : 'तिलिस्मे ख़याल', 'नज़ारे', 'ज़िन्दगी के मोड़ पर', 'टूटे हुए तारे', (कहानी संग्रह) 'अन्नदाता', 'तीन गुंडे', 'समन्दर दूर है', अजन्ता से आगे', 'हम वहशी हैं', 'मैं इन्तज़ार करूंगा' इत्यादि उपन्यास.

प्रगतिशील कहानीकार.

सोवियत नेहरू एवार्ड (1961), पद्मभूषण (1969), नेहरू कल्चरल एसोसिएशन एवार्ड (1973) से भी सम्मानित.

◆ कहानी ◆

खोल दो !

सआदत हसन मंटो
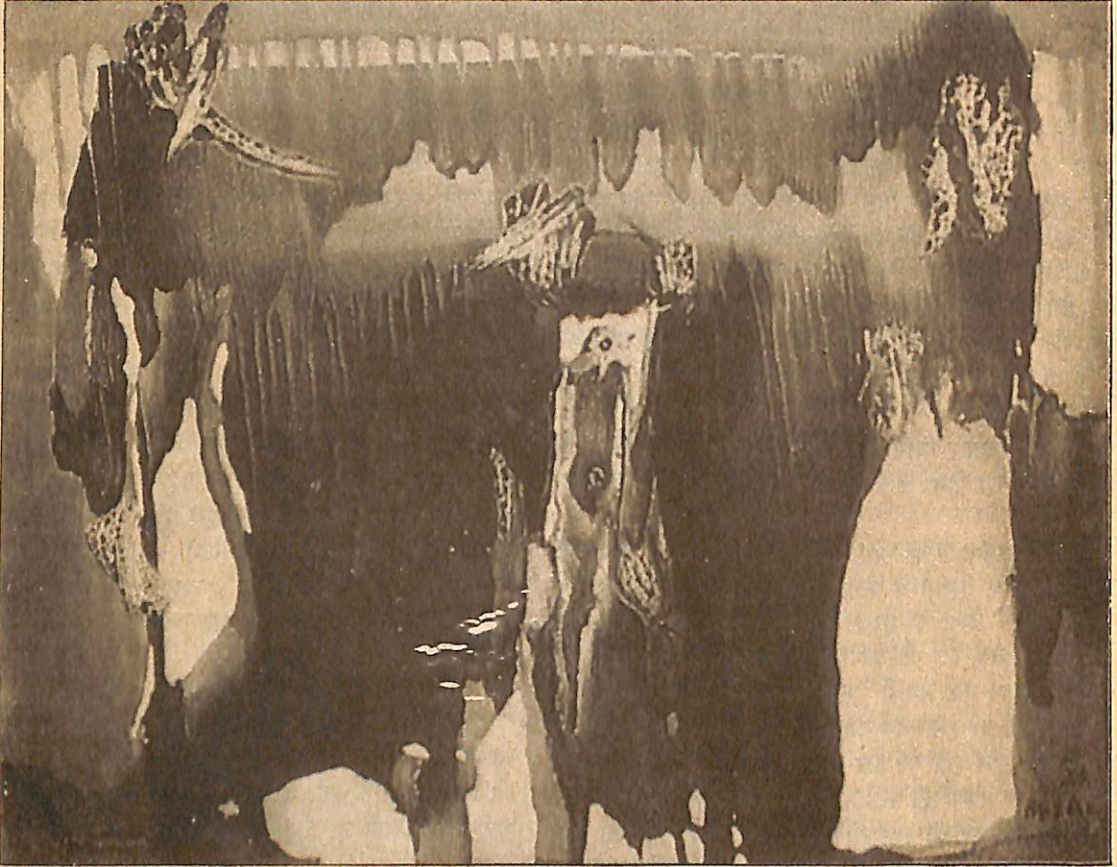
अमृतसर से स्पेशल ट्रेन दोपहर के दो बजे चली और आठ घंटों के बाद मुग़लपुरा पहुँची. रास्ते में कई आदमी मारे गये. कई जख़्मी हुए और कुछ इधर-उधर भटक गये.

सुबह दस बजे—कैम्प की ठंडी ज़मीन पर जब सिराजुद्दीन ने आँखें खोलीं और अपने चारों ओर मर्दों और बच्चों का उफनता समुद्र देखा तो उसके सोचने-समझने की शक्तियाँ और भी मन्द हो गयीं. वह देर तक गन्दले आसमान को टकटकी बाँधे देखता रहा. हालाँकि कैम्प में हर तरफ़ शोर मच रहा था लेकिन बूढ़े सिराजुद्दीन के कान जैसे बन्द थे. उसे कुछ सुनाई नहीं देता था. कोई उसे देखता तो यही समझता कि वह किसी गहरे सोच में डूबा है—मगर ऐसा नहीं था, उसके होश-ो-हवास शल थे. उसका सारा वजूद हवा में लटक रहा था !

गन्दले आसमान की ओर बिना किसी इरादे के देखते-देखते सिराजुद्दीन की निगाहें सूरज से टकरायीं. तेज़ रौशनी उसके वजूद के सभी रेशों में उतर गयी और वह जाग उठा. ऊपर तले उसके दिमाग़ में कई तस्वीरें दौड़ गयीं—लूट, आग, भागमभाग, स्टेशन, गोलियाँ, रात और सकीना ! सिराजुद्दीन एकदम खड़ा हो गया और पागलों की तरह अपने चारों ओर फैले हुए इन्सानों के समन्दर को खँगालना शुरू किया.

पूरे तीन घंटे वह 'सकीना, सकीना' पुकारता कैम्प की ख़ाक छानता रहा. मगर उसे अपनी जवान और इकलौती बेटी का कोई पता नहीं मिला. चारों तरफ़ अफ़रा-तफ़री सी मची थी. कोई अपना बच्चा खोज रहा था, कोई माँ, कोई बीवी और कोई बेटी. सिराजुद्दीन थक-हारकर एक तरफ़ बैठ गया और याददाश्त पर ज़ोर देकर सोचने लगा, सकीना उससे कब और कहाँ छूट गयी. लेकिन सोचते-सोचते उसका दिमाग़ सकीना की माँ की लाश पर टिक जाता है, जिसकी

सारी आँतें बाहर निकली हुई थीं. इससे आगे वह और कुछ नहीं सोच सकता.

सकीना की माँ मर चुकी थी. उसने सिराजुद्दीन की आँखों के सामने दम तोड़ा था लेकिन सकीना कहाँ थी, जिसके बारे में उसकी माँ ने मरते हुए कहा था, 'मुझे छोड़ो, सकीना को लेकर यहाँ से जल्दी भाग जाओ'...सकीना उसके साथ ही थी. दोनों नंगे पाँव भाग रहे थे. सकीना का दुपट्टा गिर पड़ा था. उसे उठाने के लिए उसने ठहरना चाहा था लेकिन सकीना ने चिल्लाकर कहा था, 'अब्बा, छोड़िये'. लेकिन उसने दुपट्टा उठा लिया था—यह सोचते-सोचते उसने अपने कोट की उभरी हुई जेब की ओर देखा और उसमें हाथ डालकर एक कपड़ा निकाला. सकीना का वही दुपट्टा था, परन्तु सकीना कहाँ थी ?

सिराजुद्दीन ने अपने थके दिमाग़ पर बहुत ज़ोर दिया मगर वह किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका. क्या वह सकीना को अपने साथ स्टेशन ले आया था ? क्या वह उसके साथ ही गाड़ी पर सवार थी ? रास्ते में जब गाड़ी ठहरी हुई थी और दंगाई अन्दर घुस आये थे तो क्या वह बेहोश हो गया था, जो वह सकीना को उठा ले गये.

सिराजुद्दीन के दिमाग़ में सवाल ही सवाल थे, जवाब कोई नहीं था. उसे हमदर्दी की ज़रूरत थी लेकिन चारों ओर जितने भी इन्सान फैले हुए थे, सभी को हमदर्दी की ज़रूरत थी. सिराजुद्दीन ने रोना चाहा पर आँखों ने मदद न की. आँसू न जाने कहाँ ग़ायब हो गये थे.

छह दिन बाद चेतना सक्रिय हुई तो सिराजुद्दीन उन लोगों से मिला, जो उसकी मदद करने को तैयार थे. आठ नौजवान थे, जिनके पास लारी थी, बन्दूक़ें थीं. सिराजुद्दीन ने उन्हें लाख-लाख दुआएं दीं और सकीना का हुलिया बताया, "गोरा रंग है और बहुत ही ख़ूबसूरत. मुझ पर नहीं अपनी माँ पर थी. उम्र लगभग सत्रह साल है....आँखें बड़ी-बड़ी, काले बाल, गाल पर मोटा-सा तिल.... मेरी इकलौती लड़की है. ढूँढ़ लाओ, ख़ुदा तुम्हारा भला करेगा."

रज़ाकार नौजवानों ने बड़े जज़्बे के साथ बूढ़े सिराजुद्दीन को यक़ीन दिलाया कि अगर उसकी बेटी ज़िन्दा हुई तो कुछ ही दिनों में उसके पास होगी.

आठ नौजवानों ने कोशिश की. जान हथेली पर रखकर वे लोग अमृतसर गये. कई औरतों, कई मर्दों और कई बच्चों को निकाल-निकालकर महफ़ूज जगह पर पहुँचाया. दस दिन बीत गये मगर उन्हें सकीना कहीं नहीं मिली.

एक दिन वह इसी ख़िदमत के लिए अमृतसर लारी पर जा रहे थे कि छहरे के पास सड़क पर उन्हें एक लड़की दिखाई दी. लारी की आवाज़ सुनकर वह बिदकी और भागना शुरू कर दिया. रज़ाकारों ने मोटर रोकी और सबके सब उसके पीछे भागे. एक खेत में उन्होंने लड़की को पकड़ लिया. देखा तो बहुत ख़ूबसूरत थी. दाहिने गाल पर मोटा तिल था. एक लड़के ने उससे कहा, "घबराओ नहीं—क्या तुम्हारा नाम सकीना है ?" लड़की का रंग और भी पीला हो गया. उसने कोई जवाब न दिया. लेकिन जब सभी लड़कों ने दिलासा दी तो उसका भय दूर हुआ और उसने मान लिया कि वह सिराजुद्दीन की बेटी सकीना है.

आठ रज़ाकार नौजवानों ने हर तरह सकीना की दिलजोई की. उसे खाना खिलाया, दूध पिलाया और लारी में बिठा दिया. एक ने अपना कोट उतारकर उसे दे दिया. क्योंकि दुपट्टा न होने के कारण वह बहुत उलझन महसूस कर रही थी, और बार-बार बाहों से अपने सीने को ढाँपने की नाकाम कोशिश कर रही थी.

सआदत हसन मंटो

मूल नाम : सआदत हसन
जन्म : 11 मई 1912
मृत्यु : 18 जनवरी 1955
कृतियाँ : 'नमरूद की ख़ुदाई, 'बादशाहत का ख़ात्मा', 'अफ़साने और ड्रामे', 'धुआँ', 'अनारकली', 'शिकारी औरतें', 'ठंडा गोश्त', सरकंडों के पीछे', 'लज़्ज़ते संग', ख़ाली बोतलें ख़ाली डब्बे', 'सड़क के किनारे', 'ऊपर नीचे और दर्मियान', (सभी कहानी संग्रह) इत्यादि.

इनके अलावा तल्ख़, तुर्श और शीरीं, मंटो के मज़ामीन और स्याह हाशिए भी मंटो की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं.

कई दिन बीत गये. सिराजुद्दीन को सकीना की कोई ख़बर न मिली. वह दिन भर अलग-अलग कैम्पों और दफ़्तरों के चक्कर काटता रहा लेकिन कहीं से भी उसकी बेटी का पता न चला. रात को वह बहुत देर तक उन रज़ाकार नौजवानों की कामयाबी के लिए दुआ माँगता रहा, जिन्होंने उसे यक़ीन दिलाया था कि अगर सकीना ज़िन्दा हुई तो कुछ दिनों में वे ढूँढ़ निकालेंगे.

एक दिन कैम्प में सिराजुद्दीन ने रज़ाकार नौजवानों को देखा. लारी में बैठे थे. सिराजुद्दीन भागा-भागा उनके पास गया.

लारी चलने ही वाली थी कि उसने पूछा, "बेटा, मेरी सकीना का पता चला ?"

सभी ने एक स्वर में कहा, "चल जायेगा. चल जायेगा." और लारी चला दी.

सिराजुद्दीन ने एक बार फिर उन नौजवानों की कामयाबी की दुआ माँगी और उसका मन कुछ हल्का हो गया.

शाम के क़रीब कैम्प में जहाँ सिराजुद्दीन बैठा था, उसके पास ही कुछ गड़बड़ हुई. चार आदमी कुछ उठाकर ला रहे थे. उसने पूछा तो पता चला कि एक लड़की रेलवे लाइन के पास बेहोश पड़ी थी. लोग उसे उठाकर लाये हैं.

सिराजुद्दीन उनके पीछे-पीछे हो लिया. लोगों ने लड़की को अस्पताल वालों के हवाले किया और चले गये. कुछ देर वह ऐसे ही अस्पताल के बाहर लकड़ी के गड़े हुए खम्भे के साथ लगकर खड़ा रहा. फिर धीरे-धीरे अन्दर चला गया. कमरे में कोई भी नहीं था. एक स्ट्रेचर था, जिस पर एक लाश पड़ी थी. सिराजुद्दीन छोटे-छोटे डग भरता हुआ उसकी ओर बढ़ा. कमरे में अचानक रौशनी हुई. सिराजुद्दीन ने लाश के पीले चेहरे पर चमकता हुआ तिल देखा और चिल्लाया, "सकीना !"

डॉक्टर ने, जिसने कमरे में रौशनी की थी, सिराजुद्दीन से पूछा, "क्या है ?"

सिराजुद्दीन के गले से सिर्फ़ इतना निकला, "जी मैं...जी मैं उसका बाप हूँ." डॉक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी हुई लाश की ओर देखा और उसकी नाड़ी टटोली. और सिराजुद्दीन से कहा, "खिड़की खोल दो."

सकीना के मुर्दा शरीर में जुम्बिश हुई. बेजान हाथों से उसने इज़ारबन्द खोला और सलवार सरका दी. बूढ़ा सिराजुद्दीन ख़ुशी से चिल्लाया, "ज़िन्दा है—मेरी बेटी ज़िन्दा है !"

डॉक्टर सिर से पैर तक पसीने में डूब गया. ▣

◆ कहानी ◆

कल्याणी

●

राजेन्द्र सिंह बेदी

अब उसे इन काली-भूरी राहों में चलने से कोई डर न लगता था, जहाँ बेशुमार गढ़े थे, जिनमें काला पानी, बंबई के इन सनअती (औद्योगिक) शहर की मैल हमेशा जमा रहती थी और कभी तह पे तह न बैठती. बेशक्ल से पत्थर, इधर से उधर शौकिया पड़े थे, बेकार आख़िरी रोड़ा होने के लिए...और वह शुरू के दिन जब टाँगें काँपती थीं और तिनके भी रोकने में कामयाब हो जाते थे. ऐसा मालूम होता था कि गली के मोड़ पे देसी साबुन के बड़े-बड़े चाक बनानेवाला और उसके पड़ोस में का हज्जाम देख रहे हैं, और बराबर हँस रहे हैं. कम से कम रो भी नहीं रहे हैं. फिर 'बाजू' का कोयलेवाला, जो खुद तो शायद उस चकले में कभी न गया था, उस पर भी उसका मुँह काला था...

बगल में पहले माले पे क्लब थी, जहाँ चोरी की रम चलती थी और यारी की रमी. उसकी खिड़कियाँ किसी योगी की आँखों की तरह से बाहर की बजाय अन्दर मन के चकले में खुलती थीं और उनसे सिगरेटों के धुएँ की सूरत में आहें निकलती थीं. लोग यूँ तो जुए में सैकड़ों के हाथ देते थे, मगर सिगरेट हमेशा घटिया पीते थे...बल्कि बीड़ी, सिर्फ़ बीड़ी, जिसका जुए के साथ वही ताल्लुक होता है जो पैंसिलीन का आतशक (सिफलिस) से...यह खिड़कियाँ अन्दर की तरफ क्यों खुलती थीं ? न मालूम क्यों ? मगर कोई ख़ास फ़र्क़ न पड़ता था, क्योंकि अन्दर के सेहन में आनेवाले मर्द की सिर्फ़ छाया ही नज़र आती, जिससे मामला पटाई हुई लड़की उसे अन्दर ले जाती, बिठाती और एक बार ज़रूर बाहर आती—नल पर से पानी की बाल्टी लेने, जो सेहन के ऐन बीचोंबीच लगा हुआ था और दोनों तरफ की खोलियों की तरह-तरह की ज़रूरतों के लिए काफ़ी था. पानी की बाल्टी उठाने से पहले लड़की हमेशा अपनी धोती या साड़ी को कमर से कसती और गाहक लग जाने की अकड़ में कोई न कोई बात अपनी हमपेशा बहन से ज़रूर कहती, "ऐ गिरजा ! ज़रा चावल देख लेना, मेरे को गाहक लगा है...." फिर वह अन्दर जाकर दरवाज़ा बन्द कर लेती. तभी गिरजा सुन्दरी से कहती, "कल्याणी में क्या है री, आज उसे दूसरा कस्टमर लगा है ?" लेकिन सुन्दरी के बजाय जाड़ी या खुरसीद जवाब देती, "अपनी-अपनी किस्मत है ना ?" ...तभी कल्याणीवाले कमरे से ज़ंजीर लगने की आवाज़ आती और बस...सुन्दरी एक नज़र बन्द दरवाज़े की तरफ देखती और अपने सने हुए बालों को छाँटती, तौलिए से पोंछती हुई गुनगुनाने लगती : "रात जागी रे बलम, रात जागी..." और फिर एकाएक गिरजा से मुखातिब हो उठती, "ऐ गिरजा ! कल्याणी के चावल उबल रहे हैं ! देखती नहीं कैसी गुड़गुड़ की आवाज़ आ रही है उसके बर्तन से !" और फिर तीनों-चारों लड़कियाँ मिलकर हँसतीं और एक-दूसरे के कूल्हे में चप्पे देने लगतीं. तभी गिरजा बिलबिला उठती और कहती, "अइया जोर से क्यों मारा, रंडी ! जानती है, अभी तक दुख रहा है मेरा फूल. कान को हाथ लगाया, बाबा ! मैं तो क्या, मेरी आल-औलाद भी कभी किसी पंजाबी के साथ न बैठेगी...." फिर गिरजा बग़ल की खोली में किसी छोकरी को आवाज़ देती, "गंगी तेरा पोपट क्या बोलता... ?"

गंगी की शक्ल तो न दिखाई देती, सिर्फ़ आवाज़ आती, "मेरा पोपट बोलता, भज मन राम, भज मन राम...."

मतलब गंगी को या तो सरमैल है और या फिर कोई कस्टमर नहीं लगा.

महिपत लाल अबके महीनों के बाद इधर आया है. बीच में मुँह का ज़ायका बदलने के लिए वह यहाँ से कुछ फ़र्लांग दूर एक नेपाली लड़की चूनी-ला के पास चला गया था और उसके बाद छियानवे नम्बर की एक क्रिश्चियन छोकरी से फँस गया, जिसका असली नाम तो कुछ और था लेकिन वहाँ की दूसरी लड़कियाँ और दल्लाल उसे 'ओलगा' के नाम से पुकारते थे. इधर कल्याणी को कुछ पता ही न था, क्योंकि इस धन्धे में तो दो-चार मकानों का फासला भी सैकड़ों मील का होता है. लड़कियाँ ज़्यादा से ज़्यादा पिक्चर देखने को निकलती थीं और फिर वापस...

जिस मुँह का ज़ायक़ा बदलने के लिए महिपत दूसरी लड़कियों के पास चला गया था, उसी के लिए उस अड्डे पर लौट आया. लेकिन यह बात तय थी कि इतने महीनों के बाद वह कल्याणी को भूल चुका था. हालाँकि 'मुलुक' जाने के लिए उसने कल्याणी को दो सौ रुपये भी दिये थे, तब शायद नशे का आलम था, जैसा कि अब था. बीयर का पूरा पैग पी जाने के कारण महिपत लाल के दिमाग़ में किसी और ही औरत की तसवीर थी. और वह भी नामुकम्मल. क्योंकि उसे मुकम्मल तो महिपत ही को करना था—एक मुसव्विर (चित्रकार) की तरह से, जो मर्द होता है और तसवीर, जो कि औरत होती है...

अन्दर आते ही महिपत ने सेहन के पहले पैरापेट को फलाँगा. तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे उतरा—लोग समझते हैं पाताल, नरक कहीं दूर, धरती के अन्दर है; लेकिन नहीं जानते कि वह सिर्फ दो-तीन सीढ़ियाँ नीचे है. वहाँ न कोई आग जल रही है और न उबलते, खौलते हुए कुंड हैं. हो सकता है सीढ़ियाँ उतरने के बाद फिर उसे किसी ऊपर के थड़े पे जाना पड़े, जहाँ सामने दोज़ख़ है, जिसमें ऐसी-ऐसी यातनाएँ दी जाती हैं कि इनसान उसका तसव्वुर भी नहीं कर सकता.

सीढ़ियाँ उतरने के बाद, सेहन में पाँव रखने के बजाय महिपत लाल खोलियों के सामनेवाले थड़े पे चला गया, क्योंकि पक्का होने के बावजूद सेहन में एक गढ़ा था, जिसमें हमेशा-हमेशा पानी जमा

रहता था. बरस-डेढ़ बरस पहले भी यह गढ़ा ऐसा था और अब भी ऐसा ही. लेकिन गढ़े के बारे में इतना ही काफी है कि उसका पता हो. ऊपर सेहन के खुले होने की वजह से दशमी का चाँद गढ़े के पानी में झिलमिला रहा था, जैसे उसे मैल, सरमैल के होने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता. अलबत्ता नल से पानी का छींटा उस पर पड़ता तो चाँद की छवि काँपने लगती, पूरी की पूरी...

कुछ गाहक लोग गिरजा, सुन्दरी और जाड़ी को यूँ ठोक-बजाकर देख रहे थे, जैसे वह कच्चे-पक्के घड़े हों. उनमें से कुछ अपनी जेबें टटोल रहे थे. मिस्त्री जाड़ी के साथ जाना चाहता था क्योंकि वह गिरजा, सुन्दरी, खुरसीद से ज़्यादा बदसूरत थी मगर थी आठ ईंट की दीवार. हैरानी तो यह थी कि लड़कियों में से किसी को हैरानी न हो रही थी. वह मर्द और उसके पागलपन को अच्छी तरह से जानती थीं. महिपत ने सुन्दरी को देखा, जो वैसे तो काली थी, मगर आम कोंकणी औरतों की तरह तीखे नक्श-नैनोंवाली. फिर कमर से नीचे उसका जिस्म, 'बाप रे' हो जाता था. तभी महिपत के कुर्ते को खींच पड़ी. उसने मुड़कर देखा तो सामने कल्याणी खड़ी थी और हँसते हुए अपने

दाँतों के मोती रोल रही थी. मगर वह दुबली हो गयी थी. क्यों ? न मालूम क्यों ? चेहरा यूँ लग रहा था जैसे दो आँखों के लिए जगह छोड़कर किसी ने ढोलक पर चमड़ा मढ़ दिया. चूँकि औरत और तकदीर एक ही बात है, इसलिए महिपत कल्याणी के साथ तीसरी खोली में चला गया.

क्लबघर की खिड़की में से किसी ने झाँका और ऊबकर बिसात उलट दी. कल्याणी ने बाहर आकर नल पर बाल्टी भरी, धोती को कमर में कसा और आवाज़ दी, "ओ गिरजा, थोड़ा हमारा गठरी सँभालना..." और फिर वह पानी लेकर खोली में चली गयी...

पास की खोली से मैडम की आवाज़ आयी, "एक टैम का, दो टैम का ?"

अन्दर कल्याणी ने महिपत को आँख मारी और मैडमवाली खोली की तरफ देखते हुए बोली, "एक टैम"—और फिर उसने पैसों के लिए महिपत के सामने हाथ फैला दिया, जिसे पकड़कर महिपत उसे अपनी तरफ़ खींचने लगा—फिर उठकर उसने पान से पटी, लाल-लाल मोहर सी कल्याणी के होठों पे लगा दी, जिसे धोती के पल्लू से पोंछती हुई वह हँसी, "इतने बेसब्र ?" और फिर हाथ फैलाकर कहने लगी, "तुम हमको तीस रुपये देगा, पर हम मैडम को एक ही टैम का बोलेगा...तुम भी उसको नहीं बोलने का, आँ ?"

महिपत ने ऐसे ही सर हिला दिया, "आँ."

बदस्तूर हाथ फैलाये हुए कल्याणी बोली, "जल्दी निकाल."

"पैसे ?" महिपत बोला.

कल्याणी ने अबके रस्म नहीं अदा की, वह सचमुच हँस दी—नहीं, वह शरमा गयी. हाँ, वह धन्धा करती थी और शरमाती भी थी. कौन कहता है वहाँ औरत, औरत नहीं रहती ? वहाँ भी हया उसका ज़ेवर होता है और हथियार—जिससे वह मरती है और मारती भी. महिपत ने तीस रुपये निकालकर कल्याणी की हथेली पर रख दिये. कल्याणी ने ठीक से गिना भी नहीं. उसने तो बस पैसों को चूमा, सर और आँखों से लगाया, भगवान की तसवीर के सामने हाथ जोड़े और मैडम को एक टाइम के पैसे देने और अपने हिस्से के पाँच लेकर रखने, अन्दर के दरवाज़े की तरफ से और भी अन्दर चली गयी. महिपत को जल्दी थी. वह बेसब्री से दुर्गा मैया की तसवीर को देख रहा था, जो शेर पर बैठी थी और उसके पाँव में राक्षस मरा पड़ा था. दुर्गा की दर्जनों भुजाएँ थीं जिनमें से किसी में तलवार थी और किसी में बरछी और किसी में ढाल. एक हाथ में कटा हुआ सर था, बालों से थामा हुआ. और महिपत को मालूम हो रहा था, जैसे उसका अपना सर है. लेकिन दुर्गा की छातियाँ, उसके कूल्हे और रानें बनाने में मुसव्विर ने बड़े सब्र से काम लिया था.... दीवारें टूटी हुई थीं. वह कोई बात न थी, लेकिन उनपे लपकती हुई सील और उसमें गडमड काई ने अजीब भयानक सी शक्लें बना दी थीं, जिससे तबीयत बैठ-बैठ जाती थी. मालूम होता था कि वह दीवारें नहीं, तिब्बती स्कूल हैं, जिन पर नरक और स्वर्ग के नक़्शे बने हैं. गुनहगारों को अज़दहे डस रहे हैं और शोलों की लपलपाती हुई ज़बानें उन्हें चाट

रही हैं. पूरा संसार काल के बड़े-बड़े दाँतों और उसके खोह जैसे मुँह में पड़ा है.

—वह ज़रूर नरक में जाएगा...महिपत...जाने दो !

कल्याणी लौटी और लौटते ही उसने अपने कपड़े उतारने शुरू कर दिये.

यह खेल मर्द और औरत का—जिसमें औरत को यातना न भी हो तो भी उसका सुबूत देना पड़ता है और अगर हो तो मर्द उसे नहीं मानता.

महिपत पहले तो ऐसे ही कल्याणी को नोचता-काटता रहा. फिर वह कूदकर पलंग से नीचे उतर गया. वह कल्याणी को नहीं, कायनात की औरत को देखना चाहता था, क्योंकि कल्याणियाँ तो आती हैं और चली जाती हैं. महिपत भी आते हैं और चले जाते हैं. लेकिन औरत वहीं रहती है और मर्द भी. क्यों ? यह सबकुछ समझ में नहीं आता. हालाँकि उसमें समझ की कोई बात ही नहीं.

एक बात है. सतजुग, द्वापर और त्रेता जुगों में तो पूरा न्याय था. फिर भी औरतें मुहब्बत में क्यों चोरी कर जाती थीं ? तब गणिका,

''यह तो हमको नहीं मालूम'', कल्याणी ने जवाब दिया और फिर थोड़ा हँसी, ''कोई आया था कस्टमर, बोला, 'मेरा तेरे को ठहर गया तो उसका नाम अचमी रखने का.' यह तो हम नहीं बोलने सकता, उसी का ठहरा कि किसका, पर नाम याद रह गया मेरे को. ओ तो फिर आयाच नहीं और तुम भी कोछ नहीं बोला'' ...और फिर और हँसते हुए बोली, ''अच्छा, अगले टैम देखेंगा...''

वेश्या क्यों थीं ? आज तो अन्याय है—पग-पग पे अन्याय. फिर उन्हें क्यों रोका जाता है ? क्यों उन पर कानून लगाये जाते हैं ? जो रुपया टकसाल से आता है उसकी कीमत आठ आने रह जाती है. निर्धनता और फालतू पैसे के मेलजोल की जितनी ज़रूरत आज है, तवारीख में कभी हुई है ? ...दबा लें उसे ताकि घर की लक्ष्मी बाहर ना जाय. मगर दौलत, पैसा तो बिच गॉडेस है, वह कुतिया बू पे आयेगी तो जायेगी ही...

महिपत को उलझावे की ज़रूरत थी, इसीलिए उसे कायनात की औरत के पेचो-ख़म (उतार-चढ़ाव) खा गये. उसने एक बीयर मँगाने के लिए कहा, लेकिन उससे पहले कि कल्याणी का काला वजूद उठकर लड़के को आवाज़ दे, वह खुद ही बोल उठा, ''रहने दो.'' और उस नज़्ज़ारे को देखने लगा जो नशे से भी ज़्यादा था. फिर न जाने क्या हुआ, महिपत ने झपटकर इतने ज़ोर से कल्याणी की टाँगें अलग कीं कि वह बिलबिला उठी. अपनी बर्बरियत से घबराकर महिपत ने खुद ही अपनी गिरफ़्त ढीली कर दी. अब कल्याणी पलंग पर पड़ी थी और महिपत घुटनों के बल नीचे फ़र्श पे बैठा हुआ था और अपने मुँह में ज़बान की नोक बना रहा था...कल्याणी लेटी हुई ऊपर छत को देख रही थी, जहाँ पंखा जाले में लिपटा हुआ, एक आहिस्ता रफ़्तार से चल रहा था. फिर एकाएकी कल्याणी को कुछ होने लगा. उसके पूरे बदन में महिपत और उसकी ज़बान के कारण एक झुरझुरी सी दौड़ गयी, और वह उस च्यूँटे की तरह से तिलमिलाने लगी, जिसके सामने बेरहम बच्चे जलती हुई माचिस रख देते हैं...

तभी अपने-आप से घबराकर महिपत ऊपर चला आया. उसके बदन में बेहद तनाव था और बिजलियाँ थीं, जिन्हें वह कैसे भी झटक देना चाहता था. उसके हाथों की पकड़ इस कदर मज़बूत थी कि जाबिर से जाबिर आदमी उससे न निकल सकता था. उसने हाँफती हुई कल्याणी की तरफ़ देखा. उसे यकीन ही न आ रहा था कि एक पेशेवर औरत की छातियों का वज़न भी एकाएकी बढ़ सकता है और उनपे के हलके और दाने फैलकर अपने मरकज़ (केन्द्र), उभरे हुए मरकज़ को भी नष्ट कर सकते हैं. उनके इर्द-गिर्द और कूल्हों और रानों पर सीतला के दाग़ से उभर सकते हैं. अपनी वहशत में वह उस वक़्त कायनात की औरत को भी भूल गया और मर्द को भी. उसे इस बात का एहसास भी न रहा कि वह खुद कहाँ है और कल्याणी कहाँ ? वह कहाँ ख़त्म होता है और कल्याणी कहाँ से शुरू होती है ? वह उस कातिल की तरह से था जो छत पर से किसी को ढकेल देता है. उसे यकीन होता है ना, कि इतनी बुलन्दी से गिरकर वह बयान देने के लिए भी जिन्दा न रहेगा और वह उसपे खुदकुशी का इल्ज़ाम लगाकर खुद बच निकलेगा. एक जुस्त के साथ अपना पूरा बदन कल्याणी पे फेंकना शुरू कर दिया.

एक दिलदोज़ (हृदय विदारक) सी चीख़ निकली और बिलबिलाहट सुनाई दी. सील और काई से पटी दीवारों पे पंखे के पर अपनी बड़ी-बड़ी परछाइयाँ डाल रहे थे. जाने किसने पंखे को तेज़ कर दिया था ? महिपत पसीने से शराबोर था और शर्मिन्दा भी, क्योंकि कल्याणी रो रही थी, कराह रही थी. या वह एक आम कसबी (वेश्या) की तरह से गाहक को लात मारना न जानती थी और या फिर वह इतने अच्छे गाहक को खो देने के लिए तैयार न थी.

सिरहाने में मुँह छिपाये, कल्याणी उलटी लेटी हुई थी और उसके शाने (कन्धे) फड़कते हुए दिखाई दे रहे थे. तभी महिपत एक लम्हे के लिए ठिठक गया. फिर आगे बढ़कर उसने कल्याणी के चेहरे को हाथों में लेने की कोशिश की, मगर कल्याणी ने उसे झटक दिया. वह सचमुच रो रही थी. उसके चेहरे को थामने में महिपत के अपने हाथ भी गीले हो गये थे. आँसू तो अपने-आप नहीं निकल आते. जब जब्र और बेबसी खून की होली खेलते हैं तभी आँखें छान-फटककर उस लहू को साफ करती हुई चेहरे पे ले आती हैं. अगर उसे अपने ही रंग में ले आये तो दुनिया में मर्द दिखाई दे, न औरत.

कल्याणी ने अपना चेहरा छुड़ा लिया.

महिपत पहले सिर्फ़ शर्मिन्दा था, फिर सचमुच शर्मिन्दा था. उसने कल्याणी से माफ़ी माँगी और माँगता ही चला गया. कल्याणी ने पलंग की चादर से आँखें पोंछीं और बेबसी से महिपत की तरफ़ देखा. फिर वह उठकर दोनों बाजू फैलाते हुए उससे लिपट गयी. उसकी चौड़ी-चकली छाती पर अपने घुँघराले बालोंवाला कोंकणी सर रख दिया. फिर उसकी घिग्घी बँध गयी, जिससे निकलने में महिपत को और भी आनन्द का एहसास हुआ—और कल्याणी को भी. उसने अपने घातक ही में पनाह ढूँढ़ ली. मर्द तो मर्द होगा ही, बाप भी तो है, भाई भी तो है...औरत औरत ही सही, मगर वह बेटी भी तो है, बहन भी तो है...

और माँ...

महिपत की आँखों में सचमुच के पछतावे को देखते ही तसवीर उलट गयी. अब उसका सर कल्याणी की छाती पर था और वह उसे प्यार कर रही थी. महिपत चाहता था कि वह इस अमल को अंजाम पे पहुँचाये बग़ैर ही वहाँ से चला जाये लेकिन कल्याणी इस तौहीन को बरदाश्त न कर सकती थी.

कल्याणी ने फिर अपने आपको यन्त्रणा होने दी. बीच में एक-दो बार वह दर्द से कराही भी और फिर बोली, ''हाय मेरा फूल...भगवान

◆ कहानी ◆

सलमा और हवा

●

अहमद हमेश

अभी इस भू-मंडल में रात और दिन का सफ़र जारी है. यह स्पष्ट है. मिट्टी और पानी की तमाम कमियों से हटकर पृथ्वी पर एक ऐसा मकान बाक़ी है, जिसके ऊपर से हवा सोच-समझकर गुज़रती है. यह स्पष्ट नहीं क्योंकि हवा को यह मालूम है कि इस मकान में एक इंतहाई अहम वजूद रहता है जो किसी चीज़ से भयभीत नहीं. यह स्पष्ट है. यह देखा गया है कि कभी दिन की ओर आने वाली कुछ चुनी हुई किरणें उनके सर से जुड़ जाती हैं. कभी रात उनके गिर्द चकराती है. उनके नाम के सारे अक्षर ख़ाली हैं : स, ल, म, आ—उनके बीच हवा आ जाती है. उनकी तेज़ और तेजस्वी आवाज़. यह यक़ीन है कि हवा उनको चैलेंज नहीं कर सकती.

ये कौन हैं ?—ये वे हैं, जो ज़िन्दादिली से ज़िन्दा हैं. वह कहती हैं कि दरअसल, हवा ही मौत है.

हवा का मतलब, लोग ज़मीन पर सीधे ज़िन्दगी से लेते हैं. अगर दूसरे ग्रहों में जानदार अबादियाँ हैं तो वहाँ कौन-सी हवा चलती है! कुछ और दरयाफ़्तों का इन्तज़ार कब तक करें ?

फ़िलहाल जो हवा ज़मीन पर चलती है, वह बिल्कुल फ्रॉड है. वह रोज़ अपनी कोरी लपेट में कोरे दुर्भाग्य को लिए रौशनदान से बाहर निकल जाती है. दुहराये हुए आदमी, वनस्पति, पक्षी और मवेशी, उसके पालतू हैं. माना कि माँ के हयात नक़्शे से निकलकर शिशु, माँस का लोथड़ा हवा में फैलता है. हवा उसे फैला-फैला कर उम्र के क्राफ़्ट पर उछालती है. गोश्त तजुर्बो से परिचित होता है. जब क्राफ़्ट टूटता है तो उसे मिट्टी और पानी में कौन घोलता है, किसने मरते हुए आदमी से पूछा है ! या मरती हुई वनस्पति या पक्षी या मवेशी से किसने पूछा है ? यह वो हैं, जो अपने मकान के लम्बे आँगन में बिछे हुए लम्बे तख़्त पर बैठी हैं. तख़्त पर सफ़ेद चादर. ज़ाफ़रान और सफ़ेद काग़ज़—वह कुरआन की आयतें पढ़ रही हैं. उनके मकान के बाहर औरतों का रोना सुनाई दे रहा है. ये ख़बर सुनकर वह बाहर गली में आती हैं कि वहाँ बूढ़ा किशन मर रहा है. उसके गले से खरखराहट निकल रही है. औरतों के रोने से मरने की पीड़ा और बढ़ जाती है. वह मरते हुए बूढ़े के पास आती हैं. उसके सर पर हाथ रखती हैं. उसके गले से निकलती ख़रख़राहट अचानक थम जाती है. औरतें रोना बन्द कर देती हैं. महज़ एक बूढ़े को मारने के लिए देर से जो नाटक कर रही थीं, उस पर मौन छा गया.

गली से मिली हुई गलियों और उनसे मिली हुई सड़कों पर कर्फ़्यू है. दक्षिण में यमदूत का क्लर्क अपनी हद तक रजिस्टर में पूरे इलाक़े की मौत दर्ज कर चुका है. यह हवा है. इस तरह नारों और फ़ायर के दरमियान करोड़ों रहस्यमयी सामूहिक पस्तियाँ जीतने के लिए सामूहिक अलगाव माँगती हैं. इस हिसाब से इस माँग के करोड़ों टुकड़े बर्बरता से अलग कर दिये जाते हैं और क्या चाहिए. अलगाव की माँग करने वाले फिर भी जी रहे होते हैं. यह हवा है. इसका विकास, आज तक के ऐतिहासिक दस्तावेज़ में केवल कर्फ़्यू है. लेकिन बूढ़े किशन की घटना इसलिए अलग है कि वह अकेला मरने के अर्थ में अलहदा हो रहा है. उसका अक़ीदा कर्फ़्यू नहीं बल्कि अलग होने की तमन्ना, मौत है. उसे देखने के लिए कोई अपने मकान से निकलकर गली में नहीं जा सकता. सब कर्फ़्यू से डरते हैं.

ये वे हैं, जो अपने सम्पूर्ण स्वतंत्र साहस से गली में गयीं क्योंकि कुरआन में कहीं भी कर्फ़्यू का ज़िक्र नहीं. लिहाजा वह एक बूढ़े पर मौत आसान करके फिर अपने मकान में वापस आ गयीं.

◘

सम्पर्क : 2/जे-8/6, उरूज चीनी बिल्डिंग, नाजिमआबाद, कराँची (पाकिस्तान)

के लिए...मेरे को सुई लगवाना पड़ता....'' फिर आहिस्ता-आहिस्ता, आहिस्ता-आहिस्ता उसने दुख और सुख सहते हुए कायनात के मर्द को ख़त्म कर दिया और उसे बच्चा बनाकर गोद में ले लिया. महिपत के हर उलटे साँस के साथ कल्याणी बड़ी नर्मी, बड़ी मुलामियत और बड़ी ममता के साथ उसका मुँह चूम लेती थी, जिससे सिगरेट और शराब का तअफ़्फ़ुन (दुर्गन्ध) लपक रहा था.

धोने-धुलाने के बाद महिपत ने अपना हाथ कपड़ों की तरफ़ बढ़ाया, मगर कल्याणी ने थाम लिया और बोली, ''मेरे को बीस रुपये ज्यादती दो.''

''बीस रुपये ?''

''हाँ.'' कल्याणी ने कहा, ''हम तुम्हारा गुन गायेगा. हम भूला नहीं ओ दिन जब हम 'मुलक' गया था, तो तुम हमको दो सौ रुपये रोकड़ दिया—हम कारदार का बड़ा मन्दिर में एक टाँग से खड़ा होके तुम्हारे वास्ते प्रार्थना किया और बोला—मेरा मही का रक्षा करना भगवान—उसको लम्बा ज़िन्दगी देना, पैसा देना....''

और कल्याणी उम्मीद भरी नज़रों से पहली और अबकी प्रार्थना का असर देखने लगी.

महिपत के नथुने नफ़रत से फूलने लगे—पेशेवर औरत ! पिछली बार दो सौ रुपये लेने से पहले भी ऐसे ही टसुए बहाये थे इसने—यूँ रोयी-चिल्लायी थी, जैसे मैं कोई इनसान नहीं जानवर हूँ, हब्शी हूँ... मगर...और बीस रुपये ? फिर रोने की क्या ज़रूरत थी, आँसू बहाने की ? वैसे ही माँग लेती तो क्या मैं इनकार कर देता ?...जानती भी है, मैं पैसे से इनकार नहीं करता. दरअस्ल इनकार मुझे आता ही नहीं. इसीलिए तो भगवान का सौ शुक्र करता हूँ कि मैं औरत पैदा नहीं हुआ, वरना—मैं तो यहाँ मुँहमाँगे देने का क़ायल हूँ, जिससे फिर गुनाह का एहसास नहीं होता—ऐसे ही आदमी का तो इंतज़ार किया करती हैं ये—और जब वह आता है तो उससे झूठ बोलने, उसके कपड़े उतारने से भी नहीं चूकतीं...कहती हैं, मैंने सोचा था, तुम मंगल को ज़रूर आओगे...मंगल को क्या है भाई ?...मंगल को मैंने भगवान से प्रार्थना की थी....यह रोना...शायद सच में रोयी हो...मैंने भी तो एक अन्धे की तरह से कहीं भी चलने दिया अपने-आपको. आव देखा न ताव—ताव कितना अच्छा था !...मगर मैंने जो अज़ीयत दी है उसे,

उससे निजात पाने का एक ही तरीका है—दे दो रुपये—मगर क्यों ? पहले ही मैंने उसे दो टैम के पैसे दिये और एक ही टाइम बैठा.

महिपत की कशमकश को देखकर कल्याणी ने कहा, ''क्या सोचने को लग गया ? दे दो ना—मेरा बच्चा तुमको दुआ देगा.''

''तेरा बच्चा ?''

''हाँ—तुमने नहीं देखा ?''

''नहीं...कहाँ, किससे लिया ?''

कल्याणी हँस दी. फिर वह लजा गयी. उसपे भी बोली, ''क्या मालूम किसका ? मेरे को सकल थोड़ा ध्यान में रहता ? क्या खबर तुम्हारा हो...''

महिपत ने घबराकर कुरते की जेब में से बीस रुपये निकालकर कल्याणी के हाथ पर रख दिये जो अभी तक नंगी खड़ी थी और जिसकी कमर और कूल्हों पे पड़ा हुआ चाँदी का पटका चमक रहा था. एक हलका सा हाथ कल्याणी के पीछे थपथपाते हुए महिपत ने कुछ और सोच लिया. कल्याणी ने साड़ी पकड़कर लपेटी ही थी कि वह बोला, ''अगर एक टाइम और बैठ जाऊँ तो ? पैसे दे दिये हैं.''

''बैठो...'' कल्याणी ने बिना किसी झिझक के कहा और अपनी साड़ी उतारकर पलंग पर फेंक दी. चुलूँ-चुलूँ करता हुआ उसका गोश्त सब मार भूल चुका था. अकेले-हैवानी से भी तजावुज़ (अतिक्रमण) कर चुका था...लेकिन महिपत ने सर हिला दिया, ''अब दम नहीं रहा !''

''हूँ...'' कल्याणी ने कहा, ''बहुत जन आता मेरे इधर, पर तुम-सा कड़क हम नहीं देखा, सच्ची—तुम जाता तो बहुत दिन यह नाफ़ ठिकाने पे नहीं आता.''

...चाँद गढ़े पर से सरक गया था. कोई बिल्कुल ही लेट जाये तो उसे देख पाये. तभी कल्याणी महिपत का हाथ पकड़कर उस कमरे में ले आयी, जहाँ गिरजा, सुन्दरी, जाड़ी वगैरह थीं. जाड़ी मिस्त्री और उसके बाद एक बोहरे को भी भुगता चुकी थी. एक सरदार से झगड़ा कर चुकी थी. जब महिपत आया तो उसने खुरसीद के कोहनी मारी और बोली, ''आया, कल्याणी का मर्द !'' ...इसलिए कि पहले जब महिपत इधर आया तो हमेशा कल्याणी ही के पास...

कल्याणी के साथ खोली में आते हुए, महिपत ने बाथरूम के पास पड़ी हुई गठरी को देखा, जिसके पास बैठी हुई गिरजा अपने पल्लू से उसे हवा कर रही थी. कल्याणी ने गठरी को उठा लिया और महिपत के पास लाते हुए बोली, ''देखो, देखो मेरा बच्चा...'' महिमत ने उस लिजलिजे चार-पाँच महीने के बच्चे की तरफ देखा, जिसे गोद में उठाए हुए कल्याणी कह रही थी, ''इसी हलकट को पैदा करने, दूध पिलाने से हम यह हो गया. खाने को कुछ मिलता नहीं ना...इसपे तुम आता तो...''

फिर एकाएकी महिपत के कान के पास मुँह लाते हुए कल्याणी बोली, ''सुन्दरी को देखता ? तुम बोलेगा तो हम अगले टाइम सुन्दरी को ला देगा...नहीं, नहीं. परसों हम आपी अच्छा हो जायेगा....यह सब जगह भर जायेगा ना...'' और कल्याणी ने अपनी छाती और अपने कूल्हों को छूते हुए कहा, ''यह सब, जिनसे तुम अपना हाथ भरता, अपना बाजू भरता—ठीक है, कुछ हाथ में भी तो आना माँगता—सुन्दरी को लेना होयेंगा, तो मेरे को बोलना. हम सब ठीक कर देंगा. पर तुमको आने का मेरा पास. गिरजा के पास नहीं आने का. ऊझना ऊँ-आँ बौत करता, बौत नखरा उसका...'' और फिर बच्चे को अपने बाजुओं में झुलाते हुए कल्याणी बोली, ''हम इसका नाम अचमी रखा.''

''अचमी ! अचमी क्या ?''

राजेन्द्र सिंह बेदी

जन्म : 1 सितम्बर 1915, सियालकोट (पाकिस्तान)

मृत्यु : 11 नवम्बर 1984 (मुम्बई)

पहली कहानी : 'बन्देमातरम' (1930) जो मोहासिन लाहोरी के नाम से प्रकाशित हुई थी.

कृतियाँ : 'गिरहन', 'कोख-जली', 'अपने दुख मुझे दे दो', 'हाथ हमारे क़लम हुए', 'मुक्तिबोध', 'मेहमान', 'जोगिया', 'लाजवन्ती', 'कुन्दन', 'लम्बी लड़की' (सभी कहानी संग्रह) 'एक चादर मैली सी' (उपन्यास) 'बेजान चीजें', 'सात खेल' (नाटक)

''यह तो हमको नहीं मालूम'', कल्याणी ने जवाब दिया और फिर थोड़ा हँसी, ''कोई आया था कस्टमर, बोला, 'मेरा तेरे को ठहर गया तो उसका नाम अचमी रखने का.' यह तो हम नहीं बोलने सकता. उसी का ठहरा कि किसका, पर नाम याद रह गया मेरे को. ओ तो फिर आयाच नहीं और तुम भी कोछ नहीं बोला'' ...और फिर और हँसते हुए बोली, ''अच्छा, अगले टैम देखेंगा...''

महिपत ने एक नजर अचमी की तरफ देखा और फिर इर्द-गिर्द के माहौल की तरफ, 'यहाँ पलेगा यह बच्चा. बच्चा—मैं तो समझता था, इन लड़कियों के पास आता हूँ तो मैं कोई पाप नहीं करता. यह दस की आशा रखती हैं तो मैं बीस देता हूँ—यह बच्चा ?''

'यहाँ तो दम घुटता है... जाते समय तो घुटता ही है.'

महिपत ने जेब से पाँच का नोट निकाला और उसे बच्चे पे रख दिया, ''यह इस दुनिया में आया है, इसलिए यह इसकी दक्षिणा.''

''नहीं-नहीं—यह हम नहीं लेंगा.''

''लेना पड़ेगा, तुम इनकार नहीं कर सकतीं.''

फिर वाकई कल्याणी इनकार न कर सकी. बच्चे की खातिर महिपत ने कल्याणी के कन्धे पे हाथ रखते हुए कहा, ''मुझे माफ़ क[illegible] दो कल्याणी, मैंने सचमुच आज तुमसे जानवरों सा सुलूक कि[illegible] है.'' लेकिन महिपत की बात से यह बिल्कुल पता न चलता था [illegible] अब वह ऐसा न करेगा. ज़रूर करेगा वह. इसी बात का तो नशा [illegible] उसे, बीयर तो फ़ालतू सी बात थी.

कल्याणी ने जवाब दिया, ''कोई बात नहीं, पर तुम आज खल[illegible] कर दिया, मार दिया मेरे को.'' और वह यह शिकायत कुछ इस [illegible] से कर रही थी, जैसे मरना ही तो चाहती थी वह. क्या इसलिए [illegible] पैसे मिलते हैं, पेट पलता है ?...नहीं...हाँ, जब भूख से पेट दुखता [illegible] तो मालूम होता है, दुनिया में सारे मर्द ख़त्म हो गये—औरतें मर ग[illegible]

महिपत ने पूछा, ''यह अचमी लड़का है या लड़की ?''

एक अजीब सी किरन ने कल्याणी के पिटे, मार खाये हुए [illegible] को मुनव्वर (प्रकाशमय) कर दिया और वह चेहरे की पंखुरियाँ खो[illegible] हुए बोली, ''छोकरा !''

फिर कल्याणी ने जल्दी से अचमी का लँगोट खोला और [illegible] हाथों से उठाकर अचमी के लड़कपन को महिपत के सामने कर[illegible] इतराती हुई बोली, ''देखो, देखो...''

महिपत के मुँह मोड़ते ही कल्याणी ने पूछा, ''अब [illegible] आयेंगा ?''

''जल्दी...'' महिपत ने घबराकर जवाब दिया और फिर वह [illegible] कहीं रौशनियों में मुँह छुपाने के लिए निकल गया.

◆ कहानी ◆

दो हाथ

इस्मत चुग़ताई

रामअवतार लाम पर से वापस आ रहा था. बूढ़ी मेहतरानी अब्बा मियाँ से चिट्ठी पढ़वाने आयी थी. रामअवतार को छुट्टी मिल गयी. जंग खत्म हो गयी थी न ? इसलिए रामअवतार तीन साल बाद वापस आ रहा था. बूढ़ी मेहतरानी की चीपड़ भरी आँखों में आँसू टिमटिमा रहे थे, मारे शुक्रगुज़ारी के वह दौड़-दौड़कर सबक पाँव छू रही थी. जैसे इन पैरों के मालिकों ने ही उसका इकलौता पूत लाम से ज़िन्दा सलामत मँगवा लिया.

बुढ़िया पचास वर्ष की होगी पर सत्तर की मालूम होती थी. दस-बारह कच्चे-पक्के बच्चे जने. उनमें से बस रामअवतरवा बड़ी मन्नतों-मुरादों से जिया था. अभी उसकी शादी रचाये साल भर भी नहीं बीता था कि रामअवतार की पुकार आ गयी. मेहतरानी ने बहुत बावेला मचाया मगर कुछ न चली और जब रामअवतार वर्दी पहनकर आख़िरी बार उसके पैर छूने आया तो उसकी शानो-शौकत से बेइन्तिहा प्रभावित हुई. जैसे वह कर्नल ही तो हो गया था.

सारे नौकर-चाकर मुस्कुरा रहे थे. रामअवतार के आने के बाद जो ड्रामा होने की उम्मीद थी, सब उसी पर आस लगाये बैठे थे. हालाँकि रामअवतार लाम पर तोप, बन्दूक़ छोड़ने नहीं गया था. फिर भी सिपाहियों का मैला उठाते-उठाते उसमें कुछ सिपाहियाना आन-बान और अकड़ पैदा हो गयी. भूरी वर्दी डाटकर वह पुराना रामअवतरवा वास्तव में नहीं रहा होगा. नामुमकिन है वह गोरी की करतूत सुने और उसका ख़ून बेइज़्ज़ती की बातें सुनकर खौल न सके.

ब्याह कर आयी थी तो क्या मिसमिसी थी गोरी. जब रामअवतार रहा उसका घूँघट फुट भर लम्बा रहा और किसी ने उसके चेहरे के प्रकाश की छवि न देखी. जब ख़सम गया तो क्या बिलख-बिलख कर रोयी थी, जैसे उसकी माँग का सिन्दूर हमेशा के लिए उजड़ रहा हो. थोड़े दिन रोयी-रोयी आँखें लिये, सर झुकाये मैले की टोकरी ढोती-फिरी. फिर आहिस्ता-आहिस्ता उसके घूँघट की लम्बाई कम होने लगी. कुछ लोगों का ख़याल है, यह सारा बसन्त रुत का किया धरा है. कुछ साफ़ कहने वाले कहते थे—गोरी थी ही छिनाल. रामअवतार के जाते ही क़यामत हो गयी. कमबख़्त हर समय ही-ही, हर समय इठलाना. कमर पर मैले की टोकरी लेकर काँसे के कड़े छनकाती जिधर से निकल जाती, लोग बदहवास हो जाते. धोबी के हाथ से साबुन की पट्टी फिसलकर हौज़ में गिर जाती. बावर्ची की नज़र तवे पर से सुलगती हुई रोटी से उचट जाती. भिश्ती का डोल कुएँ में डूबता ही चला जाता. चपरासियों तक की बिल्ला लगी पगड़ियाँ ढीली होकर गर्दन में झूलने लगतीं और जब यह सरापा क़यामत घूँघट में से बान फेंकती गुज़र जाती तो पूरा शागिर्द पेशा (नौकर-चाकर) एक बेजान लाश की तरह स्तब्ध रह जाता. फिर एकदम चौंककर वह एक दूसरे की दुर्गति पर व्यंग्य करने लगते. धोबिन मारे गुस्से के कलफ़ की बोन्डी लोट देती. चपरासिन छाती से चिपटे लौंडे के बेबात चाँटे जड़ने लगती और बावर्ची की तीसरी बीवी पर हिस्टिरिया का दौरा पड़ जाता.

नाम की गोरी थी पर कमबख़्त काली बहुत थी. जैसे उल्टे तवे पर किसी फूहड़िया ने परांठे तल कर चमकता हुआ छोड़ दिया हो. चौड़ी-फुकना सी नाक, फैला हुआ मुँह, दाँत माँजने का उसकी सात पीढ़ियों ने फैशन ही छोड़ दिया था. आँखों में ढेर सारा काजल थोपने के बाद भी दायें आँख का भेंगापन ओझल न हो सका. फिर भी टेढ़ी आँख से न जाने कैसे ज़हर में बुझे तीर फेंकती थी कि निशाने पर बैठ ही जाते थे. कमर भी लचकदार न थी, खासी कुठला सी थी. जूठन खा-खाकर तुम्बा हो रही थी. चौड़े, भैंस के से खुर. जिधर से निकल जाती, कड़वे तेल की सड़ाँध छोड़ जाती. हाँ, आवाज़ में बला की कूक थी. तीज-त्योहार पर लहक कर कजरियाँ गाती तो उसकी आवाज़ सबसे ऊँची लहराती-चढ़ती चली जाती.

बुढ़िया मेहतरानी, यानी उसकी सास, बेटे के जाते ही उससे बेहद चिढ़ने लगी. बैठे-बिठाये धमकाने के लिए गालियाँ दे देती. इस पर नज़र रखने के लिए पीछे-पीछे फिरती. मगर बुढ़िया अब टूट चुकी थी. चालीस वर्ष मैला ढोने से उसकी कमर स्थायी रूप से एक तरफ लचककर वहीं थम गयी थी. हमारी पुरानी मेहतरानी थी. हम लोगों के नाल उसी ने गाड़े थे.

ज्यों ही अम्माँ के दर्द लगते, मेहतरानी दहलीज़ पर आकर बैठ जाती और कभी-कभी तो लेडी डॉक्टर तक को निहायत मुफ़ीद हिदायतें देती. छूत-भूत को दफ़ा करने के लिए कुछ मन्तर-ताबीज़ भी लाकर पट्टी से बाँध देती. मेहतरानी की घर में ख़ासी बुजुर्गाना हैसियत थी.

इतनी लाड़ली मेहतरानी की बहू यकायक लोगों की आँखों में काँटा बन गयी. चपरासिन और बावर्चिन की तो बात और थी. हमारी अच्छी भली भावज़ों का माथा उसे इठलाते देखकर ठनक जाता. अगर वह उस कमरे में झाड़ू देने जाती, जिसमें उसके मियाँ होते तो हड़बड़ा कर दूध पीते बच्चे के मुँह से छाती-छीनकर भागतीं कि कहीं वह डायन उनके शौहरों पर टोना-टोटका न कर रही हो.

गोरी क्या थी. बस एक मरखना लम्बे-लम्बे सींगों वाला बिजार था कि छूटा फिरता था. लोग अपने काँच के बर्तन-भांडे दोनों हाथों से समेटकर कलेजे से लगाते और जब हालात ने नाजुक सूरत पकड़ ली तो शागिर्द पेशे की कुछ महिलाएँ एकजुट होकर अम्माँ के दरबार में हाज़िर हुईं. बड़े ज़ोर-शोर से खतरे और उसके खौफ़नाक नतीजों पर बहस हुई. पति रक्षा की एक कमेटी बनायी गयी जिसमें सब भावजों ने बड़ी उग्रता से वोट दिये और अम्माँ को अध्यक्षता की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी. सारी महिलाएँ अपने मर्तबे के हिसाब से ज़मीन,

उससे निजात पाने का एक ही तरीका है—दे दो रुपये—मगर क्यों ? पहले ही मैंने उसे दो टैम के पैसे दिये और एक ही टाइम बैठा.

महिपत की कशमकश को देखकर कल्याणी ने कहा, "क्या सोचने को लग गया ? दे दो ना—मेरा बच्चा तुमको दुआ देगा."

"तेरा बच्चा ?"

"हाँ—तुमने नहीं देखा ?"

"नहीं...कहाँ, किससे लिया ?"

कल्याणी हँस दी. फिर वह लजा गयी. उसपे भी बोली, "क्या मालूम किसका ? मेरे को सकल थोड़ा ध्यान में रहता ? क्या खबर तुम्हारा हो..."

महिपत ने घबराकर कुरते की जेब में से बीस रुपये निकालकर कल्याणी के हाथ पर रख दिये जो अभी तक नंगी खड़ी थी और जिसकी कमर और कूल्हों पे पड़ा हुआ चाँदी का पटका चमक रहा था. एक हलका सा हाथ कल्याणी के पीछे थपथपाते हुए महिपत ने कुछ और सोच लिया. कल्याणी ने साड़ी पकड़कर लपेटी ही थी कि वह बोला, "अगर एक टाइम और बैठ जाऊँ तो ? पैसे दे दिये हैं."

"बैठो..." कल्याणी ने बिना किसी झिझक के कहा और अपनी साड़ी उतारकर पलंग पर फेंक दी. चुलूँ-चुलूँ करता हुआ उसका गोश्त सब मार भूल चुका था. अकेले-हैवानी से भी तजावुज़ (अतिक्रमण) कर चुका था...लेकिन महिपत ने सर हिला दिया, "अब दम नहीं रहा !"

"हूँ..." कल्याणी ने कहा, "बहुत जन आता मेरे इधर, पर तुम-सा कड़क हम नहीं देखा, सच्ची—तुम जाता तो बहुत दिन यह नाफ़ ठिकाने पे नहीं आता."

...चाँद गढ़े पर से सरक गया था. कोई बिल्कुल ही लेट जाये तो उसे देख पाये. तभी कल्याणी महिपत का हाथ पकड़कर उस कमरे में ले आयी, जहाँ गिरजा, सुन्दरी, जाड़ी वगैरह थीं. जाड़ी मिस्त्री और उसके बाद एक बोहरे को भी भुगता चुकी थी. एक सरदार से झगड़ा कर चुकी थी. जब महिपत आया तो उसने खुरसीद के कोहनी मारी और बोली, "आया, कल्याणी का मर्द !" ...इसलिए कि पहले जब महिपत इधर आया तो हमेशा कल्याणी ही के पास...

कल्याणी के साथ खोली में आते हुए, महिपत ने बाथरूम के पास पड़ी हुई गठरी को देखा, जिसके पास बैठी हुई गिरजा अपने पल्लू से उसे हवा कर रही थी. कल्याणी ने गठरी को उठा लिया और महिपत के पास लाते हुए बोली, "देखो, देखो मेरा बच्चा..." महिमत ने उस लिजलिजे चार-पाँच महीने के बच्चे की तरफ देखा, जिसे गोद में उठाए हुए कल्याणी कह रही थी, "इसी हलकट को पैदा करने, दूध पिलाने से हम यह हो गया. खाने को कुछ मिलता नहीं ना...इसपे तुम आता तो..."

फिर एकाएकी महिपत के कान के पास मुँह लाते हुए कल्याणी बोली, "सुन्दरी को देखता ? तुम बोलेगा तो हम अगले टाइम सुन्दरी को ला देगा...नहीं, नहीं. परसों हम आपी अच्छा हो जायेगा....यह सब जगह भर जायेगा ना..." और कल्याणी ने अपनी छाती और अपने कूल्हों को छूते हुए कहा, "यह सब, जिनसे तुम अपना हाथ भरता, अपना बाजू भरता—ठीक है, कुछ हाथ में भी तो आना माँगता—सुन्दरी को लेना होयेंगा, तो मेरे को बोलना. हम सब ठीक कर देंगा. पर तुमको आने का मेरा पास. गिरजा के पास नहीं आने का. ऊझना ऊँ-आँ बौत करता, बौत नखरा उसका..." और फिर बच्चे को अपने बाजुओं में झुलाते हुए कल्याणी बोली, "हम इसका नाम अचमी रखा."

"अचमी ! अचमी क्या ?"

राजेन्द्र सिंह बेदी

जन्म : 1 सितम्बर 1915, सियालकोट (पाकिस्तान)
मृत्यु : 11 नवम्बर 1984 (मुम्बई)
पहली कहानी : 'बन्देमातूरम' (1930) जो मोहासिन लाहोरी के नाम से प्रकाशित हुई थी.
कृतियाँ : 'गिरहन', 'कोख-जली', 'अपने दुख मुझे दे दो', 'हाथ हमारे क़लम हुए', 'मुक्तिबोध', 'मेहमान', 'जोगिया', 'लाजवन्ती', 'कुन्दन', 'लम्बी लड़की' (सभी कहानी संग्रह) 'एक चादर मैली सी' (उपन्यास) 'बेजान चीजें', 'सात खेल' (नाटक)

"यह तो हमको नहीं मालूम", कल्याणी ने जवाब दिया और फिर थोड़ा हँसी, "कोई आया था कस्टमर, बोला, 'मेरा तेरे को ठहर गया तो उसका नाम अचमी रखने का.' यह तो हम नहीं बोलने सकता, उसी का ठहरा कि किसका, पर नाम याद रह गया मेरे को. ओ तो फिर आयाच नहीं और तुम भी कोछ नहीं बोला" ...और फिर और हँसते हुए बोली, "अच्छा, अगले टैम देखेंगा..."

महिपत ने एक नजर अचमी की तरफ देखा और फिर इर्द-गिर्द के माहौल की तरफ, 'यहाँ पलेगा यह बच्चा. बच्चा—मैं तो समझता था, इन लड़कियों के पास आता हूँ तो मैं कोई पाप नहीं करता. यह दस की आशा रखती हैं तो मैं बीस देता हूँ—यह बच्चा ?"

'यहाँ तो दम घुटता है... जाते समय तो घुटता ही है.'

महिपत ने जेब से पाँच का नोट निकाला और उसे बच्चे पे रख दिया, "यह इस दुनिया में आया है, इसलिए यह इसकी दक्षिणा."

"नहीं-नहीं—यह हम नहीं लेंगा."

"लेना पड़ेगा, तुम इनकार नहीं कर सकतीं."

फिर वाकई कल्याणी इनकार न कर सकी. बच्चे की खातिर ? महिपत ने कल्याणी के कन्धे पे हाथ रखते हुए कहा, "मुझे माफ़ कर दो कल्याणी, मैंने सचमुच आज तुमसे जानवरों सा सुलूक किया है." लेकिन महिपत की बात से यह बिल्कुल पता न चलता था कि अब वह ऐसा न करेगा. ज़रूर करेगा वह. इसी बात का तो नशा था उसे, बीयर तो फ़ालतू सी बात थी.

कल्याणी ने जवाब दिया, "कोई बात नहीं, पर तुम आज खलास कर दिया, मार दिया मेरे को." और वह यह शिकायत कुछ इस ढब से कर रही थी, जैसे मरना ही तो चाहती थी वह. क्या इसलिए कि पैसे मिलते हैं, पेट पलता है ?...नहीं...हाँ, जब भूख से पेट दुखता है, तो मालूम होता है, दुनिया में सारे मर्द ख़त्म हो गये—औरतें मर गयीं.

महिपत ने पूछा, "यह अचमी लड़का है या लड़की ?"

एक अजीब सी किरन ने कल्याणी के पिटे, मार खाये हुए चेहरे को मुनव्वर (प्रकाशमय) कर दिया और वह चेहरे की पंखुरियाँ खोलते हुए बोली, "छोकरा !"

फिर कल्याणी ने जल्दी से अचमी का लँगोट खोला और दोनों हाथों से उठाकर अचमी के लड़केपन को महिपत के सामने करती, इतराती हुई बोली, "देखो, देखो..."

महिपत के मुँह मोड़ते ही कल्याणी ने पूछा, "अब कभी आयेंगा ?"

"जल्दी..." महिपत ने घबराकर जवाब दिया और फिर वह बाहर कहीं रौशनियों में मुँह छुपाने के लिए निकल गया.

◆ कहानी ◆

दो हाथ

इस्मत चुग़ताई

रामअवतार लाम पर से वापस आ रहा था. बूढ़ी मेहतरानी अब्बा मियाँ से चिट्ठी पढ़वाने आयी थी. रामअवतार को छुट्टी मिल गयी. जंग खत्म हो गयी थी न ? इसलिए रामअवतार तीन साल बाद वापस आ रहा था. बूढ़ी मेहतरानी की चीपड़ भरी आँखों में आँसू टिमटिमा रहे थे, मारे शुक्रगुज़ारी के वह दौड़-दौड़कर सबक पाँव छू रही थी. जैसे इन पैरों के मालिकों ने ही उसका इकलौता पूत लाम से ज़िन्दा सलामत मँगवा लिया.

बुढ़िया पचास वर्ष की होगी पर सत्तर की मालूम होती थी. दस-बारह कच्चे-पक्के बच्चे जने. उनमें से बस रामअवतरवा बड़ी मन्नतों-मुरादों से जिया था. अभी उसकी शादी रचाये साल भर भी नहीं बीता था कि रामअवतार की पुकार आ गयी. मेहतरानी ने बहुत बावेला मचाया मगर कुछ न चली और जब रामअवतार वर्दी पहनकर आख़िरी बार उसके पैर छूने आया तो उसकी शानो-शौकत से बेइन्तिहा प्रभावित हुई. जैसे वह कर्नल ही तो हो गया था.

सारे नौकर-चाकर मुस्कुरा रहे थे. रामअवतार के आने के बाद जो ड्रामा होने की उम्मीद थी, सब उसी पर आस लगाये बैठे थे. हालाँकि रामअवतार लाम पर तोप, बन्दूक़ छोड़ने नहीं गया था. फिर भी सिपाहियों का मैला उठाते-उठाते उसमें कुछ सिपाहियाना आन-बान और अकड़ पैदा हो गयी. भूरी वर्दी डाटकर वह पुराना रामअवतरवा वास्तव में नहीं रहा होगा. नामुमकिन है वह गोरी की करतूत सुने और उसका ख़ून बेइज़्ज़ती की बातें सुनकर खौल न सके.

ब्याह कर आयी थी तो क्या मिसमिसी थी गोरी. जब रामअवतार रहा उसका घूँघट फुट भर लम्बा रहा और किसी ने उसके चेहरे के प्रकाश की छवि न देखी. जब ख़सम गया तो क्या बिलख-बिलख कर रोयी थी, जैसे उसकी माँग का सिन्दूर हमेशा के लिए उजड़ रहा हो. थोड़े दिन रोयी-रोयी आँखें लिये, सर झुकाये मैले की टोकरी ढोती-फिरी. फिर आहिस्ता-आहिस्ता उसके घूँघट की लम्बाई कम होने लगी. कुछ लोगों का ख़याल है, यह सारा बसन्त रुत का किया धरा है. कुछ साफ़ कहने वाले कहते थे—गोरी थी ही छिनाल. रामअवतार के जाते ही क़यामत हो गयी. कमबख़्त हर समय ही-ही, हर समय इठलाना. कमर पर मैले की टोकरी लेकर काँसे के कड़े छनकाती जिधर से निकल जाती, लोग बदहवास हो जाते. धोबी के हाथ से साबुन की पट्टी फिसलकर हौज़ में गिर जाती. बावर्ची की नज़र तवे पर से सुलगती हुई रोटी से उचट जाती. भिश्ती का डोल कुएँ में डूबता ही चला जाता. चपरासियों तक की बिल्ला लगी पगड़ियाँ ढीली होकर गर्दन में झूलने लगतीं और जब यह सरापा क़यामत घूँघट में से बान फेंकती गुज़र जाती तो पूरा शागिर्द पेशा (नौकर-चाकर) एक बेजान लाश की तरह स्तब्ध रह जाता. फिर एकदम चौंककर वह एक दूसरे की दुर्गति पर व्यंग्य करने लगते. धोबिन मारे गुस्से के कलफ़ की बोन्डी लोट देती. चपरासिन छाती से चिपटे लौंडे के बेबात चाँटे जड़ने लगती और बावर्ची की तीसरी बीवी पर हिस्टिरिया का दौरा पड़ जाता.

नाम की गोरी थी पर कमबख़्त काली बहुत थी. जैसे उल्टे तवे पर किसी फूहड़िया ने परांठे तल कर चमकता हुआ छोड़ दिया हो. चौड़ी-फुकना सी नाक, फैला हुआ मुँह, दाँत माँजने का उसकी सात पीढ़ियों ने फैशन ही छोड़ दिया था. आँखों में ढेर सारा काजल थोपने के बाद भी दायें आँख का भेंगापन ओझल न हो सका. फिर भी टेढ़ी आँख से न जाने कैसे ज़हर में बुझे तीर फेंकती थी कि निशाने पर बैठ ही जाते थे. कमर भी लचकदार न थी, खासी कुठला सी थी. जूठन खा-खाकर तुम्बा हो रही थी. चौड़े, भैंस के से खुर. जिधर से निकल जाती, कड़वे तेल की सड़ाँध छोड़ जाती. हाँ, आवाज़ में बला की कूक थी. तीज-त्योहार पर लहक कर कजरियाँ गाती तो उसकी आवाज़ सबसे ऊँची लहराती-चढ़ती चली जाती.

बुढ़िया मेहतरानी, यानी उसकी सास, बेटे के जाते ही उससे बेहद चिढ़ने लगी. बैठे-बिठाये धमकाने के लिए गालियाँ दे देती. इस पर नज़र रखने के लिए पीछे-पीछे फिरती. मगर बुढ़िया अब टूट चुकी थी. चालीस वर्ष मैला ढोने से उसकी कमर स्थायी रूप से एक तरफ लचककर वहीं थम गयी थी. हमारी पुरानी मेहतरानी थी. हम लोगों के नाल उसी ने गाड़े थे.

ज्यों ही अम्माँ के दर्द लगते, मेहतरानी दहलीज़ पर आकर बैठ जाती और कभी-कभी तो लेडी डॉक्टर तक को निहायत मुफ़ीद हिदायतें देती. छूत-भूत को दफ़ा करने के लिए कुछ मन्तर-ताबीज़ भी लाकर पट्टी से बाँध देती. मेहतरानी की घर में ख़ासी बुजुर्गाना हैसियत थी.

इतनी लाड़ली मेहतरानी की बहू यकायक लोगों की आँखों में काँटा बन गयी. चपरासिन और बावर्चिन की तो बात और थी. हमारी अच्छी भली भावज़ों का माथा उसे इठलाते देखकर ठनक जाता. अगर वह उस कमरे में झाड़ू देने जाती, जिसमें उसके मियाँ होते तो हड़बड़ा कर दूध पीते बच्चे के मुँह से छाती-छीनकर भागतीं कि कहीं वह डायन उनके शौहरों पर टोना-टोटका न कर रही हो.

गोरी क्या थी. बस एक मरखना लम्बे-लम्बे सींगों वाला बिजार था कि छूटा फिरता था. लोग अपने काँच के बर्तन-भांडे दोनों हाथों से समेटकर कलेजे से लगाते और जब हालात ने नाजुक सूरत पकड़ ली तो शागिर्द पेशे की कुछ महिलाएँ एकजुट होकर अम्माँ के दरबार में हाज़िर हुई. बड़े ज़ोर-शोर से खतरे और उसके खौफ़नाक नतीजों पर बहस हुई. पति रक्षा की एक कमेटी बनायी गयी जिसमें सब भावजों ने बड़ी उग्रता से वोट दिये और अम्माँ को अध्यक्षता की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी. सारी महिलाएँ अपने मर्तबे के हिसाब से ज़मीन,

पीढ़ियों और पलंग की अदवायन पर बैठीं और पान के टुकड़े तक़सीम हुए और बुढ़िया को बुलाया गया. निहायत इत्मीनान से बच्चों के मुँह में दूध देकर सभा में सन्नाटा-सा बनया गया और मुक़दमा पेश हुआ. ''क्यों री चुड़ैल, तूने अपनी बहू कत्तामा (कामुक) को छूट दे रखी है कि हमारी छातियों पे मूँग दले ? इरादा क्या है तेरा ? क्या मुँह काला करायेगी ?'' मेहतरानी तो भरी ही बैठी थी, फूट पड़ी—''क्या करूँ बेगम साहिबा, हरामख़ोर को चार चोट की मार भी देई मैं तो—रोटी भी खाने को न देई. पर राँड मेरे तो बस की नहीं.''

''अरे रोटी की क्या कमी है उसे ?'' बावर्चिन ने अंटा फेंका. सहारनपुर की ख़ानदानी बावर्चिन और फिर तीसरी बीवी. क्या तेवर थे कि अल्लाह की पनाह ! फिर चपरासिन, मालिन और धोबिन ने मुक़दमे को और संगीन बना दिया. बेचारी मेहतरानी बैठी सबकी लताड़ सुनती और अपनी ख़ारिश की मारी पिंडलियाँ खुजलाती रही.

''बेगम साहब, आप जैसी बताओ, वैसे करने से मुए न थोड़ई पर का करूँ, का राँड का टेटुआ दबाय देऊँ ?''

टेटुआ दबाने के हसीन ख़याल से महिलाओं में उल्लास की एक लहर दौड़ गयी और सबको बुढ़िया से बेइन्तहा हमदर्दी पैदा हो गयी. अम्माँ ने राय दी, ''मुई को मैके फिंकवा दे.''

''अए बेगम साहिबा, कहीं ऐसा हो सके है ?'' मेहतरानी ने बताया कि बहू मुफ्त हाथ नहीं आयी है. सारी उम्र की कमाई पूरे दो सौ झोंके हैं, तब मुस्टंडी हाथ आयी है. इतने पैसों में तो दो गायें आ जातीं. मज़े से भर कलसी दूध दे देतीं. पर यह राँड तो दुलत्तियाँ ही देती है. अगर उसे मैके भेज दिया गया तो उसका बाप उसे फौरन दूसरे मेहतर के हाथ बेच देगा. बहू सिर्फ बेटे के बिस्तर की शोभा ही तो नहीं. दो हाथों वाली है, पर चार आदमियों का काम निपटाती है. रामअवतार के जाने के बाद बुढ़िया से इतना काम क्या सँभलता ! बुढ़ापा तो अब बट्टू के दो हाथों के सदके में बीत रहा है.

महिलाएँ कोई नासमझ न थीं. मामला अखलाक़यात (शिष्टाचार) से हटकर अर्थशास्त्र पर आ गया. बुढ़िया के लिए वाक़ई बहू का वजूद लाज़िमी था. दो सौ रुपये का माल किसका दिल है कि फेंक दे. इन दो सौ के अलावा ब्याह पर जो बनिये से लेकर खर्च किया था, जजमान खिलाये थे, बिरादरी को राज़ी किया था, यह सारा ख़र्चा कहाँ से आयेगा ? रामअवतार की जो तनख़्वाह मिलती थी वह सारी उधार में डूब जाती थी. ऐसी मोटी ताज़ी बहू अब तो चार सौ से कम में न मिलेगी. पूरी कोठी की सफ़ाई के बाद और आसपास की चार कोठियाँ निबटाती है. राँड काम में चौकस है वैसे.

फिर भी अम्माँ ने अल्टीमेटम दे दिया कि ''अगर उस लुच्ची का जल्द-से-जल्द कोई इन्तज़ाम न किया गया तो कोठी के अहाते में नहीं रहने दिया जायेगा. बुढ़िया ने बावेला मचाया और जाकर बहू को मुँह भर- भर कर गालियाँ दीं. झोंटे पकड़कर मारा-पीटा भी. बहू उसकी ज़रखरीद थी. पिटती रही, बड़बड़ाती रही और दूसरे दिन इन्तक़ामन सारे अमले की धज्जियाँ बिखेर दी. बावर्ची, भीश्ती, धोबी और चपरासियों ने तो अपनी बीवियों की मरम्मत की.

यहाँ तक कि बहू के मामले पर मेरे शरीफ़ भाइयों में भी खट-पट ! और भाभियों के मैके तार जाने लगे. यानी बहू हरे-भरे खानदान के लिए एक काँटा बन गयी. मगर दो चार दिन के बाद बूढ़ी मेहतरानी के देवर का लड़का रतिराम अपनी ताई से मिलने आया. फिर वहीं रह पड़ा. दो-चार कोठियों में काम बढ़ गया था, सो वह भी उसने सँभाल लिया. अपने गाँव में वह आवारा ही तो घूमता था. उसकी बहू अभी कमउम्र थी. इसलिए गौना नहीं हुआ था.

रतिराम के आते ही मौसम एकदम लोट-पोट कर बिलकुल बदल गया. जैसे घनघोर घटाएँ हवा के साथ तितर-बितर हो गयीं. बहू के क़हक़हे ख़ामोश हो गये. काँसे के कड़े गूँगे हो गये. और जैसे गुब्बारे से हवा निकल जाय तो वह चुपचाप झुलने लगता है. ऐसे बहू का घूँघट झूलते-झूलते नीचे की तरफ़ बढ़ने लगा. अब वह बजाय बे-नथे बैल के निहायत शर्मीली बहू बन गयी. सभी महिलाओं ने राहत की

साँस ली. स्टाफ के मर्दुए उसे छेड़ते भी तो वह छुई-मुई की तरह लजा जाती और ज़्यादा आँख दिखाते तो वह घूँघट में से भेंगी आँख को और तिरछा करके रतिराम की तरफ़ देखती, जो फ़ौरन बाजू खुजलाता सामने आकर डट जाता. बुढ़िया पुरसुकून अन्दाज़ में दहलीज़ पर बैठी अधखुली आँखों से यह हास्य ड्रामा देखती और गुड़गुड़ी पिया करती. चारों तरफ़ ठंडा-ठंडा सुकून छा गया जैसे फोड़े का मवाद निकल गया हो.

मगर अब के बहू के खिलाफ़ एक नया मोर्चा क़ायम हो गया और वह अमले के मर्दों पर आधारित था. बात-बेबात बावर्ची, जो उसे परांठे तलकर दिया करता था, कुंडी साफ न करने पर गालियाँ देने लगा. धोबी को शिकायत थी कि वह कलफ़ लगाकर कपड़े रस्सी पर डालता है, यह हरामज़ादी धूल उड़ाने आ जाती है. चपरासी मर्दाने में दस-दस बार झाड़ू दिलवाते, फिर भी वहीं की गन्दगी का रोना रोते रहते. भिश्ती जो उसके हाथ धुलाने के लिए कई मश्कें लिए तैयार रहता था, अब घंटों आँगन में छिड़काव करने को कहती मगर टालता रहता ताकि वह सूखी ज़मीन पर झाड़ू दे तो चपरासी गर्द उड़ाने के जुर्म में उसे गालियाँ दे सकें.

मगर बहू सर झुकाये सबकी डाँट-फटकार एक कान सुनती, दूसरे कान उड़ा देती. न जाने सास से क्या जाकर कह देती कि वह काँये-काँये करके सबका भेजा चाटने लगती. अब उसकी नज़र में बहू निहायत पार्सा (संयमी) और नेक हो चुकी थी.

इतनी लाड़ली मेहतरानी की बहू यकायक लोगों की आँखों में काँटा बन गयी. चपरासिन और बावर्चिन की तो बात और थी. हमारी अच्छी भली भावज़ों का माथा उसे इठलाते देखकर ठनक जाता. अगर वह उस कमरे में झाड़ू देने जाती, जिसमें उसके मियाँ होते तो हड़बड़ाकर दूध पीते बच्चे के मुँह से छाती-छीनकर भागतीं कि कहीं वह डायन उनके शौहरों पर टोना-टोटका न कर रही हो.

फिर एक दिन दाढ़ी वाले दरोगा जी, जो तमाम नौकरों के सरदार थे और अब्बा के ख़ास सलाहकार समझे जाते थे, अब्बा के हजूर में हाथ बाँधे हाज़िर हुए. और इस भयानक बदमाशी और गन्दगी का रोना रोने लगे, जो बहू और रतिराम के नाजायज़ ताल्लुकात से सारे शागिर्द पेशे को गन्दा कर रही थी. अब्बा ने मामला सेशन के हवाले कर दिया. यानी अम्माँ को पकड़ा दिया. महिलाओं की सभा फिर से छिड़ी और बुढ़िया को बुलाकर उसके लत्ते लिये गये.

"अरी निगोड़ी, खबर भी है, यह तेरी बहू क़त्तामा क्या गुल खिला रही है." मेहतरानी ने ऐसे चौंधिया कर देखा, जैसे कुछ नहीं समझती ग़रीब कि किसकी चर्चा हो रही है और जब उसे साफ़-साफ़ बताया गया कि चश्मदीद गवाहों का कहना है कि बहू और रतिराम के ताल्लुक़ात नाजायज़ हद तक ख़राब हो चुके हैं, दोनों बहुत ही क़ाबिले एतराज़ हालत में पकड़े गये हैं तो उस पर बुढ़िया बजाय अपनी बेहतरी चाहने वालों का शुक्रिया अदा करने के बहुत क्रोधित हुई. बड़ा बावेला मचाने लगी कि रामअवतार होता तो उन लोगों की ख़बर लेता, जो उसकी मासूम बहू पर तोहमत लगाते हैं. बहू निगोड़ी तो अब चुपचाप रामअवतार की याद में आँसू बहाया करती है. काम-काज भी जान तोड़कर करती है. किसी को शिकायत नहीं होती, ठिठोल भी नहीं करती. लोग उसके नाहक़ दुश्मन हो गये हैं. बहुत समझाया मगर वह मातम करने लगी कि सारी दुनिया उसकी जान की लागू हो गयी है. आख़िर बुढ़िया और उसकी मासूम बहू ने लोगों का क्या बिगाड़ा है ! वह तो किसी के लेने में न देने में. वह सबकी राज़दार है, आज तक उसने किसी का भाँडा नहीं फोड़ा. उसे क्या ज़रूरत, जो किसी के फटे में पैर अड़ाती फिरे ? कोठियों के पिछवाड़े क्या नहीं होता ? मेहतरानी से किसी का मैला नहीं छुपता ! इन बूढ़े हाथों ने बड़े लोगों के गुनाह दफ़न किये हैं. ये दो हाथ चाहें तो रानियों के तख़्त उलट दें, पर नहीं, इसे किसी से जलन नहीं. अगर उसके गले पर छुरी दबायी गयी तो शायद ग़लती हो जाय, वैसे वे किसी के राज़ अपने को कलेजे से बाहर नहीं निकलने देगी.

उसका यह रंग देखकर फ़ौरन छुरी दबाने वालों के हाथ ढीले पड़ गये. सारी महिलाएँ उसका पक्ष लेने लगीं. बहू कुछ भी करती थी, उनके अपने क़िले तो महफ़ूज़ थे, तो फिर शिकायत कैसी ? फिर कुछ दिन के लिए बहू के इश्क़ की चर्चा कम होने लगी. लोग कुछ भूलने लगे मगर ताड़ने वालों ने ताड़ लिया कि दाल में कुछ काला है. बहू का भारी भरकम जिस्म भी दाल के काले को ज़्यादा दिनों तक न छुपा सका और लोग चाव से बुढ़िया को समझाने लगे. मगर इस नये विषय पर बुढ़िया बिलकुल उड़नघाइयाँ बताने लगी. बिलकुल ऐसी बन जाती, जैसे एकदम ऊँचा सुनने लगी है. अब वह ज़्यादातर खाट पर लेटी बहू और रतिराम पर हुक्म चलाया करती. कभी खाँसती-छींकती बाहर धूप में आ बैठती तो वह दोनों उसकी ऐसी देख-रेख करते, जैसे वह कोई पटरानी हो. भली बीबीयों ने उसे बहुत समझाया. रतिराम का मुँह काला कर और इससे पहले कि रामअवतार लौटकर आये, बहू का इलाज करवा डाल, वह ख़ुद इस फ़न में माहिर थी. दो दिन में सफ़ाई हो सकती है मगर बुढ़िया ने कुछ समझ कर ही न दिया. बल्कि इधर-उधर की शिकायतें करने लगी. उसके घुटनों में पहले से ज़्यादा ऐंठन होती है और कोठियों में लोग बहुत ही ज़्यादा वादी वाली चीज़ें खाने लगे हैं. किसी न किसी कोठी में दस्त लगे ही रहते हैं. उसकी टालमटोल पर उपदेश देने वाले जलकर मरंड हो गये. माना कि बहू औरत ज़ात है, नादान है, भोली—बड़ी-बड़ी शरीफ़ज़ादियों से ख़ता हो जाती है. लेकिन उनके ऊँचे खानदान की प्रिय सासें यूँ कान में तेल डालकर नहीं बैठ जातीं. न जाने, ये बुढ़िया क्यों सठिया गयी थी. जिस बला को वह बड़ी आसानी से कोठी के कूड़े की तह में दफ़न कर सकती थी उसे आँखें बन्द किये पलने दे रही थी.

रामअवतार के आने का इन्तज़ार था. हर वक़्त धमकियाँ तो देती रहती थी , "आने दे रामअवतार को, कहँगी तोरी हड्डी पसली एक कर दइहे—"

और अब रामअवतरवा लाम से ज़िन्दा वापस आ रहा था. फ़िज़ा ने साँस रोक ली थी. लोग एक भयावह हंगामे की प्रतीक्षा में थे. मगर लोगों को सख़्त उकताहट हुई, जब बहू ने लौंडा जना. बजाय उसे ज़हर देने के बुढ़िया की बाँछें खिल गयीं. रामअवतार के जाने के दो साल बाद पोता होने पर क़तई चकित न थी. घर-घर फटे पुराने कपड़े और बधाई समेटती फिरी. उसका भला चाहने वालों ने उसे हिसाब लगाकर बहुत समझाया कि लौंडा रामअवतार का हो ही नहीं सकता मगर बुढ़िया ने समझने की कोशिश ही नहीं की. उसका कहना था कि असाढ़ में रामअवतार लाम पर गया, जब बुढ़िया पीली कोठी के नये

अंग्रेज़ी शैली के संडास में गिर पड़ी थी. अब चैत लग रहा है और जेठ के महीने में बुढ़िया को लू लगी थी, मगर बाल-बाल बच गयी थी. जब ही से उसके घुटनों का दर्द बढ़ गया था. वैद्य जी पूरे हरामी हैं, दवा में खड़िया मिलाकर देते हैं. इसके बाद वह बिलकुल असल सवाल से हटकर औल-फ़ौल बकने लगती. किसके दिमाग़ में इतनी ताक़त थी कि वह बात इस काइयाँ बुढ़िया को समझाता, जिसे न समझने का वह फ़ैसला कर चुकी थी.

लौंडा पैदा हुआ तो उसने रामअवतार को चिट्ठी लिखवायी : ''रामअवतार को बाद चुम्मा-प्यार के मालूम हो कि यहाँ सब कुशल है और तुम्हारी कुशलता भगवान से नेक चाहते हैं और तुम्हारे घर में पूत पैदा हुआ है. सो तुम इस खत को तार समझो और जल्दी से आ जाओ–''

लोग समझते थे कि रामअवतार ज़रूर चिराग़ पा (क्रोधित) होगा. मगर सबकी उम्मीदों पर ओस पड़ गयी, जब रामअवतार का ख़ुशी से भरा खत आया कि वह लौंडे के लिए मोज़े और बनियान ला रहा है. जंग समाप्त हो गयी और अब बस वह आने ही वाला था. बुढ़िया पोते को घुटने पर लिटाये खाट पर बैठी राज किया करती. भला उससे ज़्यादा हसीन बुढ़ापा क्या होगा कि सारी कोठियों का काम आनन-फानन हो रहा हो, महाजन का सूद पाबन्दी से चुक रहा हो और घुटने पर पोता सो रहा हो.

ख़ैर, लोगों ने सोचा, रामअवतार आयेगा, असलियत मालूम होगी, तब देख लिया जायेगा. और अब रामअवतार जंग जीतकर आ रहा था. आख़िर को सिपाही है क्यों न खून खौलेगा, लोगों के दिल धड़क रहे थे. शागिर्द पेशे की फ़िज़ा, जो बहू को तोताचश्मी की वजह से सो गयी थी, दो-चार ख़ून होने और नाकें कटने की आस में जाग उठी.

लौंडा साल भर का हुआ, जब रामअवतार लौटा. शार्गिद पेशे में खलबली मच गयी. बावर्ची ने हाँडी में ढेर-सा पानी झोंक दिया ताकि इत्मीनान से रगड़े झगड़े का मज़ा उठाये.

धोबी ने कलफ़ का बरतन उतारकर मुंडेर पर रख दिया और भिश्ती ने डोल कुएँ के पास टेक दिया. रामअवतार को देखते ही बुढ़िया उसकी कमर से लिपटकर चिंघाड़ने लगी मगर दूसरे लम्हे लौंडे को रामअवतार की गोद में देकर ऐसे हँसने लगी, जैसे कभी रोयी ही न हो.

रामअवतार लौंडे को देखकर ऐसे शरमाने लगा, जैसे वही उसका बाप हो–झटपट उसने सन्दूक़ खोलकर सामान निकालना शुरू किया. लोग समझे खुकरी-चाकू निकाल रहा है, मगर जब उसमें से लाल बनियान और पीले मोज़े निकाले तो सारे अमले की कुव्वत-ए-मरदाना (पुरुषत्व) को भारी आघात पहुँचा. हत तेरी की, साला सिपाही बनता है ! हिजड़ा ज़माने भर का !

और बहू ? सिमटी सिमटाई जैसे नयी नवेली दुल्हन ने काँसे की थाली में पानी भरकर रामअवतार के बदबूदार फ़ौजी बूट उतारे और चरण धोकर पिये.

लोगों ने रामअवतार को समझाया. फब्तियाँ कसीं, उसे गावदी कहा. मगर वह गावदी की तरह खीसें काढ़े बस हँसता रहा. जैसे उसकी समझ में न आ रहा हो. रतिराम का गौना होने वाला था, सो वह चला गया.

रामअवतार की इस हरकत पर ताज्जुब से ज़्यादा लोगों को गुस्सा आया. हमारे अब्बा, जो आम तौर पर नौकरों की बातों में दिलचस्पी नहीं लिया करते थे, वह भी हैरान रह गये. अपनी सारी क़ानूनदानी का दाँव लगाकर रामअवतार को क़ायल करने पर तुल गये.

''क्यों बे, तू तीन साल बाद लौटा है न ?''

''मालूम नहीं हुज़ूर, थोड़ा कम जियादा...इत्ता ही रहा होगा.''

''इधर लौंडा साल भर का है.''

''इत्ता ही लगे है सरकार.'' रामअवतार ने मरगिल्ली आवाज़ में कहा.

''उल्लू के पट्ठे, यह कैसे हुआ ?''

''अब जे मैं का जानूँ सरकार...भगवान की देन है.''

''भगवान की देन तेरा सर...यह लौंडा तेरा नहीं हो सकता.''

अब्बा ने उसे चारों ओर से घेरकर क़ायल करना चाहा कि लौंडा हरामी है तो वह कुछ-कुछ क़ायल-सा हो गया. फिर मरी हुई आवाज़ में अहमक़ों की तरह बोला, ''तो अब का करूँ सरकार...हरामज़ादी को मैंने बड़ी भार दी.'' वह गुस्से से बिफरकर बोला.

''अबे निरा उल्लू का पट्ठा है तू...निकाल बाहर क्यों नहीं करता कमबख़्त को.''

''नहीं सरकार, कहीं ऐसा होए सके है.'' रामअवतार घिघियाने लगा.

''क्यों बे ?''

''हजूर ढ़ाई तीन सौ फिर दूसरी सगाई के लिए काँ से लाऊँगा और बिरादरी जिमाने में सौ-दो सौ अलग खर्च हो जायेंगे.''

''क्यों बे, तुझे बिरादरी क्यों खिलानी पड़ेगी ? बहू की बदमाशी की तावान तुझे क्यों भुगतना पड़ेगा ?''

''जे मैं न जानूँ, सरकार. हमारे में ऐसा ही होवे है.''

''मगर लौंडा तेरा नहीं, रामअवतार...उस हरामी रतिराम का है.'' अब्बा ने तंग आकर समझाया.

''तो का हुआ सरकार...मेरा भाई होता है रतिराम. कोई ग़ैर नहीं अपना ही ख़ून है.''

''निरा उल्लू का पट्ठा है.'' अब्बा भिन्ना उठे.

''सरकार, लौंडा बड़ा हो जावेगा, अपना काम समेटेगा.'' रामअवतार ने गिड़गिड़ा कर समझाया.

''वह दो हाथ लगायेगा, सो अपना बुढ़ापा तैर हो जायेगा,'' लज्जा से रामअवतार का सर झुक गया.

और न जाने क्यों, एकदम रामअवतार के साथ-साथ अब्बा का सर भी झुक गया. जैसे उनके ज़हन पर लाखों-करोड़ों हाथ छा गये... ये हाथ हरामी हैं न हलाली. ये तो बस जीते-जागते हाथ हैं, जो दुनिया के चेहरे से गन्दगी धो रहे हैं. उसके बुढ़ापे का बोझ उठा रहे हैं. ये नन्हे-मुन्ने मिट्टी में लिथड़े हुए काले हाथ धरती की माँग में सिन्दूर सजा रहे हैं. ◘

इस्मत चुग़ताई

मूल नाम : इस्मत ख़ान
जन्म : 21 अगस्त 1915, स्थान : बदायूं (उ.प्र.)
कृतियाँ : कलियां, छुई-मुई, दो हाथ, एक बात, लिहाफ़, दोज़ख, (कहानी संग्रह) ज़िद्दी, टेढ़ी लकीर, मासूमा, सौदाई, जंगली कबूतर, दिल की दुनिया, अजीब आदमी, एक कतर-ए-खूं (उपन्यास)

◆ कहानी ◆

तीखा मोड़

गुलामुस्सक़लैन नक़वी

अँधेरे और उजाले गले मिल रहे थे कि सम्मू ने ख़ानू और छम्माँ को पगडंडी के एक मोड़ पर आमने-सामने खड़े देखा. छम्माँ की पीठ उसकी तरफ़ थी और ख़ानू का चेहरा उसके सामने था. वह एक-दूसरे को देखने में इतना डूबे हुए थे कि छम्माँ ने उसके क़दमों की चाप न सुनी और ख़ानू उसे देखते हुए भी न देख सका. सम्मू ठिठककर खड़ा हो गया. पगडंडी के दोनों तरफ़ गन्ने के खेत घने जंगल का मंजर पेश कर रहे थे. हवा का एक धीमा-सा झोंका आया. खेत सरसराये तो छम्माँ चौंक गयी. वह एक क़दम पीछे की तरफ़ हटी तो दूध गड़वे के किनारों से छलककर बह निकला.

छम्माँ धीमे से बोली, "यह तुम हो मामू ? मैं तो डर गयी."

"तुम यहाँ क्यों खड़ी हो, छम्माँ ?"

"यूँ ही—मैं कुएँ से दूध लेकर आ रही थी कि मोड़ पर ख़ानू मिल गया."

"ख़ानू, तूने छम्माँ का रास्ता क्यों रोका ?"

"नहीं तो. मैंने उसका रास्ता नहीं रोका. क्यों छम्माँ ?"

"हाँ मामू ! ख़ानू ने मेरा रास्ता नहीं रोका. हम इस मोड़ पर यूँ ही आमने-सामने आ गये."

सम्मू खिलखिलाकर हँस पड़ा. उसने कहा, "ख़ानू ! एक तरफ़ को हट जाओ."

ख़ानू पगडंडी से नीचे उतर गया.

"चलो, बेटी !"

छम्माँ उसके पीछे-पीछे हो ली. ख़ानू वहीं खड़ा रहा.

सम्मू ने सोचा, 'ख़ानू और छम्माँ बचपन के साथी हैं, इकट्ठे खेलकूद कर जवान हुए. पर आज पगडंडी के इस मोड़ पर इकट्ठे हुए तो उनकी ज़बानें गुमसुम क्यों हो गयीं ?'

एक सर्द झोंका आया और वह काँप गया. गाँव आ गया तो छम्माँ अपनी गली में मुड़ गयी. वह गाँव का एक चक्कर काटकर घर पहुँचा तो शाम गहरी हो चुकी थी. वह आँगन में बिछी हुई खाट पर बैठ गया. अँधेरे का दामन शबनम के छींटों से भीग गया. घर के अन्दर दिया जला तो उसके मन में खट से रौशनी हुई, 'कहीं ख़ानू और छम्माँ ने प्यार का सौदा न कर लिया हो. नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए. ऐसा नहीं होना चाहिए.' उसके माथे पर पसीना आ गया !

सम्मू का क़बीला ख़ानाबदोश था. अब वह गाँव से बाहर एक टुकड़े पर वर्षों से आबाद था.

ये लोग मुसलमान हो गये थे, इसके बाद क़बीला ख़ानाबदोशी भी छोड़ चुका था. अब क़बीले के लोग छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर रहते थे. शहतूत की टहनियों से टोकरियाँ बुनकर, सरकंडे से छाज और मूढ़े बनाकर गुज़ारा करते थे. कुछ लोगों नें खेती बाड़ी का पेशा अपना लिया था. सम्मू इस क़बीले का सरदार था. उसकी साँवली रंगत में निखार और चेहरे के तीखे नाक-नक़्शे में बड़ा रौब था. उसकी बातचीत में अभिमान था. वह ज़मीन ठेके पर लेकर खेती करता और क़बीले में सबसे ज़्यादा ख़ुशहाल था. उसे गाँव के लोगों में भी इज़्ज़त हासिल थी. पंचायत में उसकी उपस्थिति ज़रूरी समझी जाती थी. शादी ब्याह, मरने-जीने में वह बराबर का शरीक था.

पर आज ख़ानू और छम्माँ को एक मोड़ पर आमने-सामने देखकर वह परेशान हो गया जबकि ख़ानू उसका बेटा था और छम्माँ उसकी बहन की बेटी थी. शायद इसलिए कि ख़ानू सम्मू का बेटा था, जो ख़ानाबदोश क़बीले का सरदार था, और छम्माँ चौधरी महताब की बेटी थी, जो गाँव का नंबरदार था. इन दोनों में क्या हो सकता है. मैं ख़ानू को रोक दूँगा कि वह छम्माँ से न मिले. मेरे ही क़बीले में बीसियों लड़कियाँ मौजूद हैं. ख़ानू से कहूँगा, वह जिससे चाहे, शादी कर ले और जो ख़ानू न माना तो....

'नहीं वह मेरी बात ज़रूर मानेगा.'

आज से बीस साल पहले सम्मू जवान था.

महताब खाँ उसका लँगोटिया था. वह गाँव के नम्बरदार का बेटा था और बीस एकड़ ज़मीन का मालिक. लेकिन सम्मू के साथ उसकी दोस्ती बड़ी पक्की बुनियादों पर क़ायम थी. दोनों कबड्डी के खिलाड़ी थे. दोनों को कसरत का शौक़ था. दोनों एक ही अखाड़े में कसरत करते, अरबी कुत्तों से ख़रगोश का शिकार खेलते और मेले-ठेले में इकट्ठे जाते. उसके क़बीले वाले शादी-ब्याह का कोई जश्न रचाते तो महताब ख़ान रात भर उनकी झोंपड़ियों से बाहर खुले मैदान में बैठा रहता और अपने दोस्त सम्मू के नाम की 'वीलें' देता रहता. रात भर ढोलक और साज़ बजते. गाने वाले लहक-लहक कर पूरन भगत का क़िस्सा सुनाते तो दोनों दोस्त एक अजीब-सी रिफ़अत (उच्चता) महसूस करते, जैसे पूरन भगत के चरित्र की पाकीज़गी उनके सीनों में शबनम की बूँदें बन कर टपक रही हों.

क़बीले की औरतें भी उन महफ़िलों में शामिल होतीं. लेकिन मर्दों से दूर हटकर बैठतीं. इस क़बीले के साँवले हुस्न में दिल लुभाने वाली नमकीनी आम थी. लेकिन महताब ख़ान ने आज तक किसी साँवली पर बुरी नज़र नहीं डाली थी. पर एक ऐसी महफ़िल में जब गवैया पूरन भगत की जवान सौतेली माँ रानी लूनाँ के हुस्न की गीतों में तस्वीर खींच रहा था तो रानी औरतों की महफ़िल से उठी और अपने भाई सम्मू से कोई बात कहने के लिए मर्दों की महफ़िल में चली आयी.

रात चाँदनी में नहा रही थी और बुलन्द क़द रानी यूँ खड़ी थी, जैसे चाँदनी के खेत में कोई सर्व का बूटा उग आया हो. महताब ने भी एक नज़र रानी को देखा और उसे यूँ लगा जैसे लूनाँ का हुस्न, जो आग का एक शोला था, रानी के रूप में आ गया है. चौदहवीं
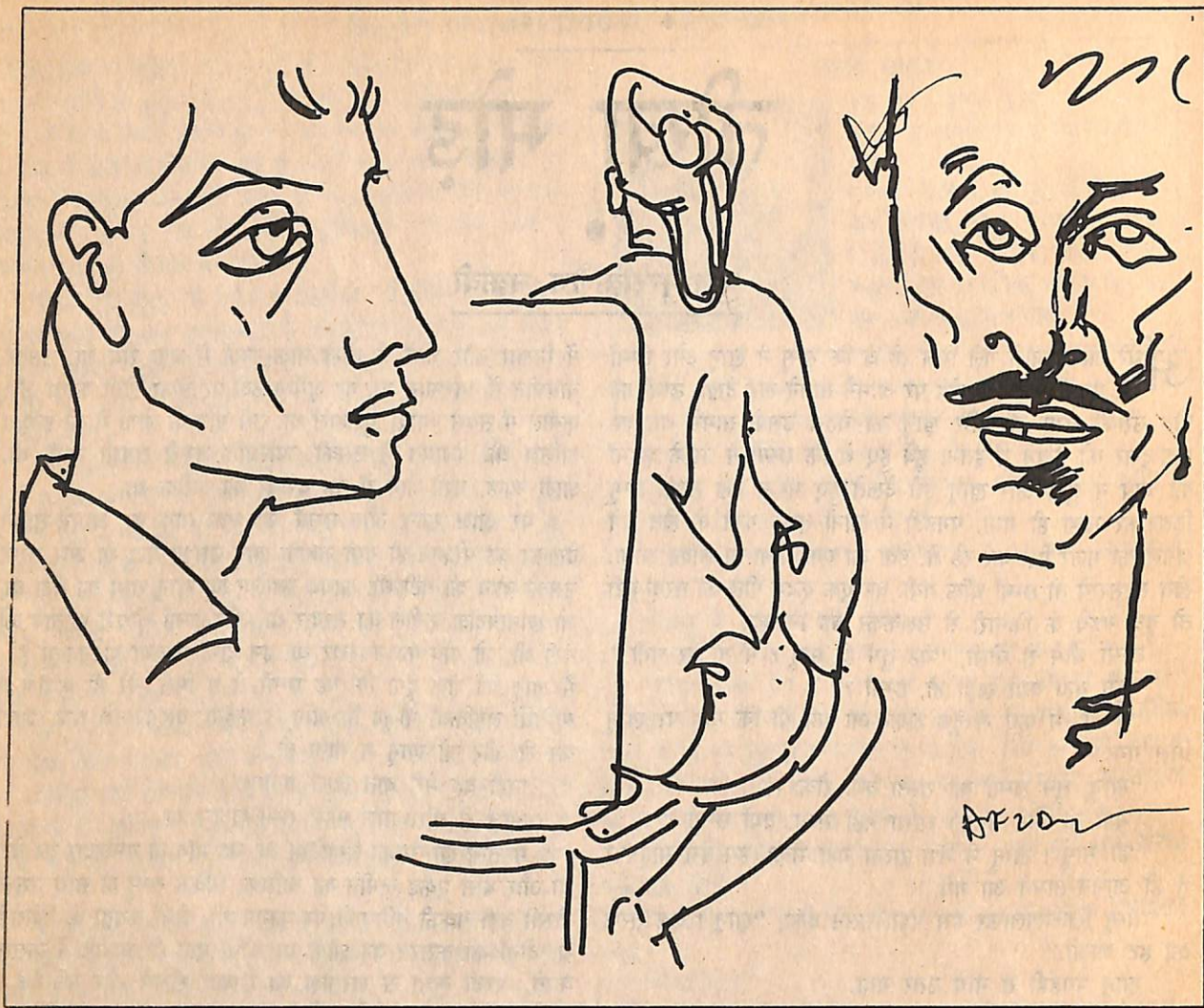
के चाँद की एक ठंडी मीठी किरण बनकर.

नीले आकाश से धीरे-धीरे चाँद उतरा और रानी की आँखों में समा गया.

महताब ने आज पहली बार रानी को इस रूप में देखा था. आज से पहले वह सिर्फ़ सम्मू की बहन थी. सम्मू, जो उसका दोस्त था. सम्मू, जिसकी मौजूदगी में उसने रानी को आँख उठाकर भी न देखा था. सम्मू, जिसे महताब पर पूरा-पूरा भरोसा था. पर आज महताब ने एक नज़र रानी पर डाल ली थी और उसे पहली बार एहसास हुआ कि यह भी रूप कोई मानी रखता है.

मगर वह अपनी गुस्ताख़ नज़र से भयभीत हो गया.

'नहीं—नहीं—मैं उस निगाह का गला घोंट दूँगा. रानी मेरे दोस्त की बहन है.' उसने सोचा.

पर रानी उस रात के बाद उससे जुदा न हो सकी.

वह जहाँ कहीं भी होता, रानी उसके साथ होती. सुबह के उजाले, शाम के झुटपुटे, अँधेरी रात में, चाँदनी रात में, खेतों की मेंड़ पर, पगडंडी के मोड़ पर, कमाद (एक पेड़) की ओट में, हल के पीछे, गादी पर बैठे हुए, जहाँ कहीं भी वह होता, रानी उसके पास पहुँच जाती. घूँघट की ओट में से उसका साँवला चेहरा एक छवि दिखाकर कहता,

'चौधरी, मुझसे दूर क्यों भागते हो ?'

'रानी, तुम मेरे दोस्त की बहन हो.'

'हाँ ! पर मैं रानी भी तो हूँ न ! इस भरी दुनिया की रानी. चाँद-सूरज की रानी. तेरे सपनों की रानी.'

वह सपनों की रानी से दिन-रात बातें करता रहता !

फिर एक दिन उसे सचमुच की रानी मिल ही गयी.

वह घने कमाद की ओट में से निकली तो महताब से उसका आमना-सामना हो गया.

यह सर्दी की शाम थी और सूरज डूब रहा था. डूबते हुए सूरज की लम्बी किरणें कँपकँपा रही थीं.

रानी ने उसके पास से गुज़रना चाहा तो वह बेअख़्तियार पुकार उठा, ''रानी.''

रानी बाँसुरी से निकले हुए एक नग़्मे की तरह काँप गयी.

''मुझे ऐसा लगता है, रानी जैसे हम इस मोड़ पर पहले भी कभी मिले थे.''

''नहीं तो.'' रानी ने कहा और वह एक झोंके की तरह उसके पास से गुज़र गयी. उसका नाज़ुक बदन हवा में तैर रहा था.

'मैं कौन-से मोड़ पर उससे मिली थी भला ? यह तो मेरे भाई

का दोस्त महताब है. उसने आज तक मुझसे कभी ऐसी बात नहीं की थी. यह हमारे घर आता है तो मैं उसे खाट बिछाकर देती हूँ. वह पूछता है तो मैं बता देती हूँ कि भैया तो घर पर नहीं है. और आज उसने पूछा रानी, हम इस मोड़ पर पहले भी कभी मिले थे. पगला !' वह सोच रही थी.

उस मोड़ पर !

मेरी ज़िन्दगी में तो यह मोड़ पहले कभी नहीं आया.

न जाने, यह कौन-सा मोड़ है ?

पगडंडी के दूसरे मोड़ पर यूँ ही उसने मुड़कर देख लिया. महताब बुत बना खड़ा था. उसकी नजरें रानी के क़दमों तले बिछी जा रही थीं और न जाने क्या हुआ कि एक नज़र उसके बढ़े हुए क़दम से यूँ उलझ गयी, जैसे कह रही हो, 'रानी ! आगे न बढ़ो. एक बार मुड़कर देख लो.'

उसने दूसरी बार मुड़कर देखा तो उसके दिल में एक सोया हुआ सोता फूट बहा. जैसे उसे अँगड़ाई आ गयी हो या उसके दिल के साज़ पर किसी ने एक तान उड़ा दी हो. दीपक तान, जिससे खेतों में आग लग गयी हो और उसके अंग-अंग में पारा भर गया हो. आग के एक शोले ने सरसराकर कहा, 'पगली ! यह तो प्रेम सन्देसे का पहला बोल था, जो तेरे कानों में आया और तू उसे समझ ना सकी.'

महताब तेज़-तेज़ क़दमों से आया और कहने लगा. "रानी ! तूने

'मैं कौन-से मोड़ पर उससे मिली थी भला ? यह तो मेरे भाई का दोस्त महताब है. उसने आज तक मुझसे कभी ऐसी बात नहीं की थी. यह हमारे घर आता है तो मैं उसे खाट बिछाकर देती हूँ. वह पूछता है तो मैं बता देती हूँ कि भैया तो घर पर नहीं है. और आज उसने पूछा रानी, हम इस मोड़ पर पहले भी कभी मिले थे. पगला !' वह सोच रही थी.

मेरा प्यार सन्देसा सुन लिया है. मैं तेरे लिए दुनिया-जहान तो क्या–."

और यकायक सम्मू उस मोड़ पर पहुँच गया. उसने रानी और महताब को आमने-सामने खड़े देखा तो ठिठक गया. रानी ने उसके पाँव की चाप न सुनी और महताब रानी को देखने में ऐसा खोया हुआ था, जैसे कुछ भी न देख रहा हो.

"रानी !" सम्मू घुटे-घुटे अन्दाज़ में बोला.

रानी चौंककर काँप उठी. "यह तुम हो, भैया ?"

"हाँ ! पर तुम यहाँ क्यों खड़ी हो ?"

"यूँ ही–मैं कुएँ से आ रही थी कि इस मोड़ पर..."

"महताब, तूने रानी का रास्ता क्यों रोका ?"

"मैंने–नहीं–हाँ–सम्मू मैंने रानी का रास्ता रोका."

"तुम मेरी दोस्ती का दम भरते थे, महताब ! और रानी मेरी बहन है." सम्मू की आँखें गुस्से से सुर्ख़ हो गयीं.

"मैं अब भी तुम्हारा दोस्त हूँ."

"पर तूने रानी का रास्ता क्यों रोका ?"

"नहीं ! भैया ! इसने मेरा रास्ता नहीं रोका. पगडंडी के इस मोड़ पर यूँ ही हमारा आमना-सामना हो गया था."

सम्मू काँप गया. उसने कहा, "चलो, रानी !"

रानी सिर झुकाये हुए उसके साथ-साथ हो ली. एक घनघोर घटा छा गयी. उसमें सात समुद्रों का पानी भरा हुआ था कि ज़रा सा छेद होने पर छम-छम बरस पड़ता.

घर पहुँचकर सम्मू ने कहा, "रानी ! मैं सब कुछ समझ गया हूँ. पर देख ! तेरा और चौधरी का कोई मेल नहीं. मेरी इज़्ज़त तेरे हाथ में है. अपने भाई का सिर नीचा ना होने दीजो."

घनघोर घटा में छेद हो गया.

कई दिन तक रानी यूँ बौरायी-बौरायी फिरती रही, जैसे किसी खोयी हुई चीज़ को पा रही हो, या पायी हुई चीज़ को खोने की कोशिश करे रही हो.

और एक दिन सम्मू ने प्यार से रानी का सिर सहलाया तो उसने आँसू पोंछ डाले.

रानी ने पूछा, "भैया ! तुम्हें मुझ पर यक़ीन है न ?"

"क्यों नहीं." सम्मू ने मुस्कुराकर कहा.

और रानी उस सर्व की तरह तनकर खड़ी हो गयी, जिसने तेज़ हवाओं के सामने सिर झुकाकर जीना भी सीख लिया हो.

अब रानी आह भी नहीं करेगी. वह आग में जलकर भस्म भी हो गयी तो उसके मुँह से उफ़ तक नहीं निकलेगा और महताब ने मेरी पगड़ी की तरफ़ हाथ बढ़ाया तो मैं उसका हाथ तोड़कर रख दूँगा. सम्मू को यक़ीन था.

और महताब ने सम्मू की पगड़ी की तरफ़ हाथ नहीं बढ़ाया. वह अपनी आग में जलता रहा, लेकिन उसने दूसरी बार रानी से बात करने की कोशिश न की, फिर भी सम्मू और उसके बीच आग की दीवार खड़ी हो चुकी थी. वह एक दूसरे से न मिलते. महफ़िलें उजड़ गयीं. और सम्मू एक निराले ग़म का शिकार हो गया जैसे वह दुनिया में अकेला रह गया हो, लेकिन वह आग की दीवार को कैसे फाँद सकेगा ?

और एक दिन उसने महताब के बाप को देखा, जो उनकी झोंपड़ियों की तरफ़ सिर झुकाये आ रहा था. सम्मू का दिल धड़का. उसने आँगन में खाट बिछायी और महताब का बाप उस पर बैठ गया.

"सम्मू ! तुमने महताब की ख़बर तक नहीं ली."

"नहीं–मेरा महताब से क्या वास्ता है, चौधरी ?"

"वह तुम्हारा दोस्त है."

सम्मू ने एक दुःख भरी मुस्कुराहट से कहा, "चौधरी, क्या महताब ने तुझे भेजा है."

"हाँ."

"क्यों भेजा ?"

"तेरे सामने झोली फैलाने के लिए. तुम जानते हो, महताब मेरा इकलौता बेटा है."

"नहीं चौधरी, मेरा और तेरा कोई जोड़ नहीं."

"मैं सारी बिरादरी की दुश्मनी मोल लेकर आया हूँ तेरे पास, सम्मू ! अब मुझे ख़ाली हाथ लौटा दोगे तो बिरादरी मुझे ताने देगी और महताब जीते-जी मर जायेगा."

सम्मू ने सिर झुका लिया.

महताब और रानी की शादी दूर-दूर तक एक कहानी बनकर फैल गयी.

तरह-तरह की बातें हुईं.

महताब रानी को ज़बरदस्ती उठाकर भी ले जाता तो सम्मू क्या

कर लेता. रानी कौन-सी राठ की बेटी थी कि महताब सेहरा बाँधकर उसे ब्याह ले गया. महताब ने तो बिरादरी की इज़्ज़त ख़ाक में मिला दी. मुहब्बत ज़ात-पाँत नहीं पूछती. इश्क़ दो दिलों के मिल जाने का नाम है.

मुहब्बत के क़िस्सों में एक और क़िस्से का इज़ाफ़ा हो गया.

और फिर यह क़िस्सा भी प्राचीन दास्तान बन गया. लोग महताब और रानी दोनों को भूल गये. सम्मू ने महताब के साथ दोस्ती ही नहीं बिरादरी-जैसे सम्बन्ध भी पैदा कर लिये.

और आज एक दूसरे मोड़ पर ख़ानू और छम्माँ मिल गये थे.

ख़ानू जो छम्माँ का ममेरा भाई था, पर सम्मू का बेटा था और छम्माँ चौधरी महताब ख़ान की बेटी थी.

मैं ख़ानू को रोक दूँगा कि वह छम्माँ से न मिले. इनका मामला और है.

जब रात गये ख़ानू घर आया तो सम्मू ने उसे पास बुलाकर कहा, "देख ख़ानू ! अब छम्माँ से न मिला करो."

"क्यों ?"

"लोग बातें करेंगे. किसी ने देख लिया तो छम्माँ बदनाम हो जायेगी."

ख़ानू ने कोई वादा नहीं किया. लेकिन उसके बाद वह छम्माँ से न मिला. वह सारा दिन बाप के साथ कुएँ पर काम करता रहता. उसने अपने दोस्तों से भी मिलना छोड़ दिया. न कबड्डी खेलता न तकिए (मुसलमान फकीरों के रहने की जगह) में बैठकर हीर-राँझा गाता. अड़ोस-पड़ौस में एक दो मेले भी लगे, लेकिन ख़ानू देखने के लिए नहीं गया. सम्मू ने उसे कभी हँसते हुए नहीं देखा. रात को थक-थका कर आता तो खाट पर पड़ा रहता. लेकिन उसे नींद नहीं आती, और सम्मू के दिल में एक ख़ौफ़ सरसराता.

'रानी ने तेरी इज़्ज़त की चौखट पर सिर झुका दिया था. वह औरत थी. वह तेरी आन पर भेंट चढ़ जाने के लिए तैयार हो गयी थी, पर ख़ानू की बात और है. वह मर्द है. वह आसानी से हार नहीं मानेगा.'

उसने पूछा, "ख़ानू तुम सारा दिन चुप क्यों रहते हो ?"

"नहीं तो."

"मर्द वह होते हैं जो हँस-खेलकर ज़िन्दगी गुज़ार दें. तुम औरत नहीं हो, मर्द का दिल पैदा करो."

ख़ानू ने मुस्कुराने की कोशिश की.

"कामकाज के बाद खेला-कूदा करो, बेटा ! यार-दोस्तों में बैठा करो तो तुम्हारा जी बहला रहे."

ख़ानू कुएँ का काम ख़त्म करके कभी-कभार बाहर जाने लगा.

एक दिन लोगों ने उसे एक वीरान कुएँ की जगत पर टाँगें लटकाये बैठे देखा !

कुआँ बहुत गहरा था. दूर तह में गन्दला पानी तारे की तरह चमकता था और लोगों का ख़याल था कि इस कुएँ पर जिन्न, भूत भी रहते हैं. लोगों ने पूछा, वह वहाँ क्यों बैठा है, तो वह खिलखिलाकर हँस पड़ा. लोगों को यक़ीन आ गया कि ख़ानू पर किसी परी का साया हो गया है. जब सम्मू को इसका पता चला तो उसका जी कटकर रह गया. उसने सोचा, 'मैं जानता हूँ उसे क्या रोग है पर मैं लोगों से क्या कहूँ !'

लोगों ने उसे हर दिन टीले की तरफ़ जाते हुए देखा, जहाँ साईं मस्ताने ने झुग्गी डाल रखी थी.

लघुकथा

आग

•

सैय्यद अहमद क़ादरी

और उसने रमिया के हाथ में चाबी थमा दी. मैं हैरान सा खड़ा रह गया.

जब मैं इस आदिवासी क्षेत्र में ट्रान्सफ़र पर आया था तब मेरा ब्याह नहीं हुआ था—और आज भी मैं वैसा ही हूँ...पत्नी की ज़रूरत मैंने कभी महसूस नहीं की. जनता खाना बनाने आती थी. वह अपनी जवानी के कगार से आगे आ चुकी थी पर खाना अच्छा बनाती थी. मेरा बहुत ख़याल रखती थी. कभी-कभी, बल्कि जब मेरी ख़्वाहिश होती थी, मेरे बिस्तर पर भी आ जाती थी और इस तरह मैं सन्तुष्ट था. पर...इधर कई महीने से जनता से मैं ऊब गया था और तीन-चार रोज़ पहले ये बात मैंने उसे जता भी दी थी. तब उसने केवल इतना कहा था, "पेट की आग कभी बूढ़ी नहीं होती बाबू...अच्छा—."

और आज चौथा दिन था, मैं ऑफिस से आया तो रमिया उसके साथ थी. कई बार पहले भी अपनी माँ के साथ आ चुकी थी. मैं कोई ध्यान दिये बिना कपड़े बदलने लगा. तब...माँ-बेटी मेरे कमरे में आ गयीं. जनता बोली, "आज से खाना रमिया बनाया करेगी बाबू, मैं चाबी इसे दे रही हूँ."

और चाबी थमाकर वह क्वार्टर से निकल गयी....रमिया खुले दरवाज़े को बन्द करके कुंडी चढ़ा रही थी...और मैं.... ▣

कई रातें वह लगातार देर से घर आता रहा. सम्मू ख़ामोश रहा. एक रात दिये की टिमटिमाती रोशनी में उसने देखा कि ख़ानू की आँखें चढ़ी हुई हैं तो सम्मू ने कहा, "तुम कहाँ जाते हो ख़ानू ?"

"कहीं भी नहीं—साईं मस्ताने के पास !"

"तुम वहाँ भंग पीते हो ?"

"हाँ—."

सम्मू ख़ामोशी से ख़ानू की चढ़ी हुई आँखों के लाल-लाल डोरों में देखता रहा. उनमें नाकाम प्यार की बेबसी लहरा रही थी. सम्मू का दिल पसीज गया. पर उसने गुस्से से कहा, "देख, ख़ानू, अब तुमने भंग पी तो मैं तुम्हें जान से मार दूँगा." ख़ानू रो पड़ा. सम्मू ने कहा, "भंग का नशा बड़ा बुज़दिल नशा है ख़ानू ! मर्द बनो."

लेकिन ख़ानू रोता रहा और सम्मू की आँखों से भी आँसू टपक पड़े.

"मैं छम्माँ से नहीं मिलता बापू, फिर तू मुझे जान से क्यों मारना चाहता है ?"

"नहीं—" बड़बड़ाते हुए बोला और चुपके से घर से बाहर निकल गया.

महताब के आँगन में आग की दीवार खड़ी थी !

सम्मू झुककर खड़ा हो गया ! वह उस दीवार को कैसे फाँदे, उसने भड़कते हुए शोलों में से अपना रास्ता बनाया. चौधरी महताब ने पूछा, "सम्मू, सुना है, ख़ानू पर जिन्न का साया हो गया है."

"हाँ, चौधरी !"

"किसी सयाने को दिखाओ न !"

"वह साईं मस्ताने के पास रोज़ जाता है, जो उनकी मेहरबानी की निगाह हो गयी तो—."

"ठीक है, सम्मू, अल्लाह भला करेगा."

कुछ देर फ़सलों की बातें होती रहीं, ढोर-डंगरों की चर्चा चली तो चौधरी ने कहा, "याद आया सम्मू ! अब की मंडी लगे तो पंज कल्याण को बेच आयें."

"क्यों चौधरी ?"

"छम्माँ जवान हो गयी है अभी उसका दहेज—."

"ठीक है."

"सम्मू तू मेरी इज़्ज़त का साझी है. एक बात कहूँ, जो तू बुरा ना माने तो."

"कहो."

"अब ख़ानू से कहो वह इस घर में न आया करे. मैंने उड़ती-उड़ती ख़बर सुनी है. पन्नोंवाल का नम्बरदार छम्माँ का रिश्ता माँगना चाहता है."

"बड़ी खुशी की बात है, पर ख़ानू इस घर में क्यों नहीं आये ?"

चौधरी महताब ने सिर झुकाकर कहा, "मैं एक जवान बेटी का बाप हूँ, सम्मू ! तुम जानते हो, मेरा और रानी का जोड़—"

"चौधरी !" सम्मू ने दाँतों तले ज़बान दबा ली.

"लोग मेरी और रानी की बात भूल चुके हैं, पर ख़ानू जवान है."

"मैं क्या कह सकता हूँ, मेरी बहन का पल्लू तेरे हाथ में है. मैं भी एक बात करने आया था. सुनोगे ?"

"कहो ! सम्मू."

"मैंने ख़ानू को इस घर में आने से रोक दिया है, चौधरी, पर उसी दिन से ख़ानू पर जिन्न का साया हो गया है."

"मैं समझा नहीं."

"चौधरी !" सम्मू ने कहा, "तूने एक बार रानी के लिए अपनी बिरादरी से टक्कर ली थी. तेरा बाप मेरे यहाँ झोली फैलाकर आया था. मैंने रानी को उसकी झोली में डाल दिया था ! अब मैं छम्माँ के लिए झोली फैलाकर..."

सम्मू बात ख़त्म न कर सका. झन्नाटे की आवाज़ आयी और सम्मू की बाछों से खून बहने लगा !

"कमीने ! तुझे इतनी बड़ी बात करते हुए डर नहीं लगा ?"

"नहीं, चौधरी ! तूने मुझे भाई बनाया था. एक भाई दूसरे भाई से रिश्ता माँगने के लिए आ ही जाता है."

"मैंने रानी के लिए तुझे भाई बनाया था. जा, रानी को साथ ले जा, ताकि तेरा और मेरा रिश्ता ही टूट जाये."

"चौधरी महताब ख़ान ! छम्माँ भी तो रानी की बेटी है. कहो तो उसे भी साथ ले जाऊँ ?"

"तूने छम्माँ का नाम किस मुँह से लिया, सम्मू ?" चौधरी ने फिर क्रोधित होकर कहा.

उसने दूसरी बार हाथ उठाना चाहा तो सम्मू बोला, "बस, चौधरी ! मैं दूसरी बार तुम्हें माफ़ न कर सकूँगा."

चौधरी का उठा हुआ हाथ गिर गया. लेकिन उसने ज़हर भरे लहजे में कहा, "सम्मू ! मेरी दीवानी जवानी ने एक ग़लती की थी और मैंने रानी से ब्याह कर लिया."

"चौधरी ! अब अगर छम्माँ की जवानी ग़लती कर बैठे तो क्या होगा ?"

"क्या कहा ?"

"यही कि प्यार ऊँच-नीच नहीं देखता. कुछ दिन हुए मैंने छम्माँ और ख़ानू को पगडंडी के एक तीखे मोड़ पर देखा था."

चौधरी का गुस्सा शूँ-शूँ बुझ गया. उसने बुझी-बुझी आँखों से सम्मू की तरफ़ देखा, मानो कह रहा हो, 'दोस्त मुझ पर रहम करो.'

सम्मू ने नज़र उठायी तो सामने रानी खड़ी थी. रानी चुप रही. कुछ भी नहीं बोली लेकिन सम्मू ने उसकी बेबस आँखों का सन्देश समझ लिया. वह धीरे-धीरे रानी के आँगन से निकल गया.

ख़ानू खाट पर गुम-सुम बैठा था.

"ख़ानू तुम अभी तक सोये नहीं ?"

"नींद नहीं आ रही बापू."

ख़ानू की आँखों में नींद नहीं थी पर लाल-लाल डोरों में भंग का नशा बाक़ी था, "तू सो जा, ख़ानू ! मैं तेरे लिए कुछ भी नहीं कर सका. मैं आज चौधरी के पास गया और तेरे लिए छम्माँ का रिश्ता माँगा."

"छम्माँ !" ख़ानू चौंक गया.

"हाँ ! ख़ानू ! मैंने चौधरी के आगे अपनी झोली फैलायी थी."

"फिर ?" ख़ानू का नशा एकदम उतर गया.

"उसने मेरी झोली में बबूल भर दिये और मैं लहूलुहान हो गया."

ख़ानू ने हैरान होकर सम्मू को देखा तो उसे सम्मू की बाछों में खून की जमी हुई लकीरें दिखायी दीं. उसकी जवानी गुस्से में आकर बल खा गयी.

"चौधरी ने तुझ पर हाथ उठाया, बापू !"

"नहीं वह मेरा दोस्त था न—मेरा भाई—उसने अपने प्यार का तोहफ़ा दिया."

"मैं उसका वह हाथ तोड़ दूँगा, जो तुझ पर उठा था. मुझे हुक्म दो बापू, एक बार कहो, मैं उसका घमंड ख़ाक में मिला दूँगा."

"नहीं ख़ानू उसका गुरूर पहले ही ख़ाक में मिल चुका है."

"नहीं अभी नहीं. मैं उसके घर में आग लगा दूँगा. दानाबाद के मिर्ज़े की तरह छम्माँ को घोड़ी पर बिठाकर..."

"ख़ानू" सम्मू गुस्से से चीख़ उठा, "तुमने छम्माँ का नाम किस मुँह से लिया ? छम्माँ रानी की बेटी है और जो हाथ रानी की इज़्ज़त पर उठेगा, मैं उसे उठने से पहले काट डालूँगा, समझे !" ◙

गुलामुस्सक़लेन नक़वी

जन्म : 21 मार्च 1923, चोकी पंडन (कश्मीर)
कृतियाँ : 'बन्द गली', 'शफ़क के साये', 'नगमा और आग', 'लम्हे की दीवार' (कहानी संग्रह); 'मेरा गाँव', (उपन्यास).

◆ कहानी ◆

जूता

अहमद नदीम क़ासमी

करमूं एक क़व्वाल-पार्टी में बरसों तक ताली बजा-बजाकर ताल देता रहा. फिर आवाज़ लगाना भी सीख गया. पीछे से आगे आ गया और बड़े क़व्वाल के घुटने से घुटना मिलाकर बैठने लगा. तब बड़े कव्वाल को यह फिक्र सताने लगी कि कहीं वह उससे भी आगे न निकल जाये, इसलिए उसने करमूं को चलता कर दिया. करमूं की आवाज़ तो साधारण सी थी, मगर उसने क़व्वाली के गुर सीख लिये थे और हारमोनियम की आवाज़ में अपनी आवाज़ छुपा लेने की महारत हासिल कर चुका था. उसने अपनी क़व्वाल-पार्टी बना ली और उर्सों, मेलों और शादी-ब्याह के जमघटों में गाता रहा और अपने तीनों बच्चों को पढ़ाता रहा. दरअसल बड़े क़व्वाल के साथ उसे मुल्क के बड़े-बड़े शहरों में जाने का मौक़ा मिला था और उसने महसूस किया था कि अगर उसने बच्चों को तालीम न दी तो वे उसी की तरह तथा उसके बाप-दादा की तरह ढोल-शहनाई बजाते अथवा क़व्वालों के पीछे बैठे तालियाँ पीटते फिरेंगे और उसके तथा उसके बाप-दादा के समान उनकी बाँछें भी सदा ढीली रहेंगी.

जब उसने तीनों बच्चों को गाँव के स्कूल में दाख़िल कराया था तो पूरा गाँव जैसे सन्नाटे में आ गया था. लोग कहते थे, हज़रत आदम के आसमान से ज़मीन पर उतरने से लेकर अब तक के ज़माने का यह पहला मीरासी है जिसे अपने बच्चों को तालीम देने की सूझी है. चौधरी ने उसे दारे पर बुलाया और डाँटा, "शर्म करो करमूं ! मीरासी होकर अपने बच्चों को पढ़ाते हो ! क्या शादियों में लोग उनसे ढोल-शहनाई के बजाय किताबें सुनेंगे ? क्यों बिगाड़ते तो इन्हें ? क्यों नास मारते हो अपने पुश्तैनी पेशे का ?"

करमूं यह सब सुनता रहा और चुप रहा. हालाँकि मुस्कुराता रहा चौधरी की उस फटकार पर कि अब कुछ बको भी, उसने कुछ कहा तो बस इतना, "इक़बाल क़ायम ! उम्र-भर दाल-साग खाने वाले का भी एकाध बार मुर्ग़-बटेर का सालन चखने को जी चाहता ही है !"

करमूं ने क़व्वाली के नाम पर चीख़ें मार-मारकर पैसा जमा किया था और बच्चों को यों पढ़ाया कि वे गर्मियों की छुट्टियों में घर आते थे तो मीरासी की औलाद लगते ही नहीं थे. फिर वह न जाने क्या पट्टी पढ़कर आते थे कि मीरासी के बेटे होने पर शर्माते भी नहीं थे. कहते थे, ठीक है, हम करमूं मीरासी के बेटे हैं, लेकिन चौधरी की तरह हमारी पीढ़ी भी तो हज़रत आदम से मिलती है.

फिर ये लड़के लाहौर, कालाशाह काको और फ़ैसलाबाद की तरफ़ मिलों में काम करने लगे और बाप को हर महीने इतना रुपया भेजने लगे कि करमूं अपनी क़व्वाली-पार्टी तोड़कर अपने गाँव में रहने लगा. और साफ़-सुथरे कपड़े पहनने लगा. और ख़ैरात देने लगा. फिर एक साल ज़कात तक निकाली. चौधरी ने यह सुना तो इतना हँसा कि उसकी आखों से पानी बहने लगा. "हराम की औलाद", उसने कहा.

"उथला कमीना कहीं का. देख लेना लोगो, साल-दो साल में खुद ज़कात माँगने खड़ा होगा, अगर उस समय तक कयामत नहीं आ गयी तो एक मीरासी जब ज़कात देने लगे तो समझो, सूरज सवा नेजे (ऐसा कहा जाता है कि क़यामत के दिन सूरज सरों से सवा भाले की ऊँचाई तक आ जायेगा) पर उतरने को है." और चौधरी फिर ऐसे हँसने लगा, जैसे रो रहा हो.

किसी ने करमूं को चौधरी की यह बात बतायी तो वह बोला, "चौधरी क्यों ख़फ़ा हो रहा है ? मैंने उसे तो ज़कात नहीं भिजवायी. उसे भी देता, मगर अभी ज़कात लेने का हक़ नहीं बनता उसका. धीरे-धीरे हक़दार हो जायेगा. ज़माना बदल रहा है."

जिन लोगों ने करमूं को चौधरी की बात बतायी थी, उन्होंने चौधरी को करमूं की बात बताना भी ज़रूरी समझा. उस समय चौधरी शर्बत पी रहा था. यह बात सुनी तो उसे ठसका लग गया और शर्बत उसकी नाक से बहने लगा.

फिर एक दिन करमूं गली में बैठा लोगों से गप हाँक रहा था. बातों-बातों में कहने लगा, "मैं मीरासी हूँ पर तीन बाबू लोगों का बाप भी हूँ. इसलिए जी चाहता है, यहाँ गली में बैठने के बजाय एक पक्की बैठक बनवा लूँ. उसमें पलंग और मूढ़े बिछा दूँ और तुम सब के साथ बैठकर संसार भर की अच्छी-अच्छी, प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी बातें करूँ. बैठने के लिए चौधरी का दारा तो है मगर वहाँ बैठता हूँ तो ऐसा लगता है जैसे सिर के बल खड़ा हूँ."

यह बात करके वह अपने घर गया. हुक़्क़ा ताज़ा किया. चिलम पर आग सजायी और कश लगाने के लिए चारपाई पर अभी बैठा ही था कि चौधरी की ओर से उसे बुलावा आ गया. उसने दारे पर क़दम रखा ही था कि तीन-चार मुसटंडों ने उसे दबोच लिया और चौधरी का पला हुआ मुंशी उसकी पीठ पर जूते बरसाने लगा. साथ ही चौधरी उसे गालियाँ देता रहा, "बैठक बनवायेगा कमीना ? दारा लगायेगा मेरी तरह ? चार पैसे क्या आ गये कि अपनी औक़ात भी भूल गया. नीच ! लगाओ और लगाओ."

करमूं को इतने जूते लगे कि अगर किसी और को लगते तो वह गिनती भूल जाता. मगर करमूं गिनता रहा.

"मैं तो गिनता रहा." उसने अपने मिलने वाले को बताया. "मैं तो गिनता रहा कि क़यामत के दिन खुदा के सामने जूतों का हिसाब चुकाने में मुझसे कोई ग़लती न हो जाये. बासठ लगे थे. बासठ पूरे करूँगा खुदा के हुज़ूर. इंशा अल्लाह एक के सत्तर न सही, चौधरी के लिए तो मेरा एक ही जूता बहुत है पूरे संसार के लोगों के सामने."

उन्हीं दिनों वोटर लिस्ट तैयार हो रही थी. लिस्ट तैयार करने वाले उस गाँव में भी आये और करमूं का नाम भी दर्ज करने लगे. तब उनमें से एक बोला, "भाई, तुम अपना नाम करमा बताते हो. मगर करमा क्या नाम हुआ, करमू इलाही होगा या करम अली या करमदीन. करमा कोई नाम नहीं होता. यह तुम्हारे असली नाम का बिगाड़ मालूम होता है."

करमूं बोला, "मैं मीरासी हूँ जी, और मीरासियों के नाम ऐसे ही होते हैं. मेरे नाम का बिगाड़ तो करमूं है, जैसे मेरे बाप को लोग गामूं कहते थे, पर उसका असली नाम गामा था."

उकताकर उन्होंने सूची में 'करमा वल्द गामा ज़ात मीरासी पेशा भिखारी' के शब्द लिखे तो करमूं बिगड़ गया.

"नहीं साहब जी. मैं भिखारी नहीं हूँ. भीख का एक पैसा भी मुझ पर हराम है. मैं तो उम्र भर अपनी मेहनत की कमाई खाता रहा. मेरे बच्चे पढ़-लिख गये तो यह भी हमारी मेहनत की कमाई है. अब वे मेहनत करते हैं और हमारी मेहनत का बदला चुकाते हैं. मैं तो अब ज़कात भी निकालता हूँ. फिर मैं भिखारी कैसे हो गया ? भिखारी इतनी सस्ती है तो चौधरी को भिखारी लिखो कि किसान मेहनत करता है और चौधरी खाता है."

चौधरी को ख़बर मिली कि करमूं ने वोटर लिस्ट बनाने वाले के सामने उसे भिखारी कहा है. उसे फौरन दारे पर बुलाया गया और सब गाँव वालों के सामने अपने मुंशी से उसे जूते लगवाये. जूते लग रहे थे कि करमूं अचानक उठ बैठा और मुंशी की कलाई जकड़कर बोला, "बस, बासठ पूरे हो गये. मेरा कोटा मुझे मिल गया. ज़्यादा लगाओगे तो क़यामत के दिन चौधरी जी को ज़्यादा तकलीफ़ होगी."

"मुझे तकलीफ़ होगी !" चौधरी को ऐसी हैरत हुई जैसे उसके सिर पर सूरज गिर पड़ा, "मुझे कैसे तकलीफ़ होगी, कमीने ?"

करमूं के तेवर बदले हुए थे. बोला, "चलिए, आप को तकलीफ़ नहीं होगी तो आपका हिसाब पूरा करने वाले फरिश्ते को तकलीफ़ होगी."

"मेरा हिसाब ?" चौधरी ने इस तरह पहलू बदला, जैसे पलंग पर ही खड़ा हो जायेगा, "क्या बकते हो ?"

"जी यही, ग़रीबों को जूते लगवाने का हिसाब. एक के सत्तर." करमूं और जूतों का इन्तज़ार किये बिना उठ खड़ा हुआ था और ज़मीन पर से अपनी पगड़ी उठाकर उसे झाड़ रहा था, "अब आप ख़ुद हिसाब लगा लीजिए, इक़बाल क़ायम कि बासठ ये जूते और बासठ वे पिछले. कुल हुए, खुदा आपका भला करे, एक सौ चौबीस. क़यामत के दिन एक के सत्तर लगेंगे तो एक सौ चौबीस के कितने लगेंगे ? मुंशी जी, हिसाब लगाकर बता दो चौधरी जी को."

चौधरी ने गुस्से में अपने जूते की तरफ़ हाथ बढ़ाया, मगर जब देखा कि दारे पर खड़े ज़्यादातर लोग करमूं की बात पर दाँत निकाले खड़े हैं तो हाथ वापस खींचने के बजाय उसने ज़मीन पर से एक तिनका उठाया, और उसे अपनी पोरों में यों मसला कि वह चूरा-सा बनकर रह गया. गालियाँ उसके होंठों पर कँपकँपाती रही गयीं.

उस समय पक्षी वापस अपने घोंसलों की ओर जा रहे थे. शाम होने ही वाली थी.

चौधरी इस घटना के बाद करमूं से बहुत सँभलकर बात करने लगा. करमूं मीरासी तो था, मगर खाता-पीता मीरासी था और खाते-पीते लोगों से बात बहुत सोच-समझकर करते हैं, जैसे अमरीका रूस से और रूस अमरीका से बात करता है. फिर भी जब चौधरी के दारे पर से फ़ालतू लोग उठ जाते और सिर्फ़ उसके क़रीबी लोग रह जाते तो वह जले दिल के फफोले फोड़ता, "यह कमीना कड़वी गोली को थूक देता है. अब मैं उसे शकर चढ़ी गोलियाँ खिलाऊँगा." फिर वह हालात की लम्बी पड़ताल में मसरूफ़ हो जाता, "लोग कहते हैं शराब का नशा बुरा होता है. मैं कहता हूँ न, दौलतमन्दों के लिए रुपये का नशा उससे भी बुरा है. करमूं को देखो. कहाँ तो जब भी मुझे यह मीरासीज़ादा मिलता था, 'इक़बाल क़ायम, इक़बाल क़ायम' की रट लगाता हुआ झुकता चला जाता था और कहाँ यह दिन कि कल कहने लगा—मैं उधर लाहौर, फैसलाबाद की ओर जा रहा हूँ. कोई चीज़ चाहिए

तो लेता आऊँ. कोई छड़ी-वड़ी, कोई जूता-वूता ! यह सब रुपये का नशा है." फिर चौधरी ने गर्दन खींचने की हद तक खींचकर इधर-उधर देखा और बोला, "कहीं वह किसी कोने खुदरे में बैठा तो नहीं है हराम की औलाद. याद है एक बार मैं यहीं दारे पर उसकी बातें कर रहा था और अँधेरे में मुझे पता नहीं चला था कि वह कमीना भी एक तरफ़ बैठा है. मैंने उस पुश्तैनी कंगले के नये ठाठ की बात करते हुए कह दिया कि अगर कौआ मोर के पर सजा ले तो भी कौआ ही रहता है. इस पर वह मेरी चिलमें भरने वाला, मेरे अस्तबल साफ करने वाला, भरे दारे में बोला, 'वैसे चौधरी जी, सयानों से सुना है कि मोर भी कौए की ही नस्ल में से है. सिर्फ़ रंगदार पर निकाल लिये हैं और नाचना सीख गया है !'—याद है ना ? रुपये ने इतने हौसले बढ़ा दिये हैं उस अफ़लातून के पट्ठे के, नहीं तो यहाँ मेरे सामने बिल्ली की तरह मिनमिनाता फिरता था. रुपये ने उसकी ज़बान खींचकर मेरे जूते-भर की कर दी है. मगर फिर भी ऐसे नये दौलतमंदों को आपे में रखने के गुर मुझे मालूम हैं. जूते पर चाहे सुनहरा काम हुआ हो, रहेगा तो वह जूता ही और पैर में ही पहना जायेगा. उस मीरासी के बच्चे को मेरे गाँव में रहना है तो मीरासी बनकर रहना होगा. देख लेना."

जाड़े का दिन था. करमूं कुछ दिन अपने बेटे के पास बिताकर वापस गाँव आया तो उसने सुनहरे रंग का एक कम्बल ओढ़ रखा था. लोग उस कम्बल को छूते तो दंग रह जाते कि क्या किसी भेड़ की ऊन इतनी मुलायम भी हो सकती है ! करमूं के एक रिश्तेदार ने उस कम्बल को छुआ तो बिसमिल्लाह पढ़कर कम्बल का एक कोना मुँह में डाल लिया और बोला, "सूजी का हलवा हो तो ऐसा हो कि जब चाहा ओढ़ लिया, जब चाहा खा लिया."

खुद करमूं मिलने वाले को बताता रहा, "पूरे एक सौ का है. और सिर्फ़ ख़ूबसूरत ही नहीं है, अन्दर से भी बड़ा गुनी है. बाहर बर्फ़ गिर रही हो तो कम्बल में अँगीठी-सी दहकती रहती है. पूस की ठंड में भी पसीना आने लगता है, पनजतनपाक की क़सम."

पूरी बस्ती में उस कम्बल की चर्चाएँ होने लगीं. बात चौधरी तक भी पहुँची मगर यूँ कि करमूं कह रहा था—'ऐसा कम्बल तो चौधरी को भी नसीब नहीं होगा.' इस पर चौधरी ऐसे मुस्कुराया, जैसे किसी ने ख़रबूजे का एक सिरा छुरी से चीर दिया हो. करमूं के रवैये ने चौधरी को सियासतदां बना दिया था. एक दिन करमूं यह कम्बल ओढ़े चौधरी के दारे की गली में से गुज़रा तो चौधरी अपने आदमियों के साथ बैठा धूप सेंक रहा था.

करमूं को बुलाया और उस कम्बल पर हाथ फेरकर बोला, "कहाँ से मारा ?"

करमूं पास ही एक सिल पर बैठ गया—"मैंने तो, इक़बाल क़ायम, पूरी उम्र में एक पिद्दा तक नहीं मारा, कम्बल कहाँ से मारूँगा ! और फिर कम्बल भी ऐसा कि आपने छुआ तो मैंने आपके रोंगटे खड़े होते देखे."

चौधरी का चेहरा कुछ ऐसा तन गया, जैसे उसकी चोरी पकड़ी गयी. ख़रबूज़े में एक और चीर पड़ा. और चौधरी बोला, "चलो मारा नहीं तो लिया कहाँ से ?"

करमूं ने जवाब में क्षण भर की देर की. उसकी आँखें चमकीं. अपने बेटों की चर्चा पर हमेशा ऐसा मालूम होता था, जैसे उसकी पुतलियों में रखे हुए दियों की लौएं जल उठीं, "कालाशाह काको में मेरा बेटा है न सरफराज़...."

"हाँ, वह सरफ़ा !" चौधरी ने करमूं की ग़लती सुधारी.

"जी हाँ, वही सरफ़राज." करमूं ने अपनी ग़लती के सुधार को कोई अहमियत नहीं दी, "वही कहने लगा बाबा अबकी यहाँ से एक अच्छा-सा जूता ले जाओ. मैंने कहा, बेटे. जूते उधर गाँव में बहुत हैं, कुछ और ला दो. कोई तोहफ़ा, चीज़. वह यह कम्बल ले आया. मलेशिया में उसके किसी दोस्त के वालिद रहते हैं ! वह इसे अपने बेटे के लिए लाये थे. सरफ़राज़ ने अपने बाप के लिए ख़रीद लिया."

चौधरी बोला, "देखो करमूं. अगर मैं कहूँ कि मुझे यह कम्बल चाहिए ...तो...?"

"तो ले लीजिए ना, इक़बाल क़ायम." करमूं ने फौरन जवाब दिया, "सरफ़राज़ पूछेगा तो कह दूँगा चोर ले गये."

चौधरी ने करमूं की बात ज़ोरदार क़हक़हे में उड़ाना चाहा मगर साफ़ मालूम होता था कि इस क़हक़हे का फेफड़ों से कोई सम्बन्ध नहीं. फिर वह एकदम संजीदा होकर बोला, "इसका क्या करोगे ?"

"कुछ भी नहीं, इक़बाल क़ायम." करमूं की आवाज़ में बड़ी बेनियाजी थी, बड़ा सुकून था.

"मगर मैं मुफ़्त नहीं लूँगा." चौधरी बोला, "यह हमारी ख़ानदानी आदत है कि हम मुफ़्त चीज़ें देते हैं, लेते नहीं हैं. तुम तो जानते ही हो. तुम्हें जिन्दगी भर का तजुरबा है."

"जी हाँ." करमूं ने कहा, "पर कभी-कभी लेने वालों पर देने का समय भी आ जाता है. इक़बाल क़ायम. ले लीजिए न, सरफ़राज़ मुझे और भेज देगा."

"नहीं करमूं." चौधरी बोला, "तुम हमारे मीरासी हो. तुम्हारे बाप-दादा ने हमारे बुजुर्गों की जूतियाँ सीधी की हैं. माँगो क्या माँगते हो इस कम्बल का ? सरफे ने तुम्हें बताया तो होगा कि इस कम्बल के कितने रुपये दिये थे."

"जी हाँ सरफ़राज़ ने बताया तो था ?" करमूं की आवाज़ में योजना बनाने की गहराई थी. फिर वह एक नतीजे पर पहुँचकर मुस्कराने लगा और बोला, "कम्बल दूसरे मुल्क का है न जी. मैंने कहा भी सरफ़राज़ से—इतनी फ़िज़ूलखर्चियाँ मत किया करो. बोला—कोई भी चीज़ मेरे अब्बा के आराम से महँगी नहीं है—आप ठीक कहते थे, तालीम ने लड़कों के दिमाग़ बिगाड़ दिये हैं. इक़बाल क़ायम, क़ीमत कुछ ज़्यादा ही है."

"यानी इतनी ज़्यादा है कि सरफ़ा मीरासी अदा कर सकता है और मैं नहीं कर सकता ?"

चौधरी अपना गुस्सा छिपाने की कोशिश के बावजूद छिपा नहीं सका, "बताओ कितने में आया है ? पचास. सौ. दो सौ. तीन सौ...कितने का है ?"

"तीन सौ नहीं जी." करमूं ने चौधरी के मुंशी की ओर ऐसे ही देखा, जैसे जूते लगाने से पहले मुंशी ने करमूं को देखा था, "कुल दो सौ बासठ में आया." उसने उपस्थित लोगों पर दाद-तलब नज़र डाली.

"और इतनी रक़म तुम्हारे बेटे ने अदा कर दी ?"

"कमाता-कजाता है न, इक़बाल क़ायम."

"तुम मुझसे दो सौ बासठ रुपये लोगे ?"

"आप बासठ रहने दीजिए. उनका हिसाब फिर होता रहेगा. दो सौ दे दीजिए."

"दो सौ बासठ में बासठ मिलाकर क्यों नहीं दूँ ?" चौधरी ने बाज़ी मारने वाले अन्दाज़ में कहा, "आख़िर तुम हमारे मीरासी हो."

"चलिए, ज़्यादा दे दीजिए, इक़बाल क़ायम...तीन सौ चौबीस दे दीजिए."

"तुम्हें तो दुकानदारों की तरह ठीक-ठीक हिसाब करना भी आ गया है !" चौधरी ने दिल्लगी करने की कोशिश की.

और करमूं कम्बल उतारते हुए बोला, "मैं तो अब बेहिसाब ख़र्च करता हूँ, इक़बाल क़ायम. बस कुछ आता है तो यह बासठ का हिसाब आता है."

चौधरी ने करमूं के चलाये हुए चाबुक से बेनियाज़ होकर अपने मुंशी से कहा, "लो भाई, दे दो इसे तीन सौ चौबीस."

"रुपये मुंशी जी, तीन सौ चौबीस रुपये." करमूं ने मुंशी को ताकीद की.

"रुपये नहीं तो पैसे ?" मुंशी ने क़मीज़ के नीचे पहनी हुई बास्केट की अन्दरूनी जेब में से नोटों की एक गड्डी निकालते हुए पूछा.

"मेरा मतलब था कहीं आप तीन सौ चौबीस रुपये देने की जगह पर तीन सौ चौबीस जूते लगाने न बैठ जायें."

चौधरी समेत सभी लोग ज़ोर से हँसे, मगर सबकी हँसी का अर्थ अलग-अलग पहचाना जा सकता था. चौधरी तो यूँ हँसा, जैसे उसका सीना टीन का एक कनस्तर है और करमूं ने झिंझोड़कर उसमें पड़े कंकड़ बजा दिये हैं.

करमूं ने रुपये लिये और मुस्कुराता हुआ चला गया.

तब चौधरी अपने सामने कम्बल फैलाकर मुस्कुराया. उसे ख़ूब अच्छी तरह झड़वाया, जैसे कम्बल का मीरासीपना निकाल रहा है. उसे तह करके मुंशी के हवाले किया कि घर पहुँचा दो, "कहना इसे दिन भर धूप दिखायें और किसी पेटी में फेंक दें." फिर वहाँ लोगों से मुख़ातिब हुआ "दर्जनों पड़े हैं इस तरह के कम्बल. मगर मैं दो पैसे के मीरासी को ढाई-तीन सौ रुपये का कम्बल ओढ़े देख नहीं सकता था. जूते को पाँव में ही रहना चाहिए !" ◙

अहमद नदीम क़ासमी

मूल नाम : अहमद शाह
पीरज़ादा अहमद शाह के नाम से भी लेखन
जन्म : 20 नवम्बर 1916, अंगा ज़िला शाहपुर (वर्तमान ज़िला ख़ुशाब) पाकिस्तान
शिक्षा : बी. ए. (पंजाब यूनिवर्सिटी)
कृतियाँ : कहानियों के अतिरिक्त शायरी भी करते हैं. अब तक इनकी तीस से अधिक किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं. कुछ कहानियों के संकलन निम्नांकित हैं. 'चौपाल', 'बगूले' 'गिर्दाब', 'सैलाब', 'आंचल', 'आबले', 'आसपास', 'बर्गे हिना', 'नीला पत्थर'.
सम्मान : आदम जी अदबी एवार्ड 1963, 76, 79.
'प्राइड फोर परफारमेन्स' पाकिस्तान का उच्च नागरिक सम्मान 1968.
सितार-ए-इम्तियाज़ पाकिस्तान का उच्चतर नागरिक सम्मान, 1980
सम्पर्क : 45/A, माज़ंग रोड, लाहौर, पाकिस्तान

◆ कहानी ◆

साँप

●

मुमताज मुफ़्ती

हमारा सामान बँधा हुआ था और हम दोनों टैक्सी के इन्तज़ार में बैठे थे. आसिफ़ा टोकरी के मुँह पर रस्सी बाँध रही थी. मैं अख़बार की सुर्ख़ियाँ देख रहा था. मैंने मुँह से अख़बार हटाये बिना पूछा, ''क्यों आसिफ़ा, तैयारी पूरी हो गयी न ?''

''जी हाँ.'' उसकी धीमी आवाज़ आयी.

उसके 'जी हाँ' के बाद भी मुझे पता था कि वह शहर को छोड़कर गाँव जाना नहीं चाहती. शहर की रौनक़ छोड़कर किसका दिल चाहता है कि वह गाँव में रिहाइश करे. अगरचे आसिफ़ा के लिए शहर की रौनक़ कभी पेश-मंज़र (सामने का दृश्य) में नहीं आयी थी. चूँकि वह स्वभावतः एकान्त प्रिय थी. फिर भी, पस-मंज़र (पीछे का दृश्य) की रौनक़ तो थी. और रौनक़ चाहे पेश-मंज़र में हो या पस-मंज़र में, वह रौनक़ ही होती है.

फिर हमारा गाँव भी तो नाम मात्र का गाँव था—आप जानते हैं, पहाड़ी इलाक़ों में गाँव नहीं होते. घर होते हैं, बीहड़े होते हैं. दो यहाँ हैं, दो वहाँ उस टीले पर और चार नीचे खड्ड में. उन बिखरे हुए घरों को गाँव नहीं कहा जा सकता. फिर यह भी है कि हमारा गाँव बहुत दूर पाकिस्तान के एक कोने में पड़ता है. शहरों से दूर. सड़कों से दूर. हंगामों से दूर. जहाँ अमन ही अमन है और लोग अमन से इस क़दर बेज़ार हैं कि रौनक़ के लिए उन्होंने बिरादरी में आपसी लड़ाई-झगड़ों का सहारा ले रखा है ! ठहरे हुए पानी को सड़ांध से बचाने के लिए लहरें पैदा करनी ही होती हैं.

लेकिन नौकरी से रिटायर होने के बाद मैं रोज़ सोचा करता था कि अब शहर में रहने का फ़ायदा क्या है ! इस सोच में डोलते हुए छह महीने बीत चुके थे. क्या करूँ—मैं स्वभावतः सोचने वाला आदमी हूँ, करने वाला नहीं. और सच्ची बात तो यह है कि सोच में डूबे रहने का अपना मज़ा होता है. ऐसा कि फिर फ़ैसला करने को जी नहीं चाहता और अपने-आप को धोखा देकर फैसला कर भी लो तो अमल में लाने की क्षमता नहीं होती.

फिर यह हुआ कि मकान मालिक ने हमें

दोस्तो, मैं जन्नत में रहता हूँ. मुझे घर नसीब नहीं हुआ. और मैं अनजाने में चोरी-चोरी दुआएँ माँगता हूँ कि कोई साँप आ निकले.

माना कि नेक औरत की सभी इज़्ज़त करते हैं. मैं भी करता हूँ. लेकिन बीवी—अब मैंने जाना है कि नेक बीवी ऐसी रेवड़ी की तरह होती है, जिसमें कड़ाका नहीं होता. पता नहीं, मियाँ कड़ाके का शौकीन क्यों होता है ? केवल मिठास क्यों अच्छी नहीं लगती ?

नोटिस दे दिया कि या तो मकान ख़ाली कर दो, नहीं तो अगले महीने से दुगना किराया अदा करना होगा. दुगना किराया देने की हैसियत नहीं थी और सस्ता घर खोजने की हिम्मत नहीं थी. इसलिए गाँव जाने का फ़ैसला कर लिया. वहाँ रिहाइश के क़ाबिल एक मकान भी था, साथ में थोड़ी-सी ज़मीन भी थी.

"मुझे पता है, आसिफ़ा," मैंने कहा, "तू गाँव जाना नहीं चाहती."

"चुप," उसकी आवाज़ आयी.

मुझे पता था कि वह मेरी बात का जवाब नहीं देगी. उसने कभी मुझे 'नहीं जी' न कहा था. ऐसे मौक़े पर वह चुप हो जाया करती थी. चुप्पी उसका एक मात्र इनकार था. अकेला हथियार था. उसके मुँह से 'चुप' सुनकर मुझे बड़ी हैरानी हुई. मैंने अख़बार हटाकर उसकी तरफ़ देखा. उसने होंठों पर उँगली रखी हुई थी और आँखों में चमक लहरा रही थी.

"वह", उसने बाहर की तरफ इशारा किया.

"वह क्या ?" मैंने पूछा.

"जीदा...", वह बोली, "वह रो रहा है."

वाक़ई बाहर से जीदा के रोने की आवाज़ आ रही थी. रोज़ की तरह सिसकियाँ भरते हुए वह चिल्ला रहा था, "मैं नहीं करूँगा, मैं नहीं करूँगा."

जीदा बहुत प्यारा बच्चा था. साथ ही बहुत ही घमंडी, ज़िद्दी. उसकी उम्र तीन साल की होगी. माँ-बाप की एक हादसे में मौत हो गयी थी. एक दूर के रिश्तेदार ने हमदर्दी के नाते उसे अपने घर में रख लिया था. यह हमदर्दी दिखावे की ज़्यादा थी, जज़्बे की कम. उनके अपने तीन बच्चे जो थे. घरवाली जीदा को काम पर लगाना चाहती थी लेकिन जीदा अपने मन का मालिक था. बड़ा हठी था. साफ़ इनकार कर देता था—'नहीं करूँगा.'

जीदा दिन में तीन-चार बार हमारे घर आया करता था. सीधा मेरे पास आता. न सलाम, न दुआ. न जान, न पहचान. आते ही हुक्म चलाता, "अंकल, आंटी को बोलो, मुझे स्वीट दे." आसिफ़ा से स्वीट लेकर वह वापस चला जाता. आसिफ़ा ने कई बार कोशिश की थी कि उसे पास बिठाये. उससे बातें करे. आसिफ़ा उसे पकड़ने की कोशिश करती तो वह चिल्लाकर उसे डाँटता, "नहीं." बल्कि आसिफ़ा ने उसके लिए खिलौने भी मँगवाये लेकिन उसे खिलौनों से खेलने में कोई दिलचस्पी नहीं थी.

मैंने जीदा की आवाज़ सुनकर कहा, "आसिफ़ा, बाहर की कुंडी लगा दो, कहीं जीदा अन्दर न आ जाये." आसिफ़ा ने 'हाँ' में सिर हिला दिया मगर वैसी की वैसी ही बैठी रही. दो-एक दिन पहले मैंने जीदा से कहा था, "जीदा, हम जा रहे हैं."

"कहाँ ?" वह चौंका.

"अपने गाँव." आसिफ़ा ने कहा.

"नहीं," वह बोला, "तुम नही जाओगे."

"हम तो जा रहे हैं," मैंने कहा.

"नहीं." उसने चीखकर कहा. फिर उसकी आँखें डबडबा गयीं. धीमी आवाज़ में बोला, "तुम चले गये तो मैं स्वीट किससे लूँगा ?" यह कहकर वह स्वीट लिये बिना बाहर निकल गया.

वह चला गया तो कमरे में देर तक ख़ामोशी छायी रही. सर्द ख़ामोशी.

जीदा के रोने की आवाज़ ख़त्म हुई तो मैंने फिर से बात छेड़ी.

मैंने कहा, "आसिफ़ा, अगर गाँव में तुम्हारा दिल नहीं लगा तो हम क़स्बे में जाकर रिहाइश कर लेंगे. वहाँ नाड़ा पुल का बहुत बड़ा क़स्बा है. वहाँ सौ घर होंगे. गाँव से दस मील दूर है. बड़ी सड़क, नदी पर पुल है. अनाज की मंडी है. ट्रक आते हैं. बसें चलती हैं. बड़ी चहल-पहल रहती है.

"जी हाँ." आसिफ़ा बोली.

'जी हाँ, जी हाँ' सुनन्न मेरे कान पक गये हैं. मेरी परेशानी यह है कि मैंने एक 'जी हाँ' से शादी कर रखी है. बदनसीबी की सारी ज़िम्मेदारी मुझ पर पड़ती है. मैं तीन साल जाने-अनजाने दुआएँ माँगता रहा था कि या अल्लाह, मैं अपनी बीवी के मुँह से कभी 'जी हाँ' भी सुनूँ. लोगो, कभी बिना सोचे-समझे दुआ नहीं माँगना ! कहीं ऐसा न हो अल्लाह दुआ मंजूर कर ले.

लघुकथा

बसे हुए लोग

•

जोगिन्दर पाल

मेरे नावल के हीरो और हीरोइन दोनों मुझसे नाराज़ थे क्योंकि जब उनकी शादी की परिस्थितियाँ स्वयं ही ऐन स्वाभाविक तौर पर सफलता की ओर बढ़ रहीं थीं तो मैंने उनका बना-बनाया खेल चौपट कर दिया और अपनी प्राथमिकता को नॉवल पर लाद कर उन्हें अन्तिम पृष्ठ तक एक-दूसरे से अलग रखने पर अड़ा रहा.

नहीं, वे दोनों मुझे अत्यधिक प्रिय हैं किन्तु मुश्किल यह है कि यदि मैं उन्हें एक दूसरे के लिए जीने का अवसर प्रदान कर देता तो मेरी अपनी ज़िन्दगी के निशाने धरे रह जाते. वे बहरहाल मेरे पात्र थे और जो जैसे थे मेरे ही कारण तो थे और उन्हें यही एक चारा था कि मेरी ज़िन्दगी की सुविधा बनाये रक्खें.

किन्तु वे दोनों तो मौक़े की ताक में थे. एक दिन नज़रें बचाकर अचानक गायब हो गये. मैंने नॉवल की पाण्डुलिपि की एक-एक पंक्ति छान मारी और हर स्थान पर उन्हें अपने नामों की ओट में ढूँढ़ता रहा, परन्तु वे वहाँ होते तो मिलते.

मुझे पश्चाताप का अनुभव होने लगा.

यदि वे मुझे कहीं मिल जाते तो मैं तुरन्त उनके फेरे करवा देता. मगर अब क्या हो सकता था ? मैं मुँह-सिर लपेट कर पड़ गया.

आप हैरान होंगे कि कई साल बाद एक दिन वे दोनों अचानक मुझे अपने ही शहर में मिल गये.

नहीं, वे मुझे बड़े प्यार और गर्मजोशी से मिले और अपने घर ले गये.

मेरे नॉवल के पन्नों से निकलते ही उन्होंने शादी कर ली थी और इतने बरस बाद अब तीन फूल जैसे बच्चों के माँ-बाप थे और उनका घरबार ख़ूब आबाद था.

नहीं, उन्हें अपने संसार में इस प्रकार फलते-फूलते पाकर मुझे हौसला ही न हुआ कि उन्हें नॉवल में लौट आने को कहता. ◘

आसिफ़ा मेरी दूसरी बीवी है. पहली शहज़ादी थी. वह सचमुच शहज़ादी थी. उसने कभी किसी बात पर मुझसे इत्तफ़ाक़ नहीं किया. मैं उसे कहा करता था—शहज़ादी, कभी तो मेरी बात मान लिया करो. लेकिन मेरी यह ख़्वाहिश कभी पूरी नहीं हुई थी. फिर एक हादसे में शहज़ादी की मौत हो गयी थी. आसिफ़ा मेरा चुनाव नहीं. यह एहसान मुझ पर ख़ाला ने किया था. कहने लगीं—'सलीम मैंने तेरे लिए ऐसी बीवी तलाश की है, जो तेरे घर को जन्नत बना देगी.' ख़ाला सच कहती थीं. आसिफ़ा के आने के बाद सचमुच हमारा घर जन्नत बन गया. लेकिन घर न बना.

दोस्तो, मैं जन्नत में रहता हूँ. मुझे घर नसीब नहीं हुआ. और मैं अनजाने में चोरी-चोरी दुआएँ माँगता हूँ कि कोई साँप आ निकले. माना कि नेक औरत की सभी इज़्ज़त करते हैं. मैं भी करता हूँ. लेकिन बीवी—अब मैंने जाना है कि नेक बीवी ऐसी रेवड़ी की तरह होती है, जिसमें कड़ाका नहीं होता. पता नहीं, मियाँ कड़ाके का शौकीन क्यों होता है ? केवल मिठास क्यों अच्छी नहीं लगती ? आसिफ़ा की मिठास अगर शुगर कोटेड जैसी होती तो भी बात बन जाती, लेकिन उसकी नेकी तो शहद की तरह गाढ़ी थी। अल्लाह न करे कि आपको किसी नेक आदमी के साथ ज़िन्दगी गुज़ारनी पड़े. स्याने कहते हैं, बिवेयर ऑफ़ द प्राइड ऑफ़ पिटी—ख़बरदार, अपनी नेकी पर घमंड से बचो. पता नहीं, ऐसा क्यों होता है. मगर ऐसा होता है कि नेक लोग जाने या अनजाने में अपनी नेकी को तमग़ा बनाकर छाती पर टाँक लेते हैं और लक्का-कबूतर बन जाते हैं. आसिफ़ा लक्का-कबूतरी नहीं बनी थी. उसने अपनी नेकी पर कभी मान नहीं किया था.

बड़े-बूढ़े कहते हैं कि इतने उजले नहीं बनो कि दूसरे मैले-मैले नज़र आयें. बेशक आसिफ़ा को मैं कभी मैला नहीं नज़र आया था लेकिन इसका क्या करूँ कि आसिफ़ा के उजलेपन को महसूस करके मैं ख़ुद को मैला समझने लगा था.

आसिफ़ा के साथ रहकर मैं गुनहगार बन गया था. बेमतलब. हालाँकि यकीन जानिये कि मैं गुनहगार नहीं हूँ. अच्छा न सही लेकिन मैं बुरा भी नहीं हूँ. गुनहगार बनना कोई आसान काम नहीं है. इंसान के ख़मीर में नेकी का तत्त्व इस तरह हावी है कि उससे जान छुड़ाना बड़ी मशक़्क़त का काम है. घर में हम दो प्राणी रहते हैं. आसिफ़ा और मैं. मैं साठ के क़रीब हूँ. वह पचास की होगी. लेकिन शायद अपनी नेकी के कारण ऐसी लगती है, जैसे मुझसे पाँच साल बड़ी हो.

फिर यह भी है कि औरत के अन्दर औरतपन का शोला बुझ जाये तो वह बासी मांस की गठरी बनकर रह जाती है. जब वह जवान थी, उस समय भी उसके औरतपन के दिये की लौ इतनी मन्द थी कि उसकी चमक कभी मुझ तक नहीं पहुँची थी. हमारे यहाँ औलाद नहीं हुई थी. इस बात ने आसिफ़ा को बिलकुल ही बुझा दिया था.

कहते हैं, बीवियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक वह, जो मियाँ के लिए जीती हैं; दूसरी वह, जो सन्तान के लिए जीती हैं. आसिफ़ा दोनों तरफ़ से वंचित थी. मियाँ की न उसे चाह थी, न इच्छा. जब भी मैं उसकी बाँह पकड़ता था तो मुझे ऐसा लगता था, जैसे गुनाह कर रहा हूँ. औलाद हमारे नसीब में नहीं थी. बड़े जतन करके देखे.

शादी के बाद शुरू-शुरू में मैं आसिफ़ा से लड़ा करता था. मुहल्ले वाले अपने-अपने घर में बैठे हमारी लड़ाई पर रनिंग कमेन्ट्री दिया करते थे. वे हैरान होते थे कि यह कैसी लड़ाई है, जिसमें सिर्फ़ एक पार्टी बोले जा रही है. दूसरी पार्टी जैसे मौजूद ही नहीं. उन्होंने हमारी लड़ाई को 'एक हाथ की ताली' नाम दे रखा था. सच्चाई यह थी कि मैं लड़ता नहीं था, आसिफ़ा को समझाने की कोशिश किया करता था कि बीवी कुछ करो, कुछ बोलो, लड़ो, झगड़ो. इस खड़े पानी में कोई हलचल पैदा हो.

दोस्तो ! हम मर्द भी कितने मूर्ख हैं. हम समझते हैं कि तर्क देकर हम बीवी को समझा सकते हैं. मैं अब जान गया हूँ. इसलिए मैंने एक हाथ की ताली बजाना छोड़ दिया है !

आसिफ़ा के पास बैठकर वक़्त गुज़ारना भी मुश्किल था. कोई कब तक 'जी हाँ, जी हाँ' का जाप सुने. आसिफ़ा बातें करने वाली औरत नहीं थी. पड़ोसनों की चुगली करना उसे पसन्द नहीं था. मुहल्ले के स्कैंडलों में उसे दिलचस्पी नहीं थी. कभी-कभी तो मुझे शक़ पड़ता था कि वह औरत न हो.

बाहर से 'पाम' 'पाम' की आवाज़ आयी. मैं उठ बैठा.

"टैक्सी आ गयी आसिफ़ा." मैंने कहा. वह जवाब दिये बिना, न चाहते हुए भी उठी. ठीक उसी वक़्त जीदा भागता हुआ अन्दर दाखिल हुआ.

बँधे सामान की तरफ़ देखकर वह बौखला गया. कभी सामान की तरफ़ देखता, कभी आसिफ़ा की तरफ़. इतना बौखला गया कि उसे स्वीट माँगना याद नहीं रहा.

"जीदे." मैंने कहा, "हम जा रहे हैं गाँव."

"मैं भी जाऊँगा." वह चीख़कर बोला.

"पागल हो गये हो क्या ?" मैंने कहा.

"आओ, मैं तुम्हें स्वीट दूँ." आसिफ़ा बोली.

"जाऊँगा, जाऊँगा", वह चिल्लाया. उसने स्वीट की तरफ़ ध्यान नहीं दिया.

"तेरी आंटी क्या कहेगी ?" आसिफ़ा बोली.

"कुछ नहीं कहेगी." वह रुआँसा होकर बोला.

अचानक मेरे दिल में एक ख़याल बिजली की तरह कौंधा.

"आसिफ़ा." मैं चिल्लाया और पागलों की तरह मैंने आसिफ़ा की तरफ़ देखा.

पहली बार आसिफ़ा की आँखों में चमक लहरायी. ऐसी चमक सिर्फ़ गुनहगार की आँखों में लहरा सकती है.

"आसिफ़ा." ख़ुशी से मेरी चीख़ निकल गयी.

आसिफ़ा ने बढ़कर जीदे को कम्बल में लपेट लिया. ◙

मुमताज़ मुफ़्ती

मूल नाम : मुफ़्ती मुमताज़ मुहम्मद हुसैन
जन्म : 12 सितम्बर, 1905

पहली कहानी 'झुकी झुकी कहानी' (1936) अदबी दुनिया लाहौर में प्रकाशित हुई.

कृतियाँ : 'अनकही', 'गहमागहमी', 'चुप', 'गुड़ियाघर', 'रौगन पुतले', 'समय का बंधन' (कहानी संग्रह); 'अलीपुर का एली', 'अलख नगरी' (उपन्यास); 'गुब्बारे' (आलोचना)

इन्हें पाकिस्तान सरकार के सम्मान 'सितारा-ए-इम्तियाज़' के अतिरिक्त कई आवार्ड मिले.

◆ कहानी ◆

गड़रिया

अशफ़ाक़ अहमद

सर्दी की एक अँधेरी रात की बात है. मैं अपने गर्म बिस्तर पर सर ढँके गहरी नींद सो रहा था कि किसी ने जोर से झिंझोड़कर जगा दिया.

"कौन है ?" मैंने चीखकर पूछा और उत्तर में एक बड़ा-सा हाथ मेरे सर से टकराया और घोर अँधेरे से आवाज आयी, "थाने वालों ने रानो को गिरफ़्तार कर लिया."

"क्या ?" मैंने काँपते हाथ को परे ढकेलना चाहा, "क्या है ?" और अँधेरे का भूत बोला, "थाने वालों ने रानो को पकड़ लिया—इसका फ़ारसी तर्जुमा करो."

"दाऊजी के बच्चे," मैंने रूखे होकर कहा, "आधी-आधी रात तंग करते हैं....दूर हो जाओ...मैं आपके घर नहीं रहता...मैं नहीं पढ़ता ...दाऊजी के बच्चे...कुत्ते..." और मैं रोने लगा.

दाऊजी ने पुचकारकर कहा, "अगर पढ़ेगा नहीं, तो पास कैसे होगा ? पास नहीं होगा, तो बड़ा आदमी न बन सकेगा. फिर लोग तेरे दाऊजी को कैसे जानेंगे ?"

"ख़ुदा करे सब मर जायें, आप भी, आपको जानने वाले भी ...और मैं भी..." मैं अपनी जवान मौत पर ऐसा रोया कि दो क्षण के लिए घिग्घी बँध गयी.

दाऊजी बड़े प्यार से मेरे सर पर हाथ फेरे जाते थे और कह रहे थे, "बस, अब चुपकर, शाबाश...मेरा अच्छा बेटा, इस समय यह तर्जुमा कर दे, फिर नहीं जगाऊँगा."

आँसुओं का तार टूटता जा रहा था. मैंने जलकर कहा, "आज हरामजादे रानो को पकड़कर ले गये, कल किसी और को पकड़ लेंगे, आपका तर्जुमा तो..."

"नहीं...नहीं..." उन्होंने बात काटकर कहा, "मेरा-तेरा वादा रहा. आज के बाद रात को जगाकर कुछ न पूछूँगा. शाबाश, अब बता—थाने वालों ने रानो को गिरफ्तार कर लिया."

मैंने रूठकर कहा, "मुझे नहीं आता."

"तुरन्त 'नहीं' कह देता है." उन्होंने सर से हाथ उठाकर कहा, "कोशिश तो कर."

"नहीं करता," मैंने जलकर उत्तर दिया.

इस पर वह जरा हँसे और बोले, "का रकुनाने गज़माख़ाना रानुरा तौकीफ करदंद."

"कारकुनाने गज़माख़ाना—थाने वालों—भूलना नहीं, नया लफ़्ज है, नया तरीक़ा है, दस बार कहो."

मुझे पता था कि यह बला टलने वाली नहीं. मजबूरन गज़माख़ाना का पहाड़ा शुरू कर दिया.

जब दस बार कह चुका, तो दाऊजी ने बड़े लजीले ढंग से कहा, "अब सारा वाक्य पाँच बार कहो." जब पाँच बार की मुसीबत भी ख़त्म हुई, तो उन्होंने आराम से विस्तर में लिटाते हुए और रज़ाई उढ़ाते हुए कहा, "भूलना नहीं, सुबह उठते ही पूछूँगा."

शाम को जब मैं मुल्लाजी से सिपारे (क़ुरान के भाग) का पाठ लेकर लौटता तो खरासियो (गधे वालों) की गली से होकर अपने घर जाया करता. इस गली में तरह-तरह के लोग बसते थे मगर मैं केवल माशकी से परिचित था. माशकी के घर के साथ बकरियों का एक बाड़ा था, जिसके तीन तरफ़ कच्चे मकानों की दीवारें और सामने की ओर आड़ी-तिरछी लकड़ियों और काँटेदार झाड़ियों का ऊँचा-नीचा जंगल था. इसके बाद गली में ज़रा-ज़रा से मोड़ आते, गली और ज़्यादा तंग हो जाती.

इसमें अकेले चलते हुए मुझे हमेशा यूँ लगता, जैसे मैं बन्दूक़ की नली में चला जा रहा हूँ, और ज्यों ही मैं उसके दहाने से बाहर निकलूँगा, ज़ोर से 'ठाँय' होगी और मैं मर जाऊँगा. मगर शाम के समय कोई-न-कोई राही इस गली में ज़रूर मिल जाता और मेरी जान बच जाती. इन जाने-आने वालों में कभी-कभी एक सफ़ेद मूँछों वाला लम्बा-सा आदमी भी होता, जिसकी शक्ल बारहा माह वाले मलखी (जोतदार) से मिलती थी. सर पर मलमल की बड़ी-सी पगड़ी, ज़रा-सी झुकी हुई कमर पर ख़ाकी रंग का ढीला और लम्बा कोट, खद्दर का तंग पाजामा और पाँव में बूट. ज़्यादातर इनके साथ मेरी ही उम्र का एक लड़का भी होता, जिसने बिलकुल इसी तरह के कपड़े पहने होते और वह आदमी अपने कोट की जेबों में हाथ डाले धीरे-धीरे इससे बातें किया करता. जब वह मेरे बराबर आते, तो लड़का मेरी तरफ़ देखता और मैं उसकी तरफ़; और फिर एक क्षण को बिना झिझके गर्दन को मोड़कर हम अपनी राह चले जाते.

एक दिन मैं और मेरा भाई 'ठट्टियों के जोहड़' से मछलियाँ पकड़ने का निष्फल प्रयत्न करने के बाद वापस आ रहे थे तो नहर के पुल पर यही आदमी अपनी पगड़ी गोद में डाले बैठा था और उसकी सफ़ेद चुटिया मैली मुर्गी के पर की भाँति उसके सर से चिपटी हुई थी. उसके पास से गुजरते हुए मेरे भाई ने माथे पर हाथ रखकर ज़ोर से कहा, "दाऊजी, सलाम." और दाऊजी ने सर हिला कर कहा, "जीते रहो."

यह जानकर कि मेरा भाई उससे परिचित है, मैं बहुत ख़ुश हुआ. और थोड़ी देर बाद अपनी पतली आवाज़ में चिल्लाया, "दाऊजी, सलाम."

'जीते रहो, जीते रहो." उन्होंने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा और मेरे भाई ने पटाख से एक थप्पड़ दिया, "शेख़ीख़ोर, कुत्ते." वह चीख़ा, "मैंने सलाम कर दिया, तो तेरी क्या ज़रूरत थी. हर बात में अपनी टाँग फँसाता है, कमीना !"

इस्लामिया प्राइमरी स्कूल से चौथी पास करके मैं एम. बी. हाई

स्कूल की पाँचवीं कक्षा में दाख़िल हुआ तो दाऊजी का लड़का मेरे क्लास का साथी निकला. उसकी सहायता से मैं जान गया कि दाऊजी खत्री थे और क़स्बे की मुंसिफी में अर्ज़ी लिखने का काम करते थे. लड़के का नाम उमीचन्द था. वह अपनी कक्षा में तेज़ था. उसकी पगड़ी कक्षा में सबसे बड़ी थी और मुँह बिल्ली की तरह छोटा. कुछ लड़के उसको 'म्याऊँ' कहते, मगर मैं दाऊजी के कारण उसके असली नाम से पुकारता था, इस कारण वह दोस्त हो गया था और हमने एक-दूसरे को निशानियाँ देकर पक्के दोस्त बनने का वादा कर लिया.

गर्मियों की छुट्टियाँ शुरू होने में एक हफ़्ता रहा होगा, जब मैं उमीचन्द के साथ पहली बार उसके घर गया. जब हम ड्योढ़ी में दाख़िल हुए तो उमीचन्द ने चिल्लाकर, "बेबे, नमस्ते" कहा और मुझे सहन के बीचों-बीच छोड़कर ख़ुद बैठक में घुस गया. बरामदे में बोरियाँ बिछाये बेबे मशीन चला रही थीं और उनके पास एक लड़की बड़ी-सी कैंची से कपड़े काट रही थी. बेबे ने मुँह-ही-मुँह में उत्तर दिया और वैसे ही मशीन चलाती रहीं. लड़की ने निगाह ऊपर उठाकर मेरी ओर देखा और गर्दन मोड़कर कहा, "बेबे, शायद डॉक्टर साहब का लड़का है." मशीन रुक गयी.

"हाँ, हाँ", बेबे ने मुसकराकर कहा और हाथ के इशारे से मुझे अपनी तरफ़ बुलाया.

"क्या नाम है तुम्हारा ?" बेबे ने प्यार से पूछा.

मैंने निगाहें नीचे झुकाये धीरे से अपना नाम बताया.

"आफ़ताब से बहुत शक्ल मिलती है," लड़की ने कैंची रखते हुए कहा, "है ना बेबे ? क्यों नहीं, भाई जो हुआ आफ़ताब का !"

अन्दर से आवाज़ आयी, "आफ़ताब है क्या बेटा ?"

"आफ़ताब का भाई है दाऊजी," लड़की ने रुकते हुए कहा, "उमीचन्द के साथ आया है."

अन्दर से दाऊजी आये. उन्होंने घुटनों तक अपना पाजामा चढ़ा रखा था और कुर्ता उतरा हुआ था मगर सर पर पगड़ी ज्यों-की-ज्यों बँधी हुई थी. पानी की एक हल्की-सी बाल्टी उठाये वह बरामदे में आ गये और मेरी ओर ध्यानपूर्वक देखते हुए बोले, "हाँ, बहुत शक्ल मिलती है. मगर मेरा आफ़ताब बहुत दुबला है और यह गोल-मटोल-सा है. फिर बाल्टी फ़र्श पर रखकर मेरे सर पर हाथ फेरा और पास ही काठ का एक स्टूल घसीटकर बैठ गये. ज़मीन से पाँव ऊपर उठाकर हलके-से उन्हें झाड़ा और फिर बाल्टी में डाल दिया. उन्होंने बाल्टी से पानी भर-भरकर टाँगों पर डालते हुए पूछा, "कौन सा सिपारा पढ़ रहे हो ?"

"चौथा." मैंने दृढ़तापूर्वक कहा.

"क्या नाम है तीसरे सिपारे का ?" उन्होंने पूछा.

"जी, पता नहीं." मेरी आवाज़ फिर डूब गयी.

"तिलकररसूल." उन्होंने पानी से हाथ निकालकर कहा.

उमीचन्द अभी बैठक के अन्दर ही था और मैं झेंप की गहराइयों में डूबता जा रहा था, दाऊजी ने निगाहें मेरी तरफ़ फेरकर कहा, "सूर : फ़ातिहा (कुरान का प्रारम्भिक अध्याय) सुनाओ."

"मुझे नहीं आता." मैंने लज्जित होकर कहा.

उन्होंने चकित होकर मेरी ओर देखा और कहा, " 'अलहमदो लिल्लाह' भी नहीं जानते ?"

"वह तो जानता हूँ जी," मैंने जल्दी से कहा और नज़रें झुका लीं.

वह ज़रा मुसकराये और अपने से कहने लगे, "एक ही बात है, एक ही बात है." फिर उन्होंने सिर के इशारे से कहा, "सुनाओ."

जब मैं सुनाने लगा तो उन्होंने अपना पाजामा घुटनों के नीचे कर लिया और पगड़ी का पल्लू चौड़ा करके कन्धों पर डाल लिया और जब मैंने 'वलद दुआलीन' (सूर फ़ातिहा का अन्तिम वाक्य) कहा तो मेरे साथ उन्होंने भी 'आमीन' कहा. मुझे ख़याल हुआ कि वह उठकर इसी समय मुझे इनाम देंगे, क्योंकि पहली बार मैंने अपने ताया को अलहमदो सुनायी थीं, तो उन्होंने भी ऐसे ही 'आमीन' कहा था और साथ ही एक रुपया इनाम भी दिया था. पर दाऊजी उसी तरह रहे,

बल्कि और भी पत्थर हो गये. इतने में उमीचन्द किताब पढ़कर ले आया और जब मैं चलने लगा, तो मैंने स्वभाव के विरुद्ध धीरे से कहा, "दाऊजी सलाम," और उन्होंने वैसे ही डूबे-डूबे उत्तर दिया, "जीते रहो."

बेबे ने मशीन रोककर कहा, "कभी-कभी उमीचन्द के साथ खेलने आ जाया कर."

"हाँ, हाँ, आ जाया कर," दाऊजी बोले. "आफ़ताब भी आ जाया करता था." फिर उन्होंने बाल्टी पर झुककर कहा, "हमारा आफ़ताब तो हमसे बहुत दूर हो गया" और फारसी का शेर पढ़ने लगे. यह दाऊजी से मेरी पहली भेंट थी और इस भेंट से मैं यह परिणाम निकालकर चला कि दाऊजी बड़े कंजूस हैं. बहुत अधिक चुप-से हैं और कुछ बहरे-से.

उसी दिन शाम को अपनी अम्माँ को बताया कि मैं दाऊजी के घर गया था और वह आफ़ताब भाई की बहुत याद कर रहे थे. अम्माँ ने झुँझलाकर कहा, "मुझसे पूछ तो लेता. ठीक है, आफ़ताब उनसे पढ़ता था और उनकी बहुत इज़्ज़त करता है, मगर तेरे अब्बा जी उनसे

अम्माँ मेरी इस बात को लेकर परेशान थीं. अब्बा जी भी नाख़ुश थे मगर मेरी रात तिलिस्मे होशरूबा के महलों में गुजरती और दिन क्लास में बेंच पर खड़े होकर. तिमाही में फेल होते-होते बचा. छमाही में बीमार पड़ गया और सालाना में वैद्यजी की मदद से मास्टरों से मिलकर पास हो गया. दसवीं में संदलीनामा, फ़साना-ए-आज़ाद, अलिफ़ लैला साथ-साथ चलते थे. फ़साना-ए-आज़ाद और संदलीनामा घर पर रखते थे. परन्तु अलिफ़ लैला स्कूल के डेस्क में बन्द रहती थी. आख़िरी बेंच पर भूगोल की किताब के नीचे मैं सिन्दबाद जहाजी के साथ-साथ चलता और इस तरह दुनिया की सैर करता.

बोलते तक नहीं. किसी बात पर झगड़ा हो गया था, सो अभी तक नाराजगी चली आ रही है. अगर उन्हें पता चला कि तू उनके घर गया था तो वह नाराज़ होंगे." फिर अम्माँ ने नर्म होकर कहा, "अपने अब्बा से इसका ज़िक्र न करना."

घर में दाऊजी को अपनी बेटी से बड़ा प्यार था. हम सब उसे बीबी कहकर पुकारते थे. अकेले दाऊजी कुर्रत (ठंडक) कहकर पुकारते थे, कभी-कभी बैठे-बैठे हाँक लगाकर कहते, "कुर्रत बिटिया, यह तेरी कैंची कब छूटेगी ?" और वह उसके जवाब में मुसकराकर चुप हो जाती. बेबे को इस नाम से चिढ़ थी. वह चीखकर झट उत्तर देतीं, "तुमने इसका नाम कुर्रत रखकर इसके भाग्य में कुर्ते सीना लिखा दिया है." मुसकराकर कहते, "अनपढ़, अगर सूरत अच्छी न हो तो सलीका ही हो, आदमी बात तो मुँह से अच्छी निकाले." और बेबे दाऊजी को उनके मुँह में जो आता, कहती जातीं. पहले कोसने, फिर बद्दुआओं, फिर आख़िर में गालियों पर उतर आतीं.

बीबी रोकती, तो दाऊजी कहते, "हवाएँ चलने को होती हैं. तुम इन्हें रोको मत." फिर वह अपनी किताबें समेटते और अपना प्रिय हसीर उठाकर चुपके से सीढ़ियाँ चढ़ जाते.

नवीं कक्षा के [illegible] में मेरी एक बुरी आदत पड़ गयी और इस आदत ने अजीब गुल खिलाये. हकीम अली अहमद मरहूम हमारे कस्बे के एक हकीम थे. इलाज से तो उन्हें ख़ास वास्ता नहीं था परन्तु बातें बड़ी मज़ेदार सुनाते थे और औलियाओं वगैरह के किस्से, जिन-भूतों की कहानियाँ, हज़रत सुलेमान (एक पैगम्बर) और मलका-ए-सबा (अरब की रानी और सुलेमान की प्रेमिका) की घरेलू ज़िन्दगी की दास्तानें उनके निशाने पर लगने वाले टोटके थे. उनके तंग अँधेरे मतब (दवाख़ाना) में माजून के चंद डिब्बे और शरबत की चंद बोतलें और दो-तीन शीशियों के अलावा कुछ न था. दवाओं के अलावा वह अपनी तिलस्माती तक़रीर और हज़रत सुलेमान के ख़ास ताबीजों से रोगी का इलाज करते थे.

मैं अपने अस्पताल से ख़ाली शीशियाँ और बोतलें चुराकर लाता और उसके बदले में वह मुझे दास्ताने अमीर हमज़ा (कहानियों की एक किताब) की ज़िल्दें पढ़ने को दिया करते थे. ये किताबें इतनी दिलचस्प थीं कि मैं रात-रात भर अपने बिस्तर में दुबककर पढ़ता और सुबह देर तक सोया रहता.

अम्माँ मेरी इस बात को लेकर परेशान थीं. अब्बा जी भी नाख़ुश थे मगर मेरी रात तिलिस्मे होशरूबा (तिलिस्मी कहानियों की किताब) के महलों में गुजरती और दिन क्लास में बेंच पर खड़े होकर. तिमाही में फेल होते-होते बचा. छमाही में बीमार पड़ गया और सालाना में वैद्यजी की मदद से मास्टरों से मिलकर पास हो गया. दसवीं में संदलीनामा (फ़ारसी की एक किताब), फ़साना-ए-आज़ाद (उर्दू उपन्यास), अलिफ़ लैला साथ-साथ चलते थे. फ़साना-ए-आज़ाद और संदलीनामा घर पर रखते थे. परन्तु अलिफ़ लैला स्कूल के डेस्क में बन्द रहती थी. आख़िरी बेंच पर भूगोल की किताब के नीचे मैं सिन्दबाद जहाजी के साथ-साथ चलता और इस तरह दुनिया की सैर करता.

22 मई का किस्सा है कि यूनीवर्सिटी के नतीजे की किताब एम. बी. हाई स्कूल पहुँची. उमीचन्द न सिर्फ़ स्कूल में बल्कि जिले भर में अव्वल आया था. सात लड़के फ़ेल हो गये थे और बाईस पास. वैद्यजी का जादू यूनीवर्सिटी पर नहीं चल सका और पंजाब की बेरहम यूनीवर्सिटी ने मेरा नाम भी उन सात लड़कों में शामिल कर दिया. उसी शाम अब्बा ने मेरी पिटाई की और घर से बाहर निकाल दिया. मैं अस्पताल की रेहेट की गद्दी पर आ बैठा और रात भर यह सोचता रहा, 'अब क्या करना चाहिए और कहाँ जाना चाहिए ?'

अगले दिन मेरे फ़ेल होने वाले साथियों में से खुशिया, कोदू और दिलसिव, याबीब मस्जिद के पिछवाड़े टाल के पेड़ के पास बैठे मिल गये. वे लाहौर जाकर व्यापार करने का प्रोगाम बना रहे थे.

दिलसिव, याबीब ने मुझे बताया कि लाहौर में बहुत व्यापार है क्योंकि उसके मामाजी अक़सर अपने मित्र फतेहचन्द के ठेकों का ज़िक्र करते थे, जिसने साल में ही दो कारें ख़रीद ली थीं.

मैंने उनके व्यापार के बारे में पूछा तो याबीब ने कहा कि लाहौर में हर तरह के व्यापार मिल जाते हैं. बस, एक दफ़्तर होना चाहिए और उसके सामने बड़ा-सा साइनबोर्ड देखकर लोग ख़ुद व्यापार दे जाते हैं.

अतः यह निश्चित हुआ कि अगले दिन दो बजे वाली गाड़ी से हम रवाना हो जायेंगे. घर पहुँचकर मैं यात्रा की तैयारी करने लगा. बूट पॉलिश कर रहा था कि नौकर ने आकर कहा, "चलो जी, डॉक्टर साहब बुलाते हैं."

मैं डरते-डरते बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ा, फिर धीरे-धीरे जाली

वाला दरवाजा खोलकर अब्बा के कमरे में दाखिल हुआ तो वहाँ उनके अतिरिक्त दाऊजी भी बैठे थे. मैंने डरते-डरते दाऊजी को सलाम किया, उसके जवाब में बहुत धीरे से 'जीते रहो' की दुआ सुनी.

"इनको पहचानते हो ?" अब्बाजी ने सख़्ती से कहा.

"बेशक," मैंने एक सभ्य की तरह कहा.

"बेशक के बच्चे, हरामज़ादे मैं तेरी यह सब..."

"न, न डॉक्टर साहब," दाऊजी ने हाथ ऊपर उठाकर कहा, "यह बड़ा अच्छा लड़का है, इसको तो..."

और डॉक्टर साहब ने बात काटकर तल्खी से कहा, "आप नहीं जानते मुंशीजी, इस कमीने ने मेरी इज़्ज़त ख़ाक में मिला दी."

"आप फ़िक्र न करें, यह हमारे आफ़ताब से भी ज़हीन है, एक दिन.."

"अबकी बार डॉक्टर साहब को गुस्सा आ गया. मेज़ पर हाथ मारकर बोले, "कैसी बात करते हो मुंशीजी, यह आफ़ताब के जूते की बराबरी नहीं कर सकता."

"कर लेगा, कर लेगा, डॉक्टर साहब !" दाऊजी ने सर हिलाते हुए कहा, "आप बेफ़िक्र रहें." फिर वह अपनी कुर्सी से उठे और मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले, "मैं सैर को चलता हूँ, तुम मेरे साथ आओ, बातें करेंगे." अब्बा उसी तरह कुर्सी पर बैठे रजिस्टर उलटते रहे और गुस्से में बड़बड़ाते रहे.

दाऊजी मुझे इधर-उधर घुमाते रहे और पेड़ों के नाम फ़ारसी में बताते हुए नहर के उसी पुल पर ले गये, जहाँ मेरी उनसे पहली भेंट हुई थी.

अपनी ख़ास जगह पर बैठकर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारकर गोद में रख ली. सर पर हाथ फेरा और मुझे सामने बैठने का इशारा किया. फिर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं और कहा, "आज से मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा और क्लास में पहली पोजीशन ज़रूर दिला दूँगा. मेरे हर मक़सद में भगवान की मदद होती है और उसने मुझे अपनी मेहरबानी से नाउम्मीद कभी नहीं किया."

"मुझसे पढ़ाई नहीं होगी." मैंने हठ करके बात काटी.

"पढ़ाई न होगी तो क्या होगा, गोलू ?" उन्होंने मुस्कराकर कहा.

मैंने कहा, "मैं व्यापार करूँगा. रुपये कमाऊँगा और अपनी कार लेकर आऊँगा. फिर देखना..."

अबकी बार दाऊजी ने मेरी बात काटी और प्रेमपूर्वक कहा, "भगवान एक छोड़ दस कारें तुझे दे. पर एक अनपढ़ की कार में मैं न बैठूँगा, न डॉक्टर साहब."

मैंने जलकर कहा—"मुझे किसी की परवाह नहीं. डॉ. साहब अपने यहाँ राजी रहें, मैं अपने यहाँ ख़ुश."

उन्होंने मेरी बात न सुनी और कहने लगे—"अगर अपने उस्ताद के सामने मेरे मुँह से ऐसी बात निकल जाती ? तो...तो..." उन्होंने तुरन्त पगड़ी उठाकर सर पर रख ली और कहने लगे, "मैं हुज़ूर के दरबार का तुच्छ कुत्ता. मैं हज़रत मौलाना की ख़ाक से बुरा आदमी होकर आक़ा से यह कहकर लानत या धिक्कार का तौक़ न पहनता." फिर उन्होंने दोनों हाथ सीने पर रख लिये और सर गोद में झुकाकर बोले, "मैं जात का गड़रिया. मेरा बाप मुडासी का ग्वाला. मैं जहालत का बेटा. मेरा ख़ानदान अबूजहल (हज़रत मुहम्मद साहब के शत्रु चाचा) के ख़ानदान से जुड़ा और आका की एक नज़र, हज़रत का एक इशारा, हुज़ूर ने चन्तू को मुंशी चन्तराम बना दिया. लोग कहते हैं मुंशीजी. मैं कहता हूँ, रहमतउल्लाएलैह (भगवान के कृपा पात्र) के तुच्छ गुलाम पर कृपा हो...लोग समझते हैं..." दाऊजी कभी हाथ जोड़ते कभी सर झुकाते, कभी उँगलियाँ चूमकर आँखों से लगाते और बीच-बीच में फ़ारसी के शेर पढ़ते जाते.

दाऊजी ने मेरा जीवन बरबाद कर दिया. मेरा जीना हराम कर दिया. सारा दिन स्कूल की बकवास में गुजरता और रात—गर्मियों की छोटी-सी रात—सवालों के जवाबों में.

कोठे पर उनकी खाट मेरे बिस्तर के साथ लगी है और दाऊजी पूछ रहे हैं—"बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले इसका तर्जुमा करो !"

मैंने आज्ञाकारी होकर कहा, "जी, यह लम्बा वाक्य है, सुबह लिखकर बता दूँगा. कोई दूसरा पूछिए." उन्होंने आकाश की ओर निगाहें उठाकर "बहुत अच्छा" कहा.

उमीचन्द कॉलेज चला गया तो उसकी बैठक मुझे मिल गयी और दाऊजी के मन में उसके प्रेम पर भी अधिकार कर लिया. अब दाऊजी मुझे बहुत अच्छे लगने लगे थे. उनकी जो बातें मुझे उस समय बुरी लगती थीं, वह अब भी बुरी लगती हैं बल्कि अब पहले से अधिक ही. शायद इसलिए कि मैं मनोविज्ञान का एक विद्यार्थी हूँ और दाऊजी मुल्लाई मक़तब (पुराने स्कूल) के पढ़े-पले हुए थे. सबसे बुरी आदत उनकी उठते-बैठते प्रश्न पूछने की थी और दूसरी खेलने-कूदने से मना करने की. वह तो बस यह चाहते थे कि आदमी पढ़ता रहे...पढ़ता रहे और जब उसे टी. बी. का रोग हो जाये और मौत का दिन करीब आये, तो किताबों के ढेर पर जान दे दे.

बेबे का इन दाऊजी से बिना कारण ही बैर था. दाऊजी उनसे बहुत डरते थे. वह दिन भर मोहल्ले वालियों के कपड़े सिया करतीं और दाऊजी को कोसती रहतीं. उनकी इस ज़ुबान-दराज़ी (कोसने) पर मुझे बहुत गुस्सा आता था. मगर पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर न हो सकता था. कभी-कभी वह बुरी गालियों पर उतर आतीं तो दाऊजी मेरे पास बैठक में आ जाते और कानों पर हाथ रखकर कुर्सी पर बैठ जाते. थोड़ी देर बाद कहते—"पीछे बुराई करना बड़ा बुरा है. लेकिन मेरा ख़ुदा मुझे माफ़ करे. तेरी बेबे भठियारिन है."

और वास्तव में बेबे भठियारिन-सी थीं. उनका रंग सख़्त काला था और दाँत बहुत सफ़ेद. माथा मेहराबदार और आँखें चुनिया-सी. चलतीं तो ऐसी बिल्ली की-सी चाल से जैसे (ख़ुदा मुझे माफ़ करें) कुटनी कनसुइयाँ लेती फिरती हैं, बेचारी बीबी को ऐसी बातें कहतीं कि वह दिनों-दिन रो-रोकर थक जाती.

यूँ तो बीबी बेचारी बड़ी अच्छी लड़की थी, परन्तु मेरी उससे न बनती थी. मैं कोठे पर बैठा सवाल निकाल रहा हूँ. दाऊजी नीचे बैठे हैं और बीबी ऊपर बरसाती से ईंधन लेने आयी, तो ज़रा रुककर मुझे देखा फिर मुँडेर से झाँककर बोली, "दाऊजी, पढ़ नहीं रहा है, तिनकों की चारपाइयाँ बना रहा है."

मैं चिड़चिड़े बच्चे की तरह मुँह चिढ़ाकर कहता, "तुझे क्या ? नहीं पढ़ता तो तू क्यों बड़-बड़ करती है...आयी बड़ी थानेदारनी !"

और दाऊजी नीचे से हाँक लगाकर कहते, "ना-ना, गोलू-मोलू, बहिनों से नहीं झगड़ते." और मैं जोर से चिल्लाता, "पढ़ रहा हूँ जी, झूठ बोलती है." दाऊजी धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आ जाते और कापियों के नीचे आधी छुपी हुई चारपाई देखकर कहते, "क़ुर्रत बिटिया, तू इसे चिढ़ाया न कर, बड़ी मुश्किल से काबू किया है, अगर एक बार फिर बिगड़ गया तो मुश्किल से ठीक होगा."

उन दिनों रोज़ मैं 10 बजे सुबह दाऊजी के यहाँ से चल देता,

घर जाकर नाश्ता करता और फिर स्कूल पहुँच जाता. आधी छुट्टी पर मेरा खाना स्कूल भेज दिया जाता. शाम को घर आने पर अपनी लालटेन तेल से भरता और दाऊजी के यहाँ आ जाता. फिर रात का खाना भी दाऊजी के घर पर ही भिजवा दिया जाता.

जिन दिनों मुंसिफी बन्द होती, दाऊजी स्कूल के मैदान में आकर बैठ जाते और मेरी प्रतीक्षा करते. वहाँ से घर तक सवालों की बौछार रहती. स्कूल में जो कुछ पढ़ाया गया होता उसे तफ़सील से पूछते. फिर मुझे मेरे घर छोड़कर ख़ुद सैर को चले जाते.

एक दिन अचानक मैं दाऊजी को लेने मुंसिफी पहुँच गया. उस वक़्त कचहरी बन्द हो गयी थी और दाऊजी नानबाई के छप्पर तले एक बेंच पर बैठ गुड़ की चाय पी रहे थे. मैंने धीरे से जाकर कहा, "चलिए, मैं आपको लेने आया हूँ." उन्होंने मुझे देखे बग़ैर चाय के बड़े-बड़े घूँट भरे, एक आना जेब से निकालकर नानबाई के हवाले किया और चुपचाप मेरे साथ चल दिये. मैंने शरारत से नाचकर कहा, "घर चलिये, बेबे से कहूँगा कि आप चोरी-चोरी से चाय पीते हैं."

दाऊजी शर्मिंदगी छुपाते हुए बोले, "इसकी चाय बहुत अच्छी होती है और गुड़ की चाय से थकान भी दूर हो जाती है. फिर यह एक आने में गिलास भर के देती है. तू अपनी बेबे से न कहना, वह झगड़ा शुरू कर देगी. ज़्यादती पर उतर आयेगी." फिर उन्होंने डरकर मायूस होकर कहा—"उसका स्वभाव ही ऐसा है." उस दिन मुझे दाऊजी पर बड़ी दया आयी. मेरा मन उनके लिए बहुत कुछ करने को चाहने लगा, परन्तु इस वक़्त मैंने बेबे से न कहने का वादा करके ही उनके लिए कुछ किया.

जब इस क़िस्से का ज़िक्र मैंने अम्माँ से किया तो वह कभी मेरे हाथ और कभी नौकर के द्वारा दाऊजी के यहाँ दूध, फल और चीनी वगैरह भेजने लगीं. मगर इस भेजने से दाऊजी को कभी भी कुछ नसीब न हुआ. हाँ, बेबे की निगाहों में मेरी क़दर बढ़ गयी और उन्होंने किसी हद तक मुझसे रियायती व्यवहार करना शुरू कर दिया.

दाऊजी ने जीवन में बेबे वाला पहलू बड़ा ही कमज़ोर था. जब वह देखते कि घर का माहौल साफ़ है और बेबे के चेहरे पर कोई बात नहीं है तो वह पुकारकर कहते—"सब एक-एक शेर सुनाओ." पहले मुझसे तक़ाज़ा होता और मैं छूटते ही कहता—

"लाज़िम था कि देखो मेरा रास्ता कोई दिन और,
तनहा गये क्यों अब रहो तनहा कोई दिन और."

बीबी भी मेरी तरह इस शेर से शुरू करती—

"शुनीदम ने शाहपूर दम दर कशीद,
चूँ खुसरों बरीं माश क़लम दर कशीद."

(मैंने सुना है शाहपूर साँस भी न ले सका जब खुसरो बादशाह ने इसके नाम पर क़लम चलाकर मौत की आज्ञा दी.)

इस पर दाऊजी एक बार फिर आर्डर-आर्डर कहते. बीबी कैंची रखकर कहती—

"शोरे शुदबाज बढ़बाबे अदम मश्म कुशुदेम,
दी देम के बाक़ीस्त शबे फितना गुनुदेम."

(दुनिया के शोर से मैं स्वर्ग के स्वप्न से जागकर दुनिया में आया लेकिन यहाँ उथल-पुथल देखकर फिर आँखें बन्द कर लीं और मौत की पनाह ली.)

दाऊजी शाबाश तो ज़रूर कह देते लेकिन साथ ही यह भी कह देते, "बेटा यह शेर तो कई बार सुना चुकी हो."

फिर वह बेबे की ओर देखकर कहते, "कहो भाई, आज तुम्हारी बेबे भी एक शेर सुनायेंगी." मगर बेबे एक ही रूखा-सा उत्तर देतीं—"मुझे नहीं आते शेर-कविता." इस पर दाऊजी कहते, "घोड़ियाँ ही सुना दे."

अपने बेटों के ब्याह की घोड़ियाँ ही गा दे." इस पर बेबे के होंठ मुसकराने को करते, परन्तु वह मुसकरा न सकतीं और दाऊजी औरतों की तरह घोड़ियाँ गाने लगते. इनके बीच उमीचन्द का और कभी मेरा नाम टाँक देते. फिर कहते, "मैं अपने इस गोलू-मोलू की शादी पर सुर्ख़ पगड़ी बाँधूँगा. बारात में डॉक्टर साहब के साथ चलूँगा और निकाहनामा पर शहादत के दस्तख़त करूँगा." मैं रवायत के मुताबिक शरमाकर निगाहें नीची कर लेता तो वह कहते, "पता नहीं, इस देश के किस शहर में मेरी छोटी-सी बहू पाँचवीं या छठी कक्षा में पढ़ रही होगी. मैं तो उसको फ़ारसी पढ़ाऊँगा. पहले उसको सुलेख की शिक्षा दूँगा. फिर घसीट लेख सिखाऊँगा. औरतों को घसीट लिखना नहीं आता, मैं बहू को सिखा दूँगा."

मेरी और उमीचन्द की बात ही थी परन्तु 12 जनवरी को बीबी की बारात सचमुच आ गयी. जीजा रामप्रताप के विषय में दाऊजी बहुत बता चुके थे कि वह बहुत अच्छा लड़का है और सबसे ज़्यादा ख़ुशी दाऊजी को इस बात की थी कि उनके समधी फ़ारसी के उस्ताद थे और कबीरपंथी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे.

बारह तारीख की शाम को जब बीबी विदा होने लगी, तो घर-भर में शोर मच गया. बेबे फूट-फूटकर रो रही हैं, उमीचन्द आँसू बहा रहे हैं और मोहल्ले की औरतें फुस-फुस कर रही हैं. मैं दीवार के साथ खड़ा हूँ; दाऊजी मेरे कन्धे पर हाथ रखे खड़े हैं और बार-बार कह रहे हैं, "आज ज़मीन कुछ मेरे पाँव नहीं पकड़ती, मैं तो सदा स्थिर नहीं रह सकता."

बारात वाले इक्कों और ताँगों पर सवार थे. बीबी रथ में जा रही थी. उसके पीछे उमीचन्द और मैं. दाऊजी हमारे बीच पैदल चल रहे थे. अगर बीबी की चीख़ ज़ोर से निकल जाती, तो दाऊजी आगे बढ़कर रथ का पर्दा उठाकर कहते, "लाहौल पढ़ो बिटिया." और स्वयं आँखों पर रखा उनकी पगड़ी का पल्ला भीग गया था...

रानो हमारे मोहल्ले का बड़ा ही गन्दा व्यक्ति था. बुराई करना और मन में मुटाव रखना उसका स्वभाव था. उसका एक बाड़ा था, उसमें 20-25 बकरियाँ और दो गायें थीं, जिनका दूध सुबह-शाम रानो गली के बग़ली मैदान में बेचा करता था. सारे मुहल्ले वाले उसी से दूध लेते थे. उसकी शरारतों से डरते भी थे. हमारे घर से आगे गुज़रते हुए वह शौकिया लाठी ज़मीन पर बजाकर दाऊजी को 'पंडित जयराम जी' कहकर सलाम करता. दाऊजी ने उसे कई बार समझाया कि वह पंडित नहीं हैं, मामूली आदमी हैं क्योंकि उनके विचार से पंडित पढ़े-लिखे और विद्वान को कहते थे. परन्तु रानो नहीं मानता था. वह अपना मुँह चबाकर कहता, "ले भाई, जिसके सर बोदी होती है या चुटिया होती है, वह पंडित होता है." वह सबसे ज़्यादा मज़ाक़ दाऊजी की चोटी का उड़ाता.

सच में दाऊजी के सर पर चोटी अच्छी नहीं लगती थी.

मैंने हज़रत मौलाना के सामने भी पगड़ी उतारने का साहस नहीं किया था परन्तु वह जानते थे कि यह पगड़ी मुझे अपने जीवन की तरह प्रिय है, क्योंकि यह मेरी माँ की निशानी थी, वह कहते, 'अपनी गोद में रखकर दही से धोती थीं.' मुझे याद है, जब मैं दयानन्द हाई स्कूल से एक साल की छुट्टियों में गाँव आया, तो हुज़ूर ने पू

"शहर जाकर चोटी तो नहीं कटवा दी ?" तो मैंने न में उत्तर दिया. इस पर वह बहुत खुश हुए और फ़रमाया, "तुम जैसा बेटा बहुत कम माँओं को मिलता है और हम-सा भाग्यशाली उस्ताद भी कम होगा जिसे तुम जैसा शागिर्द पढ़ाने का सुअवसर प्राप्त हुआ हो."

मैंने उनके पाँव छूते हुए कहा, "हुज़ूर, आप मुझे शर्मिंदा करते हैं. यह सब आपके कदमों का फल है."

इस पर कहने लगे, "चन्तराम, हमारे पाँव न छुआ करो, भला ऐसे छूने से क्या लाभ, जिसका हमें अनुभव न हो."

मेरी आँखों में आँसू आ गये. मैंने कहा–"अगर कोई मुझे बता दे तो समुद्र चीर कर आपके लिये दवाई ले आऊँ अपनी ज़िन्दगी की सारी गर्मी हुज़ूर की टाँगो के लिए न्योछावर कर दूँ. परन्तु मेरा बस नहीं चलता..."

वह ख़ामोश हो गये और निगाहें ऊपर उठाकर बोले, "ख़ुदा की यह मर्ज़ी है तो ऐसे ही सही. तुम सलामत रहो, तुम्हारे कन्धों पर मैंने सारा गाँव देख लिया है."

दाऊजी गुज़री बातों की गहराई में कहने लगे, "मैं सुबह-सबेरे हवेली की ड्योढ़ी पर जाकर आवाज़ देता, 'गुलाम आ गया.' औरतें एक ओर हो जातीं तो हुज़ूर मुझे आवाज़ देते और मैं अपने भाग्य की सराहना करता, हाथ जोड़े-जोड़े उनकी ओर बढ़ता. पाँव छूता और आज्ञा की प्रतीक्षा करता. वह दुआ देते, मेरे माता-पिता के विषय में पूछते. गाँव का हाल पूछते और फिर कहते, 'लो भाई, चन्तराम, गुनाहों की गठरी को उठा लो.' मैं फूल की पँखुड़ी की तरह उन्हें उठाता और कमर पर लादकर हवेली के बाहर आता. कभी फ़रमाते कि हमें बाग़ का चक्कर दो, कभी हुक्म होता–'सीधे रहट के पास ले चलो' कभी-कभी बड़े विनय से कहते, 'चन्तराम थक न जाओ तो हमें मस्जिद तक ले जाओ.' मैंने कई बार कहा, 'हुज़ूर रोज़ मस्जिद ले जाया करूँगा.' मगर नहीं माने, यही कहते रहे कि कभी जी चाहता है, और जब भी चाहता है तो तुमसे कह देता हूँ."

दाऊजी डूबी आवाज़ में बोले, "तूने मुझे बरबाद कर दिया, तम्बूरे. साल के 365 दिन मैं पुकार-पुकारकर कहता रहा–ज़मीनों का सवाल आँखें खोलकर करना, मगर तूने मेरी बात न मानी, तूने मेरी बात न मानकर 20 नम्बर ख़राब किये, पूरे 20 नम्बर." और दाऊजी का चेहरा देखकर मेरी 80 फ़ीसदी कामयाबी 20 फ़ीसदी नाकामयाबी में यूँ दब गयी, जैसे उसका वजूद ही न था.

जिस दिन मैंने सिकन्दरनामा ज़ुबानी याद करके सुनाया, इतना ख़ुश हुए, जैसे सारी दुनिया के सुख मिल गये हों. सारी दुनिया की दुआओं से मुझे माला-माल किया. प्यार भरा हाथ फेरा और जेब से एक रुपया निकालकर मुझे इनाम दिया. मैंने इसे हजरेअस्वद (खाना ए काबा की दीवार में जड़ा पत्थर) समझकर बोसा दिया. आँखों से लगाया और सिकन्दर का अफ़सर समझकर पगड़ी में रख लिया. वह दोनों हाथ उठाकर दुआएँ दे रहे थे और फ़रमा रहे थे–जो काम हमसे न हो सका, तूने कर दिया. तू नेक है, ख़ुदा ने तुझे यह आदत नसीब की, चन्तराम, तेरा बकरियाँ चराने का पेशा है, तू...तू शाहे बया का पैरोह (मुहम्मद साहब ने रास्ते पर चलने वाला) है. इस कारण ख़ुदा जो महान है, वही तुझे बरकत देगा."

मेरी परीक्षा क़रीब थी और दाऊजी सख़्त होते जा रहे थे. उन्होंने मेरे हर ख़ाली समय पर कोई-न-कोई काम फैला दिया था. एक विषय से छूटता था, दूसरे की पुस्तकें निकालकर सर पर सवार हो जाते थे. पानी पीने उठता, तो छाया की तरह पीछे-पीछे जाते और कुछ नहीं तो तवारीख़ (इतिहास) के सन् ही पूछते. शाम को स्कूल पहुँचने का स्वभाव बना लिया था. एक दिन स्कूल के बड़े दरवाज़े से निकलने के बजाय बोर्डिंग हाउस की राह निकल गया, तो उन्होंने क्लास के दरवाज़े पर जाकर बैठना शुरू कर दिया. मैं चिड़चिड़ा और ज़िद्दी होने के अलावा बदज़ुबान भी हो गया था. 'दाऊजी के बच्चे' मेरा तकिया कलाम बन गया था और कभी-कभी तो उनके सवालों की सख़्ती बढ़ जाती, तो मैं उन्हें कुत्ता तक कहने में भी नहीं चूकता था. नाराज़ हो जाते तो बस इसी तरह कहते, "देख ले, तू कैसी बातें कर रहा है. तेरी बीवी ब्याह कर लाऊँगा, तो पहले उसे यही बताऊँगा कि जाने पिदर, यह तेरे बुड्ढे को कुत्ता कहता था."

फरवरी के दूसरे हफ़्ते की बात है. इम्तहान सिर्फ़ डेढ़ महीना रह गया था और मुझ पर आने वाले ख़तरनाक वक़्त का डर भूत बनकर सवार हो गया था. मैंने ख़ुद अपनी पढ़ाई पहले से तेज़ कर दी थी और बहुत संजीदा हो गया था, मगर ज्योमेट्री के फ़ार्मूले मेरी समझ में नहीं आते थे. दाऊजी की कोशिश से भी कुछ बात न बनी. आख़िर में उन्होंने कहा, "कुल 52 साध्य हैं, याद कर, इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है." मैं उनको रटने में लग गया. परन्तु जो साध्य याद करता, सुबह भूल जाता. मैं थककर हिम्मत छोड़-सा बैठा.

दाऊजी ने मेरा सर चूमकर कहा, "ले भाई तंबेरे, मैं तो यूँ न समझता था, तू तो बहुत ही कम हिम्मत आदमी निकला. फिर उन्होंने मुझे अपने साथ कम्बल में लपेट लिया और बैठक में ले गये. बिस्तर में बैठाकर उन्होंने मेरे चारों तरफ़ रज़ाई लपेटी और स्वयं पाँव कुर्सी पर करके बैठ गये.

उन्होंने कहा, "रेखागणित चीज़ ही ऐसी है. तू इसके हाथों यूँ परेशान है." मैं और तरह से तंग हुआ. हज़रत मौलाना के पास बीजगणित और रेखागणित की जितनी अधिक पुस्तकें थीं, उन्हें मैं अच्छी तरह पढ़कर अपनी कापियों पर उतार चुका था. कोई बात ऐसी न थी, जिसमें उलझन होती. मैंने यह जाना कि मैं हिसाब में विशेषज्ञ हो गया हूँ. परन्तु एक रात मैं अपनी खाट पर पड़ा समानान्तर रेखाओं के फ़ार्मूले पर गौर कर रहा था कि बात उलझ गयी. मैंने दीया जलाकर शक्ल बनाई और उस पर गौर करने लगा. बीजगणित की रू से माना हुआ उत्तर ठीक आता था. परन्तु गणित से ठीक परिणाम नहीं निकलता था. मैं सारी रात काग़ज़ स्याह करता रहा, परन्तु तेरी तरह से सोया नहीं. सुबह-सुबह मैं हज़रत की खिदमत में हाज़िर हुआ, तो उन्होंने अपने हाथ से काग़ज़ पर शक्ल खींचकर समझाना शुरू किया, लेकिन जहाँ मुझे उलझन हुई थी, वहाँ हज़रत मौलाना की बुद्धिमत्ता को भी कोफ़्त हुई. कहने लगे, "चन्तराम, अब हम तुम्हें नहीं पढ़ा सकते. जब उस्ताद और शागिर्द का इल्म बराबर हो जाये, तो शागिर्द को किसी दूसरे उस्ताद के पास जाना चाहिए."

मैंने हिम्मत से कह दिया, "हुज़ूर कोई दूसरा अगर ये अल्फ़ाज़ कहता तो उसे मैं नास्तिक के बराबर समझता परन्तु आपका हर लफ़्ज़ और हर पाई भगवान की आज्ञा से कम नहीं होता. इस कारण चुप हूँ. भला आकाएगज़नवी के सामने अयाज़ (एक ग़ुलाम) की क्या मज़ाल ! परन्तु हुज़ूर मुझे दुख बहुत हुआ.

वह कहने लगे–"जज़्बाती आदमी, बात तो सुन ली होती."

मैंने सर झुकाकर कहा—"कहिए..."

उन्होंने कहा, "दिल्ली में हकीम नासिख अली सीसतानी गणित के विशेषज्ञ हैं. अगर तुमको इसका ऐसा ही शौक़ है तो उनके पास चले जाओ और अभ्यास करो. हम उनके नाम खत लिख देंगे."

मैंने इच्छा प्रकट की तो कहा, "अपनी माँ से पूछ लेना, अगर वह राज़ी हों तो मेरे पास आना."

माँ से पूछना और इजाज़त लेना और अपनी इच्छानुसार जवाब पाना कठिन काम था. थोड़े दिन बहुत बेचैनी में गुज़रे. मैं दिन-रात इस मुश्किल को हल करने की कोशिश करता. मगर ठीक जवाब न मिल पाया. इस न हल होने वाले क़िस्से से तबीयत में ज़्यादा बिखराव पैदा हुआ. मैं दिल्ली जाना चाहता था, लेकिन हुज़र से, माँ की इजाज़त के बिना इजाज़त नहीं मिल सकती थी. माँ इस बुढ़ापे में कैसे राज़ी हो सकती थीं !

"एक रात जब सारा गाँव सो रहा था और मैं तेरी तरह परेशान था तो मैंने अपनी माँ की पिटारी से उसकी कुल पूँजी से दो रुपये चुरा लिये और गाँव छोड़कर निकल गया. ख़ुदा मुझे माफ़ करें और अपने दोनों बुजुर्गों की आत्मा को मुझ पर राज़ी रखें. वास्तव में मैंने बड़ा पाप किया है और क़यामत तक मेरा सिर इन दोनों मेहरबानों के सामने शर्म से झुका रहेगा. गाँव से निकलकर मैं हजूर की हवेली के पीछे उनके मसनद के पास पहुँचा, जहाँ बैठकर आप पढ़ाते थे. घुटनों के बल मैंने ज़मीन को चूमा और मन में कहा—अभागा हूँ, जो बिना इजाज़त के जा रहा हूँ, लेकिन आपकी दुआओं से सारा जीवन भरपूर रहेगा. मेरा अपराध क्षमा नहीं किया तो आपके क़दमों में जान दे दूँगा. इतना कहकर और कन्धे पर लाठी रखकर मैं वहाँ से चल दिया... सुन रहा है ?" दाऊजी ने मेरी ओर गौर से देखकर पूछा.

"हाँ", रज़ाई के बीच सेई बने मैंने धीरे से कहा. दाऊजी ने फिर कहना शुरू किया, "ख़ुदा ने मेरी कमाल की मदद की. उन दिनों जाखुल, जनैत, सिरसा, हिसार वाली रेल की पटरी बन रही थी. यही सीधा रास्ता दिल्ली को जाता था और यहीं मज़दूरी मिलती थी. एक दिन में मज़दूरी करता और दो दिन चलता. इस तरह न दिखाई देने वाली मदद के सहारे सोलह दिन में दिल्ली पहुँच गया.

"मंज़िल तो हाथ लग गयी लेकिन वह चीज़ न मिल सकी. जिससे पूछता, हकीम नासिख अली सीसतानी का घर कहाँ है, 'नहीं' में जवाब मिलता. दो दिन खोज जारी रही, लेकिन पता न पा सका. भाग्य तगड़ा, और सेहत अच्छी थी. अंग्रेज़ों के लिए कोठियाँ बन रही थीं, वहाँ काम पर जाने लगा. शाम को ख़ाली होकर हकीम का पता मालूम करता और रात के वक़्त एक धर्मशाला में खेस फेंककर गहरी नींद सो जाता.

एक कहावत मशहूर है, जो ढूँढ़ता है सो पाता है. आख़िर में एक दिन मुझे हकीम साहब की जगह मालूम हो गयी. वह पत्थरफोड़ों के मोहल्ले की एक अँधेरी गली में रहते थे. शाम के वक़्त मैं उनकी सेवा में हाज़िर हुआ. एक छोटी-सी कोठरी में बैठे थे और कुछ दोस्तों से ऊँची-ऊँची बातचीत हो रही थी. मैं जूते उतारकर चौखट के अन्दर खड़ा हो गया.

एक साहब ने पूछा, "कौन है ?"

मैंने सलाम करके कहा, "हकीम साहब से मिलना है."

हकीम साहब मित्रों की मंडली में सर झुकाये बैठे थे और उनकी पीठ मेरी तरफ़ थी. इसी तरह बैठे-बैठे बोले—"नाम ?"

मैंने हाथ जोड़कर कहा, "पंजाब से आया हूँ और..."

मैं बात पूरी भी न करने पाया था कि ज़ोर से बोले, "चन्तराम हो !" मैं कुछ उत्तर न दे सका. फ़रमाने लगे, "मुझे इस्माइल का ख़त मिला है—लिखता है—शायद चन्तराम तुम्हारे पास आये. हमें बताये बगैर घर से भाग गया है, उसकी मदद करना." मैं उसी तरह चुप रहा, तो गम्भीर आवाज़ में बोले, "मियाँ अन्दर आ जाओ. क्या चुप का रोजा रखा है ?" मैं ज़रा आगे बढ़ा तो भी मेरी तरफ न देखा,

वैसे ही नयी दुल्हन की तरह बैठे रहे.

फिर थोड़ी देर बाद हुक्म देने वाली मुद्रा में कहा, "बेटा, बैठ जाओ."

मैं वहीं बैठ गया तो अपने दोस्तों से कहा, "भाई, ज़रा ठहरो, मुझे इससे दो-दो हाथ कर लेने दो." फिर हुक्म हुआ, "बताओ, हिन्द से का या गिनती का कौन-सा मसला या प्रयोग तुम्हें समझ में नहीं आया ?"

मैंने डरते-डरते बताया, तो उन्होंने उसी तरह कन्धों की तरफ़ अपने हाथ बढ़ाये और धीरे-धीरे यूँ अपनी ओर खींच लिया कि उनकी कमर नंगी हो गयी, फिर बोले, "बनाओ अपनी अँगुली से मेरी कमर पर समानान्तर रेखा." मुझ पर ख़ामोशी छायी हुई थी—न आगे बढ़ने की हिम्मत, न पीछे हटने की ताकत. एक पल के बाद बोले, "मियाँ, जल्दी करो, अन्धा हूँ. काग़ज-क़लम कुछ नहीं समझता." मैं डरते-डरते आगे बढ़ा और उनकी चौड़ी चकली कमर पर काँपती हुई उँगली से समानान्तर रेखा बनाने लगा. जब वह नामालूम-सी शक्ल बन गयी, तो बोले—"कि अब नुक्ता (निशान) सा है क्या ?" फिर खुद ही बोले—"धीरे-धीरे आदी हो जाओगे. बायें कन्धे से कोई छह अँगुल नीचे नुक्ता या निशान 'सा' है, वहाँ से लकीर खींचो."

हे खुदा, क्या आवाज़ थी , क्या विधि थी और कितना तेज था ! वह बोल रहे थे और मैं मौन बैठा था. यूँ लग रहा था कि अभी इनके वाक्य के साथ नूर की लकीर समान्तर रेखा बनकर उनकी कमर पर उभर आयेगी...फिर दाऊजी दिल्ली के दिनों में डूब गये. उनकी आँखें खाली थीं. मेरी तरफ़ देख रहे थे.

मैंने बेचैन होकर पूछा, "फिर क्या हुआ दाऊजी ?"

उन्होंने कुर्सी से उठते हुए कहा, "रात बहुत गुज़र चुकी है, अब तू सो जा, फिर बताऊँगा." मैं ज़िद्दी बच्चे की तरह उनके पीछे पड़ गया तो उन्होंने कहा, "पहले वादा कर कि आगे निराश नहीं होगा और इन छोटी-छोटी साध्यों को बताशे समझेगा."

मैंने उत्तर दिया, "हलवा समझूँगा, आप चिन्ता न करें." उन्होंने खड़े-खड़े कम्बल लपेटते हुए कहा, "बस, सारांश यह है कि मैं एक साल हकीम साहब की जी-हुजूरी में रहा और उस विद्या के समुद्र से कुछ बूँदें हासिल करके मैंने अपनी अन्धी आँखों को धोया. वापस आने पर अपने आक़ा की सेवा में पहुँचा और उनके क़दमों का सर रख दिया. फरमाने लगे—चन्तराम, अगर हममें शक्ति हो तो इन पाँवों को खीच लें."

मैं रो दिया, तो प्रेमपूर्वक हाथ फेरते हुए कहने लगे, "हम तुमसे नाराज नहीं हैं. परन्तु एक साल की दूरी बहुत तगड़ी है, आगे से जाना, तो हमें भी साथ लेते जाना..." यह कहते हुए दाऊजी की आँखों में आँसू आ गये और वह मुझे इसी तरह गुमसुम छोड़कर बैठक से बाहर निकल गये.

हमारे क़स्बे में हाई स्कूल ज़रूर था लेकिन मैट्रिक की परीक्षा का केन्द्र न था. परीक्षा देने के लिए हमें ज़िले जाना होता था. इस कारण वह सुबह आ गयी, जब हमारी क्लास परीक्षा देने के लिए जा रही थी, और गाड़ी के चारों ओर माता-पिता जैसे लोगों की भीड़ जमा थी. और इस झुंड से दाऊजी कैसे पीछे हो सकते थे. सब लड़कों के घर वाले उन्हें अच्छी दुआएँ, अनेक शुभकामनाएँ दे रहे थे, और दाऊजी सारे साल की पढ़ाई का सार जमा करके जल्दी-जल्दी प्रश्न पूछ रहे थे और मेरे साथ-साथ स्वयं उतार-चढ़ाव पर पहुँच जाते. वहाँ से पलटे तो उसके बाद एक और बादशाह आया, जो अपनी वेश-भूषा से हिन्दू लगता था. वह नशे में चूर था. एक और...जहाँगीर, मैंने जवाब दिया और वह औरत नूरजहाँ—हम दोनों एक साथ बोले, "गुण उपमा और क्रिया में अन्तर ?" मैंने दोनों की तारीफ़ें बयान कीं. बोले, "उदाहरण ?" मैंने उदाहरण दिये. सब लड़के लारी में बैठ गये और मैं उनसे जान छुड़ाकर जल्दी से दाख़िल हुआ तो घूमकर खिड़की के पास आ गये और पूछने लगे, 'ब्रेक इन' और 'ब्रेक इन टु' को वाक्यों में प्रयोग करो." उनका प्रयोग भी हो गया और मोटर स्टार्ट होकर चली तो उसके साथ उनके क़दम उठे.

पहले दिन इम्तिहान का पर्चा हुआ बहुत अच्छा. दूसरे दिन भूगोल का उससे बढ़कर, तीसरे दिन रविवार था और उसके बाद हिसाब की बारी आयी थी. रविवार की सुबह दाऊजी का एक लम्बा पत्र मिला, जिसमें बीजगणित के फ़ार्मूले और हिसाब के क़ायदे के अलावा कोई और बात न थी. हिसाब का पर्चा करने के बाद बरामदे में मैंने लड़कों से जवाब मिलाये तो 100 में 80 का पर्चा ठीक था, हाँ, मैं ख़ुशी से पागल हो उठा. ज़मीन पर पैर नहीं पड़ता था और मेरे मुँह से ख़ुशी के नारे निकल रहे थे.

ज्यों ही मैंने बरामदे से पाँव नीचे रखा, दाऊजी खेस कन्धे पर डाले एक लड़के का पर्चा देख रहे थे. मैं चीख मारकर लिपट गया और 80 नम्बर के नारे लगाने शुरू कर दिये.

उन्होंने पर्चा मेरे हाथ से छीनकर कड़वाहट से पूछा, "कौन सवाल गलत हो गया ?"

मैंने झुककर कहा, "चार दीवारी वाला."

झुँझलाकर बोले, "तूने खिड़कियाँ और दरवाजे घटाये नहीं होंगे."

मैंने उनकी कमर में हाथ डालकर पेड़ की तरह झूलते हुए कहा, "हाँ जी, जी हाँ...गोली मारो खिड़कियों को..."

दाऊजी डूबी आवाज़ में बोले, "तूने मुझे बरबाद कर दिया, तम्बूरे. साल के 365 दिन मैं पुकार-पुकारकर कहता रहा—ज़मीनों का सवाल आँखें खोलकर करना, मगर तूने मेरी बात न मानी, तूने मेरी बात न मानकर 20 नम्बर ख़राब किये, पूरे 20 नम्बर." और दाऊजी का चेहरा देखकर मेरी 80 फ़ीसदी कामयाबी 20 फ़ीसदी नाकामयाबी में यूँ दब गयी, जैसे उसका वजूद ही न था.

रास्ते भर वह अपने आप से कहते रहे, "अगर परीक्षक अच्छे दिल का हुआ, तो वह नम्बर ज़रूर देगा. तेरा बाक़ी हल तो ठीक है. इस पर्चे के बाद दाऊजी परीक्षा के अन्तिम दिन तक मेरे साथ रहे. वह रात के 12 बजे तक मुझे उस सराय में पढ़ाते, जहाँ हमारी क्लास ठहरी हुई थी और उसके बाद, बक़ौल उनके, अपने मित्र के यहाँ चले जाते. सुबह आठ बजे आ जाते और फिर इम्तिहान वाले कमरे तक मेरे साथ चलते.

परीक्षा समाप्त होते ही दाऊजी को ऐसे छोड़ दिया, जैसे मेरा परिचय ही न हो ! सारा दिन दोस्तों के साथ घूमता और शाम को उपन्यास पढ़ता. इस बीच अगर समय मिलता, तो दाऊजी को सलाम करने चला जाता. वह इस बात पर दृढ़ थे कि हर रोज़ कुछ समय उनके साथ गुज़ारा करूँ ताकि वह मुझे कॉलेज की पढ़ाई के लिए भी तैयार कर दें, लेकिन मैं उनके फंदे में आने वाला नहीं था. मुझे कॉलेज में सौ बार फ़ेल होना स्वीकार था, लेकिन दाऊजी से पढ़ना मंजूर नहीं था. पढ़ने को छोड़िए, उनसे बातें करना भी कठिन था. मैंने कुछ पूछा, उन्होंने कहा, "इसका फ़ारसी में अनुवाद करो." मैंने उत्तर दिया, फ़रमाया, "इसका विश्लेषण करो" हवलदार की गाय अन्दर घुस

आयी, मैं उसे लकड़ी से बाहर निकाल रहा हूँ. और दाऊजी पूछ रहे हैं, "काऊ संज्ञा है या क्रिया ?" अब हर अक्ल का अन्धा और पाँचवीं कक्षा का पढ़ा जानता है कि गाय संज्ञा है मगर दाऊजी फरमा रहे हैं संज्ञा भी है और क्रिया भी, 'टु काऊ' का अर्थ है डराना-धमकाना.

जिस दिन रिजल्ट निकला, मैं और अब्बा जी लड्डुओं की एक छोटी-सी टोकरी लेकर उनके घर गये. दाऊजी सर झुकाये अपने हसीर पर बैठे थे. अब्बा जी को देखकर उठ खड़े हुए, अन्दर से कुर्सी ले आये और अपने बोरिये के पास डालकर बोले—"डॉक्टर साहब, आपके सामने लज़्ज़ित हूँ परन्तु इसे भी भाग्य के लिखे की ख़ूबी समझिये, मेरा विचार था कि इसकी फ़र्स्ट डिवीज़न आ जायेगी लेकिन न आ सकी. बुनियादी कमज़ोरी थी."

"एक ही तो नम्बर कम है," मैंने चहककर बात काटी और वह मेरी तरफ़ देखकर बोले, "तू नहीं जानता इस एक नम्बर से मेरा दिल दो टुकड़े हो गया. खैर, खुदा की मर्जी." फिर अब्बा और वह बातें करने लगे और मैं बेबे के साथ बातों में लग गया.

अब वह मुझसे सवाल वगैरह न पूछते थे. कोट-पतलून और टाई देखकर बड़े ख़ुश होते. चारपाई पर बैठने न देते थे. कहा करते, "अगर मुझे उठने नहीं देता तो ख़ुद कुर्सी ले ले" और मैं कुर्सी खींचकर उनके पास डट जाता. कॉलेज-लाइब्रेरी से जो किताबें साथ लाता, उनके देखने की इच्छा ज़रूर करते और मेरे वादों के बावजूद अगले दिन ख़ुद हमारे घर किताबें देख जाते.

उमीचन्द कुछ कारणवश कॉलेज छोड़कर बैंक में नौकर हो गया था और दिल्ली चला गया था. बेबे की सिलाई का काम बराबर जारी था. दाऊजी भी मुंसिफी जाते पर कुछ न लाते थे. बीबी के पत्र आते थे और वह अपने घर में बहुत ख़ुश थी. कॉलेज की एक-एक साल की ज़िन्दगी मुझे दाऊजी से बहुत दूर खींच लायी. वे लड़कियाँ, जो दो साल पहले मेरे साथ आपू-टापू खेला करती थीं, चाचा की लड़कियाँ बन गयी थीं.

घर के मामूली आने-जाने के सामने ऐबटाबाद की लम्बी यात्रा शान्त और सुहानी थी. इसी समय मैंने पहली बार एक ख़ूबसूरत गुलाबी पैड और ऐसे ही लिफ़ाफ़ों का एक पैकेट ख़रीदा, और उस पर न अब्बा को ख़त लिखे जा सकते थे और न ही दाऊजी को. दशहरे की छुट्टियों में दाऊजी से भेंट न हुई, न बड़े दिन की छुट्टियों में. ऐसे ही ईस्टर गुज़र गया और यूँ ही दिन गुज़र गये.

देश को आज़ादी मिली. कुछ झगड़े हुए, फिर लड़ाइयाँ शुरू हो गयीं. हर तरफ़ फसाद की ख़बरें आने लगीं और अम्माँ ने हम सबको घर बुला लिया. हमारे लिए यह जगह बड़ी सुरक्षित थी. बनिये, साहूकार भाग रहे थे, लेकिन दूसरे लोग चुप थे. थोड़े ही दिनों बाद मुहाजरीन (शरणार्थियों) के आने का सिलसिला आरम्भ हो गया और वही लोग यह ख़बर लाये कि आज़ादी मिल गयी. एक दिन हमारे क़स्बों में भी कुछ घरों को आग लगी और दो बातों पर खूब लड़ाई हुई. थाने वालों और मिलिटरी के सिपाहियों ने कर्फ़्यू लगा दिया और जब कर्फ़्यू ख़त्म हुआ तो सब हिन्दू-सिख क़स्बा छोड़कर चल दिये.

दोपहर को अम्माँ ने दाऊजी की ख़बर लेने को भेजा, तो उस जानी-पहचानी गली में अजीब नयी-नयी शक्लें नज़र आयीं. हमारे घर यानी की ड्योढ़ी में एक बैल बँधा था और उसके पीछे टाट का पर्दा लटक रहा था. मैंने घर आकर बताया, "दाऊजी और बेबे अपना घर छोड़कर चले गये." यह कहते हुए मेरा गला रुँध गया. उस दिन ऐसा लगा, जैसे दाऊजी सदा के लिए चले गये हैं और अब लौटकर नहीं

अशफ़ाक अहमद

जन्म : 22 अगस्त 1925
पहला अफसाना—'तौबा' 'अदबी दुनिया' (लाहौर) में छपा.
कृतियाँ : 'एक मुहब्बत सौ अफसाने', 'उजले फूल', 'सफ़रमीना', 'सुबहाने अफसाने' (कहानी संग्रह); पंजाबी में शायरी. टी.वी. पर ड्रामे लिखे हैं.
सम्मान : ग्रेजुएट अवार्ड, पी.टी.वी. अवार्ड.
मरकज़ी साइंस बोर्ड, लाहौर के डायरेक्टर जनरल के औहदे से रिटायर.

आयेंगे.

कोई तीसरे दिन सूरज डूबने के बाद मस्जिद में नये शरणार्थियों के नाम नोट करके और कम्बल भिजवाने का वादा करके उस गली से गुज़रा, तो खुले मैदान में सौ-दो सौ लोगों की भीड़ देखी. शरणार्थी लड़के लाठियाँ पकड़े नारे लगा रहे थे और गालियाँ दे रहे थे. मैंने देखने वालों को हटाकर बीच में घुसने की कोशिश की लेकिन खूँख़ार आँखें देखकर डर गया.

एक लड़का किसी बूढ़े से कह रहा था, "साथ के गाँव में गया हुआ था, जब लौटा तो अपने घर में घुसता चला गया."

"कौन से घर में ? बूढ़े ने पूछा.

"रोहत के शरणार्थियों के घर में," लड़के ने कहा. फिर बूढ़े को उन्होंने पकड़ लिया, देखा तो हिन्दू निकला. इतने में भीड़ से किसी ने चिल्लाकर कहा, "ओ रानू, जल्दी आ, जल्दी आ, तेरा प्यारा पंडित." रानू बकरियों का झुंड बाड़े की ओर लिये जा रहा था. उन्हें रोककर एक लाठी वाले लड़के को उनके आगे खड़ा करके वह भीड़ में घुस गया. मेरे दिल को एक धक्का-सा लगा, जैसे उन्होंने दाऊजी को पकड़ लिया है.

मैंने बिना देखे क़रीब के लोगों से कहा, "यह बड़ा अच्छा आदमी है, बड़ा नेक आदमी है...इसे कुछ मत कहो...यह तो...यह तो..."

ख़ून में नहायी चंद आँखों ने मेरी ओर देखा और एक नौजवान गंडासी तोलकर बोला, "दाऊ, तूझे भी...आ गया बड़ा हिमायती बनकर...तेरे साथ कुछ नहीं..." और लोगों ने गालियाँ बककर कहा, "जुलाहा होगा शायद."

मैं दौड़कर भीड़ में दूसरी ओर घुस गया. रानो की लीडरी में उसके दोस्त दाऊजी को घेरे खड़े थे और रानो दाऊजी की ठोड़ी पकड़कर पूछ रहा था, "अब बोल बेटा, अब बोल." और दाऊजी चुप खड़े थे. एक लड़के ने उनकी पगड़ी उतारकर कहा, "काटो चोटी, काटो." रानो ने कटिया काटने वाली दराती से दाऊजी की चोटी काट दी. वही लड़का फिर बोला—"मेरे साथ बकरियाँ चराया करेगा, और उसने दाऊजी की ठोड़ी ऊपर उठाते हुए कहा—"क़लमा पढ़ पंडित." और दाऊजी धीरे से बोले, "कौन-सा ?" रानो ने उनके नंगे सर पर ऐसा थप्पड़ मारा कि वह गिरते-गिरते बचे और बोले, "साले क़लमा भी कोई पाँच सात हैं !"

जब वह क़लमा पढ़ चुके तो रानो ने अपनी लाठी उनके हाथ में थमा दी और कहा, "चल बे, बकरियाँ तेरी इन्तज़ार कर रही होंगी. और नंगे सर दाऊजी बकरियों के पीछे यूँ चले, जैसे लम्बे-लम्बे बालों वाला जिन्न चल रहा हो. ▣

अनुवाद : शकील सिद्दीक़ी

◆ कहानी ◆

आनन्दी

●

गुलाम अब्बास

म्युनिसिपैलिटी की बैठक ज़ोरों पर थी. हाल खचाखच भरा हुआ था और असाधारण रूप से एक भी मेम्बर ग़ैर-हाज़िर न था. म्युनिसिपैलिटी के विचार का विषय यह था कि बाज़ारू औरतों को शहर से बाहर कर दिया जाये क्योंकि उनका वजूद इन्सानियत, शराफ़त और तहज़ीब के दामन पर बदनुमा दाग़ है.

म्युनिसिपैलिटी के एक भारी-भरकम सदस्य, जो देश एवं राष्ट्र के सच्चे शुभ-चिन्तक समझे जाते थे, निहायत सरल भाषा में तक़रीर कर रहे थे–

''...और फिर हज़रात, आप यह भी ख़याल फ़रमाइये कि उनकी रिहाइश शहर के एक ऐसे हिस्से में है, जो न सिर्फ़ शहर के बीचोंबीच आम रास्ता है बल्कि शहर का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र भी है. चुनांचे, हर शरीफ़ आदमी को चाहे-अनचाहे इस बाज़ार से गुज़रना पड़ता है. इसके अलावा शरीफ़ों की पाक-दामन बहू-बेटियाँ इस बाज़ार के तिजारती महत्त्व के कारण यहाँ आने और ख़रीद-ओ-फ़रोख़्त करने पर मजबूर हैं. साहेबान ! जब ये शरीफ़ज़ादियाँ निर्लज्ज, अर्धनग्न वेश्याओं के बनाव शृंगार को देखती हैं तो क़ुदरती तौर पर उनके दिल में भी शृंगार और आकर्षण की नयी-नयी उमंगें और वलवले पैदा होते हैं और वे अपने ग़रीब शौहरों से तरह-तरह के पाउडरों, लैवेंडरों, चमक-दमक वाली साड़ियों और कीमती ज़ेवरों की फर्माइशें करने लगती हैं. नतीजा यह होता है कि उनका ख़ुशियों से भरा घर, उनकी गृहस्थी, हमेशा के लिए नरक का नमूना बन जाती है.

...और साहेबान ! फिर आप यह भी तो ख़याल फ़रमाइये, कि राष्ट्र के नौनिहाल, जो स्कूलों में तालीम पा रहे हैं और जिनकी आइंदा तरक़्क़ियों से राष्ट्र की उम्मीदें बावस्ता हैं, और क़यास कहता है कि एक-न-एक दिन क़ौम की किश्ती को भँवर से निकालने का सेहरा इन ही के सिर बँधेगा, उन्हें भी सुबह-शाम इसी बाज़ार से होकर आना-जाना पड़ता है. ये वेश्याएँ, जो हर वक़्त बारह आभरण, सोलह शृंगार किये हर रास्ता चलते पर अपनी निर्लज्ज निगाहों और पलकों के तीर चलाती और हुस्न-फ़रस्ती की दावत देती हैं, क्या इन्हें देखकर हमारे भोले-भाले, अनुभवहीन, जवानी के नशे में डूबे, नफ़े-नुक़सान से बेपरवाह क़ौम के नौनिहाल अपनी भावनाएँ और विचार और अपने उच्च आचरण को पाप के बुरे प्रभाव से सुरक्षित रख सकते हैं ? सज्जनो ! क्या उनकी तपस्वियों को भटकाने वाली सुन्दरता नौनिहालों को सीधे-सादे रास्ते से भटकाकर उनके दिल में गुनाह की वासनापूर्ण लज़्ज़तों की तृष्णा पैदा करके एक बेकली, एक व्याकुलता, एक प्रचंडता पैदा नहीं कर देती होगी ?''

इस अवसर पर एक सदस्य, जो किसी ज़माने में अध्यापक रह चुके थे और अंकों और आँकड़ों में ख़ास दिलचस्पी रखते थे, बोल उठे, ''साहेबान, ध्यान रहे कि इम्तिहानों में नाकाम रहने वाले छात्रों का अनुपात पिछले पाँच साल के अनुपात में ड्योढ़ा हो गया है.''

एक अन्य सदस्य ने, जो चश्मा लगाये हुए थे और एक साहित्यिक अख़बार के अवैतनिक सम्पादक थे, भाषण देते हुए कहा, ''हज़रात, हमारे शहर से दिन-प्रतिदिन शर्म, शराफ़त मर्दानगी, सदाचार और संयम उठते जा रहे हैं और इसकी बजाय बेशर्मी, नामर्दी, बुज़दिली, बदमाशी, चोरी और जालसाज़ी का दौर-दौरा होता जा रहा है. नशीली चीज़ों का इस्तेमाल बहुत बढ़ गया है. हत्या-लूटमार, ख़ुदकुशी और दिवाला निकलने की वारदातें बढ़ती जा रही हैं. इनका कारण केवल इन वेश्याओं का नापाक वजूद है क्योंकि हमारे भोले-भाले शहरी इनकी ज़ुल्फ़ों के गुलाम होकर अपने होश-हवास खो बैठते हैं और इनके कोठे तक पहुँचने की ज़्यादा-से-ज़्यादा कीमत अदा करने के लिए हर उचित-अनुचित तरीक़े से पैसा हासिल करते हैं. इस कोशिश में कई बार तो इन्सानियत के दायरे से बाहर हो जाते हैं और निहायत गन्दी हरकतें कर बैठते हैं. नतीजा यह होता है कि या तो वे अपनी प्यारी जान से ही हाथ धो बैठते हैं या जेलख़ानों में पड़े सड़ते रहते हैं.''

एक अवकाशप्राप्त वृद्ध सदस्य, जो एक बहुत बड़े ख़ानदान के मुखिया थे और दुनिया का सर्द-गर्म देख चुके थे और अब जीवन के संघर्षों से हार-थककर शेष उम्र सुस्ताने और अपने परिवार और बाल-बच्चों को अपने साये में पनपता हुआ देखने के इच्छुक थे, भाषण करने उठे. उनकी आवाज़ लरजती हुई और लहज़ा फ़रियाद का अन्दाज लिये हुए था. बोले, ''साहेबान ! रात-रात भर इन लोगों के तबले की थाप, इनकी गलेबाज़ियाँ, इनके आशिक़ों की धींगामुश्ती, गाली-गलौज, शोरगुल, हा-हा-हा, हू-हू-हू सुन-सुनकर आसपास के रहने वाले शरीफ़ों के बाम पक गये हैं. मुसीबत में जान आ गयी है. रात की नींद हराम है तो दिन का चैन ख़त्म. इसके अलावा इनके सम्पर्क से हमारी बहू-बेटियों के इख़्लाक पर जो बुरा असर पड़ता है, उसका अनुमान बेटे-बेटियों वाला ख़ुद कर सकता है....''

आख़िरी वाक्य कहते-कहते उनकी आवाज़ भर्रा गयी और इससे ज़्यादा कुछ न कह सके. सभी सदस्यों को उनसे हमदर्दी थी क्योंकि बदक़िस्मती से उनका क़दीमी मकान इस हुस्न के बाज़ार के ठीक बीच में था.

इनके बाद एक सदस्य ने, जो प्राचीन सभ्यता के ठेकेदार थे और प्राचीन निशानियों को औलाद से ज़्यादा प्यारी रखते थे, तक़रीर करते हुए कहा, ''हज़रात ! बाहर से जो यात्री और हमारे नाते-रिश्तेदार इस मशहूर और तारीख़ी शहर को देखने आते हैं, जब वे इस बाज़ार से गुज़रते हैं और इसके बारे में सवाल करते हैं तो यक़ीन कीजिए कि हम पर घड़ों पानी पड़ जाता है.''

अब सभापति भाषण देने उठे. यद्यपि उनका क़द ठिंगना और हाथ-पाँव छोटे-छोटे थे मगर सिर बड़ा था, जिसकी वजह से बुद्धिमान
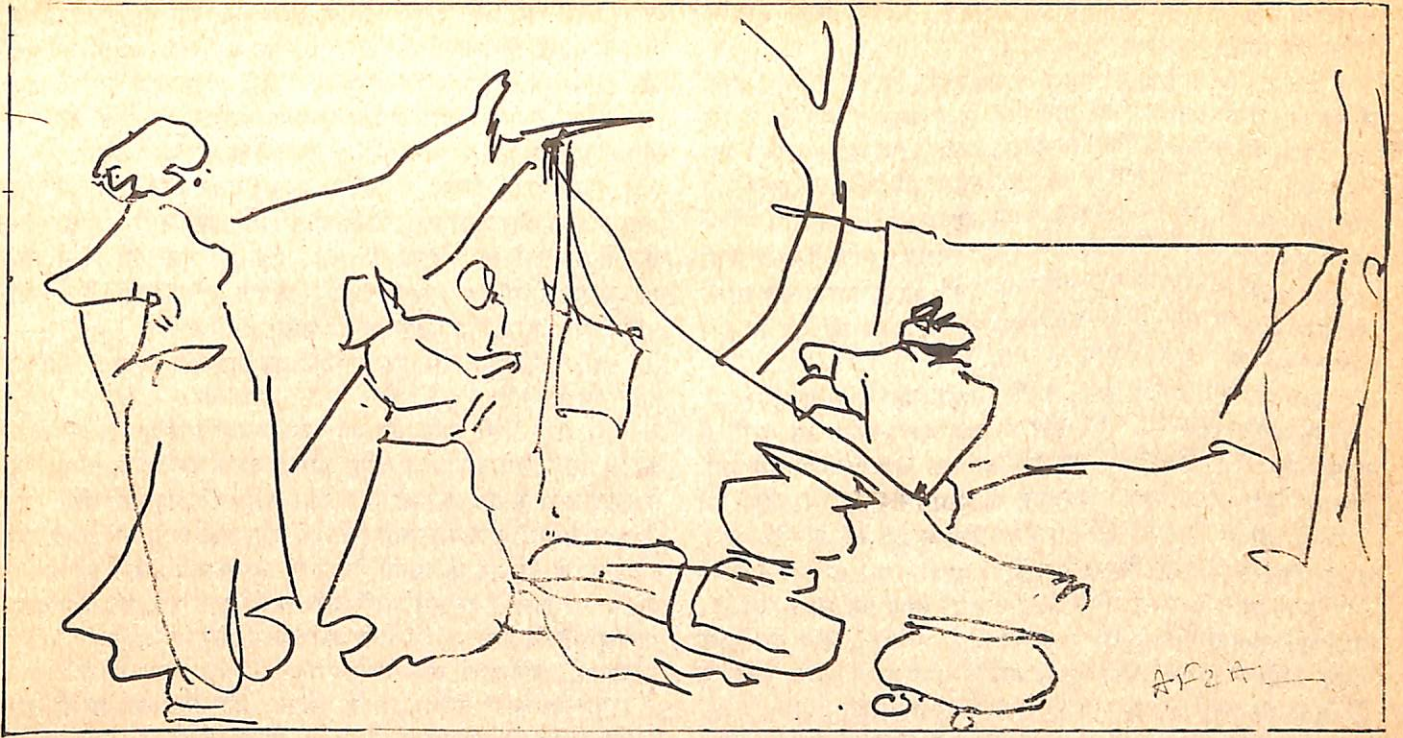
आदमी मालूम होते थे. लहजे में असीम गम्भीरता थी, बोले, "हज़रात, मैं इस बात से पूरी तरह आपसे सहमत हूँ कि इस वर्ग का वजूद हमारे शहर और हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिए बड़ी शर्मिन्दगी का कारण है. लेकिन मुश्किल यह है कि इसका निपटारा कैसे किया जाये ? अगर इन लोगों को मजबूर किया जाये कि ये अपना ज़लील पेशा छोड़ दें तो सवाल पैदा होता है कि ये लोग खायेंगे कहाँ से ?"

एक साहब बोल उठे, "ये औरतें शादी क्यों नहीं कर लेतीं ?"

इस बात पर एक लम्बा क़हक़हा लगा और हाल के मातमी वातावरण में एकदम खिलखिलाहट के आसार पैदा हो गये. जब इजलास में ख़ामोशी हुई तो सद्र (प्रधान) साहब बोले, "हज़रात ! यह तजवीज़ कई बार इन लोगों के सामने पेश की जा चुकी है इसका उनकी तरफ़ से यह जवाब दिया जाता है कि दौलतमन्द और इज़्ज़तदार लोग ख़ानदानी इज़्ज़त और मर्यादा के ख़याल से उन्हें अपने घरों में न घुसने देंगे तथा गरीब और नीचे वर्ग के लोगों को, जो केवल उनकी दौलत के लिए उनसे शादी करने के लिए तैयार होंगे, उन्हें ये औरतें ख़ुद मुँह नहीं लगायेंगी."

इस पर एक साहब बोले, "म्युनिस्पैलिटी को इनके निजी मामलों में पड़ने की ज़रूरत नहीं. इसके सामने तो यह मसला है कि ये लोग चाहे जहन्नुम में जायें मगर इस शहर को ख़ाली कर दें."

सद्र ने कहा, "यह भी आसान काम नहीं. इनकी तादाद दस-बीस नहीं सैकड़ों तक पहुँचती है. और फिर इनमें से बहुत-सी औरतों के अपने निजी मकान हैं."

यह समस्या कोई महीने भर तक म्युनिसिपैलिटी में विचाराधीन रही. आखिरकार सभी की एक राय से यह फ़ैसला किया गया कि वेश्या-बाज़ार के मकानों को ख़रीद लेना चाहिए और उन्हें रहने के लिए शहर से काफ़ी दूर अलग-थलग इलाक़ा दे देना चाहिए. इन औरतों ने म्युनिसिपैलिटी के इस फ़ैसले का सख़्त विरोध किया. कुछ ने हुक्म-उदूली करने पर भारी जुर्माने और क़ैद तक भुगतीं मगर म्युनिसिपैलिटी की मर्ज़ी के आगे उनकी कोई पेश न चल सकी और वे बेबस होकर सब्र करके रह गयीं.

इसके बाद एक अर्से तक उन वेश्याओं के मकानों की सूचियाँ और नक्शे तैयार होते रहे और मकानों के ग्राहक पैदा किये जाते रहे. अधिकतर मकानों को नीलामी के ज़रिये बेचने का फैसला किया गया. इन औरतों को छह महीने तक शहर में अपने पुराने मकानों में ही रहने की इजाज़त दे दी गयी ताकि इस दौरान वे नये इलाक़े में मकान वगैरहा बनवा सकें.

इन औरतों के लिए जो इलाक़ा चुना गया, वह शहर से छह कोस दूर था. पाँच कोस तक पक्की सड़क जाती थी और आगे कोस-भर का कच्चा रास्ता था. किसी ज़माने में वहाँ बस्ती रही होगी. मगर अब तो खंडहरों के सिवाय कुछ न रहा था, जिनमें साँपों और चमगादड़ों के बसेरे थे और दिन-दहाड़े उल्लू बोलते थे. इस इलाक़े के पड़ोस में कच्चे घरौंदों वाले कई छोटे-छोटे गाँव थे. मगर किसी का भी फ़ासला यहाँ से दो-ढाई मील से कम न था. उन गाँवों में बसने वाले किसान दिन के वक़्त खेती-बाड़ी करते या यूँ ही फिरते-फिराते इधर निकल आते. वरना आमतौर पर इस ख़ामोश जगह में आदमज़ाद की सूरत नज़र न आती थी. कई बार दिन की रोशनी में ही गीदड़ इस इलाक़े में फिरते देखे गये थे.

पाँच सौ से कुछ ऊपर वेश्याओं में से सिर्फ़ चौदह ऐसी थीं, जो अपने आशिक़ों से सम्पर्क या ख़ुद अपना दिल लगने या किसी और वजह से शहर के क़रीब स्वतन्त्र रूप में रहने पर मजबूर थीं और अपने धनी चाहने वालों की स्थायी माली सरपरस्ती के भरोसे या अनचाहे दिल से इस इलाक़े में रहने पर तैयार हो गयी थीं. वरना बाकी औरतों ने सोच रखा था कि वे या तो इसी शहर के होटलों को अपना बसेरा बनायेंगी या देखने को शराफ़त का नक़ाब पहनकर शहर के शरीफ़

मुहल्लों के कोनों, खुदरों में जा छुपेंगी या फिर इस शहर ही को छोड़कर कहीं और निकल जायेंगी.

ये चौदह वेश्याएँ अच्छी-ख़ासी मालदार थीं. इस पर शहर में इनके जो खरीदे हुए मकान थे, उनके दाम उन्हें अच्छे वसूल हो गये थे, जबकि इस इलाक़े में ज़मीन की क़ीमत नाममात्र थी. और सबसे बढ़कर यह कि उनके मिलने वाले दिलो-जान से उनकी आर्थिक मदद करने को तैयार थे, चुनांचे उन्होंने उस इलाक़े में जी खोलकर बड़े आलीशान मकान बनाने की ठान ली. एक ऊँची और समतल जगह, जो टूटी-फूटी क़ब्रों से हटकर थी, छाँटी गयी थी. ज़मीन के टुकड़े साफ़ कराये और अच्छे नक्शा-नवीसों से मकानों के नक्शे बनवाये गये और कुछ ही दिन में निर्माण का काम शुरू हो गया.

दिन भर ईंट, मिट्टी, चूना, शहतीर, गर्डर और इमारती लकड़ियाँ, लारियों, छकड़ों, ख़च्चरों, गधों और इन्सानों पर लदकर उस बस्ती में आतीं और मुंशी हिसाब-किताब की कापियाँ बग़लों में दबाये उन्हें गिरवाते और कापियों में दर्ज करवाते. मीर इमारत राजों, मिस्तरियों को काम के बारे में हिदायत देते, राजमिस्तरी मज़दूरों को डाँटते-डपटते, मज़दूर इधर-उधर दौड़ते फिरते. मज़दूरिनों को चिल्ला-चिल्लाकर पुकारते और अपने साथ काम करने के लिए बुलाते. ग़रज कि सारा दिन एक शोर, एक हंगामा रहता और सारा दिन आसपास के गाँव के देहाती अपने खेतों में और देहातिनें अपने घरों में हवा के झोंकों के साथ दूर से आती हुई खट-खट की धीमी आवाज़ें सुनती रहतीं.

इस बस्ती के खंडहरों में एक मस्जिद के आसार थे और उसके पास ही एक कुआँ था, जो बन्द पड़ा था. राज-मज़दूरों ने कुछ तो पानी हासिल करने और कुछ बैठकर सुस्ताने की ग़रज से और कुछ सबाब कमाने और अपने नमाजी भाइयों की इबादत के ख़याल से सबसे पहले उसकी मरम्मत की. चूँकि यह धर्म और पुण्य का काम था, इसलिए किसी ने कुछ ऐतराज़ न किया. चुनांचे दो-तीन दिन में मस्जिद तैयार हो गयी.

दिन के बारह बजे जैसे ही खाना खाने की छुट्टी होती, दो-ढाई सौ राज-मज़दूर, मीर इमारत, मुंशी और उन वेश्याओं के रिश्तेदार या कारिन्दे, जो निर्माण की देखभाल पर लगे थे, उस मस्जिद के आस-पास जमा हो जाते और अच्छा-ख़ासा मेला-सा लग जाता.

एक दिन एक देहाती बुढ़िया, जो पास के किसी गाँव में रहती थी, इस बस्ती की ख़बर सुनकर आ गयी. उसके साथ एक छोटा-सा लड़का था. दोनों ने मस्जिद के निकट एक दरख़्त के नीचे घटिया सिगरेट-बीड़ी, चने और गुड़ की बनी मिठाइयों का खोंमचा लगा दिया. बुढ़िया को आये अभी दो दिन भी न गुज़रे थे कि एक बूढ़ा किसान कहीं से एक मटका उठा लाया और कुएँ के पास ईंटों का एक छोटा-सा चबूतरा बना पैसे के दो-दो शक्कर के शर्बत के गिलास बेचने लगा. एक कुंजड़े को जो ख़बर हुई तो एक टोकरे में ख़रबूज़े भरकर ले आया और खोंमचे वाली बुढ़िया के पास बैठकर—'ले लो ख़रबूज़े, शहद के मीठे ख़रबूज़े' की आवाज़ लगाने लगा. एक शख़्स ने क्या किया कि घर से सिरी-पाये पका देगची में एक खोंमचे में लगा थोड़ी-सी रोटियाँ, मिट्टी के दो-तीन प्याले और टीन का एक गिलास लेकर आ मौजूद हुआ और इस बस्ती के कारकुनों को जंगल में हंडिया का मज़ा चखाने लगा.

दोपहर से पहले और दोपहर के बाद मीर इमारत, राज और दूसरे लोग मज़दूरों से कुएँ से पानी निकलवा-निकलवाकर वज़ू करते हुए नज़र आते. एक शख़्स मस्जिद में जाकर अज़ान देता. फिर एक को इमाम बनाया जाता और दूसरे लोग उसके पीछे खड़े होकर नमाज़ पढ़ते. किसी गाँव के मुल्ला के कान में जो यह भनक पड़ी कि फ़लाँ मस्ज़िद में इमाम की ज़रूरत है तो वह दूसरे ही दिन सवेरे एक हरे जुजदान में क़ुरआन शरीफ़, पंज सूरः, रहल और मसले-मसाइल के चंद छोटे-छोटे रिसाले रख आ मौजूद हुआ और उस मस्जिद की अमानत बाकायदा तौर पर उसे सौंप दी गयी.

हर रोज़ तीसरे पहर गाँव का एक कबाबी सिर पर अपने सामान का टोकरा उठाये आ जाता और खोंमचे वाली बुढ़िया के पास ज़मीन में चूल्हा बना कबाब, कलेजी, दिल और गुर्दे सीख़ों पर चढ़ा बस्ती वालों के हाथ बेचता. एक भटियारिन ने जो यह हाल देखा तो अपने मियाँ को साथ ले मस्जिद के सामने मैदान में धूप से बचने के लिए फूस का एक छप्पर डाल तन्दूर गर्म करने लगी. कभी-कभी एक नौजवान देहाती नाई पुरानी किस्बत गले में डाले जूती की ठोकरों से रास्ते के रोड़ों को लुढ़काता, इधर-उधर गश्त करता देखने में आ जाता.

इन वेश्याओं के मकानों के निर्माण की देखभाल या तो उनके रिश्तेदार या कारिन्दे तो करते ही थे, किसी-किसी दिन वे दोपहर के खाने से निपटकर अपने आशिकों के साथ ख़ुद भी अपने-अपने मकानों को बनता देखने आ जातीं और सूरज डूबने से पहले यहाँ से न जातीं. इस मौके पर फ़कीरों और फ़कीरनियों की टोलियाँ न जाने कहाँ से आ जातीं और जब तक ख़ैरात न ले लेतीं, अपनी आवाज़ों से बराबर शोर मचाती रहतीं और उन्हें बात न करने देतीं. कभी-कभी शहर के लफंगे और गुंडे शहर से पैदल चलकर वेश्याओं की इस नयी बस्ती की सुन-गुन लेने आ जाते और अगर उस दिन वेश्याएँ भी आयी होतीं तो उनकी ईद हो जाती. वे उनसे ज़रा हटकर उनके आसपास चक्कर लगाते रहते. फ़िकरे कसते, बेतुके क़हक़हे लगाते, अजीब-अजीब आवाज़ें और शक्लें बनाते तथा हरक़तें करते. उस रोज़ कबाबी की ख़ूब बिक्री होती.

उस इलाक़े में, जहाँ थोड़े ही दिन पहले सुनसान था, अब हर तरफ़ गहमागहमी और चहल-पहल नज़र आने लगी. शुरू-शुरू में इस इलाक़े की वीरानी से इन वेश्याओं को यहाँ आकर रहने के ख़याल से जो दहशत होती थी वह बड़ी हद तक जाती रही थी और अब वे हर बार ख़ुश-ख़ुश अपने मकानों की सजावट और अपने रुचिकर रंगों की राजों को ताकीदें कर जाती थीं.

बस्ती में एक जगह एक टूटा-फूटा मज़ार था जो अन्दाज़े से किसी बुज़ुर्ग का मालूम होता था. जब ये मकान आधे से ज़्यादा बन चुके तो एक दिन बस्ती के राज-मज़दूरों ने क्या देखा कि मज़ार के पास धुआँ उठ रहा है और एक सुर्ख-सुर्ख आँखों वाला लम्बा-तड़ंगा मस्त फ़क़ीर

मगर यह नाम चल न सका क्योंकि जनता 'हसन' और 'हुसन' में कोई भेद नहीं करती. आख़िर बड़ी-बड़ी ख़स्ता हालत किताबों के पन्ने पलट-पलटकर और पुराने रिकार्डों की छान-बीन के बाद इसका असली नाम पता किया गया, जिससे यह बस्ती आज के सैकड़ों वर्ष पूर्व उजड़ने से पहले जानी जाती थी और वह नाम है 'आनन्दी.'

यूँ तो सारा शहर भरा-पूरा, साफ-सुथरा और ख़ुशनुमा है मगर सबसे ख़ूबसूरत, सबसे बारौनक और व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र यही बाज़ार है, जिसमें वेश्याएँ रहती हैं.

लंगोट बाँधे, मूँछ-दाढ़ी और भौंह के बालों का सफाया कराये उस मज़ार के आसपास फिर रहा है और कंकर-पत्थर उठा-उठाकर परे फेंक रहा है. दोपहर को वह फ़कीर एक घड़ा लेकर कुएँ पर आया और पानी भर-भरकर मज़ार पर ले जाने और उसे धोने लगा. एक दफ़ा जो आया तो कुएँ पर दो-तीन राज-मज़दूर खड़े थे. वह कुछ पागलपन और कुछ होश की-सी स्थिति में उनसे कहने लगा, "जानते हो, किसका मज़ार है ? कड़कशाह पीर बादशाह का. मेरे बाप-दादा इनके मजावर थे." इसके बाद उसने हँस-हँसकर और आँखों में आँसू भर-भरकर पीर कड़कशाह की कुछ जलाली करामातें भी उन राज-मज़दूरों से बयान कीं.

शाम को यह फ़कीर कहीं से माँग-ताँगकर मिट्टी के दो दीये और सरसों का तेल ले आया और पीर कड़कशाह की क़ब्र के सिरहाने और पाँयते चिराग़ रोशन कर दिये. रात को पिछले पहर कभी-कभी इस मज़ार से "अल्लाऽहू" का मस्त नारा सुनायी दे जाता.

छह महीने गुज़रने न पाये थे कि चौदह मकान बनकर तैयार हो गये. ये सब के सब दो-मंज़िला और क़रीब-क़रीब एक ही ढंग के थे. सात एक तरफ़ और सात दूसरी तरफ़. बीच में चौड़ी-चकली सड़क थी. हरेक मकान के नीचे चार-चार दुकानें थीं. मकान की ऊपरी मंज़िल में सड़क की ओर चौड़ा बरामदा था. उसके आगे बैठने के लिए किश्तीनुमा बड़ी चौकी बनायी गयी थी, जिसके दोनों सिरों पर या तो संगमरमर के मोर नाचते हुए दिखाये गये थे या जलपरियों के झुंड तराशे गये थे, जिनका आधा धड़ मछली का और आधा इन्सान का था. बरामदे के पीछे जो बड़ा कमरा बैठने के लिए था, उसमें संगमरमर के नाजुक-नाजुक स्तम्भ बनाये गये थे. दीवारों पर सुन्दर पच्चीकारी की गयी थी और फ़र्श हरे चमकदार पत्थर का बनाया गया था. जब संगमरमर के स्तूपों की परछाई इस हरे फ़र्श पर पड़ती तो ऐसा मालूम होता, जैसे सफ़ेद परों वाले राजहंसों ने अपनी लम्बी-लम्बी गरदनें झील में डुबो दी हैं.

बुध का शुभ दिन इस बस्ती में आने के लिए नियत किया गया. उस दिन बस्ती की सब वेश्याओं ने मिलकर भारी नियाज़ दिलवायी. बस्ती के खुले मैदान में ज़मीन को साफ़ करके शामियाने गाड़ दिये गये. देंगे खड़कने की आवाज़ और गोश्त और घी की ख़ुशबू बीस-बीस कोस के फ़कीरों और कुत्तों को वहाँ खींच लायी. दोपहर होते-होते पीर कड़कशाह के मज़ार के पास जहाँ लंगर बाँटा जाना था इस क़दर फ़कीर जमा हो गये कि ईद के दिन किसी बड़े शहर की जामा मस्जिद के पास भी नहीं हुए होंगे. पीर कड़कशाह के मज़ार को ख़ूब साफ़ करवाया और धुलवाया गया. उस पर फूलों की चादर चढ़ाई गयी और इस मस्त फ़कीर को नया जोड़ा सिलवाकर पहनाया गया, जिसे उसने पहनते ही फाड़ डाला.

शाम को शामियाने के नीचे दूध से उजली चाँदनी का फ़र्श कर दिया गया. गावतकिये लगा दिये गये. पानदान, पेचवान और पीकदान तथा गुलाबपाश रखवा दिये गये और राग-रंग की महफ़िल सजायी गयी. दूर-दूर से बहुत-सी वेश्याओं को बुलवाया गया, जो उनकी सहेलियाँ या बिरादरी की थीं. उनके साथ उनके बहुत-से मिलने वाले भी आये, जिनके लिए एक अलग शामियाने में कुर्सियों का इन्तज़ाम किया गया और उनके सामने के रुख़ चिकें डाल दी गयीं. बेशुमार गैसों की रोशनी से यह जगह प्रकाशस्थल बनी हुई थी. इन वेश्याओं के तोंदल काले स्याह साजिन्दे ज़रबफ़्त और कीमख़ाब की शेरवानियाँ पहने इत्र में बसे हुए फाहे कानों में रखे इधर-उधर मूँछों को ताव देते फिरते और भड़कीले लिबासों और तितली के पर से भी बारीक साड़ियों में सजी पाउडर और ख़ुशबुओं में बसी हुई सुन्दरियाँ अठखेलियों से चलतीं और रात भर नाच और गाने-हंगामा मचता रहा और जंगल में मंगल हो गया.

दो-तीन दिन के बाद जश्न की थकावट उतर गयी तो वे वेश्याएँ सामान प्राप्ति और मकानों को सजाने में लग गयीं. झाड़-फानूस, बिल्लौरी पात्र, आदमक़द शीशे, निवाड़ी पलंग, तस्वीरें और अनमोल शब्द सुनहरी चौखटों में जड़े हुए लाये गये और क़रीने से कमरों में लगाये गये. कोई आठ रोज़ में जाकर ये मकान कील-काँटों से लैस हुए. ये औरतें दिन का अधिकतर भाग तो उस्तादों से नृत्य और गाने की तालीम लेने, ग़ज़लें याद करने, धुनें बैठाने, सबक पढ़ने, तख़्ती लिखने, सीने-पिरोने, काढ़ने, ग्रामोफोन सुनने, उस्तादों से ताश और कैरम खेलने, जिला-जुगत नोंक-झोंक से जी बहलाने या सोने में गुज़ारतीं और तीसरे पहर ग़ुसलख़ानों में नहाने जातीं, जहाँ उनके नौकरों ने हैंडपम्पों से पानी निकाल-निकालकर टब भरकर रखे होते. इसके बाद वे बनाव-सिंगार में लग जातीं.

जैसे ही रात का अँधेरा फैलता ये मकान गैसों की रौशनी से जगमगा उठते जो जगह-जगह संगमरमर के आधे खिले हुए कमलों में बड़ी सफ़ाई से छुपाये गये थे और इन मकानों की खिड़कियों और दरवाज़ों के किवाड़ों के शीशे, जो फूल-पत्तियों के आकार के काटकर जड़े गये थे, उनकी इन्द्रधनुष के रंगों की रौशनियाँ दूर से झिलमिल-झिलमिल करती हुई बहुत भली मालूम होतीं. ये वेश्याएँ बनाव-शृंगार किये बरामदों में टहलतीं, आसपास वालियों से बातें करतीं, हँसतीं, खिलखिलातीं—जब खड़े-खड़े थक जातीं तो अन्दर कमरे में चाँदनी के फ़र्श पर गावतकिया लगाकर बैठ जातीं. उनके साजिन्दे साज़ मिलाते रहते और ये छालियाँ कुतरती रहतीं. जब रात ज़रा भीग जाती तो उनके मिलने वाले टोकरों में शराब की बोतलें और फल-फलाहारी लिये अपने दोस्तों के साथ मोटरों या ताँगों में बैठकर आते. इस बस्ती में उनके क़दम रखते ही एक ख़ास गहमा-गहमी, चहल-पहल होने लगती. गाने-बजाने, साज़ के सुर, नृत्य करती हुई सुन्दरियों के घुँघरुओं की आवाज़, शराब के प्यालों में मिलकर एक अजीब सरूर की कैफ़ियत पैदा कर देती. ऐश और मस्ती के इन हंगामों में मालूम भी न होता और रात बीत जाती.

इन वेश्याओं को इस बस्ती में आये चंद ही रोज़ हुए थे कि दुकानों के किरायेदार पैदा हो गये, जिनका किराया इस बस्ती को आबाद करने के ख़याल से बहुत ही कम रखा गया था. सबसे पहले जो दुकानदार आया वह वही बुढ़िया थी जिसने सबसे पहले मस्जिद के सामने दरख़्त के नीचे खोंमचा लगाया था. दुकान को भरने के लिए बुढ़िया और उसका लड़का सिगरेटों के बहुत से ख़ाली डिब्बे उठा लाये और उन्हें ताक़ों में सजाकर रख दिया गया. बोतलों में रंगदार पानी भर दिया गया ताकि मालूम हो शर्बत की बोतलें हैं. बुढ़िया ने अपनी बिसात के मुताबिक काग़ज़ी फूलों और सिगरेट की ख़ाली डिब्बियों से बनायी हुई बेलों से दुकान की कुछ सजावट भी की. कुछ एक्टरों और एक्ट्रेसों की तस्वीरें भी पुराने फ़िल्मी रसालों से निकालकर लेई से दीवारों पर चिपका दी गयीं. दुकान का असल माल दो-तीन क़िस्म के सिगरेट के तीन-तीन, चार-चार पैकटों, बीड़ी के आठ-दस बंडलों, दियासलाई की आधा दर्जन डिब्बियों, पानों की एक ढोली, पीने के तम्बाकू की तीन-चार टिक्कियों और मोमबत्ती के आधे बंडल से ज़्यादा न था.

दूसरी दुकान में एक बनिया, तीसरी दुकान में एक हलवाई और दूध बेचने वाली, चौथी में कसाई, पाँचवीं में कबाबी और छठी में एक कुंजड़ा आसपास के देहात से सस्ते दामों पर चार-पाँच क़िस्म की सब्जियाँ ले आता और यहाँ अच्छे लाभ पर बेच देता. एक-आध टोकरा फलों का भी रख लेता. चूँकि दुकान ख़ासी खुली थी, एक फूल वाला उसका साझी बन गया. वह दिन भर फूलों के हार, गजरे, तरह-तरह के गहने बनाता रहता. शाम को उन्हें टोकरी में रखकर एक-एक मकान पर ले

जाता और न सिर्फ़ फूल ही बेच आता बल्कि हर जगह एक-एक दो-दो घड़ी बैठकर साजिन्दों से गपशप भी हाँक लेता. हुक्के के दम भी लगा आता. जिस दिन तमाशाबीनों की कोई टोली उसकी मौजूदगी में ही कोठे पर चढ़ जाती और गाना-बजाना शुरू हो जाता तो वह साजिन्दों के नाक-भौं चढ़ाने के बावजूद घंटों उठने का नाम न लेता. मजे से गाने पर सिर धुनता और बेवकूफ़ों की तरह एक-एक की सूरत तकता रहता. जिस दिन रात ज़्यादा गुज़र जाती और कोई हार बच रहता तो उसे अपने गले में डाल लेता और बस्ती के बाहर गला फाड़-फाड़कर गाता रहता.

एक दुकान में एक वेश्या का बाप और भाई जो दर्जी का काम जानते थे, सीने की एक मशीन रखकर बैठ गये. होते-होते एक हज्जाम भी आ गया और अपने साथ एक रंगरेज़ को भी ले आया. उसकी दुकान के बाहर अलगनी पर लटके हुए तरह-तरह के रंगों के लहरिया दुपट्टे हवा में लहराते हुए आँखों को बहुत भले मालूम होते थे.

कुछ ही दिन हुए थे कि एक टटपुंजिये बिसाती ने, जिसकी दुकान शहर में चलती न थी बल्कि उसे दुकान का किराया निकालना भी मुश्किल हो जाता था, शहर को छोड़कर इस बस्ती का रुख किया. यहाँ उसे हाथों-हाथ लिया गया और उसके तरह-तरह के लवेंडर, क़िस्म-क़िस्म के पाउडर, साबुन, कंघियाँ, बटन, सुई-धागा, लेस, फीते, ख़ुशबूदार तेल, रूमाल, मंजन वगैरा की ख़ूब बिक्री होने लगी.

इस बस्ती में रहने वालों की सरपरस्ती और उनके प्यार भरे सलूक की वजह से इसी तरह दूसरे-तीसरे दिन कोई-न-कोई टटपुंजिया दुकानदार, कोई बजाजा, कोई पंसारी, कोई नेचाबंद, कोई नानबाई मंदे की वजह से या शहर के बढ़े हुए किराये से घबराकर इस बस्ती में आकर आसरा ले लेता.

एक बड़े मियाँ अत्तार, जो हिकमत में भी किसी क़दर दखल रखते थे, उनका जी शहर की गुंजान आबादी और हकीमों और दवाख़ानों की अधिकता से जो घबराया तो वह अपने शार्गिदों को साथ ले शहर से उठ आये और इस बस्ती में एक दुकान किराये पर ले ली. सारा दिन बड़े मियाँ और उनके शागिर्द दवाओं के डिब्बों, शर्बत की बोतलों और मुरब्बे, चटनी, अचार के मर्तबानों को अलमारियों, ताकों और अपने-अपने ठिकानों पर रखते रहते. एक ताक में 'तिब्ब-ए-अकबर', 'कुराबदीन कादरी' और दूसरी हिकमत की किताबें जमाकर रख दीं. किवाड़ों के भीतरी ओर और दीवारों में जो जगह ख़ाली बची वहाँ उन्होंने अपने विशेष अनुभव के इश्तहार काली रौशनाई से मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर और दफ़्तियों पर चिपकाकर टाँग दिये. हर रोज़ सुबह वेश्याओं के नौकर गिलास ले-लेकर आ मौजूद होते और शर्बत बजोरी, शर्बत बनफ़शा, शर्बत अनार और ऐसे ही ताज़गी देने वाले, रूहअफ़ज़ा शर्बत व अर्क, ख़मीरा गावजवाँ और ताक़त देने वाले मुरब्बे चाँदी के वर्क़ सहित ले जाते.

जो दुकानें बच रहीं उनमें वेश्याओं के भाई-बन्दों और साजिन्दों ने अपनी चारपाइयाँ डाल लीं. दिन भर ये लोग उन दुकानों में ताश, चौसर और शतरंज खेलते, बदन पर तेल मलवाते, सब्जी घोटते, बटेरों की पालियाँ करवाते, तीतरों से 'सुब्हान, तेरी कुदरत' की रट लगवाते और घड़ा बजा-बजाकर गाते.

एक वेश्या के साजिन्दे ने एक दुकान ख़ाली देखकर अपने भाई को, जो साज़ बनाना जानता था, उसमें ला बिठाया. दुकान की दीवारों के साथ-साथ कीलें ठोंककर टूटी-फूटी मरम्मत की जाने वाली सारंगियाँ, सितार, तम्बूरे, दिलरुबा वग़ैरा टाँग दिये. यह शख़्स सितार बजाने में भी कमाल रखता था. शाम को वह अपनी दुकान में सितार बजाता, जिसकी मीठी आवाज़ सुनकर आसपास के दुकानदार अपनी दुकानों से उठ-उठकर आ जाते और देर तक बुत बने सितार सुनते रहते. इस सितार वाले का एक शार्गिद था, जो रेलवे के दफ़्तर में क्लर्क था. उसे सितार सीखने का बहुत शौक था. जैसे ही दफ़्तर से छुट्टी होती, सीधा साइकिल उड़ाता हुआ इस बस्ती का रुख करता और घंटा-डेढ़ घंटा दुकान में बैठकर अभ्यास किया करता. मतलब यह कि उस सितार वाले के दम से बस्ती में ख़ासी रौनक रहने लगी.

मस्जिद के मुल्ला जब तक इस बस्ती में निर्माण का काम होता रहा, रात को देहात में अपने घर चले जाते रहे, मगर अब, जबकि उन्हें दोनों वक़्त घी में तर खाना काफ़ी मात्रा में पहुँचने लगा, तो वह रात को भी यहीं रहने लगे. धीरे-धीरे कुछ वेश्याओं के घरों से बच्चे भी मस्जिद में आने लगे, जिससे मुल्लाजी को रुपये-पैसे की आमदनी भी होने लगी.

एक शहर-शहर घूमने वाली घटिया दर्जे की थियेट्रिकल कम्पनी को जब ज़मीन के चढ़े हुए किराये और अपनी निर्धनता के कारण शहर में कहीं जगह न मिली तो उसने इसी बस्ती का रुख किया और उन वेश्याओं के मकानों से कुछ फ़ासले पर मैदान में तम्बू खड़े करके डेरे डाल दिये. उसके एक्टर अभिनय की कला के जानकार थे. उनके ड्रेस फटे-पुराने थे, जिनके बहुत से सितारे झड़ चुके थे और ये लोग तमाशे भी पुराने और घटिया दिखाते थे मगर इसके बावजूद कम्पनी चल निकली. इसकी वजह यह थी कि टिकट के दाम बहुत कम थे. शहर के मज़दूरी-पेशा लोग, कारख़ानों में काम करने वाले और ग़रीब लोग, जो दिन भर की कड़ी मेहनत व मशक़्क़त की कसर शोर-गुल, खरमस्तियों और निचले दर्जे की अय्याशियों से निकालना चाहते थे, पाँच-पाँच, छह-छह की टोलियाँ बनाकर, गले में फूलों के हार डाले, हँसते-बोलते, बाँसुरियाँ और अलगोज़े बजाते, राह चलतों पर आवाज़ें कसते, गाली-गलौज करते, शहर से पैदल चलकर थियेटर देखने आते. और लगे हाथों हुस्न के बाज़ार की सैर भी कर जाते. जब तक नाटक शुरू होता थियेटर का एक विदूषक तम्बू के बाहर एक स्टूल पर खड़ा कभी कूल्हा हिलाता, कभी मुँह फुलाता, कभी आँखें मटकाता, अजीब-अजीब बेशर्म हरकतें करता, जिन्हें देखकर ये लोग ज़ोर-ज़ोर से कहकहे लगाते और गालियों के रूप में दाद देते.

धीरे-धीरे दूसरे लोग भी इस बस्ती में आने शुरू हुए. चुनांचे, शहर के बड़े-बड़े चौकों में ताँगेवाले आवाज़ें लगाने लगे—''आओ, कोई नयी बस्ती को.'' शहर से पाँच कोस तक जो पक्की सड़क जाती थी, उस पर पहुँचकर ताँगेवाले सवारियों से इनाम हासिल करने के लालच में या उनकी फ़रमाइश पर ताँगों की दौड़ करवाते, मुँह से हार्न बजाते और जब कोई ताँगा आगे निकल जाता तो उसकी सवारियाँ नारों से आसमान सिर पर उठा लेतीं. इस दौड़ में ग़रीब घोड़ों का बुरा हाल हो जाता और उनके गले में पड़े हुए फूलों के हारों से बजाय ख़ुशबू के पसीने की बदबू आने लगती.

रिक्शावाले ताँगेवालों से क्यों पीछे रहते. वे उनसे कम दामों पर सवारियों को बिठा तर्रारे भरते और घुँघरू बजाते इस बस्ती को आने लगे. इसके अलावा हर हफ़्ते की शाम को स्कूलों और कॉलेजों के लड़के एक-एक साइकिल पर दो-दो लदे झुंड के झुंड इस रहस्यमयी बाज़ार की सैर करने आते, जिससे उनके ख़याल के मुताबिक उनके बड़ों ने खामखाह उन्हें वंचित कर दिया था.

धीरे-धीरे इस बस्ती की मशहूरी चारों तरफ़ फैलने लगी और मकानों और दुकानों की माँग होने लगी. वे वेश्याएँ, जो पहले इस बस्ती

में आने को तैयार न होती थीं, अब इसकी दिन-दूनी और रात चौगुनी तरक़्क़ी देखकर अपनी बेवक़ूफ़ी पर अफ़सोस करने लगीं. कई औरतों ने तो झट ज़मीन ख़रीदकर इन वेश्याओं के साथ-साथ इसी आकार-प्रकार के मकान बनवाने शुरू कर दिये. इसके अलावा शहर के कुछ महाजनों ने भी इस बस्ती के आसपास सस्ते दामों पर ज़मीन ख़रीद-ख़रीदकर किराये पर उठाने के लिए छोटे-छोटे कई मकान बनवा डाले. नतीजा यह हुआ कि वे वेश्याएँ, जो होटलों और शरीफ़ मुहल्लों में छिपी थीं, चोरों की तरह बसेरों से बाहर निकल आयीं और इन मकानों में आबाद हो गयीं. कुछ छोटे-छोटे मकानों में इस बस्ती के वे दुकानदार आ बसे जो बाल-बच्चे वाले थे और रात को दुकानों में सो न सकते थे.

इस बस्ती में आबादी तो ख़ासी हो गयी थी मगर अभी तक बिजली की रोशनी का इन्तज़ाम नहीं हुआ था. चुनांचे वेश्याओं और बस्ती के तमाम रहने वालों की तरफ़ से सरकार के पास बिजली के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा गया, जो थोड़े दिनों बाद मंजूर कर लिया गया. इसके साथ ही एक डाकख़ाना भी खोल दिया गया. एक बड़े मियाँ डाकख़ाने के बाहर एक संदूकची में लिफ़ाफे, कार्ड और क़लम-दवात रख बस्ती के लोगों के ख़त-पत्र लिखने लगे.

एक दफ़ा बस्ती में शराबियों की दो टोलियों में फ़साद हो गया, जिसमें सोडावाटर की बोतलों, चाकुओं और ईंटों का खुलकर इस्तेमाल किया गया और कई लोग सख़्त घायल हो गये. इस पर सरकार को ख़याल आया कि बस्ती में एक थाना भी खोल दिया जाना चाहिए.

थियेट्रिकल कम्पनी दो महीने तक रही और अपनी बिसात के मुताबिक़ ख़ासा कमा ले गयी. इस पर शहर के एक सिनेमा के मालिक ने सोचा कि क्यों न इस बस्ती में भी एक सिनेमा घर खोल दिया जाय. यह ख़याल आने की देर थी कि उसने झट एक मौक़े की जगह चुनकर ख़रीद ली और जल्दी-जल्दी निर्माण का काम शुरू कर दिया. कुछ ही महीनों में सिनेमा हाल तैयार हो गया. उसके बाहर एक छोटा-सा बग़ीचा भी लगवाया गया ताकि तमाशाई अगर बाइस्कोप शुरू होने से पहले आ जायें तो आराम से बगीचे में बैठ सकें. उनके साथ बस्ती के लोग यूँ ही सुस्ताने या सैर करने के लिए आ-आकर बैठने लगे. यह बगीचा ख़ासी सैरगाह बन गया. धीरे-धीरे सक्के कटोरा बजाते इस बगीचे में आने और प्यासों की प्यास बुझाने लगे. सिर की तेल मालिश करने वाले निहायत घटिया क़िस्म के तेज़ ख़ुशबूदार तेल की शीशियाँ बास्केट की जेबों में ठूँसे कन्धों पर मैला-कुचैला तौलिया डाले, 'दिलपसन्द दिलबहार मालिश' की आवाज़ लगाते और सिर-दर्द के मरीज़ों को अपनी ख़िदमत पेश करने लगे.

सिनेमा के मालिक ने सिनेमा हाल की इमारत के बाहरी तरफ़ दो-एक मकान और कई दुकानें भी बनवायीं. मकान में तो होटल खुल गया, जिसमें रात को ठहरने के लिए कमरे भी मिल सकते थे और दुकानों में एक सोडावाटर की फ़ैक्टरी वाला, एक फ़ोटोग्राफर, एक साइकिल की मरम्मत वाला, एक लांड्री वाला, दो पनवाड़ी, एक बूट शाप वाला, एक डॉक्टर अपने दवाखाने समेत आ रहे. होते-होते पास ही एक दुकान में शराबख़ाना खुलने की इजाज़त मिल गयी. फोटोग्राफर की दुकान के बाहर एक कोने में घड़ीसाज़ ने अड्डा जमाया और हर वक़्त अपना ख़ास शीशा आँख पर चढ़ाये घड़ियों के कल-पुर्जों में व्यस्त और डूबा रहने लगा.

इसके कुछ ही दिन बाद बस्ती में नल, रौशनी और सफाई के बाकायदा इन्तज़ाम की तरफ़ ध्यान दिया जाने लगा. सरकारी कर्मचारी लाल झंडियाँ, जरीबें और ऊँच-नीच देखने वाले यंत्र ले-लेकर आ पहुँचे और नापतोल पर सड़कों और गली-कूचों की दाग़-बेल डालने लगे और बस्ती की कच्ची सड़कों पर सड़क कूटने वाला इंजन चलने लगा.

इस घटना को बीस वर्ष बीत चुके हैं. यह बस्ती अब एक पूरा शहर बन गयी है, जिसका अपना रेलवे स्टेशन भी है और टाउनहाल भी, कहचरी भी और जेलखाना भी. आबादी ढाई लाख के लगभग है. शहर में एक कॉलेज, दो हाई स्कूल—एक लड़कों के लिए, एक लड़कियों के लिए और आठ प्राइमरी स्कूल हैं, जिनमें म्युनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुफ़्त तालीम दी जाती है. छह सिनेमाहाल हैं और चार बैंक, जिनमें से दो दुनिया के बड़े-बड़े बैंकों की शाखाएँ हैं.

शहर से दो दैनिक, तीन साप्ताहिक और दस मासिक रिसाले छपते हैं. इनमें चार साहित्यिक, दो नैतिक और दो सामाजिक, दो धार्मिक, एक औद्योगिक, एक तिब्बी, दो महिलाओं के और एक बच्चों का रिसाला है. शहर के विभिन्न भागों में बीस मस्जिदें हैं, पन्द्रह मन्दिर और धर्मशालाएँ, छह यतीमख़ाने, पाँच अनाथाश्रम, तीन बड़े सरकारी अस्पताल हैं, जिनमें एक सिर्फ़ औरतों के लिए है.

शुरू-शुरू में कई साल तक यह शहर अपने रहने वालों के अनुसार 'हुसन आबाद' के नाम से पुकारा जाता रहा मगर बाद में इसे ठीक न समझकर इसमें थोड़ी-सी तब्दीली कर दी गयी यानी बजाय 'हुसन आबाद' के 'हसन आबाद' कहलाने लगा. मगर यह नाम चल न सका क्योंकि जनता 'हसन' और 'हुसन' में कोई भेद नहीं करती. आख़िर बड़ी-बड़ी ख़स्ता हालत किताबों के पन्ने पलट-पलटकर और पुराने रिकार्डों की छान-बीन के बाद इसका असली नाम पता किया गया, जिससे यह बस्ती आज के सैकड़ों वर्ष पूर्व उजड़ने से पहले जानी जाती थी और वह नाम है 'आनन्दी.'

यूँ तो सारा शहर भरा-पूरा, साफ़-सुथरा और ख़ुशनुमा है मगर सबसे ख़ूबसूरत, सबसे बारौनक और व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र यही बाज़ार है, जिसमें वेश्याएँ रहती हैं.

आनन्दी की म्युनिस्पैलिटी का इजलास ज़ोरों पर है. हाल खचाखच भरा हुआ है और असाधारण रूप से एक भी मेम्बर ग़ैर-हाज़िर नहीं. इसके विचाराधीन समस्या है कि वेश्यालय को शहर के बाहर कर दिया जाय क्योंकि उनका वजूद इन्सानियत, शराफ़त और तहजीब के दामन पर बदनुमा दाग़ है.

एक उदार वक्ता भाषण दे रहे हैं, ''मालूम नहीं, वह क्या लाचारी थी, जिसके कारण इस नापाक तबके को हमारे इस क़दीमी और तारीखी शहर के ऐन बीचों-बीच रहने की इजाज़त दी गयी....''

इस बार इन औरतों के रहने के लिए जो इलाका चुना गया, वह शहर के बाहर कोसों दूर था.

गुलाम अब्बास

जन्म : 17 नवम्बर 1909, अमृतसर
कृतियाँ : 'जिलावतन' (टॉलस्टाय के उपन्यास का अनुवाद), 'अलहमरा के अफ़साने' (वाशिंगटन इर्विंग के टेल्स का अनुवाद), 'जज़ीर-ए-सुखनवरां', 'आनन्दी', जाड़े की चाँदनी', 'कन-रस' (कहानी संग्रह), 'जब मुहब्बत रोती है' 1954 भारतीय एडीशन जिसका असली नाम 'गोंदनी वाला तकिया' था. यह उपन्यास पाकिस्तान में पहली बार 1982 में छपा, 'चाँद तारे' (बच्चों के लिए नज़्में), 'धनक', (लघु उपन्यास) 1967

◆ कहानी ◆

शहरे-अफ़सोस

•

इन्तज़ार हुसैन

पहला आदमी उस पर यह बोला कि मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं है कि मेरी मौत हो चुकी है.

तीसरा आदमी यह सुनकर चौंका और ज़रा डर और हैरत से उसे देखने लगा लेकिन दूसरे आदमी ने किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की. केवल सपाट आवाज़ में पूछा, "तू कैसे मर गया ?"

पहले आदमी ने अपनी मुर्दा आवाज़ में जवाब दिया, "वह एक साँवले रूप वाली लड़की थी, माथे पर लाल बिन्दी, कमर तक लटकते हुए बाल. एक साँवला युवक उसके साथ था. मैंने युवक से पूछा, "यह तेरी कौन है. तो बोला कि यह मेरी बहन है. मैंने कहा कि तू इसे नंगा कर. यह सुनकर लड़की आतंकित हो गयी. शरीर बेर के पेड़ की तरह काँपने लगा. युवक ने विनती की, 'ऐसा मत कह, यह मेरी बहन है.' मुझ पर वहशीपन सवार था. मैंने म्यान से तलवार निकाल ली और चिल्लाया कि 'तू इसे नंगा कर.' तलवार देखकर युवक काँपने लगा. थोड़ी-सी हिचकिचाहट के बाद उसके हाथ बहन की साड़ी की ओर बढ़े और उस साँवली लड़की ने डरी-डरी चीख़ मारी और दोनों हाथों से मुँह ढाँप लिया...और उन काँपते हाथों ने मेरे सामने...."

"तेरे सामने...हैं....अच्छा ?" तीसरे आदमी ने हैरत से उसे देखा.

दूसरे आदमी ने तीसरे आदमी की हैरत पर कोई ध्यान न दिया और अपने उसी भावहीन स्वर में पूछा, "फिर तू मर गया."

"नहीं मैं जिन्दा रहा." उसने फीके स्वर में कहा.

"ज़िन्दा रहा ?...अच्छा ?..." तीसरे आदमी को और भी हैरत हुई.

"हाँ, मैंने यह कहा, मैंने यह देखा और मैं ज़िन्दा रहा. मैं यह देखने के लिए ज़िन्दा रहा कि उस युवक ने वही किया, जो मैंने किया था. दहशत में भागती हुई एक बुर्क़ापोश को उसने दबोच रखा था. एक बूढ़े आदमी ने विलाप किया और चिल्लाया कि ओ नौजवान हमारी आबरू पर रहम कर ! साँवले नौजवान ने लाल-पीली नज़रों से उसे देखा और पूछा, 'यह तेरी कौन है ?' वह बूढ़ा बोला, 'बेटे, यह मेरी बहू है.' उस पर साँवले नौजवान ने दाँत किचकिचाये और चिल्लाया कि 'ओ बूढ़े, तू इसे नंगा कर.' यह सुनना था कि थरथराता-काँपता बूढ़ा आदमी एकदम से दोहरा हो गया और दहशत में उसकी आँखें फटी की फटी रह गयीं. तब युवक गुस्से से पागल हो गया और बूढ़े की गर्दन पकड़कर चिल्लाया कि 'बूढ़े, अपनी बहू को नंगा कर'...उसने यह कहा और मैं..."

"और तू मर गया ?" तीसरे आदमी ने जल्दी से बेचैन होकर कहा.

"नहीं, मैं ज़िन्दा रहा."

"ज़िन्दा रहा ?...अच्छा ?...."

"हाँ, मैं ज़िन्दा रहा. मैंने यह सुना, मैंने यह देखा और मैं ज़िन्दा रहा. इस डर से कि वह साँवला नौजवान मुझे पहचान न ले, मैं वहाँ से भाग निकला. लेकिन मैं आगे जाकर भीड़ में फँस गया. मैं तलवार फेंकने लगा था कि एक परेशानहाल शख़्स भीड़ को चीरकर मेरे सामने आया और मेरी आँखों में आँखें डालकर बोला कि, 'तलवार मत फेंक. यह बहादुरी के क़ायदे के ख़िलाफ है.' मैं ठिठक गया. मैं उसे ताकने लगा और वह मेरी आँखों में आँखें डालकर देखता जा रहा था. फिर मेरी नज़र झुक गयी. मैंने हार मानते हुए कहा कि ज़िन्दा रहने का अब इसके अलावा कोई तरीका नहीं है. इस कथन से उसकी आँखों से आग के शोले बरसने लगे. उसने नफ़रत से मेरे मुँह पर थूका और वापस हो लिया. ठीक उसी क्षण एक तलवार उसके सिर पर चमकी और वह चौंधियाकर धरती पर गिरा. मैंने उसे अपने गर्म ख़ून में लथपथ देखा, अपने मुँह पर से उसका गर्म थूक साफ़ किया और...."

"और तू मर गया ?" तीसरे आदमी ने अपनी समझ से उसका वाक्य पूरा किया.

"नहीं—मैं लाचार ज़िन्दा रहा. अपनी तलवार रख दी और मैं ज़िन्दा रहा. मगर न जाने किस ओर से वह साँवला नौजवान दोबारा प्रकट हो गया. मुझे देखकर ठिठका. पास आकर मुझे घूरने लगा फिर गुर्राकर पूछा, "तू क्या वही नहीं है ?" सैकड़ों टाल-मटोल के बाद मैंने माना कि 'हाँ, मैं वही हूँ.' यह सुनकर वह फ़ौरन वहाँ से चला गया और मैं खड़ा का खड़ा ही रहा. मगर थोड़ी देर में वह एक लड़की को खींचते हुए मेरे सामने वापस आया. धूल से अटे बिखरे बालों में छिपे रूप को मैंने ध्यान से देखा तो सन्नाटे में आ गया. उधर उसने मुझे देखा तो इस दर्द से रोयी कि मेरा कलेजा फट गया. साँवले नौजवान ने जहरीले स्वर में मुझसे पूछा, 'यह तेरी कौन है ?' मैंने संकोच करते हुए बताया कि 'यह मेरी बेटी है.' साँवले युवक ने सख़्ती से कहा, 'फिर तू इसे नंगा कर.' यह सुनकर उस मासूम की घिघ्घी बँध गयी और इधर मैं ढह गया और..."

"और तू मर गया ?" तीसरा आदमी व्याकुल होकर बोला.

"नहीं...." वह रुका, फिर धीरे से बोला, "मैं ज़िन्दा रहा."

"ज़िन्दा रहा ?...उसके बाद भी...अच्छा ? तीसरा आदमी सकते में आ गया !

"हाँ, उसके बाद भी. मैंने कहा, मैंने सुना, मैंने देखा, मैंने किया, और मैं ज़िन्दा रहा. मैं वहाँ से मुँह छिपाकर भागा. छुपता-छिपाता तबाह हाल आख़िर में उस गली में पहुँचा, जहाँ मेरा घर था. उस गली में भय का बसेरा था. अब दोनों समय मिल रहे थे. शाम को यहाँ चहल-पहल अपनी चरम सीमा पर होती थी, माहौल भाँय-भाँय कर रहा था. गली का कुत्ता बीच गली में मुँह उठाये और नज़र नीचे गाड़े बैठा था. मुझे देखकर गुर्राया. कितनी अज़ीब बात थी. पहले जब मैं

गली में प्रवेश करता था तो वह एक लगाव के साथ दुम हिलाता था. आज मुझे देखकर एक अनजाने की तरह चौकन्ना हुआ. पूरे बदन के रोंगटे खड़े हो गये. हौले-हौले गुर्राया और दुश्मनी की नज़र से मुझे घूरने लगा. डर की एक लहर मेरे शरीर में उतरती चली गयी. मैं उससे बचकर थोड़ा चौकन्ना हो चलता चला गया और अपने दरवाज़े पर पहुँचा. दरवाज़ा भीतर से बन्द था. मैंने धीरे से दरवाज़े को थपथपाया. कोई जवाब नहीं आया. लगता था कि कोई घर में है ही नहीं. मुझे हैरत हुई और कुछ अधिक ताक़त से
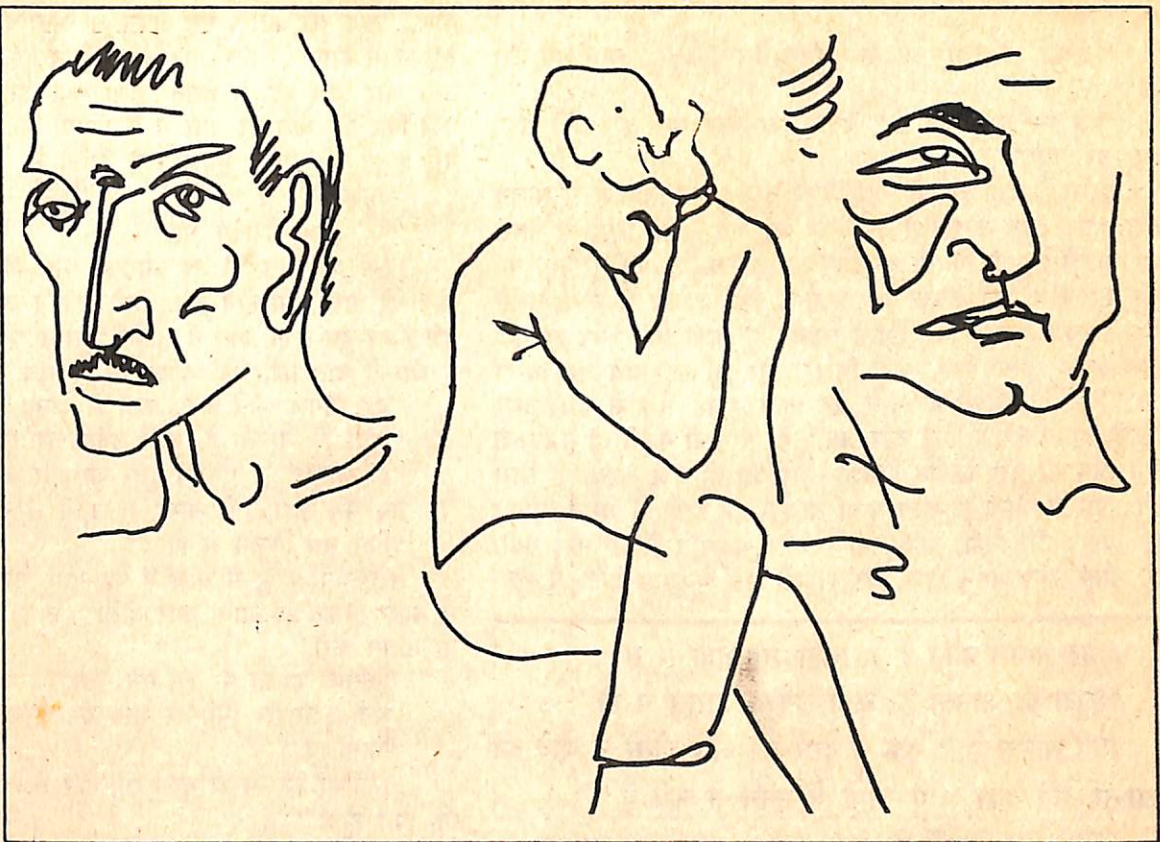
दस्तक दी. फिर वही ख़ामोशी. एक बिल्ली बराबर के मकान की पिछली मुँडेर पर चलते-चलते ठिठकी. अज़ीब दुश्मनी भरी नज़र से मुझे देखा और एकदम से सटक गयी. मैंने इस बार दस्तक देने के साथ धीरे से आवाज़ भी लगायी, ''खोलो'' भीतर से एक डरी-डरी-सी आवाज़ वाली औरत आयी, ''कौन ?'' यह मेरी बीवी की आवाज़ थी. और मुझे ताज्जुब हुआ कि आज उसने मेरी आवाज़ को नहीं पहचाना. मैंने विश्वास के साथ कहा कि 'मैं हूँ.' डरते-डरते दरवाज़ा खोला. मुझे देखकर दुखी स्वर में बोली, ''तुम ?'' मैंने सख़्त लहज़े में कहा, 'हाँ, मैं.' मैं अन्दर गया. घर में घोर सन्नाटा था. अन्दर-बाहर अँधेरा ही अँधेरा था. बरामदे में एक हल्की लौ वाला दिया टिमटिमा रहा था. वहाँ मुसल्ला (नमाज़ पढ़ने के लिए कपड़ा या चटाई) बिछा था और मेरा बाप आराम से तसबीह (जप करने की माला) फेंट रहा था. मेरी बीवी धीरे से बोली, 'मैं समझी थी, शायद मेरी बेटी वापस आ गयी हो.' मैंने घबराकर उसे देखा कि क्या उसे ख़बर हो गयी है. वह मुझे देखे जा रही थी और मुझे तकते-तकते जैसे उसकी पुतलियाँ थम गयी हों. मैं उससे आँखें बचाकर बरामदे में बाप के पास पहुँचा और घुटने टेककर बैठ गया. बाप ने दिया हाथ में उठाकर मुझे ध्यान से देखा, 'तुम ?' 'हाँ, मैं ?' उसने मुझे सिर से पैर तक हैरत से देखा 'तू ज़िन्दा है ?'—''हाँ मैं ज़िन्दा हूँ.'' वह उस दिये की मन्द रोशनी में मुझे टकटकी बाँधे देखता रहा. फिर अनिश्चितता के स्वर में बोला, 'नहीं'—'हाँ, मेरे बाप, मैं ज़िन्दा हूँ.' उसने सोच-विचार किया, आँखें बन्द कीं. फिर बोला, 'अगर तू ज़िन्दा है तो मैं मर गया.' बूढ़े ने एक लम्बी ठंडी साँस ली और मर गया. तब मेरी बीवी मेरे पास आयी.

ज़हर भरे स्वर में बोली, 'ऐ अपने मूए बाप के बेटे और मेरी आबरू लुटी बेटी के बाप तुम मर चुके हो'...तब मैंने जाना, मैं मर चूका हूँ.

दूसरे आदमी ने यह सब सुनने के बाद पहले आदमी को घूरकर देखा और देखते चला गया, उसके भावमुक्त चेहरे को, उसकी सुनसान आँखों को. फिर रूखे स्वर में घोषणा की कि बयान सही है, यह आदमी मर चुका है.''

तीसरा आदमी, जो पहले ही से हैरान था और ज़्यादा हैरान हो गया. पहले आदमी को हैरत और डर से देखता रहा. फिर अचानक सवाल किया, ''तेरे बाप की लाश कहाँ है ?''

''बाप की लाश ?'' पहले आदमी के लिए शायद यह सवाल उम्मीद के ख़िलाफ़ था. वह झिझका, फिर बोला, ''वह तो वहीं रह गयी.''

''लाया क्यों नहीं ?''

''दो लाशों को कैसे लेकर आता. मत पूछ कि अपनी लाश किस मुसीबत से लेकर आया हूँ.''

दूसरा आदमी, जिसने अब तक भावहीनता से सब कुछ कहा और सुना था, यह बात सुनकर चौंका, ''अरे हाँ, मैं यह भूल गया था. मेरी लाश तो वहीं रह गयी है.''

''तेरी लाश ?'' तीसरे आदमी की हैरत भरी नज़रें पहले आदमी के चेहरे से हटकर दूसरे आदमी के चेहरे पर केन्द्रित हो गयीं.

''हाँ, मेरी लाश.'' फिर वह बड़बड़ाने लगा, जैसे अपने आपसे कह रहा हो, ''लाश लेकर आना चाहिए था. न जाने वह उसके साथ क्या करें ?''

''तो क्या तुम भी मर चुके हो ?'' तीसरे आदमी ने पूछा.

"हाँ."

"अच्छा ?" तीसरे आदमी ने हैरत से उसे देखा, "मगर तुम कैसे मरे ?"

"जो मर गया, वह कैसे बताये, वह क्यों मरा और कैसे मरा. बस, मर गया."

दूसरा आदमी चुप हो गया. फिर ख़ुद सपाट आवाज़ में बोलने लगा, "इस शहरे-ख़राबी में वह समय आ गया है, जो सिरों पर मँडरा रहा था. मैं छिपता फिरता था और सोचता था कि अब मेरे संग वह सब कुछ होगा, जो उनके साथ हुआ है. एक बाज़ार में चलते-चलते ठिठका—क्या देखा, एक साँवली लड़की है, साड़ी ऐसे लपेटे हुए कि सारा शरीर खुला हुआ, बाल बिखरे और धूमिल, माथे की बिन्दी मसली हुई. दुबली-पतली मगर पेट फूला हुआ. भय से इधर-उधर देखती, दौड़ने लगती, फिर ठहर जाती. मेरे पास से गुज़री तो मैं ठिठक गया...वह भी मुझे देखकर ठिठकी—अरे यह तो वही लड़की है जिसे मैंने...और मैं इतना ही सोच पाया था कि वह हाथों से चेहरा छिपाते हुए चीख़ पड़ी, 'नहीं, नहीं, नहीं !' और भयभीत होकर भाग गयी. मेरे भीतर खून जमने लगा, यह लड़की मुझे पकड़वा देगी. मैं मुँह

"यह पागल कौन है ?...कहाँ से आया है ?"

"ख़ुदा ही जानता है. कहीं उनका जासूस न हो."

"हो सकता है." एक ने दूसरे को और तीसरे ने चौथे को देखा तब मैंने कहा, "ऐ लोगो मैं उनमें से नहीं हूँ."

"फिर तुम किनमें से हो ?"

छिपाकर भागा. लगातार भागता रहा, कभी इस गली में, कभी उस गली में लेकिन हर गली अन्धी गली थी, हर रास्ता बन्द रास्ता था. शहरे-ख़राबी से निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता था. इस तरह भागते-भागते एक अनोखे शहर में पहुँच गया. लाशें दूर-दूर तक नज़र आ रही थीं. ज़िन्दा आदमी आसपास कहीं नहीं दिखता था. मैं बेचैनी से एक गली से दूसरी गली में फिरता रहा. बाज़ार बन्द, रास्ते सुनसान, गलियाँ उजाड़. किसी मकान की ऊपर की खिड़की के पट इतने खुलते कि दो सहमी-सहमी आँखें दिखाई देतीं और फिर एकदम पट बन्द हो जाते. अक्ल दंग थी कि कैसा शहर है. लोग हैं मगर घरों में बन्द पड़े हैं. आख़िर एक मैदान आया, जहाँ देखा कि लोगों की एक भीड़ डेरा डाले पड़ी है. बच्चे भूखे से बिलखते हैं. बड़ों के होंठों पर पपड़ियाँ जमी हैं. माँओं के छातियाँ सूख रही हैं. खिले चेहरे मुरझा गये हैं. गोरी औरतें साँवली हो गयी हैं. मैंने वहाँ पहुँचकर कहा, "ऐ लोगो ! कुछ बताओ कि यह कैसी बस्ती है और इस पर क्या मुसीबत टूटी है कि घर क़ैदख़ाने बने हैं और गलियों में धूल उड़ती है और वीरान पड़ी हैं ?" जवाब मिला, "ऐ अभागे ! तू शहरे-अफ़सोस में है, और हम बदक़िस्मत यहाँ दम साधे मौत का इन्तज़ार कर रहे हैं." मैंने यह सुनकर एक-एक के चेहरे पर नज़र की—हर चेहरे पर मौत का साया पड़ रहा था और माथे पर बदक़िस्मती लिखी थी. मुझे उन्हें देखकर बेचैनी हुई, "ऐ लोगो ! तुम वही नहीं हो जो इस बस्ती को सुरक्षित समझकर दूर से चलकर आये थे और यहाँ फैल गये ?" उन्होंने कहा, "ऐ शख़्स ! तूने ठीक पहचाना. हम उन्हीं बर्बाद क़बीलों के हैं." मैंने पूछा, "ऐ लुटे हुए लोगो, तुमने इस सुरक्षित स्थान को कैसा पाया ?" बोले, "ख़ुदा की क़सम, मैंने अपनों के अत्याचार में रात काटी." यह सुनकर मैं हँसा. मेरे हँसने पर उनको हैरत हुई. मैं और ज़ोर से हँसा. उन्हें और हैरत हुई. मैं हँसता चला गया और उनकी हैरानी बढ़ती गयी फिर यह बात पूरे नगर में फैल गयी कि शहरे-अफ़सोस में एक ऐसे शख़्स की आमद हुई है, जो हँसता है.

"आज के दिन भी ?"

"हाँ, आज के दिन भी."

लोगों की हैरत भी हुई और डर भी. यह हैरान और भयभीत लोग मेरे पास जमा होने लगे. पहले उन्होंने एक डर के साथ दूर से मुझे हँसते हुए देखा. फिर वे साहस जुटा के क़रीब आये और आपस में धीरे-से बात की, यह व्यक्ति तो सचमुच हँस रहा है.

"यह पागल कौन है ?...कहाँ से आया है ?"

"ख़ुदा ही जानता है. कहीं उनका जासूस न हो."

"हो सकता है." एक ने दूसरे को और तीसरे ने चौथे को देखा.

तब मैंने कहा, "ऐ लोगो, में उनमें से नहीं हूँ."

"फिर तुम किनमें से हो ?"

मैं किनमें से हूँ, मैं सोच में पड़ गया. उसी पल एक बूढ़ा भीड़ से बाहर निकलकर आया और बोला, "अगर तुम उनमें से नहीं हो तो मातम करो."

"किसकी हालत पर ?" मैंने पूछा.

"बनी इसराईल (पैगम्बर मूसा के अनुयायी) की दशा पर."

"किसलिए."

"इसलिए कि जो हो चुका था, फिर हुआ. और जो हो चुका है, वह फिर होगा."

यह सुनकर मेरी हँसी बन्द हो गयी. मैंने दुख प्रकट किया और कहा, "ऐ बुजुर्ग, तुमने देखा कि जो लोग अपनी धरती से बिछड़ जाते हैं फिर कोई उन्हें स्वीकार नहीं करती."

"मैंने यह देखा और जाना कि हर धरती अत्याचारी है."

"जो धरती जन्म देती है, वह भी ?"

"हाँ, जो धरती जन्म देती है, वह भी और जो धरती दारूल अमान (सुरक्षित राज्य) है, वह भी. मैंने गया नाम के नगर में जन्म लिया और गया के उस भिक्षु ने यह जान लिया कि संसार में दुख ही दुख है, और किसी भी प्रकार से निर्वाण नहीं है और हर धरती अत्याचारी है.

"और आसमान ?"

"आसमान के नीचे हर चीज़ मिथ्या है."

मैं थोड़ा रुका और कहा, "यह सोचने की बात है."

"सोच भी झूठ है ?"

"बुजुर्ग ! सोच ही तो इन्सानियत की सच्ची पूँजी है."

उसने साफ़-साफ कहा, "इन्सानियत भी झूठ है."

"फिर सत्य क्या है ? मैंने झुँझलाकर पूछा.

"सत्य ? वह क्या चीज़ होती है ?"

"सत्य !" मैंने बलपूर्वक और भरोसे से कहा.

और उसने सरलता से कहा, "जिसे सत्य कहते हैं वह भी झूठ है."

मैंने यह सुना और सोचा कि यह बूढ़ा भी मौत की पकड़ में है और यह बस्ती तबाही के रास्ते पर है. तू उन लोगों को उनके हाल पर छोड़ और यहाँ से निकल चल कि तुझे जीवित रहना है. मैं उस क़बीले को छोड़कर जान बचाकर भागा. मगर मैं एक अजीब मैदान

में पहुँच गया, जहाँ भीड़ उमड़ी हुई थी और जीत का ढोल पीटा जा रहा था ! मैंने पूछा, "लोगो ! यह कौन-सी घड़ी है और यह कौन-सा मुक़ाम है ?"

एक शख़्स ने निकट आकर कान में कहा, "यह पतन का पल है और यह इबरत का मुक़ाम है."

"और यह कौन शख़्स है, जिसके मुँह पर थूका गया है." उस शख़्स ने मुझे जहरीली नज़रों से देखा और कहा, "तुम उसे नहीं पहचानते ?"

"नहीं."

"ऐ बदशक्ल आदमी ! यह तू है ?"

"मैं ?" मैं सन्नाटे में आ गया.

"हाँ, तू."

मैंने उसे ध्यान से देखा और मेरी पुतलियाँ फैलती चली गयीं. वह तो सचमुच मैं था...मैंने ख़ुद को पहचाना और मर गया ?

तीसरा आदमी कहने लगा, "ख़ुद को पहचानने के बाद जीवित रहना कितना कठिन होता है."

पहले आदमी ने उसे ध्यान से देखा और पूछा, "अच्छा तो वह तू था जिसके मुँह पर थूका गया था."

"हाँ, वह मैं था."

"मैं समझ रहा था, वह मैं था."

"तुम ?"

"हाँ मेरा गुमान था. परन्तु अब पता चल गया कि वह सिर्फ़ मेरा गुमान था, जिसके मुँह पर थूक गया था, वह मैं नहीं था." और जब वह बोला, तब उसकी आवाज़ इतनी सपाट नहीं रही थी, जितना पहले थी. वह दूसरे आदमी से मुखातिब हुआ, "मैंने ग़लत कहा और तुमने ग़लत समझा. वह मैं ही था, जिसके मुँह पर थूका गया था."

दूसरे आदमी ने अपनी मरी सी आवाज़ में कहा, "मैंने उस शरीर को जिस पर थूका गया था, ग़ौर से देखा था, वह ठीक मेरा रूप था."

पहले आदमी ने दूसरे आदमी को सिर से पाँव तक ध्यान से देखा. अचानक एक लहर उसके दिमाग़ में उठी और उसने रुकते-रुकते कहा, "कहीं तू, मैं तो नहीं है ?"

"मैं तू ?...नहीं, बिलकुल नहीं—मैंने स्वयं को पहचान लिया है. मैं इस प्रकार कोई धोखा नहीं खा सकता."

"तूने ख़ुद को क्या पहचाना ?" पहले आदमी ने पूछा.

दूसरे आदमी ने उत्तर दिया, "मैं वह हूँ, जिसके मुँह पर थूका गया है."

"यही पहचान तो मेरी भी है." पहला आदमी बोला और इससे मुझे शक हुआ कि शायद तू मैं हो !"

"मगर क्या ज़रूरी है," दूसरे आदमी ने कहा, "वह हर चेहरा जिस पर थूका गया है, मेरा ही चेहरा हो ?"

"ठीक है, मगर यह तो हो सकता है कि तेरा चेहरा तेरा न हो, मेरा हो."

इस पर दूसरा आदमी सचमुच दुविधा में पड़ गया. उसने शक भरी नज़र से पहले आदमी को देखा. दोनों ने एक दूसरे को देर तक शक भरी नज़र से देखा और तरह-तरह के शकों को जन्म देता रहा. आख़िरकार दूसरा आदमी हारकर बोला, "हम मर चुके हैं. हम एक दूसरे को क्योंकर पहचान सकते हैं ?"

पहला आदमी बोला, "क्या जब हमारी मौत नहीं हुई थी तो एक दूसरे को पहचानते थे ?"
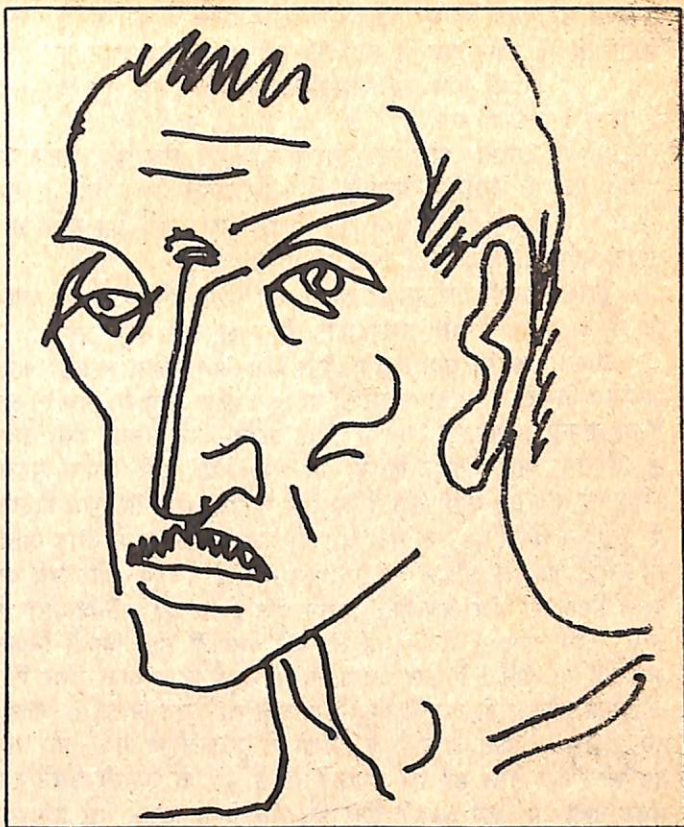
इस पर दूसरा आदमी शान्त हो गया मगर तीसरे आदमी को एक अनोखी बात सूझी. उसने पूछा, "अपनी लाश कौन लेकर आया है ?" पहला आदमी बोला, "मैं लेकर आया हूँ." उसने कहा, "फिर हवा में तीर क्यों चलाते हो ? लाश को देख लो. अभी दूध का दूध और पानी का पानी हो जायेगा."

यह सुझाव दोनों पक्षों ने मान लिया और फिर तीनों लाश के पास गये. तीसरा आदमी लाश को देखकर भयभीत हुआ. फिर बोला, "इसका तो चेहरा ही बिगड़ चुका है. अब कैसे पहचान हो सकती है."

दूसरा आदमी बोला, "चेहरा विकृत हो गया है तो फिर यह निश्चित ही मेरी लाश है. इसलिए कि जब मेरे मुँह पर थूका गया था, मेरा चेहरा विकृत हो गया था," पहला आदमी बोला.

"तेरा चेहरा कब बिगड़ा हुआ था ?"

"मेरा चेहरा तो उसी समय बिगड़ गया था, जिस समय मैंने लम्बे बालों, लाल बिन्दी वाली साँवली लड़की को उसके भाई से नंगा करवाया था."

दोनों एक दूसरे को देखने लगे. फिर एक स्वर में कहा, "तुम इस विकृत चेहरे के साथ इतने दिन तक लोगों के बीच चलते रहे ?"

"हाँ, मैं अपने बिगड़े चेहरे के साथ लोगों के बीच चलता-फिरता रहा. यहाँ तक कि मेरे बाप ने मुझे देखा और आँखें बन्द कर ली और मर गया."

पहले आदमी ने अपने बाप की चर्चा की तो दूसरे आदमी को भी अपना बाप याद आ गया—मेरा बाप इसी सरलता से मरा था. मैंने उसके पास जाकर बाप की मुहब्बत को जगाने की कोशिश की और दुख के साथ कहा, "ऐ बाप ! आज तेरा बेटा मर गया." बाप मेरे विकृत चेहरे को देखने लगा. "फिर अच्छा हुआ तू मेरे पास आने

से पहले मर गया. यह सब कुछ करने और देखने के बाद भी तू ज़िन्दा आता तो मैं तुझे क़यामत तक ज़िन्दगी का बोझ उठाने का शाप देता.'' ... यह मेरे बाप का आख़िरी कथन था. इसके बाद वह सदा के लिए शान्त हो गया.

पहला आदमी अपने सूखे स्वर में बोला, ''हमारे बूढ़े बाप अपने जवान बेटों से अधिक ग़ैरतमन्द थे. और हमने उसके सामने क्या किया ? मैं अपने बिगड़े चेहरे वाली लाश लेकर यहाँ आ गया और अपने बाप की लाश वहीं छोड़ आया.''

दूसरा आदमी यह सुनकर चौंका और बोला, ''मुझे तो यह ध्यान ही में न आया. मैं भी अपने बाप की लाश वहीं छोड़ आया.''

तीसरा आदमी एक कड़वी हँसी हँसा और कहने लगा, ''पहले जब हम निकले थे तो अपने पुरखों की क़ब्रें छोड़ आये थे; अब निकले हैं तो अपनी लाश छोड़ आये हैं'', यह कहते-कहते उसकी हँसी उड़न छू हो गयी और एक दुःख ने उसे घेर लिया. उसे अपना पहला निकलना याद आ गया. अतीत की धुँध में उसे बहुत सी सूरतें दिखाई दीं ! रौशन चेहरों की एक नदी थी, जो उसकी कल्पना में उमड़ आयी थी—चेहरे जो ऐसे ओझल हुए कि फिर दिखाई न दिये. और अब यह दूसरा निकलना और अब फिर...उसने एक प्रकार की अनिश्चितता के साथ अपने आप से कहा—यह तो मुझे पता ही नहीं कि मैं निकल आया हूँ या नहीं ! निकल आया. मगर बहुत से चमकते चेहरे फिर आँखों से ओझल हो गये हैं. कितने दमकते चेहरे तब आँखों से ओझल हुए; कितने दमकते चेहरे अब आँखों से ओझल हो गये. और उसे यह सोच कर हैरत हुई कि दमकते चेहरों पर जो उदासी उसने उस समय देखी थी, वही उदासी फिर इस बार देखी. उसने बुझे हुए स्वर में पहले आदमी और दूसरे आदमी को सम्बोधित किया, ''मैंने ग़लत कहा. दोनों बार एक ही घटना घटी. यह कि हम अपने विकृत चेहरों को यहाँ ले आये और अपने साफ़ चेहरों को पीछे छोड़ आये.''

दूसरा आदमी शून्य में देखता रहा. फिर उठ खड़ा हुआ. चलने लगा था कि दोनों ने पूछा, ''कहाँ जा रहा है तू ?''

बोला, ''वहाँ से मुझे कम से कम अपने बाप की लाश लानी चाहिए.''

''अब वहाँ से कोई लाश नहीं आ सकती.''

''क्यों ?''

''सभी रास्ते बन्द हैं.''

''अच्छा ?...तो मेरे बाप की लाश वहीं पड़ी रहेगी.''

पहले आदमी ने कहा, ''अपने बाप की लाश यहाँ लाकर तू क्या करता ! मुझे देख कि मैं अपनी लाश ले आया हूँ और उसे अपने कन्धे पर लिये-लिये फिर रहा हूँ.''

''इसको गाड़ क्यों नहीं देता ?'' तीसरा आदमी बोला.

''कहाँ गाड़ दूँ ? यहाँ गाड़ने के लिए जगह है ?''

''तो अब हमें यहाँ गाड़ने की जगह नहीं मिलेगी ?'' दूसरा आदमी कहने लगा.

''नहीं. गाड़ने के लिए यहाँ जगह तो है मगर क़ब्रें यहाँ पहले ही बहुत बन चुकी हैं. अब और क़ब्रें बनाने की जगह नहीं निकल सकती !''

यह सुनकर तीसरा आदमी रोने लगा. दोनों ने उसे बिना किसी लगाव के देखा और पूछा, ''तुमने क्या सोचकर रोना शुरू किया ?''

''मेरे रोने की वज़ह यह है कि मुझे भी तो मरना है. और यहाँ नयी क़ब्र के लिए जगह नहीं है. फिर मैं कहाँ जाऊँगा ?''

''तुम मरे नहीं हो ?'' दोनों ने उसे ध्यान से देखा.

''नहीं मैं अभी ज़िन्दा हूँ.''

दोनों उसे देखने लगे, ''तुम अपने को ज़िन्दा मानते हो ?''

''हाँ मैं ज़िन्दा हूँ मगर....''

''मगर ?'' दोनों ने उसे सवालिया नज़रों से देखा.

''मगर मैं लापता हूँ.''

''लापता ?''

''हाँ लापता. तुम जानते हो कि इस क़यामत में बहुत से लोग लापता हो गये हैं.''

''और क्या तुमको मालूम है कि'' पहला आदमी बोला, ''जो लापता हुए उनमें से बहुत से क़त्ल हो चुके हैं.''

मुझे पता है परन्तु मैं मक़तूलों में नहीं हूँ.''

''बहुत से इस तरह मरे हैं, जैसे हम मरे हैं !''

''मैं तुम्हारी तरह मरने वालों में से नहीं हूँ.''

''तुझे जबकि तू लापता है, यह कैसे मालूम हुआ ?''

बात यह है कि शहरे-ख़राबी में ज़िन्दों का पता नहीं चल रहा मगर मरने वालों की लाशें हर रोज मिलती हैं. अगर मैं मरा होता किसी भी तरह से तो लाश मिल चुकी होती.''

''अगर तू मरा नहीं है तो तुझे क़ैदियों में होना चाहिए. और अगर तू कैदियों में है तो समझ ले चक्कर पूरा हो गया.''

तीसरा आदमी चकराया, ''चक्कर पूरा हो गया इसका क्या मतलब है ?''

''मतलब यह है कि,'' ''दूसरा आदमी बोला, ''तू फिर घूमघाम कर दोबारा इस शहर में पहुँच गया है, जिस शहर से कभी निकला था. एक दोस्त के साथ यह घटना घटी है. वह क़ैद होकर वहीं पहुँच गया, जहाँ पैदा हुआ था. जब वहाँ से भागने की कोशिश कर रहा था तो साथी ने कहा, 'दोस्त ! यहाँ से क्यों भागता है. यह मिट्टी तुझसे क्या कहती है' वह रोते हुए बोला कि 'जब मैं क़ैदखाने की खिड़की से झाँकता हूँ तो समाने सरसों का खेत लहलहाता दिखाई देता है. सरसों अब फूलने लगी है कि अब बसंत आने वाली है. जन्मभूमि और क़ैद ने इकट्ठे होकर क़यामत ढायीं. बसन्त, जन्मभूमि और क़ैद ...इन तीनों को इकट्ठा नहीं होना चाहिए. इसमें बहुत पीड़ा है और वह कैदखाने से एक रात सचमुच निकल भागा और लापता हो गया.''

''लापता हो गया ?'' तीसरा आदमी चौंका, ''कहीं वह मैं तो नहीं था...(शायद)... कि सरसों मेरे शहर में भी ऐसी फूलती थी ! कयामत ढाती थी.''

''नहीं, वह तू नहीं था.''

''बसन्त, जन्मभूमि और कैद.'' तीसरा आदमी बड़बड़ाया और सोच में पड़ गया फिर बोला, ''नहीं, मैं वह नहीं हो सकता, मैं क़ैदियों में शमिल नहीं था.''

पहला आदमी कहने लगा, ''कैद के बहाने जन्मभूमि में वापस पहुँचना कितनी अजीब बात है.''

दूसरा आदमी बोला, ''गया वाला आदमी क़ैदियों में शामिल होता तो आज वह गया की धरती पर होता.''

तीसरे आदमी ने झुरझुरी ली, ''हाँ, सचमुच कितनी अजीब बात है. मेरी दादी गदर की कहानियाँ सुनाया करती थी. बताया करती थी कि कितने लोग उन दिनों रूपोश हुए थे. अपने-अपने शहरों से ऐसे गये कि फिर कभी लौटकर नहीं आये. और एक औरत थी, जो फिरंगी से बहुत लड़ी और फिर घर उजाड़कर अपने शहर से निकली और

नेपाल के जंगलों में गयी. जंगल-जंगल आवारा खुशबू की तरह भटकती रही और गुम हो गयी.'' यह कहते-कहते उसने ठंडी साँस ली, फिर बोला, ''आफ़तज़दा शहर में लापता होने से अच्छा है कि आदमी घने जंगलों में खो जाय.'' वह चुप हुआ और सोच में डूब गया. फिर एक पछतावे के साथ कहने लगा, ''अगर मैंने नेपाल के जंगलों में पनाह ली होती.''

पहला, दूसरा, तीसरा अब तीनों आदमी चुप थे, चुप और बे हिसो-हरकत जैसे बोलने और कुछ करने की इच्छा से पूरी तरह छुटकारा पा गये हों. समय बीतता गया और वे इसी तरह मौन बैठे थे. आख़िरकार धीरे-धीरे तीसरे आदमी ने बेकली महसूस की. उसने पहले आदमी को देखा, दूसरे आदमी को देखा. वे दोनों स्थिर बैठे थे और अपनी शान्त पुतलियों के साथ खला (शून्य) में तके जा रहे थे. उसे शक हुआ कि वह कहीं जामिद (चेतना रहित) तो नहीं हो गया है. यह जानने के लिए वह जामिद तो नहीं हो गया है, अपने शरीर को झटका दिया. लम्बी सी जम्हाई ली और भीतर ही भीतर एक निश्चिन्तता के साथ कहा कि 'मैं हूँ.' फिर उसने पहले और दूसरे को सम्बोधित करते हुए कहा, ''यहाँ से अब चलें.'' वह अपने होने का ऐलान करना चाहता था.

दोनों ने थोड़े सोच-विचार के बाद अपनी बेनूर निगाहें शून्य से हटाकर उस पर केन्द्रित कर दीं. रूखी आवाज़ में कहा, ''कहाँ चलें ? हमें अब कहाँ जाना है ? हम तो मर चुके हैं.''

तीसरे आदमी ने डर के साथ उन दोनों के विकृत चेहरों और सुनसान आँखों को देखा. मुझे यहाँ से उठ जाना चाहिए, इससे पहले कि मैं ही पत्थर हो जाऊँ. वह सोचता रहा, सोचता रहा. फिर साहस करके उठ खड़ा हुआ. दोनों ने उसे उठते देखा और एक स्वर और भावहीन आवाज़ में पूछा, ''तुम कहाँ जा रहे हो ?''

वह बोला, ''मुझे चल कर देखना चाहिए कि मैं कहाँ हूँ.'' वह ठहरा, फिर सोचकर बोला, ''कहीं सचमुच मैं क़ैदियों में तो नहीं हूँ और वहीं पहुँच गया हूँ.''

''कहाँ ?'' पहले आदमी ने पूछा.

उसने पहले आदमी की बात जैसे सुनी ही नहीं. बस, दूसरे आदमी के चेहरे पर नज़र जमा दी और पूछा, ''क्या तुझको पक्का यकीन है कि मैं क़ैद से निकल भागा था ?''

''हाँ, उसने फूलती सरसों को देखा और अपने शहर की क़ैद से निकल भागा.''

''और क्या तुझे यक़ीन है कि वह मैं नहीं था ?''

''नहीं.'' दूसरे आदमी ने कहा और यह कहते-कहते तीसरे आदमी को ध्यान से देखा, चौंककर बोला, ''क्या तू शहरे-अफ़सोस में नहीं था ?''

तूने ठीक पहचाना. मैं शहरे-अफ़सोस ही में था.''

मैंने तुझे मुश्किल से पहचाना क्योंकि तेरा चेहरा बिगड़ चुका है मगर जब तू शहरे-अफ़सोस में था और मौत का इंतज़ार करने वालों के साथ था, तब चेहरा ठीक था. तेरा चेहरा कब और कैसे बिगड़ा ?''

तीसरे आदमी को यह सुनकर हैरत हुई. हिचकिचाते हुए बोला, ''बस यह समझो कि जब मैंने उन लोगों से मुँह मोड़ा, तब ही से मेरा चेहरा बिगड़ता चला गया.''

''आश्चर्य है, वहाँ से तू निकल आ. शहरे-अफसोस के सभी रास्ते बन्द हैं. तू पकड़ा नहीं गया ?''

''पकड़ा कैसे जाता ? पहचाना जाता, तब पकड़ा जाता. मगर मेरा चेहरा बिगड़कर बदल गया था.''

''इसका मतलब यह है कि,'' पहला आदमी बोला, ''तेरा बिगड़ा चेहरा तेरा निजातद हिन्दा (छुटकारा दिलाने वाला) है.

दूसरा आदमी बोला, ''अभी से इतना ख़ुशफहम नहीं होना चाहिए. अभी तो यही पता नहीं है कि यह आदमी कहाँ है. अगर वहीं कहीं छुपा हुआ है तो आज नहीं, कल और कल नहीं तो परसों पहचाना जायेगा और पकड़ा जायेगा.''

''यही तो मुझे धड़का लगा हुआ है. इसलिए मैं चाहता हूँ कि जाकर देखूँ, मैं कहा हूँ.''

तुझे यह पता चल भी गया कि तू कहाँ है तो ''फ़र्क़ क्या पड़ेगा.'' दूसरा आदमी बोला, ''वहाँ से निकलने का कोई उपाय निकालूँगा.''

''निकलने का उपाय ?'' दूसरे आदमी ने उसे ध्यान से देखा.

''रे लापता आदमी ! क्या तुझको मालूम नहीं, सभी रास्ते बन्द हैं ?''

''यह तो ठीक है मगर कब तक लापता रहूँ ? मुझे अपना अता-पता लेना चाहिए. और क्या मालूम कि निकलने का कोई उपाय सूझ ही जाय !''

''रे सहज हृदय वाले ! तू निकल कर कहाँ जायेगा ?'' दूसरा आदमी बोला.

''कहाँ जाता ? यहीं आ जाऊँगा. आख़िर पहले भी तो आने वाले यहीं आये थे.''

पहले आदमी ने उसे घूर कर देखा, ''यहाँ ?...यहाँ तू अब कहाँ आयेगा.''

''मैंने तुझको बताया ना कि मेरी लाश यहाँ बिना क़ब्र के पड़ी है.''

तीसरा आदमी दुविधा में पड़ गया, ''यह तो बड़ी उलझन है. फिर मैं कहाँ जाऊँगा...''

दूसरा आदमी दोनों को देखकर बोला, ''ऐ बदशक्लो ! क्या मैंने तुम्हें गया के आदमी की बात नहीं बतायी थी—हर ज़मीन ज़ालिम है. और आसमान के नीचे हर चीज़ मिथ्या है, और उखड़े हुओं के लिए कहीं आश्रय नहीं है.''

''फिर ?'' तीसरे आदमी ने उदासीनता से पूछा.

दूसरा आदमी देर तक उसे टिकटिकी बाँधे देखता रहा जबकि तीसरे को लगा वह जड़ होता जा रहा है. फिर बोला, ''फिर यह कि ऐ लापता आदमी बैठ जा और मत पूछ कि तू कहाँ है, और जान ले तू मर गया है !'' ▣

इंतज़ार हुसैन

जन्म : 21 दिसम्बर 1925, डिबाई, बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश)
शिक्षा : एम. ए. मेरठ कॉलेज
कृतियाँ : 'गली कूचे', 'कंकरी', 'आख़िरी आदमी', 'शहरे अफ़सोस', 'ख़ाली पिंजरा' (सभी कहानी संग्रह); 'चाँद गहन', 'बस्ती', 'समुंदर के पार' (उपन्यास).
इसके अतिरिक्त आलोचनात्मक लेख और हकीम अजमल ख़ान की जीवन कथा और अख़बारों के लिए उर्दू व अंग्रेजी में क़ालम भी लिखते हैं.
सम्पर्क : 38-जेल रोड, लाहौर (पाकिस्तान)

◆ कहानी ◆

नज़्ज़ारा दरमियाँ है

•

कुर्रतुल ऐन हैदर

ताराबाई की आँखें तारों की तरह रोशन हैं और वह आगे-पीछे की हर चीज़ को हैरत से देखती है. दरअसल ताराबाई के चेहरे पर सिर्फ़ आँख ही आँख है. वह अकाल की सूखी मारी लड़की है जिसे बेगम अलमास ख़ुर्शीद आलम के यहाँ काम करते हुए सिर्फ़ कुछ महीने हुए हैं, और वह अपनी मालकिन के शानदार फ्लैट के साज़ो-सामान को आँखें फाड़-फाड़कर देखती रहती है कि ऐसा एशो-आराम उसे पहले कभी ख़्वाब में भी नज़र ना आया था. वह गोरखपुर के एक गाँव की बाल-विधवा है, जिसके ससुर और माँ-बाप के मरने के बाद उसके मामा ने, जो बम्बई में दूध वाला भैया है, उसे यहाँ बुला भेजा था.

अलमास बेग़म के ब्याह को अभी तीन-चार महीने ही गुज़रे हैं. उनकी मंगलोरियन आया, जो उनके साथ मैके से आयी थी, 'मुल्क' चली गयी तो उनकी बहुत ही मुन्तजिमा (इन्तज़ाम करने वाली) ख़ाला बेग़म उसमानी ने, जो एक नामवर समाज सुधारक हैं. इम्प्लायमेंट एक्सचेंज फोन किया और ताराबाई अपने ख़ास अंदाज़ में आँखें छपकाती कम्बाला हिल के 'स्काई स्क्रेपर' गुल नसतरन की दसवीं मंज़िल आन पहुँची. अलमास बेग़म ने उनको हर तरह से विश्वास के योग्य पाया. मगर जब दूसरे नौकरों ने उसे ताराबाई कहकर पुकारा तो वह बहुत बिगड़ीं, "हम कोई पतुरिया हूँ ?" उन्होंने विरोध किया. मगर अब उनको तारादई की बजाय ताराबाई कहलाने की आदत हो गयी है और वह चुपचाप काम में व्यस्त रहती हैं. और बेग़म साहिबा और उनके साहब को आँखें झपक-झपक कर देखा करती हैं.

अलमास बेग़म का अगर बस चले तो वह अपने बाँके शौहर को एक लम्हे के लिए भी अपनी नज़रों से ओझल न होने दें और वह जवान-जहान आया को रखने की किसी तरह से क़ायल नहीं. मगर ताराबाई जैसी बेजान और सुघड़ नौकरानी को देखकर अपनी तजुर्बाकार ख़ाला के चुनाव पर कोई एतराज़ नहीं किया.

ताराबाई सुबह-सुबह बेडरूम में चाय लाती है. बड़ी अकीदत (श्रद्धा) से साहब के जूतों पर पालिश और कपड़ों पर लोहा करती है. उनके शेव का पानी लगाती है. झाड़-पोंछ करते वक्त वह बड़ी हैरत से उन ख़ूबसूरत चीज़ों पर हाथ फेरती है जो साहब अपने साथ पेरिस से लाये हैं. उनका वायलिन वार्डरोब के ऊपर रखा है. जब पहली बार ताराबाई ने बेडरूम की सफ़ाई की तो वायलिन पर बड़ी देर तक हाथ फेरती रही. मगर परसों जब वह रोज़ाना की तरह बड़ी नफ़ासत से वायलिन साफ़ कर रही थी तो नर्म मिज़ाज और शरीफ़ साहब (बेग़म साहिबा तो ततैया मिर्च हैं) उसी वक़्त कमरे में आ गये और उस पर बरस पड़े कि वायलिन को हाथ क्यों लगाया और ताराबाई के हाथों से छीनकर उसे अलमारी के ऊपर पटक दिया. ताराबाई सहम गयी और उसकी आँखों में आँसू आ गये और साहब थोड़ा शर्मिन्दा होकर बाहर बरामदे में चले गये जहाँ बेग़म साहब बैठी चाय पी रहीं थीं. वैसे बेगम साहिबा की सुबहें अकसर हेयर ड्रेसर के यहाँ और ब्यूटी-सैलून में बीतती हैं. मेनीक्योर, पेडीक्योर, मसाज, फ्रेशियल, सोना-बाथ एक से एक बढ़िया साड़ियाँ, दर्जनों रंग-बिरंगे सिलेक्स और इत्र के डिब्बे और गहने उनकी अलमारियों में पटे पड़े हैं. मगर ताराबाई सोचती हैं—भगवान ने मेम साहिब को दौलत भी दी, इज़्ज़त भी दी और ऐसा सुन्दर पति भी. बस शकल देने में कंजूसी कर गये.

सुना है साहब 'मेम साहिबा और मिस साहिबा' लोगों की सोसाइटी में काफ़ी मक़बूल (सर्वप्रिय) थे. मगर ब्याह के बाद से बेग़म साहिबा ने उन पर बहुत-सी पाबन्दियाँ लगा दी हैं. दफ़्तर जाते हैं तो दिन में कई बार फोन करती हैं. शाम को किसी काम से बाहर जायें तो बेगम साहिब को पता रहता है कि कहाँ-कहाँ गये हैं. और जगहों पर भी फोन करती रहती हैं. शाम को सैर सपाटा या मिलने-मिलाने के लिए दोनों मियां-बीवी बाहर जाते हैं तब भी बेग़म साहिबा कड़ी निगरानी रखती हैं. मजाल है जो वह किसी लड़की पर नज़र डाल लें.

साहब ने यह सभी नियम-कानून हँसी-खुशी कुबूल कर लिये हैं क्योंकि बेग़म साहिब बहुत अमीर हैं और साहब को नौकरी भी उनके दौलतमंद ससुर ही ने दिलवायी है. वरन ब्याह से पहले साहब बहुत ग़रीब आदमी थे. स्कॉलरशिप पर इंजीनियरिंग पढ़ने फ्रांस गये थे. वापस आये तो रोज़गार नहीं मिला, परेशान हाल घूम रहे थे. तभी बेग़म साहिब के घर वालों ने उन्हें फाँस लिया.

बड़े लोगों के ये अजीबो-ग़रीब किस्से ताराबाई फ्लैट के मिस्त्री (बावर्ची), हम्माल और दूसरे नौकरों से सुनती है और उसकी आँखें अचम्भे से झिलमिलाती रहती हैं.

ख़ुर्शीद आलम बहुत अच्छा वायलिन बजाते थे. मगर जब से ब्याह हुआ है, बीवी की मुहब्बत में ऐसा खोये कि वायलिन को हाथ नहीं लगाया. अलमास बेग़म को इस साज़ से दिली नफ़रत है. ख़ुर्शीद आलम बीवी के बहुत ही एहसानमन्द हैं. क्योंकि इस शादी से उनकी ज़िन्दगी बदल गयी. और एहसानमन्दी ऐसी चीज़ है कि एक संगीतकार अपने संगीत की क़ुर्बानी दे सकता है. खुरशीद आलम शहर की एक जर्जर इमारत में पड़े थे, और बसों में मारे-मारे फिरते थे. अब लखपति की हैसियत से कम्बाला हिल पर विराजमान हैं. मर्द के लिए उसकी आर्थिक सुरक्षा शायद सबसे बड़ी चीज़ है.

ख़ुर्शीद आलम अब वायलिन शायद कभी नहीं बजायेंगे.

यह सिर्फ डेढ़ साल पहले की बात है. अलमास अपने धनाढ्य बाप की आलीशान कोठी में मालाबार हिल पर रहती थीं. वह सोशल वर्क कर रही थीं. और उम्र ज़्यादा होने के कारण शादी की उम्मीद छोड़

चुकी थीं. जब एक दावत में उनकी मुलाक़ात ख़ुर्शीद आलम से हुई और उनकी जहाँदीदा ख़ाला बेगम उस्मानी ने मुमकिनात (सम्भावनाओं को) भाँपकर अपने 'जासूसों' के ज़रिए जानकारी हासिल की. लड़का यू. पी. का है. यूरोप से लौटकर रोज़गार की तलाश में जुटा है, मगर शादी के लिए तैयार नहीं. क्योंकि फ्रांस में एक लड़की छोड़ आया है और उसके आने का इन्तज़ार कर रहा है. बेगम उस्मानी फौरन अपनी मुहिम में जुट गयीं. अलमास के पिता ने ख़ुर्शीद आलम को अपनी एक फ़र्म में पन्द्रह सौ रुपये महावार पर नौकर रख लिया. अलमास की माँ ने उन्हें अपने यहाँ दावत पर बुलाया और अलमास से मुलाकातें अपने आप ही होने लगीं. मगर फिर भी 'लड़के' ने 'लड़की' के सिलसिले में थोड़ी भी गर्मजोशी नहीं दिखायी. दफ़्तर से लौटकर ज़्यादा वक़्त उन्हें अलमास के यहाँ गुज़ारना पड़ता और उस लड़की की सतही बात से उकता कर वह उस सुहावनी बालकनी में खड़े हो जाते जिसका रुख़ समन्दर की ओर था. फिर वह सोचते—एक दिन 'उस' का जहाज़ इस साहिल से आकर लगेगा. वह बालकनी के जंगले पर झुककर आसमान के किनारों को ताकते रहते. अलमास अन्दर से निकलकर शगुफ़्तगी (कोमलता) से उनके कन्धे पर हाथ रखकर पूछती, "क्या सोच रहे हैं ?" वह थोड़े झेंपकर मुस्करा देते.

रात के खाने पर अलमास के वालिद के साथ देश की राजनीति से सम्बन्धित हाईफिनान्स पर बातचीत करने के बाद वह थके-हारे अपने कमरे में पहुँचते और वायलिन निकालकर वह धुनें बजाने लगते जो 'उसकी' संगत में पेरिस में बजाया करते थे. वह दोनों एक दूसरे को हर तीसरे दिन ख़त लिखा करते थे और पिछले ख़त में उन्होंने उसे इत्तिला दी थी कि उन्हें बम्बई में बड़ी उम्दा नौकरी मिल गयी है. इस नौकरी के साथ जो खौफ़नाक साजिशें हुई थीं उनका ज़िक्र उन्होंने ख़त में नहीं किया था.

एक बरस बीत गया मगर उन्होंने अलमास से शादी का कोई इरादा ज़ाहिर नहीं किया. आखिर बेगम उस्मानी ने तय किया कि ख़ुद ही उनसे साफ़-साफ़ बात कर लेना अब ऐन मुनासिब है. मगर तभी प्रतापगढ़ से तार आया कि ख़ुर्शीद आलम के वालिद सख़्त बीमार हैं और वह छुट्टी लेकर अपने देस रवाना हो गये.

उनको प्रतापगढ़ गये कुछ ही दिन बीते थे कि अलमास, जो अब उनकी तरफ़ से नाउम्मीद हो गयी थी, एक शाम अपनी सहेलियों के साथ एक जर्मन पियानिस्ट का कन्सर्ट सुनने ताजमहल गयी. क्रिस्टल रूम में आमतौर से बूढ़े पारसियों और पारसिनों का जमघट था और बहुत ही ख़ूबसूरत आँखों वाली पारसी लड़की कन्सर्ट का प्रोग्राम बाँटती फिर रही थी. एक शनासा खातून (परिचित औरत) ने अलमास का तअर्रुफ़ (परिचय) उस लड़की से कराया—"मिस पेरोजा जहाँगीर दस्तूर" और खुद आगे चली गयी.

अलमास ने अपनी आदत के अनुसार बड़ी तीखी नज़रों से उस अजनबी लड़की का जायज़ा लिया. लड़की बहुत ही ख़ूबसूरत थी.

"आपका क्या नाम बतलाया मिसेज़ रुस्तम जी ने ?" अलमास ने उससे पूछा.

"पेरोजा दस्तूर." लड़की ने सादगी से जवाब दिया.

"मैंने आपको पहले किसी कन्सर्ट में नहीं देखा."

"मैं सात वर्ष बाद पिछले सप्ताह ही पेरिस से वापस आयी हूँ."

"सात बरस पेरिस में ! तब तो आफ फ्रेंच खूब फ़र-फ़र बोलती होंगी." अलमास ने थोड़ी नागवारी से कहा.

"जी हाँ– !" पेरोजा हँसने लगी.

अब ख़ास-ख़ास मेहमान जर्मन प्यानिस्ट के साथ सी-लाउंज की ओर बढ़ रहे थे. पेरोजा अलमास से मो'ज़रत चाहकर एक अंग्रेज़ औरत से उस प्यानिस्ट के मौशिक़ी पर टेक्नीकल क़िस्म का तबसरा करने में व्यस्त हो गयी. लेकिन सी-लाउंज में पहुँचकर अलमास फिर उस लड़की से टकरा गयी. कमरे में चाय की गहमा-गहमी शुरू हो चुकी थी.

"आइए यहाँ बैठ जायें." पेरोजा ने मुस्कुराकर अलमास से कहा. वह दोनों खिड़की से लगी हुई एक मेज़ पर आमने-सामने बैठ गयीं.

"आप तो वेस्टर्न म्यूज़िक की एक्सपर्ट मालूम होती हैं." अलमास ने ज़रा रुखाई से बात शुरू की, क्योंकि वह ख़ूबसूरत और कम उम्र की लड़कियों को हर्गिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकती थी.

"जी हाँ, मैं पेरिस प्यानो की आला तालीम के लिए ही गयी थी."

"मैंने पूछा क्या नाम है उन साहब का ?" अलमास की तीखी आवाज़ पर वह चौंकी !

"ख़ुर्शीद आलम." उसने जवाब दिया. कुछ देर की खामोशी के बाद उसने घबराकर नज़रें उठायीं. काली साड़ी पहने, कमर पर हाथ रखे, काले ऊँट की तरह उसके सामने खड़ी अलमास उससे कह रही थी–"कैसा अजीब इत्तिफ़ाक़ है पेरोजा डियर ! मेरे मंगेतर का नाम भी ख़ुर्शीद आलम है, वह भी वायलिन बजाते हैं, वह भी पेरिस से आये हैं और इन दिनों अपने वालिद से मिलने वतन गये हुए हैं."

अलमास के मन में कहीं दूर ख़तरे की घंटी बजी. उसने बाहर समन्दर की शफ़्फ़ाक नीली सतह पर नज़र डालकर फ़ौरन बड़ी अख़लाक और बेतकल्लुफी से कहा, "हाउ इन्टरेस्टिंग. प्यानो हमारे यहाँ भी है. किसी दिन आकर कुछ सुनाओ."

"ज़रूर–" पेरोजा ने ख़ुशी से जवाब दिया.

"सनीचर के दिन क्या प्रोग्राम है तुम्हारा ? मैं अपने यहाँ एक हेन-पार्टी (Hen Party) कर रहीं हूँ. सहेलियाँ तुमसे मिलकर बहुत खुश होंगी."

"आई वुड लव टू कम–थैंक यू."

"तुम रहती कहाँ हो पेरोजा ?"

पेरोजा ने तारदेव की गली का एक पता बताया. अलमास ने ज़रा इतमीनान की साँस ली. तारदेव फटीचर पारसियों का मुहल्ला है.

"मैं अपने चाचा के साथ रहती हूँ. मेरे वाल्दियान का इंतक़ाल हो चुका है, मेरे कोई भाई, बहन भी नहीं, चाचा-चाची ने पाला है. वो बेऔलाद हैं. चाचा सेंट्रल बैंक में क्लर्क हैं." पेरोजा सादगी से कहती रही. फिर इधर-उधर की चंद बातों के बाद समन्दर के पुरसुकून सतह को देखते हुए उसने अचानक कहा, "कैसी अजीब बात है. पिछले हफ़्ते जब मेरा जहाज़ इस साहिल की तरफ़ बढ़ रहा था तो मैं सोच रही थी कि इतने दिनों बाद अजनबियों की तरह वापस बम्बई पहुँच रही हूँ, यह बड़ा कठोर शहर है. तुमको तो मालूम ही होगा अलमास–? सच्चे दोस्त यहाँ बहुत मुश्किल ही से मिलते हैं. मगर मेरी ख़ुश-क़िस्मती देखो कि आज ही तुमसे मुलाक़ात हो गयी."

अलमास ने दुख के साथ सिर हिलाया. सी-लाउंज में बातों की धीमी-धीमी भनभनाहट हो रही थी. चंद लम्हों के बाद उसने पूछा, "तुम पेरिस कैसे गयीं ?"

"मुझे स्कॉलरशिप मिल गया था. वहाँ प्यानो की डिग्री लेने के बाद कुछ साल तक एक म्यूज़िक कॉलेज में रिसर्च करती रही. मैं वहाँ बहुत ख़ुश थी मगर मेरे चाचा-चाची यहाँ एकदम अकेले थे. वह दोनों बहुत बूढ़े हो चुके हैं. चाची बेचारी तो बुढ़ापे की वजह से बिलकुल बहरी हो गयी हैं. उनकी ख़ातिर वापस आ गयी और इसके अलावा...."

"हेलो अलमास ! तुम यहाँ बैठी हो ! चलो जल्दी मिसेज मलगांवकर तुमको बुला रही हैं." एक औरत ने मेज़ के पास आकर कहा. पेरोजा की बात अधूरी रह गयी.

"सनीचर को सुबह ग्यारह बजे कार भेज दूँगी." अलमास ने कहा और मोज़रत (क्षमा) चाहकर मेज़ से उठकर मेहमानों की भीड़ में खो गयी.

सनीचर के रोज़ पेरोजा अलमास के घर पहुँची, जहाँ मुर्गियों की पार्टी अपनी चरम सीमा पर थी. बेटिल्ज़ के रिकार्ड बज रहे थे. कुछ लड़कियाँ जिन्होंने चन्द रोज़ पहले एक फ़ैशन शो में हिस्सा लिया था, ज़ोर-शोर से उसके वाक़यात पर तबसरा कर रही थीं. यह सभी लड़कियाँ जिनकी मातृभाषा उर्दू, हिन्दी, गुजराती और मराठी थीं, सिर्फ़ अंग्रेज़ी बोल रही थीं, और उन्होंने चुस्त पतलूनें या 'इस्ट्रेच पैन्ट्स' पहन रखी थीं. पेरोजा को एक लम्हे के लिए महसूस हुआ कि वह अभी हिन्दुस्तान वापस नहीं आयी है. उसका अपना फिरक़ा (सम्प्रदाय) बेहद पश्चिम का नक़्क़ाल है. मगर बरसों यूरोप में रहकर उसे मालूम हो चुका था कि अजन्ता की ज़िन्दा तस्वीरों की बजाय इन पश्चिम की नक़्क़ाल हिन्दुस्तानी औरतों को देखकर यूरोप वालों को सख़्त अफ़सोस और मायूसी होती है. इसीलिए पेरोजा जहाँगीर दस्तूर पेरिस और रोम में अपनी ठेठ हिन्दुस्तानी वेश-भूषा पर बड़ा गर्व करती. बम्बई की उन नक़ली अमरीकन लड़कियों से वह ऊबकर बालकनी में जा खड़ी हुई, जिसके सामने समन्दर था तो बग़ल में बुर्जे खामोशां का जंगल नज़र आ रहा था. वह चौंक उठी, घने जंगल के ऊपर खुली फिजाओं में कुछ गिद्ध और कौवे मंडरा रहे थे और चारों तरफ़ बड़ा डरावना सन्नाटा छाया था. वह घबराकर वापस पलटी और ज़िन्दगी से गूँजते हुए कमरे में आकर एक सोफ़े पर टिक गयी.

कमरे के एक कोने में शायद सजावट के तौर पर स्टेन वे का ग्रेन्ड प्यानो रखा हुआ था. लड़कियाँ अब रेडियोग्राम पर हेरी बेला फोण्ट का पुराना 'जमिका फेयरवेल' बजा रही थीं. गायिका की दिलकश आवाज़ गिटार की जानलेवा गूँज के साथ-साथ कमरे में फैलने लगी.

डाउन द वे ह्वेयर द नाइट्स आर गे
एंड द सन साइन्स डेली ऑन द माउंटेन टॉप
आई टूक ए ट्रीप ऑन सेलिंग शीप
एंड ह्वेन आई रिच्ड जामाएका आई मेड ए स्टॉप
बट आई एम सैड टु स आई एम ऑन माई वे एंड
वोन्ट बेक फॉर मेनी ए डे
माई हट इस डाउन, माई हेड इज टर्निंग एराउंड
आई हैड टू लिव ए लिटिल गर्ल इन किंगसन टाउन.

अलमास चुपचाप जाकर बालकनी में खड़ी हो गयी. रिकार्ड ख़त्म हुआ

तो उसने अन्दर आकर पेरोजा से कहा, "हम लोग सख़्त बदमज़ाक हैं. एक माहिर प्यानिस्ट यहाँ बैठी हैं और हम रिकार्ड बजा रहे हैं ! चलो भाई–उठो–"

पेरोजा मुस्कुराते हुए प्यानो के स्टूल पर बैठ गयी.

"क्या सुनाऊँ ? मैं तो सिर्फ़ क्लासीकल म्यूज़िक ही बजाती हूँ."

"हाय, पॉप नहीं ?" लड़कियों ने शोर मचाया.

"अच्छा कोई इंडियन फिल्म साँग बजाओ."

"फिल्म सांग भी मुझे नहीं आते–मगर–एक ग़ज़ल याद है जो मुझे–जो मुझे..." वह झेंपकर ठिठक गयी.

"ग़ज़ल–? ओह ! आई लव उर्दू पोयेटरी." एक मुसलमान लड़की ने जिसके माँ-बाप अहले-ज़बान थे बड़े सरपरस्ताना अन्दाज़ में कहा.

पेरोजा ने पर्दों पर अंगुलियाँ फेरीं और उसे एक अनजानी मस्त फुरेरी-सी आयी. फिर उसने आहिस्ता-आहिस्ता एक दिलकश धुन बजानी शुरू की.

"गाओ भी साथ साथ." लड़कियाँ चिल्लायीं.

"भई मैं गा नहीं सकती. मेरा उर्दू तलफ़्फ़ुज़ बहुत ख़ौफ़नाक है."

"अच्छा उसके अलफ़ाज़ बता दो हम लोग गायेंगे."

"वह कुछ इस तरह है." पेरोजा ने कहा–

"तू सामने है अपने बतला कि तू कहाँ है
किस तरह तुझको देखूँ नज़्ज़ारा दरमियाँ है"

कुछ लड़कियों ने साथ-साथ गाना शुरू कर दिया–"नज़्ज़ारा दरमियाँ है–नज़्ज़ारा दरमियाँ है."

ग़ज़ल ख़त्म हुई. तालियाँ बजीं.

"अब कोई वेस्टर्न चीज़ बजाओ." एक लड़की ने फरमाइश की.

"शोपां की मैडंज फैंसी बजाऊँ ? यह नग़मा मैं और मेरा मंगेतर हमेशा इकट्ठे बजाते थे पेरिस में. वह वायलिन पर मेरी संगत करते थे !"

"तुम्हारे मंगेतर भी म्यूज़ीशियन हैं ?" एक लड़की ने पूछा.

"प्रोफेशनल नहीं. शौक़िया." पेरोजा ने जवाब दिया और नग़मा बजाने में खो गयी.

अगले दो सप्ताह में अलमास ने पेरोजा से बड़ी पक्की दोस्ती गाँठ ली. इस दौरान में पेरोजा को एक कॉनवेंट कॉलेज में प्यानो सिखाने की नौकरी मिल गयी जो छुट्टियों के बाद खुलने वाला था. हफ़्ते में तीन बार एक अमरीकन की दस साल की लड़की को प्यानो सिखाने का ट्यूशन भी उसे मिल गया था. अमरीकन की बीवी का हाल ही में इंतकाल हुआ था और वह अपना ग़म भुलाने के लिए अपने बच्चों के साथ भ्रमण के लिए हिन्दुस्तान आया हुआ था और जो होसन एंड सन्स में ठहरा हुआ था. तारदेव से जुहू तक का सफ़र बहुत लम्बा था मगर अमरीकन पेरोजा को अच्छी तनख़्वाह देने वाला था और बड़े प्यार से मिलता था. पेरोजा अपनी ज़िन्दगी से फ़िलहाल ख़ुश थी. कुछ दिन बाद 'वह' अपने वतन से वापस आने वाला था. पेरोजा ने बम्बई आते ही उसे नौकरी और ट्यूशन की ख़बर नहीं दी थी कि वह 'उसे' एक अचानक 'सरप्राइज़' देना चाहती थी.

एक रोज़ वह अलमास के साथ उसकी कोठी के बाग़ में टहल रही थी, कि फ़व्वारे पर पहुँचकर अलमास ने उससे अचानक सवाल किया, "तुमने वह ग़ज़ल कहाँ सीखीं थी ? वही जो तुम उस दिन गा रही थीं ?"

"ओह–वह ? पेरिस में !"

"पेरिस. हाउ इनटरेस्टिंग ! किसने सिखायी ?"

"मेरे मंगेतर ने."

"ओह पेरोजा–यू डार्क हॉर्स. चार सौ बीस ! मुझको बताया भी नहीं अब तक."

"तुम्हारी ही कम्युनिटी के हैं वह."

"ओह–सच." अलमास फव्वारे की मुंडेर पर बैठ गयी.

"मेरे बाप-दादा दस्तूर थे. मगर मेरे चाचा बहुत रौशन ख़याल हैं. उन्होंने इजाज़त दे दी है."

"क्या नाम है साहबज़ादे का ?"

यह नामों का भी अजीब किस्सा था. खुर्शीद आलम उसकी नर्गिसी आँखों पर आशिक हुए थे. जब पेरिस में हिन्दुस्तानी दूतावास की एक उत्सव में पहली बार मुलाक़ात हुई और किसी ने उसका परिचय 'पेरोजा' कहकर कराया तो उन्होंने शरारत से कहा था, "लेकिन आपका नाम नर्गिस होना चाहिए था."

"ओह–नर्गिस ? नर्गिस तो मेरी आन्टी का नाम है."

"लाहौल वला कूव्वत–!" खुर्शीद ने बेतकल्लुफ़ी से कहा जैसे उसे सदा से जानते हों–"नर्गिस, खुरशीट, पेरोजा. आप लोगों ने हसीन ईरानी नामों की क्या रेड़ मारी है. मैं आपको फ़िरोज़ा पुकारूँ तो आपको कोई ऐजराज़ है ?"

"हर्गिज़ नहीं." पेरोजा ने हँसकर जवाब दिया था–और फिर एक बार खुर्शीद आलम ने नदी के किनारे टहलते हुए उससे कहा था, "यह तुम्हारी बहादुर आँखें–हफ़्त-ज़बान (सात ज़ुबानों वाली) आँखें, जुगनू ऐसी शंहाबे साक़िब ऐसी, हीरे-जवाहरत ऐसी, रौशन धूप और झिलमिलाती बारिश ऐसी. नर्गिस के फूल जो तुम्हारी आँखों में तब्दील हो गये हैं."

"मैंने पूछा क्या नाम है उन साहब का ?" अलमास की तीखी आवाज़ पर वह चौंकी.

"खुर्शीद आलम." उसने जवाब दिया. कुछ देर की खामोशी के बाद उसने घबराकर नज़रें उठायीं. काली साड़ी पहने, कमर पर हाथ रखे, काले ऊँट की तरह उसके सामने खड़ी अलमास उससे कह रही थी–"कैसा अजीब इत्तिफ़ाक़ है पेरोजा डियर ! मेरे मंगेतर का नाम भी खुर्शीद आलम है, वह भी वायलिन बजाते हैं, वह भी पेरिस से आये हैं और इन दिनों अपने वालिद से मिलने वतन गये हुए हैं."

अगस्त के आसमान पर ज़ोर से बिजली चमकी मगर किसी ने

नहीं देखा वह कड़कती हुई बिजली पेरोजा दस्तूर पर आकर गिर गयी. वह कुछ देर तक ख़ामोश बैठी रही, फिर उसने आलीशान महल पर नज़र डाली और अपने तारदेव के अँधेरे फ्लैट की कल्पना की. बिजली फिर चमकी और मालाबार हिल के उस मंज़र को रौशन कर गयी. एक पल में सारी बात पेरोजा की समझ में आ गयी, और यह भी कि अपने ख़तों में ख़ुर्शीद आलम ने इसका ज़िक्र क्यों नहीं किया था, और कुछ समय से शादी की बात को वह अपने ख़तों में किस वज़ह से टाल रहे थे. वह आहिस्ता से उठी और उसने आहिस्ता से कहा, "अच्छा भई अलमास, मंगनी मुबारक हो. खुदा हाफ़िज़."

"जा रही हो पेरोजा ? ठहरो, मेरी कार तुमको छोड़ आयेगी— ड्राइवर !" अलमास ने सुकून के साथ आवाज़ दी.

"नहीं अलमास—शुक्रिया." वह तक़रीबन भागते हुए फाटक से निकली. सड़क की दूसरी तरफ़ उसी वक़्त बस आकर रुकी थी, वह फुर्ती से सड़क पार करके बस में चढ़ गयी.

फ़व्वारे के पास खड़ी अलमास फाटक की तरफ़ देखती रही. बारिश की ज़ोरदार बौछार ने पाम के पेड़ों को झुका-झुका दिया था. वह जल्दी से क़दम उठाती कीचड़ से बचती बरसाती के अन्दर चली गयी.

इस घटना के तीसरे रोज़ ख़ुर्शीद आलम का ख़त अलमास के वालिद के नाम आया. जिसमें उन्होंने अपने अब्बा मियां की सख़्त बीमारी के कारण छुट्टी की मियाद बढ़ाने की दरख़्वास्त की थी. उन्होंने अलमास के वालिद को यह नहीं लिखा, कि इस ख़बर से उनका इकलौता लड़का किसी मुसलमान रईसज़ादी के बजाय एक ग़रीब पारसिन से शादी कर रहा है. उनके कट्टर मज़हबी अब्बाजान सदमे से जां बलब हो चुके हैं. ख़ुर्शीद आलम के ख़त से साफ़ झलकता था कि वह बेहद परेशान है. जवाब में अलमास ने ख़ुद उन्हें लिखा—

"आप जितने दिन चाहें वहाँ रहिए. डैडी आपको ग़ैर तो नहीं समझते. हम सब आपकी परेशानी में शरीक हैं. आप अब्बा मियाँ को इलाज के लिए यहाँ क्यों नहीं ले आते."

"सिर्फ ख़बर के लिए—कल मैं स्वीमिंग के लिए सन एंड सैन्ड गयी थी. वहाँ एक बड़ी दिलचस्प पारसिन मिस पेरोजा दस्तूर से मुलाक़ात हुई जो प्यानो बजाती है और पेरिस से आयी है, और शायद किसी अमरीकन की गर्लफ्रेंड है और शायद उसी के साथ सन एंड सैन्ड में ठहरी हुई है. मैंने आपको इसलिए लिखा है कि शायद आप भी उससे कभी मिले हों पेरिस में.

अच्छा अब आप अब्बा मियाँ को लेकर आ जाइये. तार दीजिए ताकि यहाँ ब्रीच कैन्डी अस्पताल में उनके लिए कमरा रिजर्व कर लिया जाये.

आपकी मुख़लिस अलमास"

शाम होते ही तारदेव की एक खस्ताहाल इमारत के सामने एक टैक्सी आकर रुकी और ख़ुर्शीद आलम बाहर उतरे. जेब से नोटबुक निकालकर उन्होंने पते पर नज़र डाली और इमारत के सड़क से सटे हुए बरामदे की धँसी हुई सीढ़ी पर क़दम रखा. सामने दरवाज़े पर चूने से जो 'चोक' सुबह बनाया गया था वह अब तक मौजूद था. अन्दर नीमअँधेरे कमरे के सिरे पर खिड़की में एक बूढ़ा पारसी सदरा और मैली सफेद पतलून पहने, सिर पर गोल टोपी ओढ़े, कमर में बँधी कसटी (डोरी) खोलकर उसमें गिरहें लगाते हुए, ज़ेरेलब (धीमी आवाज में) दुआएँ पढ़ रहा था. एक ओर मैली-सी आरामकुर्सी पड़ी थी. बीच वाली मेज़ पर रंगीन मोमजामा बिछा था. दीवार पर ज़रतुश्त (ईरानी पैगम्बर) की बड़ी-सी तस्वीर लगी थी. कमरे में नारियल और मछली की तेज बास उमड़ रही थी. एक बूढ़ी पारसिन सुर्ख़ जॉर्जट की साड़ी पहने, सर पर रूमाल बाँधे मुंडी हिलाती अन्दर से निकली.

"मिस दस्तूर हैं ?"

"पेरोजा ?" पारसिन ने धुंधली आँखों से ख़ुर्शीद आलम को देखते हुए जवाब दिया—"जुहू गयी—सन एंड सैन्ड."

"क्या ? क्या, मिस दस्तूर सन एंड सैन्ड में चली गयी हैं ?"

बहरी बुढ़िया ने हिमायत में सिर हिलाया.

"किसके...किसके साथ ?" ख़ुर्शीद आलम ने हकलाकर पूछा.

बुढ़िया फ़ौरन अन्दर गयी और एक विज़िटिंग कार्ड लाकर ख़ुर्शीद आलम की हथेली पर रख दिया. कार्ड पर किसी अमरीकन का नाम लिखा था !

"तुम मिस्टर ख़ुर्शीद आलम हो ? पेरोजा ने कहा था कि तुम आने वाले हो. अगर उसे ढूँढ़ते हुए यहाँ आओ तो मैं तुरन्त उसको जुहू फोन कर दूँ और तुमको यह न बताऊँ कि वह कहाँ गयी है !"

उसने ब्लाउज़ की जेब से पच्चीस पैसे निकाले.

ख़ुर्शीद आलम ने हक्का-बक्का होकर बुढ़िया को देखा.

"आपको इस सूरते-हाल पर कोई एतराज़ नहीं ?"

बहरी बुढ़िया ने नहीं में सिर हिलाया—"हम बहुत ग़रीब लोग हैं. मगर अब पेरोजा को एक अमरीकन..." अचानक मिसेज़ दस्तूर को याद आया कि उन्होंने मेहमान को अन्दर बुलाया ही नहीं और उन्होंने पीठ झुकाकर कहा, "आओ—अन्दर आ जाओ."

ख़ुर्शीद आलम मौन बने खड़े रहे, फिर तेज़ी से पलटकर टैक्सी में जा बैठे.

"बाइ-बाइ." बूढ़ी ने हाथ हिलाया.

बूढ़ा पारसी दुआ ख़त्म करके बाहर लपका, मगर टैक्सी आगे जा चुकी थी.

जिस दिन अलमास और ख़ुर्शीद आलम की मंगनी की दावत थी ऐसी टूटकर बारिश हुई कि जल-थल एक हो गये. डिनर से थोड़ा पहले बारिश थमी और अलमास के वालिद के दोस्त डाक्टर सिद्दीकी, जो हाल ही में तबदील होकर बम्बई आये थे, बालकनी में जा खड़े हुए, जिसके कुछ दूर कब्रिस्तान का अँधेरा था. जंगल भीगी हवा में साँय-साँय कर रहा था. अन्दर ड्राइंग रूम में मेहमानों के क़हक़हे गूँज रहे थे और ग्रेन्ड प्यानो पर रखे हुए चाँदी के शमादान में मोमबत्तियाँ झिलमिला रही थीं. बड़ा सख़्त रोमांटिक और मस्ती भरा वक़्त था. इतने में गैलरी में टेलीफोन की घंटी बजी. एक नौकर ने अन्दर आकर अलमास से कहा, "ख़ुर्शीद साहब के लिए फोन आया है." दुल्हन बनी अलमास लपक कर फोन पर पहुँची. एक लोकल अस्पताल की एक नर्स परेशान आवाज़ में पूछ रही थी, "क्या मिस्टर आलम वहाँ मौजूद हैं ?"

"आप बतायें आपको मिस्टर आलम से क्या काम है ?" अलमास ने सख़्ती से पूछा.

"मिस पेरोजा दस्तूर एक महीना से यहाँ सख़्त बीमार पड़ी हैं. आज उनकी हालत ज़्यादा नाज़ुक हो गयी है. उन्होंने कहलवाया है कि अगर चंद मिनट के लिए मिस्टर आलम यहाँ आ सकें."

"मिस्टर आलम यहाँ नहीं हैं."

"आर यू श्योर ?"

"यस आइ एम वेरी श्योर." अलमास ने गरजकर जवाब दिया—

"क्या आप समझती हैं मैं झूठ बोल रही हूँ ?" और खट से फोन बन्द कर दिया. और ज़रा सहमी-सहमी-सी मेहमानों में आकर शामिल हो गयीं.

दो घंटे बाद फिर फोन आया.

"डाक्टर सिद्दीक़ी आपकी कॉल." गैलरी में से किसी ने आवाज़ दी, "आपको फ़ौरन अस्पताल बुलाया गया है."

डाक्टर सिद्दीक़ी जल्दी से फोन पर गये. फिर उन्होंने अलमास को आवाज़ दी, "भई मुझे माफ़ करना. मुझे भागना पड़ रहा है."

अलमास दरवाज़े तक आयी, "कल आइयेगा. हम लोग वीक एंड के लिए पूना जा रहे हैं."

"ज़रूर—ज़रूर—गुडनाइट.' डाक्टर सिद्दीक़ी ने कहा और बाहर निकल गये.

ब्रीच कैन्डी अस्पताल से स्वस्थ होकर ख़ुर्शीद आलम के अब्बा मियाँ ख़ुश-ख़ुश प्रतापगढ़ वापस जा चुके थे. जब तक कम्बाला हिल वाला फ्लैट तैयार नहीं हुआ, जो दुल्हन को दहेज़ में मिला था, शादी के बाद दुल्हा मियाँ सुसराल ही में रहे. अकसर वह सुबह को दफ्तर जाने से पहले बालकनी में जा खड़े होते. नीचे पहाड़ी के घने बाग़ से गुज़रती बल खाती सड़क क़ब्रिस्तान की तरफ जाती थीं. कभी-कभी सफेद बुर्राक कपड़ों में लिपटे पारसी सफ़ेद रूमालों के ज़रिए एक दूसरे के हाथ थामे क़तार बनाये जनाज़ा उठाये दूर पहाड़ी पर चढ़ते नज़र आते. कौए और गिद्ध दरख़्तों पर इन्तज़ार में बैठे रहते. क़ब्रिस्तान के अहाते का फाटक दूर कैम्पस कॉर्नर पर खुलता था. फाटक पर एक झाड़-झंकाड़ दाढ़ी वाला भयानक बूढ़ा फूस पारसी दरबान शान्त बैठा रहता. सफेद साड़ियों और सफेद दग़लों में मलबूस शोगवार पारसी 'मय्यत चढ़ाने' के बाद हरी भरी पहाड़ी से उतरकर अपनी-अपनी मोटरों में बैठ जाते. फाटक के बाहर ज़िन्दगी का पुरजोश समुन्दर उसी तरह ठाठें मारता रहता. बराबर की इमारत पर एयर इंडिया के 'महाराजा' का इश्तिहार नित नये पुरलुत्फ़ अन्दाज़ में उन ज़िन्दा आदमियों को सारी दुनिया में फैले हुए एक से एक दिलचस्प शहरों तक का सफ़र करने की दावत देने में मसरूफ रहता.

'उस' ने एक बार ख़त में लिखा था—"ज़हन की हज़ारों आँखें हैं. दिल की आँख सिर्फ़ एक है. लेकिन जब मुहब्बत ख़त्म हो जाये तो सारी ज़िन्दगी ख़त्म हो जाती है."

समन्दर की मौज पल की पल में ख़त्म हो गयी. आसमान पर से गुज़रने वाले बादल फ़िज़ा में घुल-मिल गये. जब वह मरी होगी तो कौओं और गिद्धों ने उसका किस तरह स्वागत किया होगा ? उस तूफ़ानी रात अस्पताल के वार्ड से निकलकर उसकी रूह जब आसमान पर पहुँची होगी और आलमे-बाला (मौत के बाद जहाँ आत्माएँ पहुँचती हैं) के घुप अँधेरे में किसी दूसरी रूह ने उससे टकराकर पूछा होगा, "तुम कौन हो ?" तो उसने जवाब दिया होगा, "पता नहीं—मैं अभी तो मरी हूँ."

अब तक उसकी रूह कहाँ से कहाँ निकल गयी होगी—मरे हुए इंसान ज़्यादा तेज़ी से सफर करते हैं.

ताराबाई अपनी रौशन आँखों से साहब के घर की हर चीज़ को अरमान और हैरत से देखती है. वह साहब को हैरत से तका करती है. अलमास बेगम अब उम्मीद से हैं. बहुत जल्द ताराबाई का काम दुगना हो जायेगा.

क़ुर्रतुल ऐन हैदर

जन्म : 20 जनवरी 1926, अलीगढ़
शिक्षा : एम.ए. (अंग्रेज़ी) लखनऊ विश्वविद्यालय, जर्नलिज़्म
कृतियाँ : 'शीशे के घर', 'पतझड़ की आवाज़', 'रौशनी की रफ़्तार', 'सितारों से आगे' (कहानी-संग्रह); 'मेरे भी सनमख़ाने', 'सफ़ीन-ए-ग़मे दिल', 'आग का दरिया', 'आख़िरे शब के हमसफर', 'गर्दिशें रंगे चमन', 'चाँदनी बेग़म' (उपन्यास).
सम्मान एवं पुरस्कार : 1967 में 'पतझड़ की आवाज़' पर साहित्य अकादमी सम्मान, 1969 में सोवियत नेहरू सम्मान, 1990 में भारतीय ज्ञानपीठ सम्मान और दूसरे कई पुरस्कार.
सम्पर्क : जे-140 सेक्टर 25, नोएडा, उत्तर प्रदेश 201301

आज सुबह-सुबह आई स्पेशलिस्ट डाक्टर सिद्दीक़ी आये थे. जब ताराबाई चाय लेकर बरामदे में गयी तो वह चौंक पड़े और ख़ुशी से पूछा—"अरे तारादेई—तुम यहाँ काम कर रही हो ?"

"जी दागदर साहब." ताराबाई ने शरमाकर जवाब दिया.

"अब साफ़ सुझाई देता है ?"

"जी दागदर साहब—अब सब कुछ सुझाई देत है."

"गुड—" फिर वह मिस्टर और मिसेज़ ख़ुर्शीद आलम से मुख़ातिब हुए, "भई यह लड़की दस साल की उम्र में अन्धी हो गयी थी. मगर ख़ुशक़िस्मती से इसका अन्धापन वक़्ती साबित हुआ. तुम्हें याद है अलमास. तुम्हारी इंगेजमेंट पार्टी की रात मुझे अस्पताल भागना पड़ा था ? वहाँ एक ख़ातून मिस पेरोजा दस्तूर की मृत्यु हो गयी थी. उन्होंने मरने से कुछ दिन पहले अपनी आँखें आई-बैंक को डोनेट करने की वसीयत की थी. इसलिए उनके मरते ही फौरन मुझे बुलाया गया कि उनकी आँखों के डेले निकाल लूँ. बेहद नर्गिसी आँखें थीं बेचारी की. जाने कौन थी ग़रीब, एक बहरी भंड पारसिन पलंग के सिरहाने खड़ी बुरी तरह रोये जा रही थी. बड़ा दर्दनाक मंज़र था. ख़ैर, तो कुछ दिनों के बाद तारादेई का मामा इसे मेरे पास लाया. उसे किसी डाक्टर ने बताया था कि नया कोरनिया लगाने से इस बच्ची की रोशनी वापस आ सकती है. मैंने वही मिस दस्तूर की आँखें ज़ख़ीरे में से निकालकर इस लड़की की आँखों पर ग्राफ्ट कर दिया. देखो कैसी तारा जैसी आँखें हो गयीं इसकी. वाक़ई मेडीकल साइंस आजकल मोजज़े दिखा रही है."

डाक्टर सिद्दीक़ी ने बात ख़त्म करके इत्मीनान से सिगरेट जला लिया. मगर अलमास बेग़म का चेहरा भयानक हो गया है. ख़ुर्शीद आलम लड़खड़ाते हुए उठकर जैसे अंधों की तरह हवा में कुछ टटोलते हुए अपने कमरे में चले गये हैं. ताराबाई उनकी यह कैफ़ियत देखकर भागी-भागी अन्दर जाती है तो साहब पलटकर बावलों की तरह उसे तकने लगते हैं. ताराबाई की समझ में कुछ नहीं आता. वह बौखलायी हुई रसोई में जाकर बर्तन धोने में मसरूफ़ (व्यस्त) हो जाती है.

दूर बुर्जे ख़ामोशां पर गिद्ध और कौव मँडरा रहे, उसी तरह मँडरा रहे हैं.

काग़ा सब तन खाइयो चुन-चुन खाइयो मास
दोई नैनां जनि खइयो पिया मिलन की आस.

◆ कहानी ◆

घात

•

जोगिन्दर पाल

रात काफ़ी हो ली थी.

उनकी वैन महात्मा गाँधी मार्ग की चकाचौंध में से गुज़र रही थी कि जगत ने बायें बग़ल में एक अँधेरी-सी गली की ओर इशारा करके अपने छोटे भाई भगत से कहा, "उस गली में मोड़ लो."

"मेरी मानो तो धन्धे साले को अब कल पर छोड़ दो," माल की लगातार तलाश में उन्होंने दारू पीने के लिए भी दम नहीं लिया था, "वक़्त पर दवा भी नहीं पी, सारा बदन टूट रहा है."

"ठीक है, यह गली देख लेते हैं. यहाँ भी माल न मिला तो अगली सड़क पर पहले खा-पी लेंगे."

भगत गाड़ी गली में मोड़ने लगा, मगर दो नौजवान रास्ता रोककर नशे में खड़े-खड़े लड़खड़ा रहे थे.

भगत ने गाड़ी को झट ब्रेक लगा दिया और दोनों भाइयों ने उन्हें सुनने के लिए कान खड़े कर लिये.

"नहीं, इसी गली में चलेंगे," एक नौजवान दूसरे से ज़ोर देकर कह रहा था.

"नहीं, पीकर रौशनी में चलना अच्छा लगता है," वह अपने साथी का जवाब सुने बग़ैर आगे बढ़ गया और उसका साथी उसे गाली बकते हुए उसके पीछे.

भगत ने अपने भाई को एक अर्थपूर्ण कोहनी ठोंकी, परन्तु इससे पहले कि जगत उसे उनका पीछा करने की हिदायत करता, पहलू के सिनेमा घर की भीड़ छूटकर अचानक सड़क की पटरी पर निकल आयी और कई लोग उसी ओर क़दम उठाने लगे, जिधर वे दोनों नौजवान जा रहे थे.

"बड़ा सुनहरा मौका हाथ लगा था." जगत सोच रहा था कि क्या अब भी उनका पीछा करना मुनासिब होगा, "पर अब क्या कर सकते हैं ?"

"क्यों, अब भी—वह देखो—वह हमारी आँखों की मार से बाहर नहीं है."

"नहीं, अब तुम इस अँधेरी गली में ही गाड़ी ले जाओ. क़िस्मत में कमाई लिखी है तो करनी वाला यहाँ भी कुछ कर दिखायेगा."

"करनी वाला बेचारा क्या करे ?" भगत ने थरॉटल दबाकर गाड़ी काली गली में बढ़ा दी, "जब तुम आप ही कुछ नहीं कर सकते ?"

"आहिस्ता चलाओ."

"तुम सब-कुछ आहिस्ता ही करते हो, इस क़दर बेखटका कि समझ में आ जाने पर भूत-से बने समझ से बाहर ही खड़े रहते हो", भगत अपने सूखे होठों पर ज़ुबान फेरने लगा, "इसीलिए मैं तुम पर भरोसा नहीं करता."

"अच्छा, अब बोलो मत, और अपनी तरफ़ पटरी पर नज़र जमाये रखो. शायद कोई सोया पड़ा हो."

"कोई मिल भी गया तो कोई फ़ायदा नहीं. तुम जैसा ज्यादा सोचने वाला आदमी कुछ नहीं कर सकता..."

"सोचना पड़ता है, भगते !"

"नहीं, जगते, ग़लत काम सोचे बग़ैर ही हो जायें तो होते हैं—घड़ी वाला चौक कितना सुनसान पड़ा था और वो लड़का शराब-कबाब के लालच में आप-ही-आप हमारी गाड़ी में आ बैठा था..." सड़क पर पड़ा कोई कुत्ता वैन के नीचे आकर बेतहाशा चीख़ने लगा.

"हत् तेरे की ! अब इस हरामख़ोर को भी इसी वक़्त गाड़ी के नीचे आना था."

"घबराते क्यों हो, जगते ? कुत्तों की चीख़ों पर कौन अपनी नींद ख़राब करता है ?"

जगत की उकाबी आँखें किसी टार्च की तरह जलते हुए गली की दोनों पटरियों पर जमी हुई थीं कि शायद किसी कोने में कोई भिखारी-विखारी सोया पड़ा हो और वह उसे सोते में ही बेहोशी का टीका लगाकर अपनी गाड़ी में लाद ले. वह टीका लगाने में इतनी कुशलता प्राप्त कर चुका था कि सोये हुए को ज़्यादा-से-ज़्यादा यही लगे कि मच्छर ने काटा है और वह हाथ मारकर गहरी नींद में उतर जाये—और जागते हुए को ?—जागते में तो हर व्यक्ति चुपचाप दर्द से बिलबिला रहा होता है और बेहोशी का इंजेक्शन उसके लिए किसी वरदान से कम नहीं होता.

एक बार दूर पार के रिश्ते का एक भाई उन दोनों भाइयों के यहाँ आ फँसा था. कोई काला चोर था. चोरी का माल समेट कर कहीं गिर पड़ा था और कराहते हुए अपना ज़ख़्मी शरीर उनके दरवाज़े पर घसीट लाया था.

टीका तो जगत ने उसी बड़ी नेक नीयती से इसलिए लगाया था कि बेहोश होकर उसे अपने दर्द से ज़रा आराम मिल जाये, मगर उसके बेहोश होते ही वह उसे भाई की बजाय माल दिखाई देने लगा था. वह अपने-आप को बताने लगा था कि इतना बड़ा माल आप-ही-आप अपने-आपको हमारी जेबों में ठूँस रहा है तो हम साले क्या कोई महात्मा गाँधी हैं और...और फिर यह भी तो था कि जितनी मालियत का वह खुद आप था, उतना ही वह चुराकर अपने साथ ले आया था...

अपने भाई को सोचों में लटकते पाकर भगत का माथा ठनका था पर मामले की तह पर पहुँचकर उसने कहा था, "यार, तू है बड़ा बेरहमा, पर काम अगर करना है तो सोचे बग़ैर झट से कर दो."

जगत माल को बेहोश करता था और गोली भगत दागा करता था. चुनांचे अपने बड़े भाई का इशारा पाकर भगत ने अपना बेआवाज़ पिस्तौल निकाल लिया था और एक ही गोली से उनके रिश्ते के मामे
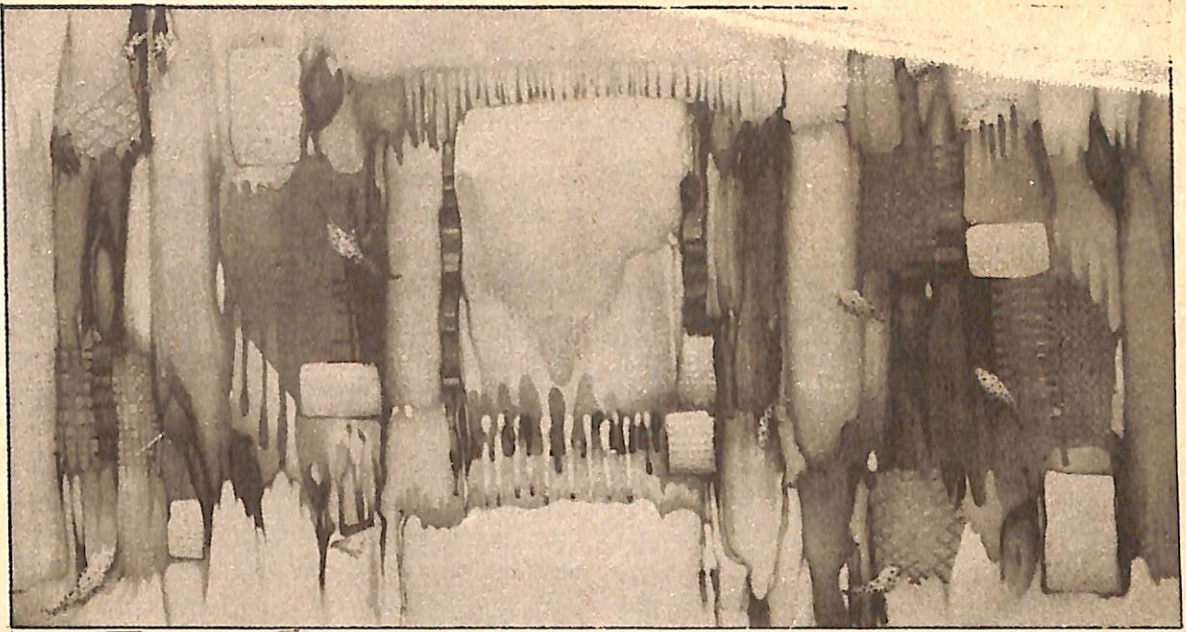
के बेटे की सहमी हुई आत्मा अपना बेहोश शरीर वहीं छोड़कर भाग खड़ी हुई थी.

"हा-हा-हा !...क्यों ?" भगत ने बाजी जीतकर अपने भाई की ओर प्रशंसा के लिए देखते हुए पूछा था.

"पर भगता, अपने ही खानदान का आदमी था."

"इसीलिए तो उस पर अपना हक़ था, जगते !"

"लो फिर मेरी भी ख़ैर नहीं, भगते. इस हिसाब से तो अपने सगे भाई पर तुम्हारा हक़ उससे भी ज़्यादा है," उसने घबराकर उससे कहा था,. "मुझे तो तुमसे डर लग रहा है, बाबा."

"हा-हा !. हा !..."

"ऊँघने लगे हो, जगते !" वे यथावत् अँधेरी गली में से गुज़र रहे थे कि भगत ने अपने बड़े भाई को चुप्पी साधे पाकर अपने ख़ून में न मालूम क्या साज़िश महसूस की, "अपने-आप को इंजेक्शन तो नहीं दे दिया ? ह...हा...!"

"नहीं !" जगत ने उसे परे धकेलकर भय से आँखें फैलाकर घूरा कि कहीं उसके भाई की नीयत—मगर वह हँस दिया, "आजकल हमारी क़िस्मत ही साथ नहीं दे रही."

"क़िस्मत तो साथ दे रही है, भाई", भगत ने गाड़ी के आगे बायें खटका-सा होने पर गति और कम कर दी, "ओ !...फिर कुत्ता है !. ..मैं पूछता हूँ जगते, गली के बाहर वे दोनों तुम्हारे मामे लगते थे, जो उन्हें जाने दिया ?"

"तुम्हारी जल्दबाज़ी एक दिन हमें सूली चढ़ा देगी," वह उसे समझाने लगा. "हमारे धन्धे में बड़ी होशियारी से काम करना पड़ता है, ऐसे कि मरने वाले को भी मरने से पहले अपनी मौत की ख़बर न हो."

"हा-हा-हा ! जो मर गया, उसे क्या हमारा स्वर्गीय बाप बतायेगा, तुम ज़िन्दा नहीं रहे ?"

"बस हमेशा अपनी ही हाँकते चले जाते हो..."

"इन शराबियों से पहले वह बेवकूफ़ छोकरा तो भूख से अन्धा होकर आप ही हमारी गाड़ी में आ बैठा था", भगत ने उसे याद दिलाया, "वह तो कह रहा था खिलाने-पिलाने का वादा करते हो तो जहाँ चाहो ले जाओ, मगर तुम ही बौख़लाकर बार-बार पूछे जा रहे थे, क्या तुम्हें डर नहीं लगता ?..."

"हाँ, यार, उसे सचमुच बिल्कुल डर नहीं लग रहा था. मुझे एकदम उस पर दया आने लगी."

"तुम सोच-सोचकर दया खाने वाले पाखंडी गुर्गे बड़े लोभी और ज़ालिम होते हो."

"तुम बहुत मुँहफट हो गये हो, भगते. किसी दिन सो रहे होगे तो सूए से तुम्हारा मुँह सी दूँगा."

"मैं पूछता हूँ, वह छोकरा क्यों डरता ? वह तुम्हें बता तो रहा था, मेरे पास अपने सिवा है ही क्या, जो डरूँ ?"

"हाँ भाई मेरे, पर ग़रीब बेचारा क्या जाने कि जब चाहे, अपने नंगे पिंडे के बीस-पच्चीस हज़ार नकद खरे कर ले ?"

"तुम मूर्ख हो भाई, माल खुद आप माल का मालिक नहीं होता—ह-हा !... माल का मालिक वह होता है जिसके हत्थे माल चढ़ जाये", भगत ने फैसला किया कि गाड़ी को थोड़ी देर एक तरफ़ रोक लिया जाय.

"खड़ी क्यों कर रहे हो ?"

"इसलिए कि इस अँधेरे में इस वक़्त तो अँधेरे के या हमारे सिवा कोई नहीं. शायद पाँच-दस मिनट में कोई क़िस्मत का मारा आ निकले," उसने गाड़ी एक तरफ़ खड़ी कर ली, "फिर यह भी है कि तुम सिर्फ़ अँधेरे में तीर चला सकते हो. अँधेरे से बाहर तो तुम्हारे हाथ पैर फूल जाते हैं." उसने जेब से सिगरेट निकालकर सुलगा ली, "मज़ा तो तब है कि सबके सामने अपना काम करो, और किसी को नज़र न आओ..."

"क्या तुम हमारे स्वर्गीय बाप के बारे में सोच रहे हो, जो सारा दिन अपनी दुकान पर बैठा किसी को नज़र न आता और ख़ाली हाथ घर लौट आता ?...क्या ?"

"नहीं, मैं तुम्हारे बारे में सोच रहा हूँ. वे दोनों शराबी नौजवान..."

"नहीं भगते, पहले मुझे ध्यान से सुन लो."

"तुम्हें बेध्यानी से सुनकर भी यह हाल है," उसने अपनी घड़ी

देखी, "कि रात के ग्यारह बजे तक कोई चिड़िया का बच्चा भी क़ाबू में नहीं आया..."

"पहली बात तो यह है कि वे दोनों चलती सड़क में थे, और दूसरी कि तुम्हारे वे इतने सारे बाप जो अचानक निकल आये थे..."

"देखो जगते, मुझे कुछ भी कह लो, मेरी माँ को गाली मत दो."

"मेरी भी वह कोई चाची-मामी तो न थी," जगत को अपने छोटे भाई पर गुस्सा आने लगा.

"नहीं, अकसर तुम मुझे अपने सगे भाई मालूम नहीं होते."

जगत अपने गुस्से पर क़ाबू पाने की कोशिश करने लगा, "तो क्या मालूम होता हूँ ?" उसके गुस्से में ख़ौफ़ घुलने लगा, "कोई शिकार ?"

"ह-हा-ह-हा !..."

"हँसो मत !"

"क्यों, क्या यहाँ सोये हुए कुत्ते-बिल्लियों से भी डर लग रहा है ?"

उसे कोई जवाब देने की बजाय जगत सड़क पर आगे-पीछे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा कि शायद कोई इधर-उधर से गली में निकल आया हो—वह !—वहाँ !

जगत अपने भाई को बिटबिट देखने लगा—भाई ही है, पर जिसके दिल ही न हो वह भाई क्या और न भाई क्या ?—क्यों न कभी किसी रहमदिल आदमी को गोली मारकर डॉक्टर को दे आऊँ ताकि वह उसका दिल भगते के सीने में फिट कर दे ?—या...या फिर भगते की ही गरम-गरम लाश किसी दिन डॉक्टर को सौंप आऊँ ?—नहीं, आख़िर भाई है—पर भाई भला अपने बड़े भाई से इस तरह पेश आता है ?

"भाई साहब, आपके पास माचिस है ?"

"हाँ"—या राहगीर ने शायद नहीं कहा है—या शायद वह जगत के तेवर भाँपकर भागने की सोच रहा है, मगर इतने में भगत ने उसकी पीठ से कूदकर उसे चित कर दिया और जगत ने उसके बाज़ू में फ़ौरन इंजेक्शन की सूई खुबो दी है और फिर वे दोनों अपने शिकार को घसीटकर वैन में ले आये और फिर—ठा !—

'ठा' की आवाज़ सुनकर जगत उछल पड़ा, "क्या तुमने अपने पिस्तौल का साइलैन्सर उतार रखा है ?"

"नहीं ! क्यों ?"

"कुछ नहीं", जगत ने देखा कि वो दोनों तो ज्यूँ के त्यूँ टाँगें पसारकर यहीं वैन की अगली सीट पर बैठे हुए हैं.

"ह-हा-हा !..." भगत एकदम कोई सोच आने पर हँसने लगा.

"अब क्या हुआ है ?"

"मुझे उस औरत का ख़याल आ गया है—क्या नाम था उसका ?...तुम उसे बहन-बहन कहकर पुचकारते रहे और मौका मिलते ही उसे बेहोश करके घर ले आये, मगर जब मैंने उसका टिकट काटने के लिए पिस्तौल निकाला तो तुम हाथ बाँधकर मेरी मिन्नत-समाजत करने लगे..." भगत ने अपने भाई की नक़ल उतार कर कहा, "नहीं, भगते, बड़ी स्वादी शै है, आज की रात मुझे चख लेने दो, सुबह तुम्हारी आँख खुलने से पहले फिर सुई चुभो दूँगा—"

"मगर तुम्हारे सिर ख़ून सवार हो जाये तो तुम सुनते थोड़े ही हो."

"तुम ही तो कहा करते हो, काम में सिर्फ़ काम !"

"वह भी तो तुम बिगाड़ देते हो", जगत को और इन्तज़ार से उलझन होने लगी, "चलो, अगली सड़क पर कहीं गाड़ी रोककर पहले कुछ खा-पी लेते हैं."

"हाँ, यह तो कोई बात हुई न !"

भगत ने गाड़ी आगे बढ़ा ली तो जगत सोचने लगा कि पिछले कई रोज़ से डॉक्टर को माल नहीं मिला. ऐसा ही होता रहा तो वह कब तक मुँह देखता रहेगा, और फिर मैं किससे मुट्ठियाँ भर-भर के मुर्दों के दाम वसूल करूँगा ? इसी डॉक्टर ने मुझे इंजेक्शन और सुइयाँ और भगत का पिस्तौल और पिस्तौल का साइलैन्सर और-और क्या नहीं, जो उपलब्ध नहीं कर रखा है. वैन का कर्ज़ भी मुझे डॉक्टर की गारंटी और सिफ़ारिश पर ही मिला है—तुम बस जी लगाकर काम करते रहो, जगतराम, मैं तुम्हें अपना घर बनाने के लिए कर्ज़ा भी दिलवाऊँगा, ताकि सारी उम्र आबरू और आराम से काट सको.

अपना घर होगा तो कितने आराम से बसर होगी. डॉक्टर जब मुर्दे की आँखें, गुर्दे, दिल और न जाने क्या-क्या निकालकर गोश्त और हड्डियों का तोदा-सा लौटा देता है तो हम दोनों उसे दफ़नाने के लिए भागते-फिरते हैं—अपना घर होगा तो मैं वहीं एक बहुत बड़ा कच्चा आँगन बनवा लूँगा.—बस एक ज़रा-सा गड्ढा खोदो और गोश्त और हड्डियों का तोदा उसमें फेंको और ऊपर वही खोदी हुई मिट्टी डाल दो और काम ख़त्म !...और फिर—आओ भगत, आज मैं बहुत खुश हूँ. आज जितनी चाहो पीओ—नहीं भगत, मुझे और मत दो. मैं आख़िरी दम तक होश में रहना चाहता हूँ—मगर आख़िरी दम तो उसी वक़्त बीत गया था जगत, जब हमने पहली लाश डॉक्टर के सुपुर्द की थी. अब होश कैसा ? लो, पीओ.

"अपने-आपको फिर इंजेक्शन लगा लिया है ?" भगत गाड़ी को गली से निकालकर बुद्ध मार्ग में ले आया था, "कोई अपने भाई की जान कैसे ले सकता है, जगते ? मगर किसी को—हाँ, तुम्हें भी इस तरह ग़ाफ़िल पाकर मेरी उँगलियाँ आप-ही-आप पिस्तौल को टटोलने लगती हैं—ह-हा-हा !...

"कभी कुछ कर बैठा तो मुझ पर इलज़ाम न धरना. ह-हा !—पर तुम होगे ही नहीं तो इलज़ाम कैसे धरोगे ?—ह-हा-हा !..."

जगत अपने भाई को बिटबिट देखने लगा—भाई ही है, पर जिसके दिल ही न हो वह भाई क्या और न भाई क्या ?—क्यों न कभी किसी रहमदिल आदमी को गोली मारकर डॉक्टर को दे आऊँ ताकि वह उसका दिल भगते के सीने में फिट कर दे ?—या...या फिर भगते की ही गरम-गरम लाश किसी दिन डॉक्टर को सौंप आऊँ ?—नहीं, आख़िर भाई है—पर भाई भला अपने बड़े भाई से इस तरह पेश आता है ?

"ह-ह-हा-हा !..."

जगत का जी चाहा कि अपने कहकहाते भाई का गला दबोच ले और उसके कहकहे वापस उसके पेट में लुढ़ककर जा फटें.

"मेरा ख़याल है जगते, भगवान बेचारे के पास अमरीकियों की तरह कोई स्पुतनिक नहीं, वरना जिन लोगों को हम ऊपर भेज चुके हैं, उनमें से कोई तो लौटकर हमारे गिरेबान पकड़ता."
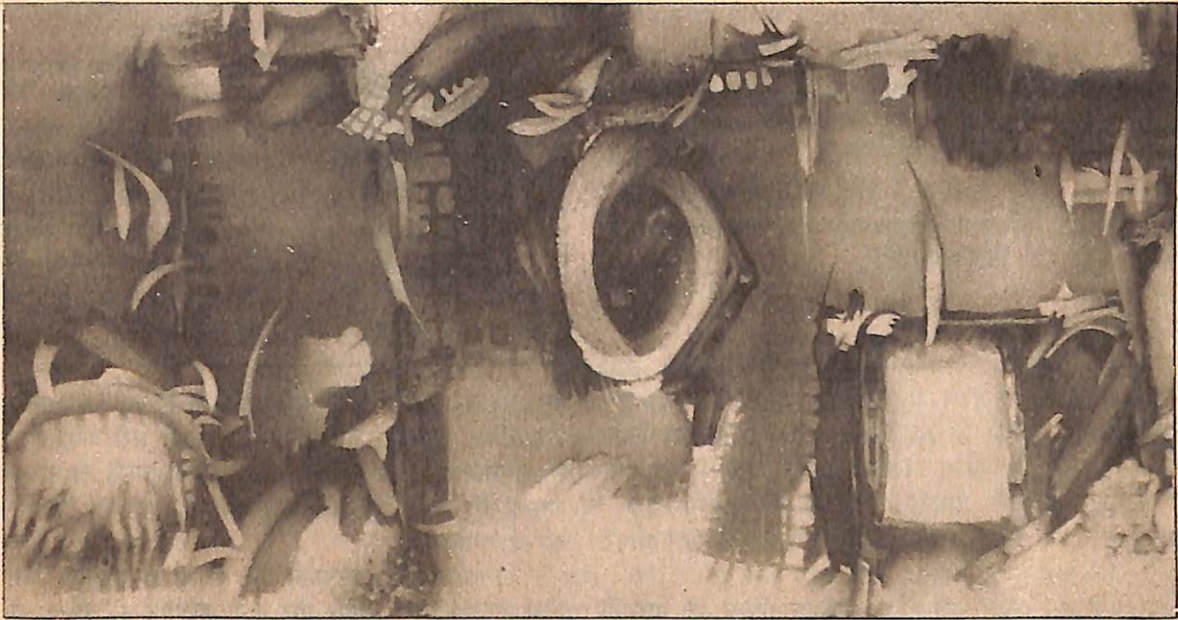
आधी रात होने में आ रही थी, मगर महात्मा बुद्ध अभी तक अपनी तीसरी आँख खोले हुए थे, जिसके कारण बुद्ध मार्ग उजाले में नहा रहा था और रैन के कर्मचारी अकेले या झुंडों में बँटकर इस तरह आ-जा रहे थे, जैसे सूरज निकलने पर काम पर निकले हुए हैं.

एक, दो, तीन, चार—भगत राहगीरों में से एक-एक को गिनने लगा और जगत की तरफ़ मुँह करके बोला, ''देखो, ढेरों माल है, ज़रा हिसाब करके बताओ, डॉक्टर से इन सबों का कितना पैसा वसूल हो सकता है—ह-हा !...मगर क्या फ़ायदा ? तुम तो एक ही सूई चुभोकर अपनी यार तृखी के कुंडी किवाड़ की तरफ़ निकल पड़ते हो...''

जगत हँस पड़ा.

''वो तो ठीक है, मगर सबके गुर्दे डॉक्टर के पास एकदम पहुँचाओगे कैसे ?'' जगत ने पूछा, ''वो तुम्हारी जोरू का यार साफ़ बता चुका है, लाश को उसी वक्त न ला सको तो मत लाओ. ज़रा भी देर हो जाये तो गुर्दे, आँखें, दिल—अंग-अंग मिट्टी हो जाता है.''

''जगते, ठोक-बजाकर कोई अच्छी-सी औरत देखो और अब मेरी शादी कर दो.''

''ऐसी कोई मिल जाये तो मैं खुद ही क्यों न उसे घर में डाल लूँ ?''

''हाँ, यह भी ठीक है, तुम्हारी क्या और मेरी क्या ?''

''नहीं, तुम्हारी, तुम्हारी और मेरी, मेरी.'' जगत ने उसे जवाब दिया, ''पर तुम भी कोई-न-कोई ढूँढ़ ज़रूर लो. इसीलिए कि तुम इतने ज़ालिम हो कि औरतों से दिल लुभाने की बजाय बस एक शराब चढ़ाये जाते हो.''

भगत ने किसी ठीक जगह पर पार्किंग ख़ाली पाकर तेज़ी से स्टीयरिंग उधर घुमा दिया और धचके से वैन वहाँ खड़ी कर दी.

''अब ?''

''अब, क्या ? पीछे जाकर ह्विस्की और खाना उठा लाओ.''

''पीछे ही क्यों न जा बैठें ?''

''हाँ, यही बेहतर है, चलो.''

वैन के पिछले हिस्से से सीटें हटा दी गयी थीं. नीचे फ़र्श पर ग़लीचा बिछा हुआ था और एक तरफ़ अलमारी-सा लकड़ी का ढाँचा जुड़ा हुआ था, जिसमें उन्होंने अपनी ज़रूरत की चीज़ें जमा रखी थीं; यही कुछ बर्तन, नमक, मिर्च, सॉस, शराब और सोडे की बोतलें, खाने का डिब्बा और फल वग़ैरह. ग़लीचे पर कोई लाश न बिछी होती तो कई बार इस चलते-फिरते मकान में उन दोनों में से एक यहीं आकर बिछ जाता और दूसरा ड्राइवर की सीट पर बैठ उसे मानो जहन्नुम पहुँचाने जा रहा होता.

जगत ग़लीचे पर आराम से बैठ गया और भगत उसके साथ बैठने से पहले अलमारी से ह्विस्की की बोतल, सोडा, खाने का डिब्बा और प्लेटें वग़ैरह निकालकर उसके सामने रखने लगा.

''ह-हा-ह—ह-हा-ह !...''

जगत अपने हाथ धोना रोककर उसकी तरफ़ देखने लगा, ''अब क्या हुआ ? तुम्हें कोई उलटी-सीधी सूझती है तो कहकहे छोड़ने लगते हो.''

''सूझना क्या है, भाई ? दुनिया हमें अकारण ग़रीब समझती है,'' वो प्लेटें और गिलास भी रखकर उसके साथ बैठ गया, ''जिस देश में लाखों की बेआयी मौतों पर भी करोड़ों बिन माँगे पैदा होते रहे, क्या वह अरब लोगों से भी अमीर न होगा ?''

''मगर ग़रीब तो हम हैं, भगते.''

''तुम मोटी बुद्धि के आदमी हो'', उसने गिलासों में बड़े-बड़े पटियाला पैग भरे और दाँतों से सोडे का ढकना खोलकर उन्हें ह्विस्की में मिलाने लगा, ''सिर्फ एक साल के लिए इस देश की हुकूमत मुझे सौंप दो...''

''चलो, सौंपी.''

''फिर देखो, कैसे मैं हर शख़्स को उसकी पूरी क़ीमत अदा करके उसे सीधे-सीधे उससे ख़रीद लेता हूँ और देश के सारे डॉक्टरों को बस इसी काम पर लगा देता हूँ कि इन्सानी ढाँचों को उसके सारे बिकाऊ पुर्जों से ख़ाली कर दें और उन्हें फ़र्स्ट क्लास पैकिंग में एक्सपोर्ट करते रहें. यूरोप और अमरीका में आदम के अंगों की मार्किट हमारी अनाज मंडियों से भी बड़ी हैं. देश की बेहतरी के लिए डॉलर पर डॉलर कमाते जाओ—चीयर्स !'' वह जल्दी-जल्दी अपना गिलास ख़ाली करके अपने लिए एक और पटियाला पैग तैयार करने लगा,

"क्यों कैसी कही ? हमारे लोग तो यूँ नहीं तो यूँ भी किसी महामारी, फ़साद, सैलाब या सूखे से मरते रहेंगे, फिर यूँ ही क्यों नहीं ? अपनी पूरी कीमत वसूल करके मरें और मरने के बाद भी मज़े से अमरीका और यूरोप वालों के पिंडों में देखें, धड़कें और मौज उड़ायें."

"चलो, अब ज़्यादा बातें नहीं बनाओ", जगत ने तय कर रखा था कि आज चाहे सारी रात भटकने में गुजर जाये, वह माल पर हाथ साफ़ किये बग़ैर दम न लेगा. "जल्दी से खा पी लो, रामतलाई के मोड़ों में ज़रूर कोई सोया पड़ा मिल जायेगा."

"ह-हा-ह !..."

"अब क्या ?..."

"रामतलाई में ही तो वह पगली गूँगी हमारे हाथ लगी थी—ह-हा-ह !...हम दोनों नशे में धुत थे—हाँ, और तो और, तुम भी !...उस पर गोली दाग़ देने के बाद हम उसे यहाँ ग़लीचे पर लिटा चुके थे और सारे काम से फ़ारिग होकर लाश के पहलू में बैठ गये थे कि थोड़ी और पीकर उसे डॉक्टर के हवाले कर आयेंगे—"

"हाँ, तुम्हारी बातों में आकर मैं अकसर बना-बनाया खेल चौपट कर देता हूँ."

"मेरी बातों में तुम कहाँ आते हो ? कोई दस मिनट के बाद ही तुमने अपनी रट शुरू कर दी थी—चलो, पहले लाश को डॉक्टर के हवाले कर आयें—अगर गरम-गरम ही तुम्हारे बाप के पास न पहुँचायी तो वह हमें ही गोली मारकर ऑपरेशन के कमरे में घसीट ले जायेगा..." भगत ने अपना गिलास ख़ाली करके मुँह में नमकीन भर लिया और क़हक़हा जो लगाना चाहा तो नमकीन मुँह से बाहर उछल आया. "...ह-हा-ह !...तुमने अपना लैक्चर अभी पूरा नहीं झाड़ा था कि गूँगी की लाश गूँ-गूँ चीख़ती हुई उठ खड़ी हुई थी और वैन के खुले दरवाज़े में से कूदकर दौड़ गयी थी"—वह अपना एक और गिलास तैयार करने लगा. "मेरी समझ में आज तक नहीं आ सका कि पगली पर न तुम्हारे इंजेक्शन ने काम किया न मेरी गोली ने ?" वह प्लेट से मुर्ग़ की एक टाँग उठाकर उसे भूखे कुत्ते की तरह दाँतों से नोचने लगा. "कैसे ?"

"कैसे क्या ? नशे में तुमने अपनी गोली हवा में चला दी होगी, और मैंने सूई उसके बाज़ू से निकालकर तीन-चौथाई दवा बाहर ख़ारिज कर दी होगी."

"मगर तुम तो बड़े अक्लमन्द बने फिरते हो."

"मगर रहता तो बेवकूफ़ के साथ हूँ."

"नहीं जगते, क़िस्सा यह है कि नशे में किसी को मारने को जी नहीं चाहता", उसने अपना गिलास फिर मुँह से लगा लिया, "तुम बहुत थोड़ी पीते हो, इसलिए जब भी सोचते हो, किसी की जान लेने ही की."

"चलो, अब पीना छोड़ो और खाना खाओ. हमें अभी रामतलाई जाना है."

"आराम से खाने-पीने दो, जगते, खाने-पीने के लिए तो काम करते हैं", उसने नान के एक बहुत बड़े नवाले में अंडों की भुर्जी लपेटकर मुँह भर लिया और गिलास को उठाने की सोचने लगा, "रामतलाई क्यों ? यहीं से किसी का मुँह बाँध के उसे वैन में घसीट लायेंगे."

"नहीं, कई बार बता चुका हूँ, हमारे काम के यही इक्का-दुक्का लोग हैं जो फुटपाथ पर सोते हैं और उन्हें उठा लें जायें तो उनका कहीं कोई इन्तज़ार नहीं करता."

"अरे ! फिर तो मैं भी तुम्हारे काम का हूँ. मेरा भी कौन कहाँ इन्तज़ार कर रहा है ?" उसने जल्दी से गिलास उठाकर ग़टग़ट ख़ाली कर दिया, "तुमसे कई दफ़ा कह चुका हूँ मेरी कहीं शादी करवा दो. मैं अपना घर बसाना चाहता हूँ, अपनी बीवी से बच्चे पैदा करना चाहता हूँ—नहीं, मैं अब किसी को मारना नहीं चाहता, सिर्फ़ पैदा करना चाहता हूँ."

भगत ने फिर अपना गिलास भरना चाहा, मगर जगत ने उसका हाथ पकड़ लिया, "नहीं, और नहीं, जल्दी से खाना खाओ. अभी सारा काम बाक़ी पड़ा है."

"काम-वाम कुछ नहीं. मैंने कहा न, यहीं से किसी को पकड़ लेंगे और डॉक्टर से कहेंगे, गरम-गरम लाश माँगते हो, लो अपने ही हाथ से गोली मारकर ले जाओ." वह अपना ख़ाली गिलास होठों पर उलटा कर मुँह में शराब के क़तरे टपकाने लगा, "अभी मेरा मन नहीं भरा."

"नहीं, हरगिज़ नहीं !" जगत अड़ गया.

मगर भगत ने उसकी परवाह न करते हुए गिलास में ह्विस्की उड़ेल ली.

"तुम जानते हो भगते, डॉक्टर क्या चाहता है ? उसने सख़्ती से कह रखा है जिसे भी लाओ बाहर से जान लेकर लाओ, मरना-मारना तुम्हारा काम है..."

"नहीं", भगत ने ह्विस्की में सोडा मिलाकर कई घूँट तेज़-तेज़ हलक़ से उतार लिये, "मैं अब किसी को नहीं मारूँगा. ओके ? यह धन्धा मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता—ओके ?"

"अच्छे की बुरी औलाद !" बड़े भाई को गुस्सा आने लगा, "तंग मत करो और उठो. आज भी माल सप्लाई न कर सके तो डॉक्टर हमारी छुट्टी कर देगा."

"बोल दिया ना, नहीं !...नहीं !"

बड़े भाई का पारा और चढ़ गया.

"चलो ! इसी दम उठो !"

"नहीं !"

"चलोगे या..."

"या क्या ?...मुझे भी सूई चुभो दोगे ?" नशे की हालत में भगत अपने बड़े भाई के पहलू में उलटा लेट गया, "हिम्मत हो तो चुभोओ !"

और आश्चर्य की बात है कि बड़े भाई ने दाँत पीसते हुए अपनी जेब से दवा से लबालब भरा हुआ सिरिंज निकाला और उसके बाज़ू में खुबोकर ख़ाली कर दिया.

अब क्या करूँ ?

मगर जो उसे करना था वह तो अनजाने में मस्तिष्क में तय पा चुका था.

जोगिन्दर पाल

जन्म : 1925 सियालकोट (पाकिस्तान)
शिक्षा : एम.ए. अंग्रेज़ी
कृतियाँ : 'खुला', 'खोदू बाबा का मक़बरा', 'कथा नगर', ख़्वाब रौ', 'नादीद' (उपन्यास) इनके अतिरिक्त लगभग 20 कहानियों के संकलन, अधिकतर कहानियों और उपन्यास के देशी और विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं.
पता : 204, मन्दाकिनी एन्क्लेव, नई दिल्ली

◆ कहानी ◆

पीतल का घंटा

क़ाजी अब्दुस्सत्तार

आठवीं मर्तबा हम सब मुसाफ़िरों ने लॉरी को धक्का दिया और ढकेलते हुए ख़ासी दूर तक चले गये. लेकिन इन्जन गुनगुनाया तक नहीं. ड्राइवर गर्दन हिलाता हुआ उतर पड़ा. कंडक्टर सड़क के किनारे एक दरख़्त की जड़ पर बैठकर बीड़ी सुलगाने लगा. मुसाफ़िरों की नज़रें गालियाँ देने लगीं और होंठ बड़बड़ाने लगे. मैं भी सड़क के किनारे सोचते हुए दूसरे पेड़ की जड़ पर बैठकर सिग्रेट बनाने लगा. एक बार निगाह उठी तो सामने दूर दरख़्तों की चोटियों पर मस्जिद के मीनार खड़े थे. मैं अभी सिग्रेट सुलगा ही रहा था कि एक मज़बूत खुरदरे देहाती हाथ ने मेरी चुटकियों से आधी जली हुई तीली निकाल ली. मैं इस बेतकल्लुफ़ी पर नागवारी के साथ चौंक पड़ा. मगर वो इतमीनान से अपनी बीड़ी जला रहा था. वो मेरे पास ही बैठकर बीड़ी पीने लगा या बीड़ी खाने लगा.

''यह कौन गाँव है ?' मैंने मीनारों की तरफ़ इशारा करके पूछा.

''यू...यू भुसावल है.''

भुसावल का नाम सुनते ही मुझे अपनी शादी याद आ गयी. मैं अन्दर सलाम करने जा रहा था कि एक बुज़ुर्ग ने टोककर रोक दिया. वो क्लासिकी काट की बानात की अचकन और चौड़े पाँयचे का पाजामा और फ़र की टोपी दिये मेरे सामने खड़े थे. मैंने सर उठाकर उनकी सफ़ेद भूरी मूँछें और हुकूमत से सींची हुई आँखें देखीं. उन्होंने सामने खड़े हुए ख़िदमतगार के हाथ से फूलों की बद्धियाँ ले लीं और मुझे पहनाने लगे. मैंने बल खाकर बनारसी पोत की झमझमाती हुई शेरवानी की तरफ़ इशारा करके तल्ख़ी से कहा, ''क्या यह काफ़ी नहीं थी ?'' वो मेरी बात पी गये, बद्धियाँ बराबर कीं, फिर नंगे सर पर हाथ फेरा और मुस्कराकर कहा, ''अब तशरीफ़ ले जाइये.'' मैंने ड्योढ़ी में किसी से पूछा कि ये कौन बुज़ुर्ग थे. बताया गया कि ये भुसावल के क़ाज़ी इनाम हुसैन हैं. भुसावल के क़ाज़ी इनाम हुसैन, जिनकी हुकूमत और दौलत के अफ़साने मैं अपने घर में सुन चुका था. मेरे बुज़ुर्गों से उनके जो सम्बन्ध थे, मुझे मालूम थे. मैं अपनी गुस्ताख़ निगाहों पर शर्मिन्दा था. मैंने अन्दर से आकर कई बार मौक़ा ढूँढ़कर उनकी छोटी-मोटी ख़िदमतें अंजाम दीं. जब मैं चलने लगा तो उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे भुसावल आने की दावत दी और कहा कि इस रिश्ते से पहले भी तुम मेरे बहुत कुछ थे, लेकिन

अब तो दामाद भी हो गये हो. इस क़िस्म के रस्मी जुमले सभी कहते हैं, लेकिन उस वक़्त उनके लहजे में ख़ुलूस की ऐसी गर्मी थी कि किसी ने ये जुमले मेरे दिल पर लिख दिये.

मैं थोड़ी देर खड़ा बिगड़ी हुई 'बस' को देखता रहा, फिर अपना बैग झुलाता हुआ जुते हुए खेतों में इठलाती हुई चिकनी पगडंडी पर चलने लगा. सामने वो शानदार मस्जिद खड़ी थी, जिसे क़ाज़ी इनाम हुसैन ने अपनी जवानी में बनवाया था. मस्जिद के सामने मैदान के दोनों तरफ़ टूटे-फूटे मकानों का सिलसिला था, जिनमें शायद कभी भुसावल के जानवर रहते होंगे. ड्योढ़ी के बिल्कुल सामने दो ऊँचे आम के दरख़्त ट्रैफ़िक़ के सिपाहियों की तरह छतरी लगाये खड़े थे. उनके तने जल गये थे, जगह-जगह मिट्टी भरी थी. ड्योढ़ी के दोनों तरफ़ इमारतों की बजाय इमारतों का मलबा पड़ा था. दिन के तीन बजे होंगे. वहाँ उस वक़्त न कोई आदमी था न आदमज़ाद कि ड्योढ़ी से क़ाज़ी साहब निकले. लम्बे क़द के झुके हुए क़ाज़ी साहब डोरिये की क़मीज़, मैला पाजामा और मोटर टायर के तल्लों का पुराना पम्प पहने हुए माथे पर हथेली का छज्जा बनाये मुझे घूर रहे थे. मैंने सलाम किया. जवाब देने के बजाय वो मेरे क़रीब आये और जैसे एकदम खिल गये. मेरे हाथ से मेरा बैग छीन लिया और मेरा हाथ पकड़े हुए ड्योढ़ी में घुस गये. हम उस चक्करदार अँधेरी ड्योढ़ी से गुज़र रहे थे, जिसकी अन्धी छत की कमान की तरह झुकी हुई धन्नियों को घुने हुए बदसूरत शहतीर रोके हुए थे.

वो ड्योढ़ी से ही चिल्लाये, "अरे सुनती हो...देखो तो कौन आया है...मैंने कहा अगर सन्दूक़-वन्दूक़ खोले बैठी हो तो बन्द कर लो जल्दी से !" लेकिन दादी तो सामने ही खड़ी थीं, धुले हुए घड़ों की घिड़ौंची के पास. दादा उनको देखकर सिटपिटा गये. वो भी शर्मिन्दा-सी खड़ी थीं. फिर उन्होंने लपककर अलगनी पर पड़ी मारकीन की घर की धुली चादर घसीट ली और दुपट्टे की तरह ओढ़ ली. चादर के एक सिरे को इतना लम्बा कर दिया कि कुर्ते के दामन में लगा दूसरे कपड़े का चमकता पैवन्द छिप जाये. इस एहतमाम के बाद वो मेरे पास आयीं, काँपते हाथों से बलायें लीं, सुख और दुःख की गंगा-जमुनी आवाज़ में दुआएँ दीं.

दादी कानों से मेरी बात सुन रही थीं लेकिन हाथों से, जिनकी झुर्रियों-भरी खाल झूल गयी थी, दालान के इकलौते साबुत पलंग को साफ़ कर रही थीं, जिस पर मैले कपड़े, कत्थे-चूने की कुल्हियाँ और पान की डलियाँ ढेर थीं, और आँखों से कुछ और सोच रही थीं. मुझे पलंग पर बिठाकर दूसरे झँगला पलंग के नीचे से वो पंखा उठा लायीं, जिसके चारों तरफ़ काले कपड़े की गोट लगी थी और खड़ी हुई उस वक़्त तक झलती रहीं जब तक मैंने छीन न लिया. फिर वो बावर्चीख़ाने चली गयीं. वो एक तीन दरों का दालान था. बीच में मिट्टी का चूल्हा बना था. एलुमीनियम की चन्द मैली पतीलियाँ, कुछ पीपे, कुछ डब्बे, कुछ शीशी-बोतलें और दो-चार इसी क़िस्म की छोटी-मोटी चीज़ों के अलावा वहाँ कुछ भी न था. वो मेरी तरफ़ पीठ किये चूल्हे के सामने बैठी थीं. दादा ने कोने में खड़े हुए पुराने हुक़्क़े से बेरंग चिलम उतारी और बावर्चीख़ाने में घुस गये. मैं उन दोनों की घुन-घुन करती सरगोशियाँ सुनता रहा. दादा कई बार जल्दी-जल्दी बाहर गये और आये. मैंने अपनी शेरवानी उतारी और इधर-उधर देखकर छह दरवाज़ों वाले कमरे के किवाड़े पर टाँग दी. नक़्शीन किवाड़े को दीमक चाट गयी थी. एक जगह लोहे की पत्ती लगी थी, लेकिन बीचों-बीच गोल दायरे में हाथी-दाँत का काम कत्थे और तेल के धब्बों में जगमगा रहा

क़ाज़ी अब्दुल सत्तार

जन्म : 9 फरवरी 1933, मछरेटा, ज़िला सीतापुर

संकलन : 'दारा शिकोह', 'सलाहउद्दीन', 'सबगज़ीदा', 'हज़रत जान', 'ख़ालिद बिन वलीद', 'ग़ालिब' (सभी उपन्यास), 'पीतल का घंटा' (कहानी संग्रह)

था. बैग खोलकर मैंने चप्पल निकाले और जब तक मैं दौड़ूँ-दौड़ूँ, दादा घिड़ौंची पर से घड़ा उठाकर उस लम्बे-चौड़े कमरे में रख आये, जिसमें एक भी किवाड़ न था, सिर्फ़ घेरे लगे खड़े थे. मैं जब नहाने गया तो दादा एलुमीनियम का लोटा मेरे हाथ में पकड़ाकर मुज़रिम की तरह बोले, "तुम बेटा इतमीनान से नहाओ, इधर कोई नहीं आयेगा. पर्दे तो मैं डाल दूँ लेकिन अँधेरा होते ही चमगादड़ें घुस आयेंगी और तुमको दिक़ करेंगी."

मैं घड़े को एक कोने में उठा ले गया. वहाँ दीवार से लगा अच्छी-ख़ासी थाली के बराबर पीतल का घंटा पड़ा था. मैंने झुककर देखा. घंटे के पेट में मुगरियों की मार से दाग़ पड़ गये थे. दो अंगुल का हाशिया छोड़कर जो सूराख़ था उसमें सूत की काली रस्सी बँधी थी. उसी सूराख़ के बराबर एक बड़ा-सा चाँद था. उसके ऊपर सात पहलू का सितारा था. मैंने तौलिया के कोने से झाड़कर देखा तो वो चाँद-तारा भुसावल स्टेट का मोनोग्राम था. अरबी लिपि में 'क़ाज़ी इनाम हुसैन ऑफ़ भुसावल स्टेट 'अवध' ख़ुदा हुआ था. यही वह घंटा था, जो भुसावल की ड्योढ़ी पर एलाने-रियासत के तौर पर तक़रीबन एक सदी से बजता आ रहा था. मैंने उसे रौशनी में देखने के लिए उठाना चाहा लेकिन एक हाथ से उठा न सका. दोनों हाथों से उठाकर देखता रहा. मैं देर तक नहाता रहा. जब बाहर निकला तो आँगन में क़ाज़ी इनाम हुसैन पलंग बिछा रहे थे. क़ाज़ी इनाम हुसैन, जिनकी गद्दीनशीनी हुई थी, जिनके लिए बन्दूकों का लाइसेन्स लेना ज़रूरी नहीं था, जिन्हें हर अदालत तलब नहीं कर सकती थी, दोनों हाथों पर ख़िदमतगारों की तरह तबाक़ उठाये हुए आये, जिसमें अलग-अलग रंगों की दो प्यालियाँ 'लब-सोज़', 'लबबन्द' चाय से लबरेज़ रखी थीं. एक बड़ी-सी प्लेट में दो उबले हुए अंडे काटकर फैला दिये गये थे. शुरू अक्तूबर की ख़ुशगवार हवा के रेशमी झोंकों में हम लोग बैठे नमक पड़ी हुई चाय की चुस्कियाँ ले रहे थे कि दरवाज़े पर किसी बूढ़ी आवाज़ ने हाँक लगायी, "मालिक...?"

"कौन ?"

"मेहतर है आपका...साहजी का बुलाय लाये हैं."

दादा ने घबराकर एहतियात से अपनी प्याली तबाक़ में रखी और जूते पहनते हुए बाहर चले गये. अपने भले दिनों में तो इस तरह शायद वो कमिश्नर के आने की ख़बर सुनकर भी न निकले हों.

मैं एक लम्बी टहल लगाकर जब वापस आया तो ड्योढ़ी में मिट्टी के तेल की डिबिया जल रही थी. दादा बावर्चीख़ाने में बैठे चूल्हे की रौशनी में लालटेन की चिमनी जोड़ रहे थे. मैं ड्योढ़ी से डिबिया उठा

लाया और इसरार करके उनसे चिमनी लेकर जोड़ने लगा.

हाथ-भर लम्बी लालटेन की तेज़ गुलाबी रौशनी में हम लोग देर तक बैठे बातें करते रहे. दादा मेरे बुज़ुर्गों से अपने ताल्लुक़ात बताते रहे...अपनी जवानी के क़िस्से सुनाते रहे. कोई आधी रात के क़रीब दादी ने ज़मीन पर चटाई बिछायी और दस्तरख़्वान लगाया. बहुत-सी अनमेल बेजोड़ असली चीनी की प्लेटों में बहुत-सी क़िस्मों का खाना चुना. शायद मैंने आज तक इतना नफ़ीस खाना नहीं खाया.

सुबह मैं देर से उठा. यहाँ से वहाँ तक पलंग पर नाश्ता चुना हुआ था. देखते ही मैं समझ गया कि दादी ने रात-भर नाश्ता पकाया है. जब मैं अपना जूता पहनने लगा तो रात की तरह उस वक़्त भी दादी ने मुझे आँसू-भरी आवाज़ से रोका. मैं माफ़ी माँगता रहा. दादी ख़ामोश खड़ी रहीं. जब मैं शेरवानी पहन चुका, दरवाज़े पर इक्का आ गया, तब दादी ने काँपते हाथों से मेरे बाजू पर इमाम-ज़ामिन बाँधा. उनके चेहरे पर चूना पुता हुआ था, आँखें आँसुओं से छलक रही थीं. उन्होंने रुँधी हुई आवाज़ में कहा, ''ये इक्कावन रुपये तुम्हारी मिठाई के हैं और दस किराये के....''

''अरे...अरे दादी...यह आप क्या कर रही हैं !'' अपनी जेब में जाते हुए रुपयों को मैंने पकड़ लिया.

''चुप रहो तुम...तुम्हारी दादी से अच्छे तो कुँजड़े-क़साई हैं, जो जिसका हक़ होता है वो दे तो देते हैं...ग़ज़ब ख़ुदा का, तुम ज़िन्दगी में पहली बार मेरे घर आओ और मैं तुमको जोड़े के नाम पर एक चिट भी न दे सकूँ...मैं...भैया, तेरी दादी तो फ़क़ीरन हो गयी... भिखारन हो गयी...भिखारन हो गयी !''

मालूम नहीं कहाँ-कहाँ का ज़ख़्म खुल गया था. वो धारों-धार रो रही थीं. दादा मेरी तरफ़ पुश्त किये खड़े थे और जल्दी-जल्दी हुक़्क़ा पी रहे थे. मुझे रुख़सत करनेदादी ड्योढ़ी तक आयीं, लेकिन मुँह से कुछ न बोलीं. मेरी पीठ पर हाथ रखकर और गर्दन हिलाकर रुख़सत कर दिया. दादा, क़ाज़ी इनाम हुसैन ताल्लुकेदार भुसावल थोड़ी दूर तक मेरे इक्के के साथ चलते रहे, लेकिन न मुझसे निगाह मिलायी न मुझे ख़ुदा-हाफ़िज़ कहा. एक बार निगाह उठाकर देखा और मेरे सलाम के जवाब में गर्दन हिला दी.

सिधौली, जहाँ से सीतापुर के लिए मुझे बस मिलती, अभी दूर था. मैं अपने ख़यालों में डूबा हुआ था कि मेरे इक्के को सड़क पर खड़ी हुई सवारी ने रोक लिया. जब मैं होश में आया तो मेरा इक्केवाला हाथ जोड़े हुए मुझसे कह रहा था, ''मियाँ....ई साह जी भुसावल के साहुकार हैं. इनके इक्के का बम टूट गवा है, आप बुरा न मानो तो ई बैठ जायं !''

मेरी इजाज़त पाकर उसने शाहजी को आवाज़ दी. शाहजी रेशमी कुर्ता और महीन धोती पहने आये और मेरे बराबर बैठ गये और इक्केवाले ने मेरे और उनके सामने पीतल का घंटा दोनों हाथों से उठाकर रख दिया. घंटे के पेट में मुगरी की चोट का दाग़ बना था. दो अंगुल के हाशिये पर सूराख़ में सूत की रस्सी पड़ी थी. उसके सामने क़ाज़ी इनाम हुसैन ऑफ़ भुसावल स्टेट अवध का चाँद और सितारे का मोनोग्राम बना हुआ था. मैं उसे देख रहा था...और शाहजी मुझे देख रहे थे....और इक्केवाला हम दोनों को देख रहा था. इक्केवाले से रहा नहीं गया. उसने पूछ ही लिया, ''का शाहजी घंटा भी खरीद लायो ?''

''हाँ...कल शाम का, मालूम नाईं का वख़त पड़ा है मियाँ पर कि घंटा दै दिहिन बुलाय के...ई घंटे का अब तक कलेजे से लगाये रखे रहे.''

''हाँ...वख़त-वख़त की बात है शाहजी, नाईं तो ई घंटा...ऐ घोड़े की दुम, रास्ता देख के चल.'' यह कहकर उसे एक चाबुक झाड़ा.

मैं, 'मियाँ का बुरा वक़्त' चोरों की तरह बैठा हुआ था. मुझे मालूम हुआ कि यह चाबुक घोड़े के नहीं, मेरी पीठ पर पड़ा है. ▣

◆ कहानी ◆
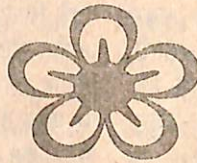
बायाँ हाथ

●

ख़ालिदा हुसैन

जनाबवाला. मैं सच कहूँगी—बिलकुल सच. पूरा सच और कुछ नहीं. मगर सच, गोकि यह सब कुछ कहते हुए भी मैं नहीं जानती कि सच क्या है. यह तो एक प्रतिबिम्ब है जो कोई देखे तो काला, बिल्कुल काला नज़र आता है. कोई दूसरा देखे तो रौशन चमकती धूप जैसी रौशन, तो क्या यह कोई आँख की ख़राबी है ? दोनों में से कौन नज़र के धोखे का शिकार है. बहरहाल, यह बिलकुल ग़ैर मुतअल्लिक़ सी बात बीच में आन पड़ी थी.

मैं तो बात उस लम्हे से शुरू करना चाहूँगी, जब अपने हवास पर से मेरा ईमान उठ गया. वह दिन बड़ा ही तबाही का दिन था. अफ़सोस उस दिन का कि जब मैंने एकदम यह जाना कि दुनिया से रंगों, खुशबुओं और आवाज़ों की विचित्रता मर गयी. हर चीज़ का ज़ायका एक गाढ़ी तह में ज़बान पर जमने लगा और तमाम स्पर्श एक से स्पर्श हो गये. बस एक मटियाला ज़र्द नींद में डूबा दिन हर चीज़ पर छा गया. मैंने जो भी चीज़ मुँह में डाली, एक मटियाला ज़ायका छोड़ गयी. चीजों के रंग उन मिट्टी भरी घड़ियों में डूब गये और अपने प्यारों के स्पर्श दूर दराज़ के असम्बद्ध प्रत्यय बन गये.

कुछ दिन तो मेरे कुनबे के लोग यह सब कुछ देखते और बर्दाश्त करते रहे, फिर सबको मेरे चेहरे की असम्बद्धता आँखों के ख़ालीपन से कोफ़्त होने लगी. मेरे शौहर ने तंग आकर कहा, "मुझे लगता है मैं किसी पत्थर के साथ उम्र क़ैद काट रहा हूँ." मुझे उसकी यह बात बहुत पसन्द आयी क्योंकि एक अरसा से मुझे अपना आप सड़क के किनारे खड़े, गर्द में अटे हरूफ़ मिटे मील के पत्थर की तरह नज़र आ रहा था. शाँ, शाँ, शाँ—क़रीब से तेज़ रफ़्तार गाड़ियाँ गर्द उड़ाती चली जा रही थीं और अब हर तरफ़ शाँ, शाँ की निरन्तर दबी हुई तो कभी उभरती हुई गूँज थी. शायद ये सब बातें आपको बहुत

ग़ैर-ज़रूरी और असम्बद्ध नज़र आती हैं. मगर फिर आख़िर आँख को कुछ तो देखना, कान को कुछ तो सुनना है. अगर यह नहीं तो उसके अलावा भी और जो कुछ भी है, यही है. शायद अब मैं आपको उलझा रही हूँ. मैं अब इस भूमिका को ख़त्म करके असल वाकये की तरफ़ आती हूँ.

जनाबवाला जैसा कि मैंने निवेदन किया वो दिन बड़ा ख़राबी भरा था, जब अपने हवास पर से मेरा ईमान उठ गया. कुछ रोज़ तो मैं ख़ुद की मलामत करती रही. मैंने अपने आप को ख़ूब-ख़ूब कोसा कि ऐ ! हव्वा की बेटी ! लानत है तुझ पर, जो तूने अपने आप को यूँ वासना के हवाले कर दिया. माँ यह वासना के हवाले करना नहीं तो और क्या है कि इनसान होते हुए कोई अपने हवास की नेमती से फ़ायदा न उठाये. जी लुभाने वाले रंग देखे, न मीठी सुरीली सदाएँ उसके कान में पड़ें; तरह-तरह के ज़ायकों के लिए उसकी ज़बान मर जायें. चुनाँचे, मैंने अपने आप पर सौ बार लानत की और मैं बहुत रोयी, बहुत गिड़गिड़ायी अपने ख़ालिक के सामने कि बस अब एक डरावना अंदेशा मुँह खोले मेरे सामने चला आता था. वह डर एक अजब सायत का था. न टलने वाली सायत का. मैंने बहुत चाहा कि मैं एक बार फिर वही वजूद बन जाऊँ जो दरअसल मैं थी; वह जो देखने वालों को बहुत भाता था; जो कोमल ख़ुशबुओं और रंगों का प्रतिबिम्ब था. और रूह को ख़ुश करने वाले संगीत की लहर थी. लेकिन ऐसा न हुआ. मैंने सबसे, उन सबसे, जो मेरे ज़ात के साथ कोई ताल्लुक रखते थे, कहा—देखो, साँय-साँय करता एक ख़तरनाक आसेब मुँह खोले मेरे सामने चला आता है. अगर इस आसेब ने मुझे निगल लिया तो तुम क्या करोगे ! और फिर मुझे अपनी इस बात पर खुद ही हँसी भी आ गयी. दरअसल, कहना तो मुझे यह था कि अगर इस आसेब ने मुझे निगल लिया तो मैं क्या करूँगी ? आख़िर दूसरों के लिए उस आने वाली वारदात की क्या अहमियत हो सकती थी और फिर कौन-सा ताल्लुक ऐसा है कि टूट नहीं सकता. जब मुझे यह एहसास हुआ तो मैं अपने खालिक़ के हज़ूर में बहुत रोयी, गिड़गिड़ायी कि मुझे इस आँख के अज़ाब से पनाह में रख कि यह वो कुछ देखती है, जो उसे नहीं देखना चाहिए और मुझे ख़ुद मेरी अपनी ज़ात से पनाह में रख कि यह बड़ी ज़ालिम है. जब अपनी जान पर जुल्म करने पर आती है तो टलती नहीं. मगर जनाबवाला, अब मैं आपको यह भी बता दूँ कि इस समय भी दरअसल यह रोना-गिड़गिड़ाना कुछ अजब था कि अन्दर से जैसे गहरे ख़ाली कुएँ में से कोई बुरा कहता चला जाता था कि ऐसा न हो तो अच्छा. इसी तरह ठीक है एक अँधेरी जिज्ञासा पंजे खोले मुझे बिगाड़ने को पल-पल बढ़ रही थी.

जनाबवाला, आप इन बातों से यह अन्दाज़ा न लगाइये कि मैं इन दिनों नॉर्मल ज़िन्दगी बसर नहीं कर रही थी. जी नहीं, अभी मुझ

में इतनी रूहानी मुनाफ़कत (आत्मिक बहुमुखीपन) था कि मैं तमाम दुनियावी मामूलात को पूरा कर सकूँ. और देखने वालों को महज़ इतना सा एहसास होता था कि उस औरत का चेहरा एकदम सपाट और ख़ाली है और उसकी आवाज़ कहीं दूर से आती महसूस होती है.

जनाबवाला, मुझे यूँ लगा जैसे किसी ने बिजली का तेज़ झटका लगाया हो. इससे बिजली की थरथराहट सर से लेकर मेरे पाँव के नाख़ूनों तक फैल गयी. फिर एकदम एक अजीब तरह की मीठी मस्ती सी मेरे तमाम जिस्म में भर गयी और मुझे अपने गिर्द रंग ही रंग ख़ुशबुएँ ही ख़ुशबुएँ, सुर ही सुर फैले नज़र आये. इतनी ख़ूबसूरत दुनिया तो मैंने भूले-बिसरे बचपन में देखी होगी, जब कभी मैं माँ का हाथ थामे खिलौनों भरे बाज़ार से गुज़रती थी. अब मुझे हैरत कि दुनिया एकदम इतनी रंगीन क्योंकर हो गयी. शो केश में सजी ख़ूबसूरत बोतलों और उन पर लगे रंगारंग लेबल मेरी आँखों से चिपक गये. वहाँ इन शीशों के अन्दर रंग और गंध, हुस्ने मौसीकी संगीत के सौन्दर्य की एक दुनिया आबाद थी. वह दुनिया, जो मेरे लिए मर चुकी थी. यह दुनिया ख़रीदी तो जा सकती थी मगर उसके भाव-ताव में उसके सराब (मायाजाल) हो जाने का ख़तरा था. मैं जादुई नज़रों से वह सब कुछ देखती रही. मुझे वह सतरंगा शीशा याद आ गया, जो कभी बचपन में अपने बहन-भाइयों के साथ मिलकर रौशनी के सामने रखकर देखती थी. किस क़दर ख़ूबसूरत चमकते शफ़्फ़ाक और शगुफ़्ता (पारदर्शी खिले हुए) रंग निकले थे उनमें से. जी चाहता था, उनको उँगलियों से छूकर देखूँ, मुट्ठियों में कैद कर लूँ. वह रंग अकेले उस सतरंगे शीशे में से न निकलते थे. उनके साथ ही वह एक ख़ुशबुओं, सुरों और मुहब्बत भरे लमहों की लहरें थीं कि आसपास बहने लगती थीं और जाते-जाते एक नीम-बेहोश उदासी दिल को दे जाती थीं तो आज वह सब रंगो बू, हुस्ने मौसीकी की दुनिया इस शो केस में, इस सात रंग में बन्द थी. मैंने शो केस के शीशे के साथ नाक चिपका ही दी. इतनी ख़ूबसूरत चीज़ें ! गोया एक 'जन्नत-ए-गुमगुश्ता थी (खोया हुआ स्वर्ग था.) और इस खोये हुए स्वर्ग को पा लेने का एक जुनून मीठी-मीठी लहरें बनकर मेरे दिलो-दिमाग़ को जकड़ता चला गया. मैं एक धड़कते सूक्ष्म शरीर में लिपट गयी कि जिससे निकलना उस ख़ूबसूरत दुनिया की मौत थी. दुनिया, जो वर्षों बाद नज़र आयी थी. वह एक अजीब शौक़अंगेज़ लहर थी कि मुझे मस्त बनाती चली गयी.

"बेगम साहिबा, अन्दर तशरीफ़ ले आइये." स्टोर के दरवाज़े पर से सेल्समैन मुझसे मुख़ातिब था. मैं चौंकी कोई अनजाना फैसला, अनिश्चितता की हदों को काटने वाला सोच मेरे जेहन में दाख़िल हुआ. मैं मुस्कुराती हुई अन्दर चली गयी.

जनाबवाला, मेरा बैग उस वक़्त भी नक़्दी से बोझिल था मगर वह आसेब मुँह खोले चला आ रहा था. वह अटल घड़ी आ चुकी थी. और मैं उसके घेरे में थी. मैंने बहुत सी चीज़ें निकलवा कर देखीं. फिर मैं ख़ुद ही अपनी इस शिकाराना चाबुक हस्ती पर हैरान रह गयी. मेरे बायें हाथ ने ख़ूबसूरत रंगबिरंगी चीज़ें ख़ामोशी से, चूँकि दायें हाथ को ख़बर न हो, बैग में उंडेल लीं. रंगों, सुरों और ख़ुशबुओं की एक दुनिया मेरे बैग में थी. वह सातों रंग मेरी मुट्ठी में कैद थे. बज़ाहिर मैंने एक मामूली सी बोतल पसन्द करके उसकी क़ीमत अदा की और उड़ते-उड़ते कदमों के साथ दुकान से निकल आयी. मैं ज़मीन पर नहीं मानो बादलों पर चल रही थी.

एक रंगीन उमंग मेरी आँखों में उतर आयी थी. एक

ख़ालिदा हुसैन

ख़ालिदा असग़र/ख़ालिदा इक़बाल/ख़ालिदा हुसैन नामों से लेखन.
जन्म : 18 जुलाई 1938, लाहौर (पाकिस्तान)
शिक्षा : एम. ए. उर्दू (पंजाब युनिवर्सिटी)
कृतियाँ : 'पहचान', 'दरवाज़ा', 'मसरूफ़ औरत' (कहानी संग्रह)
सम्पर्क : 220, स्ट्रीट 32, जी 2/8
इस्लामाबाद (पाकिस्तान).

ख़ास-व-ख़ुशी जज़्बा मेरे अन्दर नाच रहा था.

जनाबवाला, मेरा जी चाहता था, सड़कों पर क़हक़हे लगाती फिरूँ. आज फिर दुनिया इतने बहुत से रंगों और ख़ुशबुओं समेत ज़िन्दा हो गयी थी. घर की दहलीज़ पार करके मैंने धड़कते दिल के साथ बैग खोला और रंगो-नूर की इस दुनिया को मेज़ पर उंडेल दिया. इन सब चीज़ों को अलग-अलग कोणों से उलट-पलट कर देखा. उनके रंगों को आँखों में बसाया. और तब मुद्दतों रुके आँसू बह निकले.

मेरे कुनबे ने मुझे कभी रोते, कभी हँसते देखा और मेज़ पर लगे इस रंगो-नूर के अम्बार को भी.

"यह तुमने क्या किया ?" उसने ख़ौफ़ और नफ़रत भरी आवाज़ में कहा. तब मैं चौंकी और मैंने सोचा और ख़ुद से पूछा—'हाँ, वास्तव में यह तुमने क्या किया ?' और उस सोच के साथ ही वह रंग और नूर की दुनिया फिर मर गयी. वह सब कुछ मुर्दा लकड़ी में से निकला बुरादा बन गया और तमाम दुनिया पर वह मटियाला दिन चारों ओर से छा गया. चुनाँचे, जनाबवाला, मैंने वह सब कुछ उठाया और मुतल्लका अफ़सरों को इस वारदात की इत्तला दी.

मुझे अपने बायें हाथ की जुदाई का दुख नहीं. जब वह हाथ मुझसे अलग हुआ तो गोया स्याह आसेब (काला भूत) भी मेरा वजूद छोड़ गया. तब मैंने शुक्र अदा किया कि मुझे इस बायें हाथ से निजात मिला और अब सिर्फ़ वह नूर भरा पवित्र दायाँ हाथ मेरा साथी था. और मैं ख़ुश थी और मैं कहती थी—ऐ हव्वा की बेटी ! तू ख़ुश-क़िस्मत है कि आज तेरे वजूद का काला साया मिट गया. अब तेरा यह मुबारक रौशन दायाँ हाथ तेरी अच्छी-अच्छी ख़बरें सबको देगा.

मगर जनाबवाला, अब मैं असल वाक़ये की तरफ़ आती हूँ कि कल रात ही का ज़िक्र है, मैं इस मटियाले दिन और मटियाली रात की आदी हो चुकी थी. रंगो नूर, हुस्नो मौसीकी की इस दुनिया की ख़ुशबू मेरे ज़हन से मिट चुकी थी. वह मेरा बायाँ हाथ सब मनहूस यादें अपने साथ ले जा चुका था. और मैं सुख की नींद सोती थी. सुख की गहरी नींद, मगर कल रात सुख की इस गहरी नींद से मैं एक सरसराहट से जाग उठी. जैसे मेरे बिस्तर में कोई जानदार चीज़ चल रही हो. मैंने बेड-लैम्प रौशन किया और यह देखकर मेरी पेशानी शर्मिन्दगी के पसीने में डूब गयी. वह सरसराती, कुलबुलाती चीज़—वह मेरा बायाँ हाथ दोबारा मेरे बाज़ू की तरफ़ बढ़ रहा है. मैंने बहुत कोशिश की अपने आप को इस बायें हाथ से महफ़ूज़ रखने की. मगर देखिये अब मैं आप के सामने हूँ. यह फिर इसी तरह मेरी कलाई से जुड़ा है. मेरे वजूद का हिस्सा है, जैसे कभी काटा ही न गया हो. जनाबवाला, क्या आप भी यक़ीन न करेंगे कि यह कटा था मगर फिर ज़िन्दा होकर आन जुड़ा. सौ बार अफ़सोस मेरे वजूद पर कि मैं अपने बायें हाथ से निजात न पा सकी.

◆ कहानी ◆

आत्माराम

●

बलराज मैनरा

"उम्र भर जीने के लिए मरते रहे और जब मरे तो ऐसी ज़िल्लत की मौत, आदमी की इससे बड़ी तौहीन और क्या हो सकती है," इंस्पेक्टर बख़्शी की तसल्ली भरी बातों का जवाब बलदेव ने इस एक जुमले में दिया और कोतवाली से बाहर आ गया.

चाँदनी चौक में वह रेल-पेल थी, वही शोर-गुल था जिससे बलदेव मायूस था मगर इस वक़्त उसके गिर्द ख़ौफनाक सन्नाटा फैला हुआ था. उसे अपने क़दमों की चाप सुनाई दे रही थी. दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कता हुआ महसूस हो रहा था. उसके दिल पर ग़म का बोझ था जिसके दबाव से उसका दम घुट रहा था. वह दहाड़ें मार-मारकर रोना चाहता था और इस तरह अपने गिर्द फैले हुए सन्नाटे को तोड़ना चाहता था. मगर हमेशा की तरह उसके दिल और ज़हन में जंग हो रही थी. इसके ज़हन में दिल की हर धड़कन के साथ यह ख़याल भी शिद्दत के साथ गूँज रहा था, 'क्यों बन रहे हो, रोना चाहते हो, यह बातें होती ही रहती हैं.' उसके आँसू पलकों में फँसकर रह गये थे. उसके सामने उसके ज़हन ने पलकों की दीवार चुन दी थी. यह उसका ज़हन ही था जिसने इतने बड़े हादसे की ख़बर पाकर भी इंस्पेक्टर बख़्शी को मुतवाज़न जवाब दिया था.

वह आहिस्ता-आहिस्ता क़दम उठाता हुआ श्मशान भूमि की जानिब बढ़ रहा था जैसे वह हर क़दम सोचकर उठा रहा हो. उसे अपनी रफ़्तार का अहसास भी था. उसे महसूस हो रहा था कि वह एक मुद्दत से इस तरह चल रहा है और एक मुद्दत के बाद वह श्मशान भूमि पहुँचेगा जहाँ उसे ज़िन्दगी का सबसे बड़ा तमाशा देखना है.

श्मशान भूमि पहुँचते-पहुँचते उसकी हरकत करने की तमाम कुव्वत ख़त्म हो चुकी थी. वह थकन से चूर श्मशान भूमि के लॉन में पीपल के पेड़ के साये में पत्थर के चबूतरे पर बैठ गया और बुझी-बुझी सी नज़रों से इधर-उधर देखने लगा. थकन से उसकी रंगत जर्द हो गयी थी और ग़म से उसकी आँखें क़रीब लिलरग मरीज़ की आँखों की तरह बेचैन, उदास और मौत की मुंतजर दिखाई देती थी.

श्मशान भूमि में ज़मीन की सतह से दो फुट उभरे हुए चबूतरों पर कहीं चिताएँ ठंडी हो रही थीं और कहीं उनकी लपटें लाशों के ईंधन से ग़ैर मुतमईन होकर आसमान तक को अपनी लपेट में लेने के लिए उठ रही थीं. क़रीब-क़रीब बाक़ी के हर चूबतरे पर ठंडी या गरम राख के बिछौने से बिछे हुए थे. श्मशान भूमि बलदेव को अपनी तबियत के मुताबिक महसूस न हुई. उसने सोचा कि एक चबूतरा मुद्दतों से बना हुआ है. हर दूसरे दिन एक लाश लायी जाती है और उस चबूतरे पर सुपुर्दे-आतिश कर दी जाती है. चबूतरा अहम है मगर गोश्त पोस्त से राख में तब्दील होने वालों की कोई अहमियत नहीं है.

वह बहुत देर तक इसी तरह गुमसुम बैठा रहा और आदमी के आख़िरी निशान को आग के आग़ोश में राख होते देखता रहा. जब उसे दहशत सी होने लगी तो उसके ज़िस्म में कँपकँपी की लहर सी दौड़ गयी और वह काँपते हुए उन चबूतरों के पास जाकर खड़ा हो गया जिन पर ठंडी राख के बिछौने बिछे हुए थे. उसने फिर सोचा—'इनमें से कोई एक होगा.'

वह यह सोच नहीं पा रहा था कि किससे पूछे और क्या पूछे. उसके ज़हन में कई सवाल उभर रहे थे मगर जब वह उन्हें ज़ुबान पर लाने की कोशिश करता, उसे ज़िन्दगी की तज़लील का कसैलापन महसूस होने लगता और वह सोचने लग जाता.

वह चबूतरों की कतार के आख़िर में एक चबूतरे के पास खड़ा था और उस पर मुट्ठी भर फैली हुई राख को हसरत भरी नज़रों से देख रहा था. राख में कहीं-कहीं कोई हड्डी-भी दिखाई दे रही थी. उसके ज़हन में अचानक कौंधे की तरह बेदी की बात लपकी, 'आदमी की जीते जी तो हड्डियाँ होती हैं मगर मरने के बाद फूल.'

उस पर बेदी की बात ने मलाल की चादर डाल दी. वह उन फूलों को अपनी निगाहों का मरकज़ बनाये देखते रहा. उसके ज़हन में बार-बार यह ख़याल चक्कर लगाने लगा—'काश इन फूलों को गूँथकर मरने वाले की माला बनायी जा सके.'

वह बहुत देर वहीं बुत बना खड़ा रहा. उसे बहुत देर तक इस हालत में खड़ा देखकर श्मशान भूमि का एक पंडा उसके क़रीब आकर खड़ा हो गया और चबूतरे की तरफ़ इशारा कर कहने लगा, "बाबूजी कल शाम को चार बजे सिपाही राम सिंघ सेवा समिति के एक आदमी के साथ यहाँ एक लाश लाया था. वह कह रहा था कि लाश किसी बहुत बड़े आदमी की दिखाई देती है मगर उसके घर का पता मालूम नहीं हो सका है. बाबूजी वह शख़्स, वह जिसकी लाश सिपाही राम सिंघ लाया था. कम्पनी बाग़ में सुबह सैर कर रहा था. अचानक वह गिर गया. लोगों ने सँभाला मगर वह मर चुका था. पुलिस चीरफाड़ करने के बाद लाश को रेड़ी में लदवाकर कम्पनी बाग के पास के सब मुहल्लों में घुमाया मगर उसके घर वालों का पता-ठिकाना मालूम न हो सका. शाम को पुलिस ने लाश सेवा समिति के हवाले कर दी और सेवा समिति ने लावारिस समझकर अन्तिम संस्कार किया. मैंने लाश का मुँह देखा था, बाबूजी बड़ा ख़ूबसूरत आदमी था. साँवला रंग, चौड़ा माथा, बड़ी प्यारी आँखें, छोटे-छोटे मुलायम बाल, बाबूजी मरा हुआ बिल्कुल नहीं लग रहा था. वह तो हँस रहा था. सिपाही राम सिंघ कह रहा था कि ज़रूर कोई बड़ा आदमी है क्योंकि सैर करते वक़्त उसके हाथ में साँप की तरह की बड़ी क़ीमती छड़ी थी और उसकी कलाई पर बड़ी क़ीमती घड़ी बँधी हुई थी. इसलिए राम सिंघ को तरस आ रहा था. उसने लाश का मुँह खोल अपनी जेब से ताँबे का पैसा निकालकर डाला और हिन्दुओं की यह आख़िरी रस्म पूरी की. वह कहता था कि अगर उसके घरवालों का ठिकाना मालूम हो जाता तो उसका जनाज़ा धूमधाम से उठता, बाबूजी बड़ा ख़ूबसूरत आदमी था. शायद पचास साल का होगा मगर बड़ा दुबला था. इसलिए सिर्फ़ सात मन लकड़ियाँ ही काफी हुईं. देखिये ! हड्डियाँ तक राख हो गयी हैं. जाने बेचारे के घरवालों को पता

चला है कि नहीं, अभी तक तो कोई फूल चुनने के बारे में पूछने नहीं आया.''

बलदेव पंडे की बातें बड़े ज़ब्त से सुन रहा था. उसकी आँखों के गिर्द अँधेरा छा रहा था. पाँव लरज़ रहे थे. उसने बड़े करब से कहा,''मैं फूल चुनने आया हूँ.''

पंडा हैरान हो गया. उसने बलदेव को उस चबूतरे के पास साकित देखकर अपने जज़्बात से मग़लूब होकर वह सब बातें कही थीं और यह उसके वहमोगुमान में भी न था कि उसकी बातें सुनने वाला फूल चुनने आया है. उसने उदास सी आवाज में कहा, ''बाबूजी ! आप फूल चुनने आये हैं !''

''हां ! यह मेरे...मेरे पिता हैं.'' बलदेव ने मुट्ठी भर राख की तरफ़ इशारा करते हुए लरज़ती हुई, रुकती हुई आवाज़ में कहा. कुछ देर दोनों खामोश रहे फिर पंडे ने धीमे से कहा, ''बाबूजी ! फूल तीसरे दिन चुनते हैं. आप कल सवेरे आ जायें !''

पंडे की बात सुनकर बलदेव थोड़ी देर खामोश रहा और चबूतरे पर फैली हुई राख को घूरता रहा. कुछ देर बाद उसने नज़र उठायी और श्मशान भूमि को अपनी आँखों में बेज़ारी और हिकारत से जज़्ब करते हुए कहा, ''नहीं ! फूल मैं आज ही चुनना चाहता हूँ. इस जगह अब मैं जीते जी दूसरी बार नहीं आना चाहता और न ही अब कोई मेरा अज़ीज़ दोस्त या रिश्तेदार रहा है जिसकी मौत पर मुझे यहाँ आना पड़ेगा. यह बड़ी ज़लील जगह है.''

''बाबूजी ! जैसा आप चाहें. मगर यह हमारे धर्म के अनुसार नहीं है.''

थोड़ी देर बाद पंडा पीतल की थाली में गुलाब की पंखुडियाँ और पीतल के लोटे में दूध लेकर आ गया. उसके साथ दस-बारह साल का एक लड़का भी था जिसने खाली बाल्टी उठायी हुई थी. सब सामान चबूतरे के पास रखने के बाद पंडे ने बलदेव से कहा, ''आप जूते उतार दीजिये.''

बलदेव ने खामोशी से जूते उतार दिये और पंडे के कहने के मुताबिक रस्म अदा करने लगा. पंडे के पीछे-पीछे उसने चबूतरे के तीन चक्कर लगाये. चक्कर लगाने के बाद दोनों चबूतरे के दायीं जानिब बैठ गये जिधर लाश का सिर लकड़ियों पर चिना जाता है. पंडा श्लोक पढ़ता रहा जो बलदेव की समझ के बाहर था और बलदेव पंडे के इशारे पर दूध के छींटे राख पर बरसाता रहा.

जब वह सात बार दूध के छींटे राख पर बरसा चुका तो पंडा श्लोक पढ़ने के बाद उससे मुखातिब हुआ, ''अब आप दोनों हाथों की उँगलियों से राख को कुरेदिये और जो भी फूल आपको मिले, थाली में रखते जाइये.''

बलदेव ने पंडे की तरह राख को कुरेदना शुरू किया और जो भी फूल उसे मिलता, वह ज़ोर-ज़ोर से धड़कते हुए दिल के साथ थाली में रखता. हिन्दुओं की उन रस्मों को अदा करने के अमल में उसे ज़िल्लत आमेज़ महसूस हो रहा था और उसके बाप के फूल जो महज़ हड्डियों के छिलके थे, उसकी आँखों में चुभने लगे थे. मगर वह उन अहसासात के बावजूद ग़म की शिद्दत से, जिसने उसकी आँखों के आँसू भी खुश्क कर दिये थे पंडे की हिदायत की डोरी पर पुतली की तरह नाच रहा था. यकायक पंडे ने कहा, ''बाबूजी ! यह देखिये आत्माराम !''

उसने पंडे की तरफ़ देखा. उसके हाथ में राख में लिपटी हुई एक छोटी सी हड्डी थी जो साठ के ज़ाविये में ख़म खाए हुए थी. पंडे ने कहा, ''यह आत्माराम है. देखिये कैसे समाधि लगाये बैठा है. बाबूजी, आपके पिता बड़े भाग्यवान हैं. मरने के बाद उनकी आत्मा को शान्ति मिल गयी है. जिन लोगों का आत्माराम समाधि लगाकर बैठा होता है उनकी आत्मा
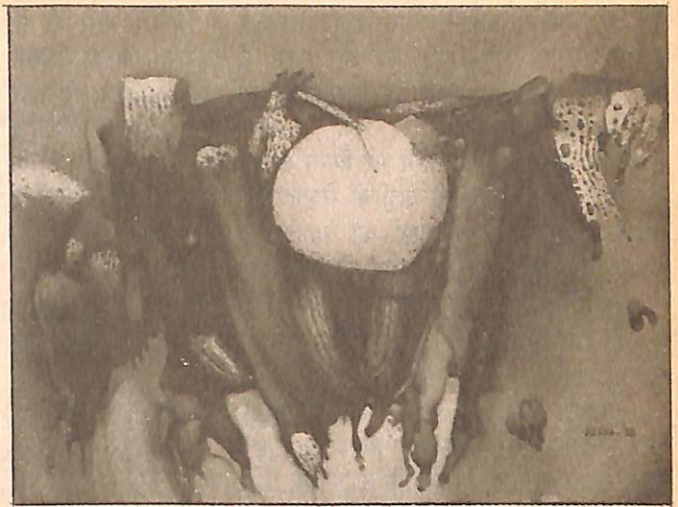
को शान्ति मिलती है. उनकी आत्मा दुखी नहीं होती.''

बलदेव ने आत्माराम को अपने हाथों में लिया और गौर से देखा...जैसे गीली दीवार पर झींगुर मिट्टी का घर बनाते हैं वैसा ही था आत्माराम. उसने दिल में कहा, मरने वालों को दुख हो सकता है क्या ?

थाली जब राख से आलूदा फूलों से भर गयी तो पंडे ने बाल्टी में तीन बार राख भरी और यमुना में जाकर बहा दी, चबूतरे से राख का बिछौना जैसे किसी ने समेट लिया हो. बलदेव ने महसूस किया, जैसे उसका बाप हवा में काफूर की मानिन्द उड़ गया है.

पंडे ने फूलों से भरी हुई थाली उठाकर लड़के से बाकी सामान उठाने को कहा और बलदेव को अपने पीछे आने का इशारा किया. घाट के पानी से बाहर जो पहली सीढ़ी थी वहाँ वह बैठ गये. पंडे ने उसे दूध में गुलाब की प्रंखुड़ियाँ डालकर फूलों को धोने के लिए कहा और खुद श्लोक पढ़ने लगा.

फूल धोने के बाद बलदेव ने पंडे के कहने के मुताबिक फूलों को माथा टेका और आँखें मूँदकर दिल में बाप को याद किया. जब उसने आँखें खोलीं तो पंडे ने कहा, ''बाबूजी ! फूलों को हरिद्वार ले जायेंगे या यहीं यमुना में बहायेंगे.''

बलदेव ने पंडे की बात का जवाब दिये बिना दूध में धुले हुए फूलों से भरी थाली उठायी, फूलों को आँखों से लगाया और फूल यमुना में बहा दिये. फूल यमुना की नज़र करने के बाद उसने अपने बाप की आख़िरी आरामगाह यमुना की रवानी और यमुना के पाट पर निगाह डाली. यमुना का नीला सा पानी घाट के क़रीब धीमे-धीमे बह रहा था. दूर तक रेत ही रेत दिखाई दे रही थी और रेत पर दूसरे किनारे के क़रीब कूड़े के बेशुमार ढेर लगे हुए थे. उसने दिल में कहा, 'पवित्र गटर.'

पंडे को जो कुछ उसके हाथ में आया उसने दिया और श्मशान भूमि से बाहर आ गया.

तमाम दिन बलदेव गुमसुम बाज़ार में घूमता रहा. न उसे खाने का होश था न आराम करने का. उसके ज़हन में बहुत से धागे उलझ गये थे और वह किसी एक बात के बारे में सोच नहीं पा रहा था. घूमते-घूमते उसके पाँव सुन्न हो गये. जब उसमें चलने की सिकत न रही तो वह बस स्टैंड पर रेलिंग के सहारे खड़ा हो गया. उसके पेट में भूख की जबरदस्त लहर उठी और उसके सुकड़े हुए ज़िस्म को झंझोड गयी. उसने अपने सिर पर हाथों से दो-तीन ज़रबें लगायीं और खुद को सँभाला. अचानक ही उसके ज़हन में उलझे हुए धागों का एक सिरा सामने आ गया.

एक आदमी जिसने पचास साल कशमकश की ज़िन्दगी बसर की हो, जिसने उम्र भर अपने घर, गाँव और मुल्क की खिदमत की हो, जिससे अनगिनत लोग प्यार करते हों, जिसके बेशुमार दोस्त, अज़ीज़, रिश्तेदार और जिसका एक बेटा भी हो, क्या वह लावारिस है ?...या फिर शायद यूँ हो कि जो आदमी ज़िन्दगी भर किसी का मोहताज न होना चाहता हो, वह मरते वक़्त भी अपने अज़ीज़ों रिश्तेदारों और अपने बेटे से कफ़न, लकड़ियों और कन्धे के सहारे का मोहताज न होना चाहता हो क्योंकि यह उसकी कशमकश से तामीर की हुई कामयाब ज़िन्दगी की तज़लील हो सकती है. इसलिए वह सिर्फ़ सेवा समिति की सात मन लकड़ियों और सिपाही राम सिंघ के ताँबे के पैसे ही पर ज़िन्दगी के हासिल के तौर पर मुतमईन हो...''

बलदेव ने ज़ोर से अपनी आँखों को भींचा और धागे के नुमायां सिरे को ज़हन के दूसरे उलझे हुए धागों में उलझाने की कोशिश की मगर नाकाम रहा. आँखों को शिद्दत से भींचने से उसकी कनपटियों पर रगें उभर आयीं और उनमें आग दौड़ने लगी और उसके ज़हन में बाप की पचाससाला ज़िन्दगी के नकूश वाज़ह होने लगे. उसने देखा....दादा गंगा राम के यहाँ जो औलाद पैदा होती है, साल भर में मर जाती है. गंगा राम को कोई कहता है, 'अब बच्चा पैदा हो तो उसका कान-नाक छेदो. बच्चा ज़िन्दा रहेगा. उसका बाप पैदा होता है. उसके नाक और कान छेद दिये जाते हैं और उसी मुनासिबत से उसका नाम नत्थूराम रखा जाता है.''

नत्थूराम के बाद चार लड़के और गंगाराम के यहाँ पैदा होते हैं. गंगा राम का दाना-पानी उठा जाता है. नत्थूराम पन्द्रह वर्ष का है. नत्थूराम है और चार छोटे भाई. बेवा माँ है और खाने को कुछ नहीं. मज़दूरी करता है. छाबड़ी लगाता है. रूखी-सूखी रोटी पैदा करता है. और रात-रात भर पढ़ता है.

पहली आलमग़ीर जंग छिड़ जाती है.

मैट्रिक का इम्तहान पास करता है. गाँव झींगड़ क्लास से पैदल जम्मू जाकर फौज में भरती होता है.

पहली आलमगीर जंग का अन्त.

ओहदे में तरक्की.

भाइयों की तालीम.

शादी.

पहला बच्चा बलदेव.

बीवी की मौत.

और दूसरी आलमगीर जंग.

नत्थूराम, अनथक-ज़िन्दगी, अनगिनत पड़ाव.

क़दम बढ़ रहे हैं.

दूसरी आलमगीर जंग और बर्मा का बॉर्डर है.

शदीद तौर पर जख़्मी होता है.

और अब बहुत बड़ा ओहदा है.

आर्डर ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया दर्जा अव्वल का तमगा है.

भाई बस जाते हैं. माँ खुशी से चल बसी है.

1947.

आज़ादी.

पाकिस्तान.

फीरोज़पुर बार्डर से फौजी रिकार्ड विंग की रवानगी.

बंगलौर.

नत्थूराम और बलदेव.

बलराज मैनरा

मूल नाम : बलराज
जन्म : 17 जून 1935.
अंग्रेजी में कहानियों का एक संकलन.
हिन्दुस्तान में सबसे पहले उर्दू कहानी को एक नया मोड़ दिया. कुल 37 अफसाने लिखे जो सारे के सारे अमूर्त तकनीक में हैं.
'मायार' और 'शऊर' नाम की त्रैमासिक पत्रिकाओं का सम्पादन.

पहली बार क़रीब आ रहे हैं.

नत्थूराम एक फौजी शख़्सियत मिसाली किरदार, कमगोई की शहरत, महात्मा का नकब.

बलदेव, कमज़ोर दुबला पतला बीमार, बाप की समाजी हैसियत उसका काम्पलेक्स और फरार...मार्क्स, बुद्ध, दोस्तोयेव्स्की, बाल्ज़ाक, एक राह की तलाश.

और फिर.

दिल्ली.

नत्थूराम को हुकूमत की तरफ़ से डिफेंस कॉलोनी में ज़मीन का नज़राना.

और....

और...

और...

''और...क्या मैं रिश्तेदारों और दोस्तों को आगाह करूँ कि पिताजी रुखसत हो गये हैं.''...नहीं !...नहीं...मैं यह मुसीबत मोल नहीं ले सकता. हुजूम का ताँता बँध जायेगा. लोग पिता की मिसाली किरदार के गुण गायेंगे और मैं आवारा, बेकार, सफ़र...सिर्फ़ ज़िल्लत महसूस करूँगा...सिर्फ़ ज़िल्लत ...ज़िल्लत...

बलदेव की हालत ग़ैर हो चुकी थी. उसका ज़हनी तवाज़न खो चुका था. अजीब-अजीब खयालात उसे घेरे हुए थे.

''समाज में इन्क़लाब आ चुका है...खोखली कद्रें मिट चुकी हैं ...नयी कद्रें दिलोदिमाग को ठंडक पहुँचा रही हैं. अब कुत्ते लावारिश लाशें नहीं खाते...अब सेवा समिति सात मन लकड़ियों में पचास साल की जद्दोजहद की ज़िन्दगी फूँक देती है...सिपाही राम सिंघ ताँबे का पैसा मुँह में डालकर आख़िरी रस्म पूरी करता है...भिखारी हो या बड़ी शख़्सियत ...अन्तिम संस्कार के लिए चबूतरे बने हुए हैं...''

बलदेव के पेट में भूख की जबरदस्त लहर उठी. उसके दिल की धड़कन ग़ैर मामूली तौर पर तेज़ हो गयी. कनपटियों पर रगें बुरी तरह उभर आयीं. कान की लवें सुर्ख हो गयीं. आँखों में अँधेरा छा गया और उसके ज़हन में तलवार की धार से तेज़ ख़याल उभरा...

''और वालिद आत्मा सुखी है और...और मैं...मैं...मैं...''

और तेज़ धार ने उसके दिमाग़ की रगों को काट दिया.

तीसरे दिन श्मशान भूमि में पंडे को बलदेव के फूल चुनते हुए आत्माराम करब की हालत में खड़ा मिला. पंडे ने दिल में कहा, 'बाबूजी को बाप के मरने का कितना दुख था. मरने के बाद भी उनकी आत्मा दुखी है.''

अनुवाद : विजय

◆ कहानी ◆

बिजूका

•

सुरेन्द्र प्रकाश

प्रेमचन्द की कहानी का होरी इतना बूढ़ा हो चुका था कि उसकी पलकों और भौंहों तक के बाल सफ़ेद हो चुके थे, कमर झुक गयी थी और हाथों की नसें साँवले खुरदरे मांस में से उभर आयी थीं.

इस बीच उसके यहाँ दो बेटे हुए थे, जो अब नहीं रहे. एक गंगा में नहा रहा था कि डूब गया और दूसरा पुलिस-मुकाबले में मारा गया. पुलिस के साथ उसकी मुठभेड़ क्यों हुई, इसमें कुछ ऐसी बताने की बात नहीं. जब भी कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व से परिचित होता है और अपने इर्द-गिर्द व्याप्त बेचैनी को अनुभव करने लगता है तो उसका पुलिस के साथ मुकाबला हो जाना स्वाभाविक हो जाता है. बस ऐसा ही कुछ उसके साथ हुआ था—और बूढ़े होरी के हाथ हल के हत्थे को थामे हुए एक बार ढीले पड़े, और फिर उनकी पकड़ अपने-आप दृढ़ हो गयी. उसने बैलों को हाँक लगायी और हल का फाल धरती की छाती चीरता हुआ आगे बढ़ गया.

उन दोनों बेटों की पत्नियाँ थीं और आगे उनके पाँच बच्चे—तीन गंगा में डूबनेवाले के और दो पुलिस-मुठभेड़ में मारे जाने वाले के. अब उन सबके पालन-पोषण का भार होरी पर आन पड़ा था और उसके वृद्ध शरीर में रक्त तेज़ी से दौड़ने लगा था.

उस दिन आकाश सूर्योदय से पूर्व कुछ अधिक ही सुर्ख था और होरी के आँगन में कुएँ के गिर्द पाँचों बच्चे नंग-धड़ंग बैठे नहा रहे थे. उसकी बड़ी बहू कुएँ से पानी निकाल-निकालकर उन पर बारी-बारी उँड़ेलती जा रही थी और वे उछलते हुए अपनी देह मलते पानी उछाल रहे थे. छोटी बहू बड़ी-बड़ी रोटियाँ बनाकर चंगेरी में डाल रही थी और होरी अन्दर कपड़े बदलकर पगड़ी बाँध रहा था. पगड़ी बाँधकर उसने आले में रखे शीशे में अपना चेहरा देखा. सारे चेहरे पर लकीरें फैल गयीं थीं. उसके समीप ही लटकी हुई हनुमानजी की छोटी-सी तस्वीर के सामने आँखें बन्द करके दोनों हाथ जोड़कर सिर झुकाया और फिर दरवाज़े में से गुज़रकर बाहर आँगन में आ गया.

"सब तैयार हैं?" उसने अपेक्षाकृत ऊँची आवाज़ में पूछा.

"हाँ बापू!" सब बच्चे एक-साथ बोल उठे. बहुओं ने अपने सिरों पर पल्ले ठीक किये और उनके हाथ तेज़ी से चलने लगे. होरी ने देखा, अभी कोई भी तैयार नहीं था. सब झूठ बोल रहे थे—उसने सोचा—यह झूठ हमारे जीवन के लिए कितना आवश्यक है! अगर भगवान् ने झूठ जैसी नेमत न दी होती तो लोग धड़ाधड़ मरने लग जाते. उनके पास जीने का कोई बहाना न रह जाता. हम पहले झूठ बोलते हैं और फिर उसे सच सिद्ध करने के प्रयास में देर तक जीवित रहते हैं.

होरी के पोते-पोतियाँ और बहुएँ—अभी-अभी बोले हुए झूठ को सच सिद्ध करने में जी-जान से जुट गये. जब तक होरी ने एक कोने में पड़े कटाई के औज़ार निकाले—वे सचमुच तैयार हो चुके थे.

उनका खेत लहलहा उठा था. फ़सल पक गयी थी और आज कटाई का दिन था. ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कोई त्योहार हो. सब बड़े चाव से शीघ्र-से-शीघ्र खेत में पहुँचने की कोशिश में थे कि उन्होंने देखा, सूरज की सुनहरी किरणों ने सारे घर को अपने जादू में जकड़ लिया है.

होरी ने अँगोछा कन्धे पर रखते हुए सोचा, कितना अच्छा समय आ गया है! न अहलमद की धौंस, न बनिये का खटका, न अँग्रेज़ की ज़ोर-ज़बरदस्ती और न ज़मींदार का हिस्सा. उसकी दृष्टि के सामने हरी-हरी बालियाँ झूम उठीं.

"चलो, बापू!" उसके बड़े पोते ने उसकी उँगली पकड़ ली. बाकी बच्चे उसकी टाँगों के साथ लिपट गये. बड़ी बहू ने कोठरी का दरवाज़ा बन्द किया और छोटी बहू ने रोटियों की पोटली सिर पर रखी.

वीर बजरंगबली का नाम लेकर सब बाहर की चहारदीवारी वाले दरवाज़े में से निककर गली में आ गये और फिर दायीं ओर मुड़कर अपने खेत की तरफ़ बढ़ने लगे.

गाँव की गलियों-गलियारों में चहल-पहल शुरू हो चुकी थी. लोग खेतों को आ-जा रहे थे. सबके दिलों में हर्षोल्लास के अनार फूटते प्रतीत हो रहे थे. सबकी आँखें पकी फ़सलें देखकर चमक रही थीं. होरी को लगा, जैसे जीवन कल से आज थोड़ा भिन्न है. उसने पलटकर अपने पीछे आते हुए बच्चों की ओर देखा. वे बिल्कुल वैसे ही लग रहे थे जैसे किसान के बच्चे होते हैं—साँवले, मरियल-से—जो जीप गाड़ी के पहियों की आवाज़ और मौसम की आहट से डर जाते हैं. बहुएँ वैसी ही थीं, जैसी कि ग़रीब किसान की बेवा औरतें होती हैं—चेहरे घूँघटों में छिपे हुए और

लेकिन बिजूका तो अपनी जगह से बिल्कुल न हिला. अलबत्ता, होरी अपने ही ज़ोर की मार खाकर दूर जा गिरा—सब लोग चीखते हुए होरी की ओर बढ़े. वह अपनी कमर पर हाथ रखे उठने का प्रयास कर रहा था. सबने उसे सहारा दिया और उसने भयभीत होकर बिजूके की ओर देखते हुए कहा, "तू मुझसे भी ताकतवर हो चुका है, बिजूका? मुझसे भी, जिसने तुझे अपने हाथों से बनाया?

लिबास की एक-एक सिलवट में ग़रीबी जुओं की तरह छिपी बैठी.

वह सिर झुकाकर फिर आगे बढ़ने लगा. गाँव के अन्तिम मकान से गुज़रकर आगे खुले खेत थे. निकट ही रहट खामोश खड़ा था. नीम के पेड़ के नीचे एक कुत्ता बेफ़िक्री से सोया हुआ था. दूर गोठ में कुछ गायें-भैंसें और बैल चारा खाकर फुँकार रहे थे. सामने दूर-दूर तक लहलहाते हुए सुनहरे खेत थे. इन सब खेतों के बाद, जरा दूर, जब ये सब खेत खत्म हो जायेंगे, एक छोटा-सा नाला पार करके अलग-थलग होरी का खेत था, जिसमें धान पककर अँगड़ाइयाँ ले रहा था.

वे सब पगडंडियों पर चलते हुए दूर से ऐसे लग रहे थे, जैसे रंग-बिरंगे कीड़े सूखी घास पर रेंग रहे हों. वे सब अपने खेत की तरफ़ जा रहे थे जिसके आगे कल्लर था—दूर-दूर तक फैला हुआ, जिसमें कहीं हरियाली नज़र न आती थी. बस थोड़ी बेजान, निर्जीव मिट्टी थी, जिसमें पाँव रखते ही धँस जाता था, और मिट्टी इस प्रकार भुरभुरी हो गयी थी, जैसे उसके दोनों बेटों की हड्डियाँ चिता में जलकर फूल बन गयी थीं और फिर हाथ लगाते ही रेत की तरह बिखर जाती थीं. वह कल्लर धीरे-धीरे बढ़ रहा था. होरी को याद आया—पिछले पचास वर्षों में वह दो हाथ आगे बढ़ आया था. होरी चाहता था, जब तक बच्चे जवान हों, वह कल्लर उसके खेत तक न पहुँचे और—तब तक वह स्वयं किसी कल्लर का हिस्सा बन चुका होगा.

पगडंडियों का न खत्म होनेवाला सिलसिला और उस पर होरी और उसके खानदान के लोगों के हरकत करते नंगे पाँव...

सूरज आकाश की पूर्वी खिड़की में से झाँक रहा था.

चलते-चलते उनके पाँव मिट्टी से सन गये थे. कई इर्द-गिर्द के खेतों में लोग कटाई करने में व्यस्त थे. वे आते-जाते को 'राम-राम' कहते और फिर किसी अज्ञात उत्साह और जोश के साथ टहनियों को दराँती से काटकर एक तरफ़ रख देते.

उन्होंने बारी-बारी नाला पार किया. नाले में पानी नाममात्र को भी नहीं था. अन्दर की रेत-मिली मिट्टी बिल्कुल शुष्क हो चुकी थी और उस पर विचित्र-सी आड़ी-तिरछी दरारें, अजीब-से बेल-बूटे बने थे. वे पानी के पैरों के निशान थे, और सामने लहलहाता हुआ खेत नज़र आ रहा था. सबका दिल बल्लियों उछलने लगा—फ़सल कटेगी तो उनका आँगन फूस से भर जायेगा और कोठरी अनाज से. फिर खटिया पर बैठकर भात खाने का मज़ा आयेगा. क्या डकारें आयेंगी पेट भर जाने के बाद ! उन सबने एक-साथ ही सोचा.

अचानक होरी के क़दम रुक गये. वे सब भी रुक गये. होरी खेत की ओर आश्चर्य-भरी नज़रों से देख रहा था. वे सब कभी होरी को और कभी खेत को देख रहे थे कि अचानक होरी के शरीर में जैसे बिजली की-सी लहर उत्पन्न हुई. उसने कुछ क़दम आगे बढ़कर बड़े जोश से आवाज़ लगायी, "अबे, कौन है...?"

और फिर सबने देखा कि उनके खेत में पकी हुई फ़सल में कुछ व्याकुलता के लक्षण थे. अब वे सब होरी के पीछे तेज़-तेज़ क़दम बढ़ाने लगे. होरी फिर चिल्लाया, "अबे कौन है रे ? बोलता क्यों नहीं ?...कौन फ़सल काट रहा है मेरी ?"

मगर खेत में से कोई उत्तर नहीं मिला. अब वे निकट आ चुके थे और खेत के दूसरे कोने पर दराँती चलने की सर्र-सर्र की आवाज़ बिल्कुल स्पष्ट सुनायी दे रही थी. कुछ हद तक सब सहम गये. फिर होरी ने हिम्मत से ललकारा, "कौन है हराम का जना ?...बोलता क्यों नहीं ?" और अपने हाथ में पकड़ी दराँती सूँत ली.

अचानक खेत के परले हिस्से में से एक ढाँचा-सा उभरा और फिर जैसे मुस्कराकर उन्हें देखने लगा हो. फिर उसकी आवाज़ सुनायी दी, "मैं हूँ होरी काका, बिजूका !" उसने अपने हाथ में पकड़ी दराँती हवा में लहराते हुए उत्तर दिया.

मारे खौफ के सबकी घुटी-घुटी चीख़ निकल गयी. उनके रंग पीले पड़ गये और होरी के होंठों पर जैसे सफ़ेद पपड़ी-सी जम गयी. कुछ देर के लिए वे सब स्तब्ध-से खड़े रह गये. वह कुछ देर कितनी थी ? एक पल, एक सदी या फिर एक युग, इसका उनमें से कोई अनुमान न कर सका. वे बुत बने खड़े रहे और जब तक उन्होंने होरी की क्रोध से काँपती हुई आवाज़ न सुनी, उन्हें अपने जीवन की अनुभूति न हुई.

"तुम...? बिजूका...तुम ?...अरे, तुमको मैंने खेत की देख-रेख के लिए बनाया था—बाँस की खपच्चियों से, और तुमको उस अँग्रेज़ शिकारी के कपड़े पहनाये थे, जिसके शिकार में मेरा बाप हाँका लगाता था और वह जाते हुए खुश होकर अपने फटे हुए खाकी कपड़े मेरे बाप को दे गया था. तेरा चेहरा मेरे घर की बेकार हाँडी से बना था

और उस पर मैंने उसी अँग्रेज़ शिकारी का टोपा रख दिया था. अरे तू बेजान पुतला मेरी फ़सल काट रहा है ?''

होरी कहता हुआ आगे बढ़ रहा था और बिजूका पहले की तरह ही उनकी तरफ़ देखकर मुस्करा रहा था, जैसे उस पर होरी की किसी बात का प्रभाव न पड़ा हो. जैसे ही वे समीप पहुँचे, उन्होंने देखा—फ़सल एक-चौथाई के क़रीब कट चुकी है और बिजूका उसके पास दराँती हाथ में लिए खड़ा मुस्करा रहा है. वे सब हैरान हुए कि उसके पास दराँती कहाँ से आ गयी ? वे कई महीनों से उसे देख रहे थे. निर्जीव बिजूका दोनों हाथों से खाली खड़ा रहता था. परन्तु आज ...वह आदमी लग रहा था—हाड़-मांस का उन-जैसा मनुष्य. यह दृश्य देखकर होरी तो जैसे पागल हो उठा. उसने आगे बढ़कर उसे एक ज़ोरदार धक्का दिया, लेकिन बिजूका तो अपनी जगह से बिल्कुल न हिला. अलबत्ता, होरी अपने ही ज़ोर की मार खाकर दूर जा गिरा—सब लोग चीखते हुए होरी की ओर बढ़े. वह अपनी कमर पर हाथ रखे उठने का प्रयास कर रहा था. सबने उसे सहारा दिया और उसने भयभीत होकर बिजूके की ओर देखते हुए कहा, ''तू मुझसे भी ताकतवर हो चुका है, बिजूका ? मुझसे भी, जिसने तुझे अपने हाथों से बनाया—अपनी फ़सल की हिफ़ाज़त के वास्ते.''

बिजूका अब भी पहले की तरह मुस्करा रहा था; फिर बोला, ''तुम खामखाह खफ़ा हो रहे हो, होरी काका ! मैंने तो सिर्फ़ अपने हिस्से की फ़सल काटी है—एक-चौथाई.''

''लेकिन, तुमको क्या हक है मेरे बच्चों का हिस्सा लेने का ? तुम कौन होते हो ?''

''मेरा हक़ है, होरी काका, क्योंकि मैं बिजूका हूँ. मैंने इस खेत की हिफ़ाज़त की है.''

''लेकिन मैंने तो तुम्हें बेजान समझकर यहाँ ख़ड़ा किया था, और बेजान चीज़ का कोई हक़ नहीं होता. यह तुम्हारे हाथ में दराँती कहाँ से आ गयी ?''

बिजूका ने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया, ''तुम बड़े भोले हो, होरी काका ! खुद ही मुझसे बातें कर रहे हो और फिर मुझको बेजान समझते हो !''

''लेकिन तुमको यह दराँती और ज़िन्दगी किसने दी ? मैंने तो नहीं दी थीं.''

''यह मुझे अपने-आप मिल गयीं. जिस दिन तुमने मुझे बनाने के लिए बाँस की खपच्चियाँ चीरी थीं, अँग्रेज़ शिकारी के फटे-पुराने कपड़े लाये थे, घर की बेकार हाँडी पर मेरी आँखें, नाक, कान और मुँह बनाया था—उस दिन उन सब चीज़ों में ज़िन्दगी कुलबुला रही थी और यह सब मिलकर मैं बना और मैं फ़सल पकने तक यहाँ खड़ा रहा और एक दराँती मेरे सारे वजूद में से आहिस्ता-आहिस्ता निकलती रही...और जब फ़सल पक गयी तो वो दराँती मेरे हाथ में थी. लेकिन मैंने तुम्हारी अमानत में ख़यानत नहीं की. मैं आज के दिन का इन्तज़ार करता रहा...और आज, जब तुम अपनी फ़सल काटने आये हो—मैंने अपना हिस्सा काट लिया. इसमें बिगड़ने की क्या बात है ?'' बिजूके ने आहिस्ता-आहिस्ता कहा ताकि उन सबको उनकी बात अच्छी तरह समझ में आ जाये.

''नहीं, ऐसा नहीं हो सकता. यह सब साज़िश है. मैं तुम्हें ज़िन्दा नहीं मानता. यह सब छलावा है. मैं पंचायत से इसका फ़ैसला करवाऊँगा. तुम दराँती फेंक दो. मैं तुम्हें एक तिनका भी ले जाने नहीं दूँगा !'' होरी चीखा और बिजूके ने मुस्कराते हुए दराँती फेंक दी.

सुरेन्द्र प्रकाश

जन्म : लायलपुर (पाकिस्तान)
सम्प्रति : फिल्म और टी वी सीरियल के लिए स्क्रिप्ट लेखन
कृतियाँ : 'दूसरे आदमी का ड्राइंग रूम', 'बर्फ़ पर मुकल्मा', 'बाज़ गोई' (कहानी संग्रह)
सम्मान : साहित्य एकेडमी सम्मान 1990

गाँव की चौपाल में पंचायत लगी—पंच और सरपंच सब मौजूद थे. होरी अपने पोते-पोतियों के साथ बीच में बैठा था. उसका चेहरा दुःख से मुरझाया हुआ था. उसकी दोनों बहुएँ दूसरी औरतों के साथ खड़ी थीं. और अब बिजूके का इन्तज़ार था. आज पंचायत को अपना फ़ैसला सुनाना था. मुक़दमे के दोनों पक्ष अपना-अपना बयान दे चुके थे.

आख़िर दूर से बिजूका धीरे-धीरे आता हुआ दिखायी दिया. सबकी नज़रें उस तरफ़ उठ गयीं. वह वैसे ही मुस्कराता हुआ आ रहा था. जैसे ही वह चौपाल में दाखिल हुआ, सब अनजाने ही उठकर खड़े हो गये और उनके सिर आदरपूर्वक झुक गये. होरी यह तमाशा देखकर तड़प उठा. उसे लगा जैसे बिजूके ने सारे गाँव की आत्मा खरीद ली है; पंचायत का न्याय खरीद लिया है. वह ख़ुद को तेज़ पानी में बेबस आदमी की तरह हाथ-पाँव मारता-सा महसूस करने लगा.

आख़िर सरपंच ने अपना फ़ैसला सुनाया. होरी का सारा शरीर काँपने लगा. उसने पंचायत के निर्णय को स्वीकार करते हुए फ़सल का चौथाई हिस्सा बिजूका को देना मंजूर कर लिया और फिर खड़ा होकर अपने पोतों से कहने लगा, ''सुनो ! यह शायद हमारी ज़िन्दगी की आखिरी फ़सल है. अभी कल्लर खेत से कुछ दूरी पर है. मैं तुम्हें नसीहत करता हूँ, अपनी फ़सल की हिफ़ाज़त के लिए कभी बिजूका न बनाना ! अगले बरस जब हल चलेंगे, बीज बोया जायेगा और बारिश का अमृत खेत में कोंपलों को जन्म देगा, तो मुझे एक बाँस पर बाँधकर खेत में खड़ा कर देना—बिजूके की जगह पर. मैं तब तक तुम्हारी फ़सलों की हिफ़ाज़त करूँगा, जब तक कल्लर आगे बढ़कर खेत की मिट्टी को निगल नहीं लेगा और तुम्हारी खेतों की मिट्टी भुरभुरी नहीं हो जायेगी. मुझे वहाँ से हटाना नहीं—वहीं रहने देना, ताकि जब लोग देखें तो उन्हें याद आये कि बिजूका नहीं बनाना—कि बिजूका बे-जान नहीं होता—आप-से-आप उसे ज़िन्दगी मिल जाती है और उसका वजूद उसे दराँती थमा देता है और उसका फ़सल के एक-चौथाई हिस्से पर हक हो जाता है.''

होरी ने कहा और फिर आहिस्ता-आहिस्ता अपने खेत की ओर बढ़ा. उसके पोते और पोतियाँ उसके पीछे थे, और फिर उसकी बहुएँ और उनके पीछे गाँव के दूसरे लोग सिर झुकाये हुए चल रहे थे.

खेत के निकट पहुँचकर होरी गिरा और शेष हो गया. उसके पोते-पोतियों ने उसे एक बाँस से बाँधना शुरू कर दिया, और बाकी के सब लोग यह तमाशा देखते रहे. बिजूके ने अपने सिर पर रखा शिकारी टोपा उतारकर सीने के साथ लगा लिया और अपना सिर झुका दिया.

अनुवाद : यश सरोज

◆ कहानी ◆

ख़ाने और तहख़ाने

●

ग़यास अहमद गद्दी

कला ने एक लम्हे को होटल की तरफ़ ग़ौर से देखा और दबी ज़बान में बोली, "यही वह जगह है !"

शरत ने आगे बढ़कर आहिस्तगी से उसके कन्धे पर हाथ रख दिया, "तुम यहाँ आ चुकी हो ?"

सवाल बहुत मामूली था और शरत ने पूछ भी यूँ ही लिया था लेकिन कला यहाँ फिर चौंक उठी और पलटकर शरत की तरफ़ देखते हुए बड़े जमे हुए लहजे में जवाब दिया.

"नहीं !"

फिर दोनों सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँच गये. यह मात्र संयोग था कि जब कला ने मैनेजर से पूछा—ग्यारह नम्बर ख़ाली है तो उसने 'हाँ' में जवाब दिया.

एक गहरी दुधिया धुँध सी चारों तरफ़ फैल गयी. कला अपनी रूह को बेचैनी से बचाने के लिए शरत का हाथ पकड़कर कमरे की तरफ़ चल दी.

बाहर बारिश हो रही थी. लगातार बारिश. बम्बई की उकता देने वाली किसी जख़्मी दिल की तरह हौले-हौले रिसते रहने वाली बारिश, जिससे न कीचड़ धुलती है न गन्दगी बहती है बल्कि एक मुसलसल घुटन बनी रहती है जिसमें आदमी का वजूद बल्कि उसकी रूह तक गिरफ़्तार रहती है.

हालाँकि शरत ने पहले ही बहुत समझाया था कि अव्वल तो यह मौसम ही इस लायक़ नहीं है कि हनीमून मनाया जाय. फिर अगर हनीमून मनाना ही शर्त है तो यह बम्बई कौन-सी जगह हुई. बहुत से स्थान हैं. लेकिन कला तुल गयी—नहीं बम्बई जायेंगे. मैंने प्रण कर रखा था कि हनीमून बम्बई में ही मनायेंगे. बिस्तर पर सफ़ेद दूध की तरह चादर बिछी हुई थी जिसमें यहाँ से वहाँ तक कोई शिकन नहीं थी. कला के बेकरार ज़हन में यकायक एक रूपक चमक उठा लेकिन उसने इसका इज़हार करने से पहले शरत की तरफ़ मुहब्बत से देखते हुए पूछा, "अच्छा बताओ तो इस बेशिकन चादर को देखकर तुम्हारे दिमाग़ में कौन-सी उपमा आती है !"

"क्या मतलब, यह यकायक क्या बेतुकी बात पूछ रही हो ?"

"तुम नहीं बता सकते न, मैं बताऊँ ?"

"बताओ." उसने लापरवाही से जवाब दिया.

"इस बिस्तर को देखकर मुझे ऐसा महसूस होता है जैसे कि यह किसी हसीना का कुँआरा बदन है और इस इन्तज़ार में है कि..."

शरत हँस पड़ा. कला के ख़ूबसूरत ज़हन ने उसके अपने ज़हन में गुदगुदी पैदा कर दी. वह लपककर आगे बढ़ा और कला को अपनी बाँहों की लपेट में ले लिया.

"वाक़ई तुम कला हो."

एक नागवार (अनचाही) सी लज़्ज़त के अहसास से उसका वजूद भीग गया. वह हँसती हुई शरत की बाँहों से निकल भागी और समन्दर की तरफ़ खुलने वाली खिड़की को खोल दिया. रौशनी का एक रेला अन्दर आ गया. बाहर दूर-दूर समन्दर ही समन्दर था. गहरा नीलम किसी पुरशिकन बिस्तर की तरह ताहद्देनज़र फैला हुआ था जिसकी खामोश सतह पर बारिश लगातार सर धुन रही थी. कला खिड़की के सहारे खड़ी बाहर की ओर देखे जा रही थी. उसके दिल की दुनिया में दूर-दूर तक गुलाब ही गुलाब खिल रहे थे. ऐसे में दिल की दुनिया से उठकर मुस्कुराहट उसके लबों पर फैल गयी.

उसने पलटकर देखा. कमरे में उसका शौहर नहीं था.

कमरे में वह अकेली थी. उसका शौहर शरत अन्दर बाथरूम में था. बाथरूम से वह ख़ुद निकलकर अभी आयी थी. उसके कपड़े सूखे थे मगर ज़िस्म अभी तक गीला था और उसके घने बालों में से पानी की एक-आध बूँद कभी-कभी सितारे की तरह टूट पड़ती. उसका सारा बदन सारी आत्मा भीगी थी. अन्दर बाहर सब गीला था समन्दर के वजूद की तरह...

अभी शरत अन्दर बाथरूम में नहा रहा था. उसके गुनगुनाने की आवाज़ कमरे में तैर रही थी. बाहर बारिश ख़ामोश समन्दर के सीने पर लगातार जख़्म लगा रही थी. अभी वह, उसका शौहर बाथरूम से निकलेगा और बेसाख्ता उसे अपने बाजुओं में कस लेगा.

उस वक्त उसका भीगा-भीगा सर्द जिस्म आग की तरह दहक उठेगा और वह बेहोश सी होकर उसके आग़ोश में गिर पड़ेगी और ...और...और यहाँ पहुँचकर कला का दिमाग़ शराब के गहरे झटके से मस्त व बेखुद हो गया.

मगर ऐसा नहीं हुआ. एक ख़्वाब सा उसने क्षण भर पहले देखा और उसकी आँख खुल गयी. सामने शरत आईने के क़रीब खड़ा अपने भीगे बालों को तौलिया से खुश्क कर रहा था और धीरे-धीरे कुछ गुनगुना रहा था जिसके शब्द कला तक नहीं पहुँच पा रहे थे. उसने कहा—"यह तुम क्या गा रहे हो ? ग़ालिब का कोई—"

"नहीं एक फिल्मी धुन है भई—"

"हश. फिल्मी धुन भी कोई चीज़ हुई. तुम भी अज़ीब चीज़ हो. तुम्हारे ज़हन में कोई ख़ूबसूरत बात पैदा भी होती है या नहीं"—वह हँस पड़ी.

"अभी एक उपमा पूछी तो वह भी नहीं बता सके..."

"अच्छा, मेरी तरफ़ देखकर कहिये तो...?"

जवाब में शरत ने नज़रें उठाकर देखा और क्षण भर को देखता ही रह गया फिर लपककर उसे अपने आग़ोश में भर लिया. फिर कहीं से धनक सी फैल गयी. सात रंगों वाली लचकीली कमान जो उसके स्वयं में घुलने लगी और कला ने महसूस किया कि शरत...उसके ख़्वाब...

जब बम्बई की बात चली तो कला ने पहले कहा, ''पता नहीं क्या शहर है. इतने हंगामे, इतने कोलाहल में भी सन्नाटे का एहसास बना रहता है.''

''लो यह तुम्हारे विचार हैं बम्बई के बारे में ! यहाँ आने से पहले तो कह रही थीं कि दुनिया में कोई शहर हो सकता है तो बम्बई.''

कला बिना कारण चौंकी, ''दरअसल यह बारिश के कारण है. ...बम्बई की बारिश बड़ी बदनाम है.'' उसने गर्दन उठाकर विक्टोरिया वाले बूढ़े को सम्बोधित किया, ''क्यों बाबा, क्या ख़याल है तुम्हारा ?''

बूढ़े कोचवान ने चाबुक घुमाकर घोड़ी की पीठ पर रसीद किया. पीठ की चमड़ी पर यहाँ से वहाँ तक सलवटें थरथराने लगीं जिसे देखकर पता नहीं क्यों कला सहम गयी. फिर ख़ुद ही सोचने लगी. ऐसा क्यों हुआ ? उसने दोबारा पूछा, ''बताया नहीं बाबा तुमने.''

''मैं क्या कह सकता हूँ बेटा. यह तो अपनी तबीयत की बात है. अन्दर आग लगी हो तो बाहर की बारिश ज़हर लगती है....''

कला शरत के चेहरे की तरफ़ मुड़ गयी, जो सिगरेट जला रहा था. फिर वह हँसने लगा... ''बात तो बाबा सोलह आने सही कह रहे हैं. अब देखो, मुझे इस बारिश में ज़िन्दगी का एहसास हो रहा है ...और तुम्हें...!''

एकाएक शरत ने उसकी ठोड़ी पकड़ ली, ''अच्छा बताओ तो तुम्हारे अन्दर कैसी आग सुलग रही है जो...?''

''किसने कहा कि मेरे दिल में आग लगी हुई है. यह दो पैसे का कोचवान तो अपने को दार्शनिक से कम नहीं समझता.''

''अरे तुम तो चिढ़ गयीं.''

''नहीं तो....'' कला की ज़बान से ये अल्फ़ाज़ कैसे निकले, कितने मशीनी अन्दाज़ से कि ख़ुद उसे अच्छा नहीं लगा.

''मेरा मतलब है कि यह अनपढ़ बूढ़ा क्या जाने. यह तो शुद्ध मनोवैज्ञानिक बात है. तुमने तो बी. ए. में पढ़ा होगा.''

''मनोविज्ञान कोई किताबों में तो नहीं.'' शरत ने बड़े सुलझे हुए समझाने वाले अन्दाज़ में कहा, ''आम ज़िन्दगी में...आम लोगों...''

''अच्छा तुम लेक्चर मत शुरू कर दो. यह कोई तुम्हारी क्लास नहीं.'' हवा में एक चाबुक लहराया और घोड़ी के नंगे जिस्म पर समन्दर की लहरों की तरह शिकनें फैल गयीं.

जुहू के एक अँधेरे कोने में खड़े होकर उसने अपने दोनों हाथ फैला दिये.

''शरत !—आओ मुझे...बाँहों में जकड़ लो...'' और उसने आँखें बन्द कर लीं. शरत ने एक बार क्षण भर के लिए उसकी तरफ़ देखा और उसे अपने आग़ोश में भर लिया. फिर उसने अपने होंठ आगे बढ़ा दिये, ''और इन्हें चूम लो.''

शरत ने ऐसा ही किया. एक अति-दीर्घ चुम्बन. मगर कला बीच में ही उकता गयी.

''बस !'' और अलग हट गयी. शरत की त्यौरियाँ चढ़ गयीं—''क्यों क्या हुआ ?''

''कुछ नहीं...कुछ वैसा नहीं लगा !''

''कैसा ?''

''बस वैसा'', उसने फ़ौरन जवाब दिया—''जैसा मैंने सोचा था.''

''कैसा सोचा था तुमने ? यों ऊट-पटांग पागलों की तरह क्यों सोचती हो ?''

कला ने इस सवाल का जवाब नहीं दिया. उस वक़्त उसका ज़हन ख़ाली था. तनहाई और सन्नाटे से जकड़ा हुआ था.

फिर वो बहुत देर तक घूमते रहे. समन्दर में दौड़-दौड़कर डूबने उभरने वाले टेढ़ी लड़के-लड़कियों को देखते रहे. भेल वाले से भेल ख़रीदकर काग़ज़ के लिफ़ाफ़े को थामे खाते रहे और हँसते रहे.

लेकिन कला की रूह बेचैनियों और बेक़रारियों की गिरफ़्त में थी. उसे यह सब कुछ अच्छा लगते हुए भी बेजान और उकता देने वाला लग रहा था.

''चलो शरत, मैं थक गयी.''

''बस अभी से ?'' शरत ने पूछा.

''हाँ.''

सोच पर किसी की पाबन्दी नहीं. यह बिलकुल ज़ाती, निजी और व्यक्तिगत होती है. कला ने आरामकुर्सी पर अपने आप को डाल दिया. उसके शौहर शरत ने क्यों ऐसा कहा कि तुम इस तरह क्यों सोचती रहती हो. शादी की है, उसने बेचा नहीं है अपने आप को. एक पवित्र अग्नि को गवाह रखकर उसने शरत को अपना शौहर स्वीकार किया है...यह भी ठीक है, लेकिन...

इस लेकिन के बाद आगे सोचने के लिए कोई राह नहीं. सब रास्ते बन्द कर दिये गये हैं. मगर कौन कह सकता है कि सारे रास्ते बन्द हैं. क्या शरत ऐसा नहीं सोचता जो पति-पत्नी के दरम्यान वाले समाजी उसूलों के ख़िलाफ़ हो. उसने भी तो पवित्र अग्नि को साक्षी
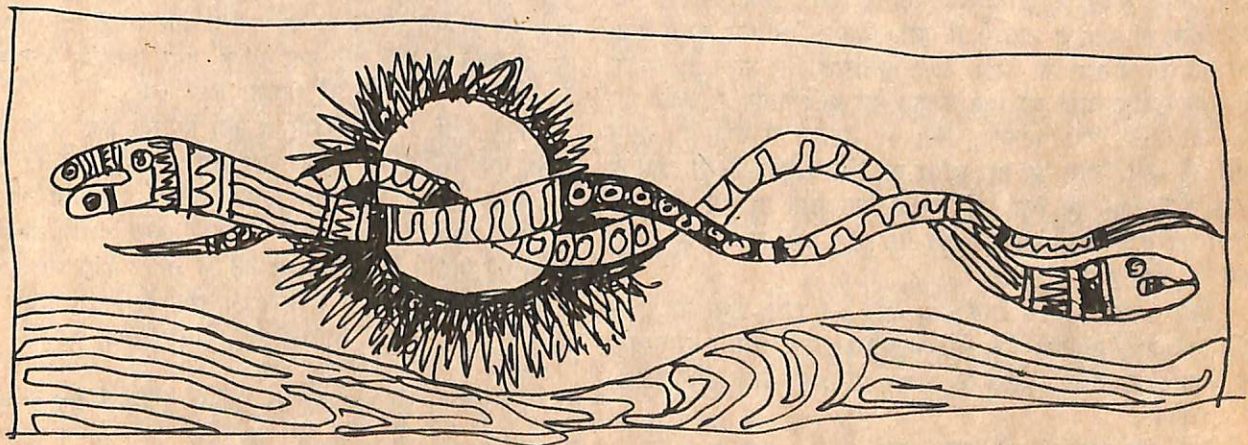
रखकर वादा किया है...!

जब शरत ने पीछे से आकर उसके गले में बाँहें डाल दीं तो बड़े ठहराव से उसने गर्दन मोड़कर उसकी तरफ़ देखा, "शरत ! सच-सच बताओ तो, तुम उस घाटन लड़की की तरफ़ क्यों घूर-घूरकर देख रहे थे ?"

शरत इस अचानक सवाल के लिए क़तई तैयार नहीं था.

"किस लड़की की बात कर रही हो ?" उसकी पेशानी पर सिलवटें उभर आयीं—"दिमाग़ तो ठीक है तुम्हारा ?"

"चिढ़ गये ना," वह हँसने लगी, "मगर मुझे कोई जलन नहीं. ऐसा जवान ऐसा सेहतमन्द जिस्म, वह भी बारिश में सुलगता हुआ. कोई भी मर्द...कहो तो मैं तुम्हारी मदद कर सकती हूँ !"

"कला तुमको क्या हो गया है....पागल तो नहीं हो गयीं."

कला एकाएक उठ खड़ी हुई. यह वह क्या कह गयी. बेचैनी, हृदय की व्याकुलता ने उसको छिन्न-भिन्न कर दिया. दिमाग़ उसके अख़्तियार से निकला जा रहा था.

फिर वह झेंप मिटाने के लिए हँसने लगी. ज़ोर-ज़ोर से क़हक़हा लगाने लगी. शरत ने नागवारी से उसकी तरफ़ देखा. उसके क़हक़हों का कोई नोटिस नहीं लिया और ख़ामोशी से उससे कुछ कहे बिना कमरे से बाहर निकल गया. कला ने भी कोई नोटिस नहीं लिया. वह चुपचाप कुर्सी पर लेटी रही. बरसात की धूप, बम्बई की ऊँची-ऊँची इमारतों से ढकी हुई धूप, धीरे-धीरे धुँधलके में तब्दील हो गयी.

तब वह अन्दर कमरे में आयी. मेज़ पर से टिन उठाया. सिगरेट को होंठों के दरम्यान फँसाने से पहले दरवाज़ा बन्द कर दिया. फिर माचिस की डिबिया से तीली निकाली. सिगरेट को जलाने से पहले ख़ामोश और बेजान दीवारों को घूर कर देखा. फिर एक लम्बा कश लिया. यह सब करते हुए उसने प्रायः सोचा कि यह कोई मुजरिमाना हरकत तो नहीं. शरत के सामने भी वह सिगरेट पी सकती थी फिर वह ऐसा क्यों करती है. सिगरेट पीना कोई बुरी बात नहीं, फिर यह चोरी का एहसास क्यों उसे घेरे हुए है. इतनी सावधानी. इतनी चतुराई.

कुछ आज़ाद रवी (मन की मौज) भी हो. कुछ बेएहतियाती, कुछ ऐसी ज़िन्दगी गुज़रे कि हर लम्हा जो उसे अपने वजूद के गिर्द ज़ंजीर सी पड़ी महसूस होती है वह न हो. यह एहसास न हो कि उसके सिगरेट पीने पर या अकेले में अपने बदन के सारे कपड़े उतार फेंकने पर कोई उसे टोक भी सकता है. पूछताछ भी कर सकता है. फिर उसने अपने बदन के सारे कपड़े उतार दिये. पहले ब्लाउज़. वह फँसा-फँसा-सा ब्लाउज़ उतारने में ज़रा वक़्त का सामना करना पड़ा. फिर वह तंग ब्रेसियर जो उसके गोल, ख़ूबसूरत और उलटे हुए प्यालों की तरह सुडोल सीनों को एक लज़्ज़त देने वाले दबाव से जकड़े हुए थी. फिर साड़ी, फिर पेटीकोट, फिर वह एकदम से नंगी थी. उसने कमरे की बत्ती रौशन कर दी. मरमर का तराशा हुआ जिस्म, एड़ी से लेकर चोटी तक चूम लिये जाने वाला. वह मस्त हो गयी जैसे वह मदिरा का कोई तीखा सा बड़ा सा पैग घोंट गयी हो. उसकी आँखें आप से आप बन्द हो गयीं.

फिर कला ने अपने दोनों हाथ आगे की तरफ फैला दिये जैसे किसी को अपने आग़ोश में ले लेना चाहती हो. जब दरवाज़े पर दस्तक हुई, हड़बड़ाकर उसने बिस्तर की चादर को अपने गिर्द लपेट लिया.

"कौन ?"

"मैं. क्या कर रही हो कमरा बन्द करके ? दरवाज़ा खोलो."

"अभी खोलती हूँ." उसने हड़बड़ा कर जल्दी से दरवाज़ा खोल दिया.

"अरे चादर लपेटे हुई हो. क्या कर रही थीं ?"

"कुछ नहीं"—उसने पेशानी पर आती हुई लट को परे फेंकते हुए इत्मीनान से कहा, "ज़रा नहाने की तैयारी कर रही थी."

"कमरा बन्द करके, बाथरूम...?"

"उफ्फोह ! शरत तुम तो बाल की खाल निकालते हो" कला ने अचानक महसूस किया कि उसका सुर वैसा नहीं है. वह ज़बरदस्ती हँसने लगी—"...अब जी चाहा...ज़रा तुम्हारा यूँ इन्तज़ार कर लूँ..."

बाहर बारिश शुरू हो गयी थी. रिमझिम-रिमझिम मेह—सारी फ़िज़ा उमस और घुटन की गिरफ्त में था. कला ने खिड़की खोल दी. सामने अन्धकारमय समन्दर की सतह पर नज़रें जमा दीं, जिस पर होटल की रंगीन बत्तियाँ जब रौशन होतीं, ख़ून सा छिड़क देतीं. जब बुझ जातीं ख़ाक डाल देतीं....देर तक वह घूरती रही और अपने ज़हन के अँधेरे कमरे में कोई ख़ूबसूरत-सा सितारा ढूँढ़ती रही. मगर थक गयी. वो जो रौशनी का एक स्रोत-सा उसके दिमाग की दुनिया में फूट निकला था. उसका मुँह ही बन्द हो गया.

कला ने महसूस किया—जैसे-जैसे बम्बई की रात और दिन गुज़र रहे हैं फीके-फीके होते जा रहे हैं. उसकी उकताहट बढ़ती जा रही है. जिस चाव से वह यहाँ आयी थी, जो कशिश उसे बम्बई ले आयी थी, यहाँ इस होटल में समन्दर के किनारे वह कशिश ही खो गयी है. उसे कहाँ ढूँढ़ा जाये...!

उसके ज़हन की ख़ामोश दुनिया में कभी-कभी ज़लज़ले के झटके से होते रहते हैं, जिससे उसकी दुनिया हिल जाती है. उसने आहिस्ता से अपना सर शरत के कन्धे से टिका दिया. टैक्सी तेज़ी से गुज़रती जा रही थी. तेज़ हवा खिड़कियों से आ रही थी. कला की आँखें आप-से-आप बन्द हो गयीं. शरत ने पलटकर ज़रा देखा, फिर मुस्कुरा पड़ा. उसने बड़ी मोहब्बत भरी नज़र कला पर डाली और उसके चेहरे से बालों को हटाकर सर पर जमा दिया फिर टैक्सी कब रुकी उसे ख़बर तक न हुई. लेकिन ज़रा देर बीत जाने पर उसकी आँखें आप-से-आप खुल गयीं.

आगे-पीछे गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ थीं ! कारों के हॉर्न और इंज़न की घड़घड़ाहट के कारण कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी. उसने शरत की तरफ़ देखते हुए पूछा, "यह गाड़ी... ?"

तभी उसने देखा कि सामने से आती हुई एक विक्टोरिया गिरी पड़ी है और लोग चिल्ला रहे हैं. उसने देखा—विक्टोरिया में जुती हुई घोड़ी मुँह के बल ज़मीन पर पड़ी हुई है और चमड़ों की पट्टियों की क़ैद से छूटने के लिए ज़ोर लगा रही है. मगर चमड़े के बेल्ट मज़बूत हैं. शायद ज़रा देर बाद वह थककर पसर गयी.

फिर कला ने अपने शौहर से पूछा कि यह बेल्ट बहुत मज़बूत है ना. घोड़ी तड़प-तड़प कर मर जाय जब भी नहीं टूटने की. क्यों ?

शरत ने कोई जवाब नहीं दिया. वह इस सवाल ही को समझ नहीं पाया. क़ला क्या कह रही है. अचानक अगर शरत पलटकर इस सवाल का मतलब खुद उससे पूछ बैठे तो शायद कला भी जवाब न दे सके. उसने गहरी नज़रों से कला की तरफ़ देखते हुए उसके वाक्य को कम और चेहरे को समझने की ज़्यादा कोशिश की.

इतने में गाड़ी आगे बढ़ गयी.

महाबलेश्वर की पहाड़ियों पर आदमी लगता है जैसे बहुत कुछ पा लेता है. ज़िन्दगी हल्की और ख़ूबसूरत होकर सामने फैल जाती

है. ममता भरे बाजुओं की तरह अपने आग़ोश में लेने के लिए सारा माहौल बेताब दिखाई देता है. मगर कला खोयी-खोयी रही. जितना शरत उसे उस ख़ूबसूरत माहौल की तरफ़ खींचता वह ज़हनी तौर पर भागी-भागी फिरती.

शरत ने उसकी कई तस्वीरें लीं. मुख़्तलिफ़ के पोज़, मुख़्तलिफ़ ज़ाविये से, कहीं खड़ा करके, कहीं लिटाकर, कहीं फ़र्श पर औंधे सुलाकर, फिर कैमरे की ऑटोमेटिक क्लिप लगाकर उसे एक चट्टान पर रख दिया और लपककर उसे अपने आग़ोश में भर लिया. कला तड़पने को हुई तो उसने 'सी' करके कैमरे की तरफ़ इशारा कर दिया. यह सब चन्द सेकेंड में हो गया फिर कैमरे की ग-र-र-र-र करने वाली आवाज़ खट से रुक गयी.

"हो गयी तस्वीर !"

"ऐसी तस्वीर ?" कला को नागवार लगा, "क्यों ?"

"अरे क्यों का क्या मतलब ? यूँ ही एक यादगार..."

"या पति होने के एहसास को बनाये रखने के लिए ?"

मगर कला ख़ुद दंग रह गयी. वह क्या कह गयी. शरत का उस पर हक़ है. उसका भी शरत पर उतना ही हक है. ज़िन्दगी में जितना कुछ उसे शरत से लेना है उतना ही कुछ देना भी है. यह दान और प्रतिदान का नाज़ुक रिश्ता जो पवित्र अग्नि के गिर्द फेरे देने के बाद पैदा होता है. कोई मामूली और ऐसा-वैसा रिश्ता नहीं. किसी अपने और एकदम अपने शख़्स के साथ रातें गुज़ारने के बाद भी वो बात शायद नहीं होती. भगवान की साक्षी और वर्षों के रवायती (पारम्परिक) निज़ामे ज़िन्दगी की कोख से जब फूल खिलता है तो उसकी महक से रूह ज़िन्दा होती है ! आत्मा को एक नयी और विशाल ज़िन्दगी मिलती है.

फिर शरत में बुराई क्या है ? कला ने ख़ामोशी से चलते-चलते सोचा. ख़ूबसूरत है, जवान है और तन्दुरुस्त है. इसके पास लाखों रुपये हैं. फिर उसे चाहता कितना है. कितना टूटकर उसे प्यार करता है. उसकी किसी बात का बुरा नहीं मानता. कोई बात नहीं टालता. चलते-चलते उसने शरत की तरफ़ देखा और मुस्कुरा पड़ी.

"क्यों क्या बात है ?"

"कुछ नहीं" उसने सामने ठहरे हुए सफ़ेद बादलों की तरफ़ देखते हुए कहा, "तुम बहुत अच्छो हो...!"

"अच्छा!" शरत ने हँसते हुए ज़रा आश्चर्य से पूछा, "पसन्दीदगी का शुक्रिया."

"तुम तंज़ (व्यंग्य) करते हो."

शरत ने ज़ोरदार क़हक़हा लगाया और लपककर उसे अपने आग़ोश में ले लिया, "बुरा मान गयीं. मैंने कब तंज़ किया. तुम तो कला सफ़ेद बादलों की तरह हो. चाहो तो बरसो. चाहो तो प्यासों को तड़पाती हुई आगे निकल जाओ." कला को अच्छा लगा. बात चाहे बेतुकी सही मगर शरत ने ख़ूबसूरत ढंग से कही तो उसका सारा गुस्सा ख़त्म हो गया. फिर उसने सोचा कि वास्तव में वह सफ़ेद बादल की तरह है. जिसको नामालूम-सा अजनबी-सा हवा का रेला बहाये लिये फिरता है. वह अपने पाँव मज़बूत करना चाहे तो भी नहीं कर सकता. कहीं दम भर को ठहरना चाहे तो नहीं ठहर सकता. बरसना चाहे तो बरस नहीं सकता. पाबन्द है—पाबन्द है...कला के दिमाग़ में यह बात भी आयी कि वह ख़ुद किसकी पाबन्द है....किसकी ? शरत की...? शादी और श्लोक की ? ज़िन्दगी—करने की ख़्वाहिश, अपने ढंग की ज़िन्दगी करने की ख़्वाहिशात की. हर लम्हा जो बीत जाता है वह आदमी के बस में नहीं. वह अख़्तियार से बाहर की चीज़ है. फिर यह बेक़रारी क्यों ? यह पाबन्दियाँ क्यों ?

कल शरत ही न रहे या वह ख़ुद ही शरत की ज़िन्दगी से हमेशा-हमेशा के लिए मौत की नींद सो जाय सारी पाबन्दियों, बन्धनों को तोड़कर...!

लेकिन क्या इसके बाद भी वह बन्धन टूट जाते हैं. वह मर जाय तब भी शरत की. शरत इस दुनिया में न रहे जब भी इसकी. ज़िन्दगी की यह गाँठें कितनी सख़्त हैं, कभी न खुलने वाली, कभी न टूटने वाली ख़्वाह, वह तड़प-तड़पकर पाँव पटक-पटककर जान दे दे. यह बन्धन नहीं टूटने वाला.

चलो अच्छा है, एक आराम है. शरत बहुत अच्छा शौहर है. इसके बाजुओं में क़ुव्वत है. आँखों में मुहब्बत का समन्दर मौजें मारता रहता है. ज़िन्दगी में और क्या चाहिए. ज़ख़्मों को भर जाने दो. अगर और कुरेदेंगे तो टीस उतनी ही बढ़ेगी. इसको भर जाने दो.

बाहर दूर-दूर तक फैला समन्दर विस्तृत, गम्भीर ज़िन्दगी की तरह अथाह. उसकी ख़ामोश सतह पर बारिश लगातार ज़ख़्म डाल रही थी. सारी फ़ज़ा में घुटन थी. बम्बई की बरसात बड़ी तक़लीफ़देह होती है. बड़ी परेशानकुन होती है. ऐसी होती है जहाँ कोई हनीमून नहीं मना सकता....

कला बाहर एकटक समन्दर को तके जा रही थी. उसे ऐसा महसूस हो रहा था कि एक समन्दर और भी है जिसकी सतह पर कला की ज़िन्दगी एक ख़ामोश लाश की तरह पड़ी हिचकोले खा रही है. नीला, गहरा समन्दर. ज्वार से महरुम कोई भारी तीखी लहर भी नहीं उठती. जो इस ख़ूबसूरत कपड़ों में लिपटी हुई लाश को नज़रों से दूर भगा ले जाये. फिर ज़रा देर बाद जब शरत ने उसके कंधे पर हाथ रखा तो आप से आप उसकी आँखें बन्द हो गयीं.

एक पल गुज़रते ही वह चौंककर हट गयी और उसने शरत की तरफ़ चौंककर अजनबी नज़रों से देखा.

"क्यों, क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं." अपनी बौखलाहट को छुपाने की कोशिश करते हुए मुस्कुरा पड़ी.

"कुछ नहीं क्या." शरत ने तौलिये से मुँह पोंछते हुए कहा, "कला तुम जबसे बम्बई आयी हो लगता है जैसे कुछ ढूँढ़ती फिरती हो. कहो तो क्या खो गया है तुम्हारा ?"

"शरत." वह तकरीबन चीख़ते हुए बोली. फिर उसकी अपनी आवाज़ उसके दिल में नश्तर की तरह टूट गयी. उसने आँसुओं से भरी आँखों से शरत को देखा और सोफे के हत्थे पर सर रखकर आहिस्ता-आहिस्ता रोने लगी. बाहर समन्दर के सीने पर बारिश लगातार सर धुन रही थी...!

ग़यास अहमद गद्दी

मूल नाम : ग़यास अहमद
जन्म : 27 फरवरी 1928, झरिया (बिहार)
मृत्यु : 25 जनवरी 1986
पहली कहानी : 'देवता' (1947) जो 'हुमायूँ' लाहौर के मासिक में छपी.
कृतियाँ : 'बाबा लोग', 'परिंदा पकड़ने वाली गाड़ी', 'सारा दिन धूप' (कहानी संग्रह); 'पड़ोव' (लघु उपन्यास),

◆ कहानी ◆

गमले में उगा हुआ शहर

●

रशीद अमजद

एक

जनाज़े का जुलूस बड़ी सड़क से क़ब्रिस्तान वाली बगली सड़क पर मुड़ा तो कराहों के तेज़ नुकीले नाखूनों ने वातावरण के शान्त चेहरे को नोच-नोचकर लहूलुहान कर दिया.

उसने गहरी साँस लेकर सीने पर बैठे हुए बोझ को एक तरफ़ खिसकाने की कोशिश की और उसी पल उसे महसूस हुआ कि जनाज़ा वहाँ मौजूद नहीं है. उसने एड़ियों के बल उचककर चारों तरफ़ निगाह डाली. आगे-पीछे, दायें-बायें—जनाज़ा कहीं नहीं था.

'जनाज़ा किधर गया ?' उसने अपने आपसे पूछा और सिर घुमाकर साथ वाले की तरफ़ देखा. उसके दायें-बायें कई लोग सिर झुकाये गहरी साँस लेते सीने पर रखे बोझों को इधर-उधर खिसकाने की कोशिश कर रहे थे. उसने एड़ियों के बल उचककर फिर एक निगाह दौड़ायी लेकिन जनाज़ा नज़र न आया.

"भाई साहब..." उसने साथ वाले की तरफ़ देखा. साथ वाले ने सिर उठाकर उसे घूरा और मुँह नीचे कर लिया.

"भाई साहब..."

साथ वाले ने फिर घूरा.

"...जनाज़ा गुम हो गया है." उसने अटकते-अटकते कहा.

"क्या...? क्या गुम हो गया है ?" साथ वाले ने पहले इसकी तरफ़ देखा, फिर सामने देखा और उसका मुँह खुले का खुला रह गया, "अरे, जनाज़ा कहाँ गया...?"

आसपास के लोगों ने चौंककर उनकी तरफ़ देखा और फिर सामने देखा, "अरे...!"

"जनाज़ा किधर गया...?"

"जनाज़ा किधर गया...?"

अफ़रातफ़री एक ही पल में छलाँग लगाकर उनके बीच आन खड़ी हुई और बाल खोलकर धमाल मचाने लगी.

आधा जुलूस बड़ी सड़क पर और आधा बगली सड़क पर. हैरानी के फोकस में क़ैद चेहरे, दायरे में चक्कर लगाते सवाल.

उसने दिमाग़ पर ज़ोर देकर गुज़रते पल की डोर पकड़ने की कोशिश की. बड़े मैदान में मरने वाले को सूली से उतारकर जनाज़े की डोली में डाला गया था. उसने उछल-उछलकर आसपास खड़े लोगों के सिरों से ऊपर उठकर ख़ुद उसे देखा था. इन्सानों के चारों तरफ़ फैले हुए समुद्र में अनगिनत कन्धों से होता हुआ जनाज़ा बड़ी सड़क पर, जिसे राजमार्ग नं. एक कहते थे, लाया गया था.

उसने आगे-पीछे मुड़कर देखा...लोग गिरोहों और टोलियों में बँट गये थे और एक दूसरे से पूछ रहे थे, "जनाज़ा कहाँ गया ?"

उसने नये सिरे से पलों को जोड़ना शुरू किया—लोगों को उसकी मौत की ख़बर सुबह सवेरे ही मिल गयी थी. कानाफूसियाँ नृत्य करतीं सारे शहर में फैल गयी थीं. दुकानें खुली ही नहीं थीं या सुबह ही बन्द हो गयी थीं और सड़कें सुनसान ! लोग बड़े मैदान में जमा हो गये थे. जब जनाज़ा उठाया गया तो आहें मूसलाधार बारिश की तरह सारे शहर पर बरस पड़ीं.

दूसरे बाज़ार तक तो उसे याद था. शायद उसके बाद भी उसकी नज़र जनाज़े पर पड़ी हो लेकिन वह ठीक से याद नहीं कर पा रहा था कि आख़िरी बार उसने जनाज़ा कब और कहाँ देखा था.

लोगों की टोलियाँ और झुंड शहर की गलियों में और सड़कों पर जनाज़ा तलाश कर रहे थे.

वह पिछले राजमार्ग की तरफ़ चल पड़ा. चौक चौराहे, गलियाँ, टुकड़ी टोलियाँ, झुंड, बस जनाज़े की गुमशुदगी की बातें—हर कोई अपनी-अपनी कह रहा था.

"राजमार्ग नम्बर एक का मोड़ काटते तो मैंने ख़ुद देखा था..."

"मैंने राजमार्ग नम्बर तीन के बीच चौक में देखा था..."

"मैंने बगली सड़क के सौ गज़ उधर देखा था..."

लेकिन यह किसी को मालूम न था कि जनाज़ा गुम कहाँ हुआ है ? क्या मालूम, जनाज़ा उठाया ही न गया हो और लाश अभी तक सूली पर ही लटक रही हो, उसके ध्यान में आया—क्या मालूम ये सब वहम हो. सारा रास्ता वह

सोता आया हो और अब जागा हो.

या फिर वह अब जाग रहा हो और जनाज़ा वाक़ई गुम हो गया हो. वह बड़े मैदान की तरफ़ बढ़ने लगा.

अँधेरा शहर को घेरे में ले रहा था और रात कोई दम में शहर पर टूट पड़ने वाली थी और लोग भाग रहे थे, दौड़ रहे थे.

"कुछ पता चला ?" किसी ने किसी से पूछा. उसे कुछ पता न चला.

"नहीं..." किसी ने किसी से कहा और कुछ जान न सका.

"बड़े मैदान में तो अँधेरा भरा हुआ है..." उसने सुना और उसके क़दम रुक गये.

यकायक भागते-दौड़ते लोगों में से एक कोई उसकी तरफ़ मुड़ा, "तुम कौन हो ?" मगर उसे कोई उत्तर न मिला.

"मैं...मैं हूँ !" फिर उसने चुपके से अपने-आप से पूछा, "मैं कौन हूँ ?" मगर उसे कोई जवाब न मिला.

"मैं...!" उसने फिर कुछ कहना चाहा. दिमाग़ पर ज़ोर दिया मगर कुछ याद न आया. धुँधलाहटों में हाथ-पैर मारते हुए बस इतना याद आया, लोग एक ताबूत उठाये जा रहे थे. उस ताबूत में...उस ताबूत में शायद वह था या फिर शायद वह नहीं था. अब भी शक़ के कुल्हाड़े हाथों में लिये, एक दूसरे के पीछे भागते हुए उनमें से हर एक दूसरे से पूछ रहा है, "तुम कौन हो ?"

"मैं...मैं...." दूसरा जवाब देने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर डालता है. मगर उसे कुछ याद नहीं आता. धुँधलाहटों में हाथ-पैर मारते हुए बस इतना याद आता है कि लोग एक ताबूत उठाये जा रहे थे, उस ताबूत में, उस ताबूत में शायद वह था—या फिर शायद वह नहीं था.

दो

जैसे ही क़ब्र खोदने का काम पूरा हुआ, उनके चेहरों पर जगमगाहटें करवटें लेने लगीं.

वे पिछले कई महीनों से ये क़ब्र खोद रहे थे. कभी नीचे से दलदल निकल आता. कभी आसमान पानी बन जाता. क़ब्र खोदने के दौरान उन्हें मालूम हुआ, अन्दर ही अन्दर शहर की धरती, दलदल और आसमान पानी हो चुका है. मगर उन्हें हर हाल में क़ब्र खोदनी थी और अब जबकि क़ब्र खुद चुकी थी, वे मिट्टी के ढेर के पास बैठे सुस्ता रहे थे. पत्थर की सिलें तरतीब के साथ एक तरफ़ पड़ी थीं. गारा बनाने के लिए पानी से लबालब भरी बाल्टी भी पास ही रखी थी. बस एक जनाज़े का इन्तज़ार था.

लम्हों के सिलसिले सरकते रहे, खिसकते रहे और आख़िर क़ब्र खोदने वालों की आँखें क़ब्रिस्तान की तरफ़ बढ़ते हुए रास्ते को देख-देख पथरा गयीं—डूबता सूरज और ख़ाली क़ब्र.

फिर रहस्यमयी सन्नाटे के तने हुए ख़ेमे से यकायक एक आवाज़ गूँजी..."जनाज़ा गुम हो गया है."

सूरज डूब गया. सिरों पर मँडराती रात नीचे उतरने लगी.

क़ब्र खोदने वालों में से एक ने दूसरे की तरफ़ देखा और भर्रायी हुई आवाज़ में कहा..."लेकिन अब हम दफ़न किसे करेंगे ?"

"दफ़न... ?" दूसरा चौंका.

"हाँ, क़ब्र ख़ुद जाय तो फिर लाश माँगती है...!"

सबने एक दूसरे को सन्देह भरी नज़रों से देखा—नीचे उतरती रात रौशनी को दबोच रही थी और ख़ाली क़ब्र अपने आकार से कहीं बड़ी दिखाई दे रही थी.

रशीद अमजद

जन्म : 5 मार्च 1940, श्रीनगर.

सम्प्रति : रावलपिंडी (पाक) के एक महाविद्यालय में उर्दू के उस्ताद.

कृतियाँ : 'बेज़ार आदम के बेटे', 'रेत पर गिरफ़्त', 'सह पहर की ख़िज़ा' (कहानी संग्रह); 'नया अदब' (आलोचना)

सम्पर्क : सी-52/बी-83 ओल्ड लेन नं. A, गुलिस्तान कॉलोनी, रावलपिंडी

"...लेकिन लाश किसकी ?" एक बड़बड़ाया.

"कोई भी लाश...खुदी हुई क़ब्र तो बस मुर्दा माँगती है...."

"एक लाश...."

"कोई भी लाश...."

सरगोशियों के कन्धों से सवाल फिसला, क़ब्रिस्तान से निकला और रेंगता-रेंगता—सारे शहर में फैल गया. चौक, चौराहे, बाज़ार, गलियाँ, नुक्कड़, टोलियाँ, झुंड चुपचाप एक दूसरे को तकती हुई आँखें. रात नीचे उतर आयी थी, और बाल खोले शहर में फिर रही थी.

एक-एक करके हर शख़्स सहमे हुए घरों में खो गया. जहाँ बच्चे और औरतें पहले ही रो-रोकर चुप हो चुके थे.

वह शायद घर में था या फिर शायद घर में नहीं था.

"...इतनी देर ?" शायद उसकी बीवी ने कहा या फिर शायद उसकी बीवी ने नहीं कहा.

"खुदी हुई क़ब्र तो बस लाश माँगती है. लाश न मिले तो शहर तबाह हो जाता है...!"

दोनों में से शायद किसी ने किसी से कहा या फिर दोनों में से किसी ने किसी से नहीं कहा.

"क्या...?" शायद दोनों ने एक ही समय कहा या फिर शायद, दोनों ने एक ही समय नहीं कहा.

"कुछ नहीं...." दोनों ने शायद एक ही समय उत्तर दिया या फिर शायद दोनों ने एक ही समय उत्तर नहीं दिया.

दोनों शायद एक साथ एक बिस्तर पर थे और फिर शायद दोनों एक साथ एक बिस्तर पर नहीं थे.

नींद शायद उनकी आँखों में भरी हुई थी. या फिर शायद नींद उनकी आँखों में भरी हुई नहीं थी.

बाहर रात शायद अपने बाल बाँध रही थी, या फिर शायद बाँध नहीं रही थी. सूरज एक आँख खोले शहर को देख रहा था, या फिर शायद शहर को नहीं देख रहा था.

शायद अँधेरे में, शायद रौशनी में. या फिर शायद न अँधेरे में, न रौशनी में, खुदी हुई क़ब्र अपने आकार से बहुत बड़ी हो गयी थी और लाश माँग रही थी.

शायद दिन गुज़र गया था या फिर शायद नहीं गुज़ारा था.

शायद रात फिर आ गयी या फिर शायद नहीं आयी थी.

शक उनके शरीरों के उधड़े फटे हुए दरवाज़ों पर दस्तक दे रहा है. ख़ाली मंज़र उनकी बूढ़ी नज़रों को नोच रहा है. भूख उनकी अँतड़ियों को बल दे रही है और ऐसे में वे सब, सबके सब उनमें से हर कोई ख़ौफ़नाक आँखें फाड़े किसी दूसरे की आँख झपकने के इन्तज़ार में हैं कि खुदी हुई क़ब्र तो बस लाश माँगती है... ▣

◆ कहानी ◆

अँधेरे से अँधेरे की तरफ़

●

रामलाल
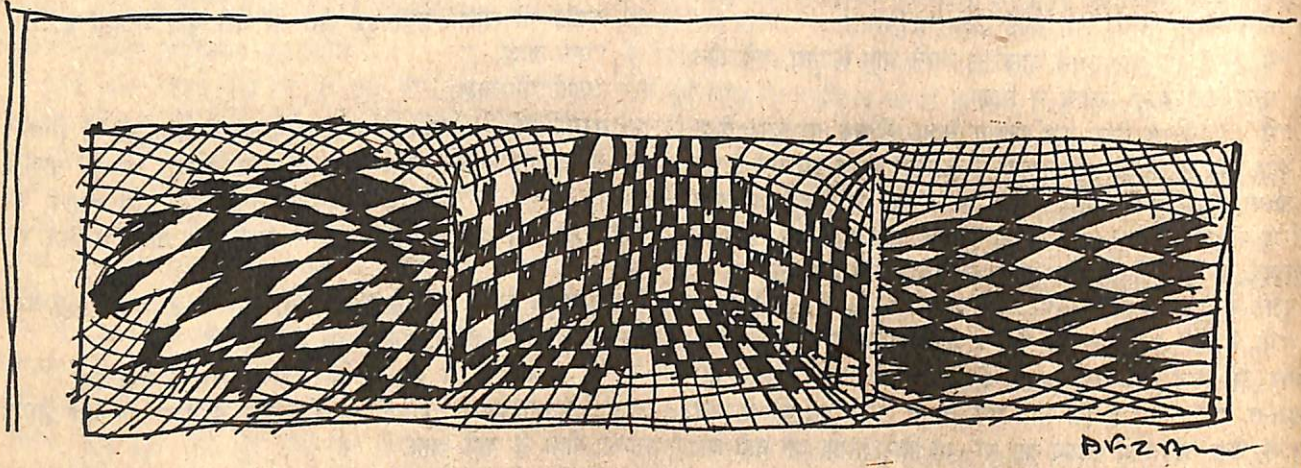
"कालका मेल हिन्दुस्तान की सबसे तेज़ रफ़्तार गाड़ी है. जब एक स्टेशन से चलती है तो फिर दो-दो घंटे कहीं रुके बिना ही भागी चली जाती है." यह बात एक धानपान क़िस्म के आदमी ने अपने साथी मुसाफ़िर से कही. लेकिन उसने उसकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया और अपने अख़बार में ही खोया रहा.

उसकी इस लापरवाही से पहले मुसाफ़िर के चेहरे पर नफ़रत और उपहास की मिली जुली कैफ़ियत नमूदार हुई. लेकिन वह फिर खिड़की से बाहर देखने लगा जैसे पहले देख रहा था. और हद्दे नज़र तक धूप में जलते हुए चट्टियल मैदानों और घूमते हुए से छोटे-छोटे पेड़ों को देख-देखकर ख़ुश हो रहा था लेकिन अब वह बहुत देर तक खासी संजीदगी से उन्हें देखता रहा. अचानक वह ज़ोर से चीख़ उठा, "अरे ग़ज़ब हो गया. अब हम किसी सूरत में बच नहीं सकते ! यह गाड़ी अब किसी भी घड़ी एक बहुत बड़े हादसे का शिकार हो सकती है. कुछ ही देर बाद हम सब मर चुके होंगे. यहाँ-वहाँ गाड़ी के मलबे के नीचे कुचले हुए पड़े होंगे."

छोटे से डिब्बे में इस समय सत्ताईस मुसाफ़िर थे. खचाखच भरे हुए उन लोगों ने उसे पहले तो पागल समझा, जब तक वह चीखता रहा. लेकिन उनकी समझ में फ़ौरन कुछ न आ सका कि इस आदमी का क्या करें.

"मैं रेलवे की कुछ टैक्नीकल बातें जानता हूँ. अभी-अभी मैंने इस डिब्बे के नीचे एक ऐसी गड़गड़ाहट सुनी है जिसका नतीजा एक हादसे के सिवा और कुछ नहीं हो सकता. आपको आगाह करना मैंने ज़रूरी समझा कि अब अपने आख़िरी समय से मिलने के लिए तैयार हो जायें."

अब सारे मुसाफ़िर भयभीत हो उठे. औरतें, बच्चे, मर्द—सब ! कोने में गठरी सी बनी बैठी दुल्हन ने अचानक घूँघट उलट दिया और अपने से ज़्यादा शर्मीले दूल्हे के कन्धे पर सिर रखकर बिलख-बिलख कर रो पड़ी. एक नौजवान, जो इलाहाबाद से कोने वाली लड़की को घूरता आ रहा था, अचानक सारा इश्क़ भूलकर उस आदमी का हाथ पकड़कर बोला, "मेरे डैडी अस्पताल में दम तोड़ रहे हैं. आज ही उनका तार मिला तो मैं दिल्ली के लिए चल पड़ा."

जिस लड़की को वह घूरता आ रहा था, वह उसकी बात सुनकर चौंक पड़ी.

अपनी जगह से उठकर उसके पास गयी और बहुत ही महीन आवाज़ में अटक-अटक कर बोली, "आइ एम वैरी मच इम्प्रैस्ड. लैट अस डाइ टुगेदर."

कुछ और मुसाफ़िरों ने भी

> "अपनी-अपनी महँगी चीज़ें अपनी जेबों में महफ़ूज़ कर लीजिये. लेकिन समझ लीजिये कि सब आपके साथ जायेंगी नहीं. जो लोग लाशें उठाने आयेंगे वे पहले हम सबकी जेबें ही टटोलेंगे. हो सकता है कि वे लाशें छोड़कर चलते बनें लेकिन फिर भी आप लोग अपना-अपना अता-पता लिखकर जेब में रख लीजिये. हो सकता है कि मरने के बाद किसी न किसी की पहचान हो ही जाये. लेकिन मरने से पहले हम एक-दूसरे से परिचित क्यों न हो लें. एक दूसरे के सामने अपने-अपने गुनाहों को स्वीकार क्यों न कर लें."

जल्दी-जल्दी करवटें बदलीं. कुछ लोग अपने ट्रंकों और थैलों को खोलने लगे.

ख़तरे की चेतावनी देने वाले मुसाफ़िर ने चन्द ही लम्हों के अन्दर सबकी प्रतिक्रियाएँ गहरी नज़र से देख लीं. उसने सबसे मुख़ातिब होते हुए कहा, "अपनी-अपनी महँगी चीज़ें अपनी जेबों में महफ़ूज़ कर लीजिये. लेकिन समझ लीजिये कि सब आपके साथ जायेंगी नहीं. जो लोग लाशें उठाने आयेंगे वे पहले हम सब की जेबें ही टटोलेंगे. हो सकता है कि वे लाशें छोड़कर चलते बनें लेकिन फिर भी आप लोग अपना-अपना अता-पता लिखकर जेब में रख लीजिये. हो सकता है कि मरने के बाद किसी न किसी की पहचान हो ही जाये. लेकिन मरने से पहले हम एक-दूसरे से परिचित क्यों न हो लें. एक दूसरे के सामने अपने-अपने गुनाहों को स्वीकार क्यों न कर लें. एक दूसरे को माफ़ भी कर दें और निश्चय कर लें कि मरने के बाद ख़ुदा हम सब को एक ही जगह भेजे, जन्नत या जहन्नुम में. लेकिन मुझे पूरी उम्मीद है कि हम सब जन्नत में ही जायेंगे. इस समय हमारे दिल बिलकुल पाक व साफ़ हैं. मैं मुहब्बत और ख़ुलूस की झलक हर एक चेहरे पर देख रहा हूँ. अगर आप सबका ख़ुदा पर यक़ीन है तो सब मिलकर हाथ उठायें."

यह सुनकर सबने उसी अन्दाज़ में हाथ उठा दिये जिस अन्दाज़ से उस आदमी ने हाथ उठाये थे. इसके बाद सब लोग एक दूसरे के गले से मिल-मिलकर परिचित होने लगे. एक दूसरे से अपने-अपने गुनाह बख़्शवाने लगे.

अजनबी लोग जल्दी ही एक दूसरे से परिचित हो गये पापों की वजह से. पाप सबमें मुश्तरिक थे. एक जैसे !

उस आदमी ने आगे बढ़कर सारी खिड़कियाँ बन्द कर दीं, "अब हम बाहर की कोई चीज़ नहीं देखेंगे. अब हमारा सफ़र घुप अँधेरे की तरफ़ हो रहा है. पता नहीं, कितने लाखों करोड़ों मील अँधेरे की मुसाफ़त तय करनी है. लेकिन किसी को इस बात का रंज नहीं होना चाहिए. दुःख नहीं होना चाहिए. आँसू की एक बूँद तक न गिरे, ज़रा सी भी सिसकी न निकले... ."

बहुत से लम्हे बड़ी ख़ामोशी से अँधेरे में डूबे-डूबे कटे. सबने आँखें बन्द कर लीं. सब अपने-अपने अन्दर झाँक रहे थे. सबने बाहर की रौशनी से अपना नाता तोड़ लिया था.

उस आदमी ने कहा, "आपमें से किस-किस के पास खाने का सामान है ? जो कुछ भी किसी के पास हो निकाल कर रख दे. आख़िरी खाना हम मिलकर खायेंगे."

लड्डू, पूरियाँ, रोटियाँ-घी में चुपड़ी हुई और सूखी, अंडे, कबाब, टोस्ट, फल वग़ैरह. बहुत कुछ निकलकर सामने आ गया—एक जगह ढेर-सा लग गया. सब मिलकर खाने लगे.

अचानक ऊपर के तख़्ते पर सोये हुए एक शख़्स पर एक साथ सबकी निगाह पड़ी. सब हैरान रह गये. उसे अभी तक किसी ने जगाया नहीं था.

एक आदमी उसे झिंझोड़ने के लिए आगे बढ़ा लेकिन चेतावनी देने वाले मुसाफ़िर ने उसे मना कर दिया, "इसे जगाने की अब ज़रूरत नहीं है. हम सब तो अपने-अपने ख़ौफ़ और दुःख को दबाकर मंज़िल की ओर बढ़ रहे हैं. यह आदमी अपनी हर क़िस्म की तक़लीफ़ से अब तक ग़ाफ़िल पड़ा है. इसे इसी तरह जाने दिया जाये. इसके गुनाहों की माफ़ी के लिए हम सब मिलकर दुआ कर लें. इससे ख़ुदा भी ख़ुश होगा कि हमने कम से कम एक शख़्स को तो मौत के दर्द

रामलाल

जन्म : सियालकोट (पाकिस्तान)

मृत्यु : 1996

प्रमुख कृतियाँ : 'आईने', 'गली गली', 'आवाज़ तो पहचानो', 'चिरागों का सफ़र', 'इन्तज़ार का क़ैदी', 'कल की बातें', 'उखड़े हुए लोग', 'गुज़रते लम्हों की याद', 'मासूम आँखों का भरम' (सभी कहानी संग्रह)

से महफ़ूज रखा."

सबने उसकी बात से इत्तफ़ाक किया. सबने उसके लिए दुआ की. लेकिन जैसे ही वह दुआ माँग चुके, अचानक सबको अहसास हुआ कि गाड़ी तो अपने मामूल के मुताबिक़ आगे बढ़ रही है. हादसा अभी तक नहीं हो सका. उन्हें सख़्त सदमा पहुँचा. उनके चेहरों पर मायूसी छा गयी. लेकिन जल्दी ही वे गुस्से से बिफ़र उठे. एक ने चिंघाड़कर पूछा, "हादसा क्यों नहीं हुआ ?"

दूसरे ने ख़म ठोककर कहा, "हादसा कभी नहीं होगा."

तीसरे ने चेतावनी देने वाले का गिरेबान पकड़ लिया, "ये सब झूठ था न ? हमें बेवकूफ़ क्यों बनाया गया ?"

जिस औरत ने मौत के डर से अपना घूँघट उलट दिया था, उसने अपना चेहरा फिर से छुपा लिया और अपने नये नवेले दूल्हे से ज़रा दूर खिसक गयी. जिस लड़की ने नौजवान लड़के की मुहब्बत कुबूल कर ली थी, वह उसे थप्पड़ लगाकर अपनी जगह फिर वापस चली गयी. एक आदमी ने अचानक ही साझा दस्तरख़्वान उलट दिया.

"चेतावनी देने वाले आदमी ने यह हाल देखा तो एक ट्रंक पर चढ़कर खड़ा हो गया और अपने बाल नोचते हुए बोला, "आप लोगों का यकायक मौत पर से भरोसा क्यों उठ गया है ? हादसा ज़रूर होगा. मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ. ख़ुदा ने हमारी दुआ कुबूल कर ली है."

लेकिन इसकी बात किसी ने न सुनी. लोगों ने बन्द खिड़कियाँ खोल दीं. बहुत देर तक अँधेरे में रहने की वजह से अचानक रौशनी मिलने पर सबकी आँखें चौंधिया गयीं. उनके लिए एक दूसरे को पहचानना तक मुश्किल हो गया था."

उस आदमी ने अजीब-सी थरथराहट से खिड़की से बाहर झाँका. हादसे की मंज़िल को पहचानने की कोशिश की. फिर अचानक दरवाज़ा खोलकर ख़ुशी से चीख़ उठा, "मौत की मंज़िल दूर नहीं है. दूर नहीं है. मेरे पीछे जिसको आना हो, चला आये."

यह कहकर वह चलती गाड़ी से कूद गया. चन्द लम्हों तक सबके होंठ सिले रह गये. कोई भी बोल न सका. ऊपर के तख़्ते पर सोया हुआ आदमी अचानक जाग उठा. उसने हैरत से सबकी ओर देखा और पूछा, "आप लोग ख़ामोश क्यों हो गये ? मैं समझा, गाड़ी अपनी मंज़िल पर पहुँच गयी है. और आप सब उतरकर चले गये हैं !"

फिर अचानक उसने तख़्ते से झुककर किसी को तलाश किया और पहले से भी ज़्यादा हैरान होकर पूछा, "वह आदमी कहाँ है, जो मेरे साथ था ? वह रास्ते में ही कहीं उतर तो नहीं गया ? उसका दिमाग़ कुछ ख़राब सा है !"

यह सुनकर फिर से गाड़ी के शोर और भागने का अहसास हुआ था और वे ज़ंजीर खींचने के लिए एक साथ लपके ! ◘

◆ कहानी ◆

खेल का तमाशाई

●

जीलानी बानो

ड्रामा शुरू हो रहा था.

दूसरों की कही हुई बातों पर होंठ हिलाने की प्रैक्टिस कर ली थी मैंने.

काली दाढ़ी वाला, हमारा ऊँचा पूरा डायरेक्टर भगवान दास स्टेज के बीच में खड़ा चिल्ला रहा था. उसी के इशारों पर मुझे मुड़ जाना था, आगे बढ़ना और थम जाना था.

प्रोम्पटर अपनी किताब खोले मेरी तरफ़ झुका हुआ था...तुम भूले-भटके इस गाँव में आ निकले हो. वह तुम्हारे पीछे दौड़ेगा. अगर तुम अपना बचाव नहीं कर सके तो मारे जाओगे.

मेरे क़त्ल का दृश्य देखने के लिए हज़ारों दर्शक प्रतीक्षा कर रहे हैं.

मुँह पर मुखौटा बाँधे, हाथ में तलवार लिये मेरे सिर पर खड़ा हुआ, जैसे मुझ पर वार करना था.

''बचाओ, बचाओ.'' मैं दोनों हाथ सिर पर रखकर चिल्लाया.

''भागो, भागो.'' ये मेरे डायलॉग थे मगर मेरे अलावा हॉल में बैठे तमाशाई चिल्लाने लगे, हर तरफ़ भगदड़ मच गयी.

(हम यह ड्रामा नुक्कड़ पर नहीं कर रहे थे.)

राइटर ने बड़े सोच-विचार के बाद स्क्रिप्ट लिखी थी. भगवान दास ने बड़ी मेहनत से सेट तैयार किया था, जैसे भगवान इस संसार को सजाता है. मगर हॉल में बैठे एक आदमी ने दूसरे को चाकू मारकर ड्रामे को क्लाइमेक्स पर पहुँचा दिया था. अब हर तरफ़ अँधेरा छा गया था. तमाशाई हमारा ड्रामा छोड़कर भागने लगे. भगवान दास घबरा गया क्योंकि शहर के मंच पर भगवान ने एक दूसरा ड्रामा शुरू कर दिया था. लोग गोलियों के वार से बचने के लिए चिल्लाते हुए दौड़ रहे थे.

तबाही का इतना बड़ा सेट ऊपर वाला भगवान इतनी जल्दी कैसे तैयार कर लेता है !

वह भी हमारे डायरेक्टर की तरह ज़माने का रुख पहचान गया है. क़त्ल और तबाही के हमेशा नये और अनोखे दृश्य दिखाये जाने लगे हैं. ''लोगों का जमालयाती ज़ौक़ (सौन्दर्य बोध) बुलन्द हो गया है.'' भगवान दास यह बात बार-बार अपने आर्टिस्टों से कहता है.

''अब तुम यहाँ से भाग जाओ. मैं कल सुबह तुम्हें नेहरू स्क्वायर पर मिलूँगा.'' घुप अँधियारी में कहीं से भगवान दास की आवाज़ उभरी और डूब गयी.

(भगवान के वायदे मुझे सदा आगे की ओर धकेलते रहे हैं.)

''बचाओ ! बचाओ !!'' मैं चिल्लाता हुआ भाग रहा था, घुप अँधियारी में रोते-चिल्लाते लोगों के साथ-साथ कुछ चीज़ें मुझसे दूर हो जाती हैं मगर क़रीब कुछ नहीं आता.

अब मेरे साथ-साथ कर्फ़्यू की काली रात भाग रही है और ऊपर तारों से झिलमिलता हुआ आसमान फैला है. हर चौराहे पर वे मुझे घेर लेते हैं. मेरा खौफ़ से ठंडा बदन छूकर पूछते हैं, ''क्या यह ज़िन्दा है...?''

''नहीं मर चुका हूँ.'' मैं उनसे विनती करता हूँ.

उन्हें मेरी बात पर यक़ीन हो गया. मरने को स्वीकार करना ही तो मौत है.

वे आगे बढ़ गये. ज़िन्दा लोगों को मारने के लिए.

थोड़ी देर में बरछियाँ चमकाती हुई एक और भीड़ मेरे पीछे-पीछे आने लगी. वे सब मेरी तलाश में हैं क्योंकि उन्हें मुझे मारने का अख़्तियार है. वे मुझे कब से ढूँढ़ रहे हैं. कब से मेरा पीछा कर रहे हैं. वे मुझसे बेहतर हैं क्योंकि अपने मिशन को पूरा कर रहे हैं. एक मैं हूँ कि बार-बार सोचता हूँ—ठहर जाऊँ...? भागता रहूँ...?

मौत मेरे पीछे आ रही है तो कितने दुख, कितने पछतावे मेरे सामने आ खड़े होते हैं. मैंने अपने मज़हब के उसूल भी भुला दिये थे. मगर स्टेज पर अवतारों-देवताओं के विचार चिल्ला-चिल्लाकर तमाशाइयों को सुनाता रहा हूँ. वे सब भोले-भाले तमाशाई जो मुझे भगवान के रूप में देखकर खौफ़ से सिर झुका लेते थे. राम बनकर चौदह वर्ष के वनवास की एक्टिंग मुझे इतना थका देती थी कि पर्दा गिरते ही राम के वस्त्र उतार फेंकता था. लोगों की तालियाँ मेरा सिर ऊँचा कर देती थीं.

मगर मैं राम के रूप में थोड़ी देर जीने की हिम्मत कभी नहीं कर सका. स्टेज के पीछे जाने के बाद मुझे संसार में फैला अन्याय नज़र नहीं आया, न ही मैंने किसी की एक छोटी-सी ख़ुशी पूरी करने के लिए अपने मन को मारने की बात सोची.

मैं हर जगह से कितनी जल्दी गुज़र गया ! फ़ैसले की घड़ी कभी नहीं आयी.

मगर अब मैं चिल्लाकर लोगों को सुनाना चाहता हूँ कि मुझे मत मारो, मैंने भगवान के रूप धारे हैं. तुमने मुझे राम के रूप में देखा है.

हर तरफ़ मेरी आवाज़ गूँज रही है. हर तरफ़ से मारने वाले मुझे घेर रहे हैं. ऊँची बिल्डिंगों वाले लोग अपनी खिड़कियाँ खोलकर मेरे मरने का तमाशा देख रहे हैं. उन्होंने अपने कैमरों का फोकस मेरे ऊपर कर दिया है. इस फिल्म को वे संसार के मँहगे मार्केट में बेचकर इस साल का नेशनल एवार्ड प्राप्त करेंगे. दुनिया आर्ट की क़द्र करती है. इसलिए तो मुझे इस संसार से इतना प्यार है; जैसे कि यह संसार खुदा ने नहीं, मैंने बनाया है. अभी थोड़ी देर पहले मेरा जीना-मरना भगवान दास के हाथ में था.

''अगर अपना बचाव नहीं कर सके तो मारे जाओगे.'' स्टेज पर तलवार उठाने वाला मेरा दुश्मन शायद अब भी मेरा पीछा कर रहा है. इसलिए मैं भाग रहा हूँ. कहीं छुप जाना चाहता हूँ. अब केवल उसके वार से बचना ही मेरी ज़िन्दगी का मक़सद रह गया है.

''कौन है तू...?'' मेरा दुश्मन मुझसे पूछ रहा है.

यह सवाल तो मैंने भी कई बार अपने-आप से किया है. जब भगवान दास मेरा चेहरा मेकअप में छिपाकर मुझे नये किरदार में ढालता
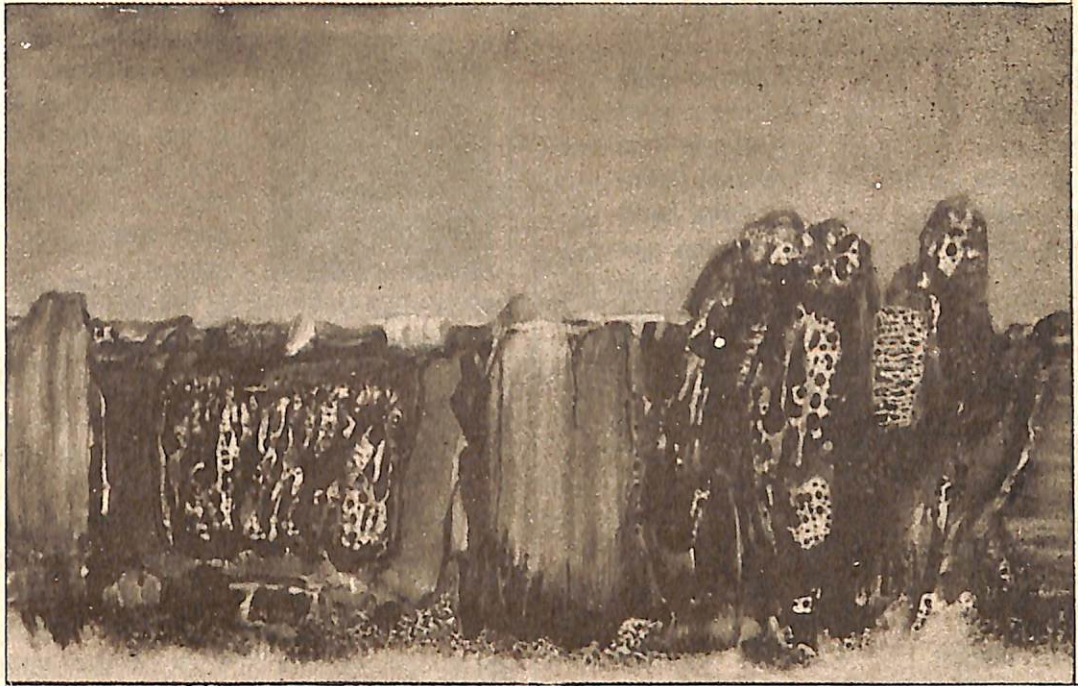
था, मैं अपने-आपको भूल जाता था. मुझे जो डायलॉग बोलने थे, उन्हें कोई और लिखता था.

मैं उसे क्या जवाब देता...? भागता रहा. जब हमारे पास कोई जवाब न हो तो भाग जाना ही अच्छा है.

''बचाओ ! बचाओ...!'' मैं चिल्लाने लगा.

अब वह मेरी गर्दन पर वार करने वाला है. इससे पहले कि वह अपनी तलवार से मेरी गर्दन काट दे, मेरा घूँसा उसका मुँह तोड़ देगा. उसे मार डालने के खौफ़ से मैं लड़खड़ाने लगा हूँ.

''मुझे मत मारो.'' मैं अपने पीछे आने वाले साये से कहता हूँ.

''क्यों...? क्यों नहीं मारूँ; तुम्हें ज़िन्दा रखने का कोई औचित्य तो होना चाहिए.''

यह बात तो मैंने कई बार सोची थी. मेरे जीवित रहने का मक़सद क्या है...?

मेरी माँ कहती थी कि ख़ुदा की तरह मेरे माँ-बाप भी मेरा जन्म नहीं चाहते थे. शायद उन्हें भी इस झमेले का अन्दाज़ा था कि इस ज़िद्दी इनसान के लिए एक कायनात की रचना करनी पड़ेगी उन्हें. सहीफ़े (आसमानी किताबें) उतारने होंगे. अवतारों, पैग़म्बरों का ताँता बँध जायेगा मुझे सीधी राह पर लाने के लिए...कौन-सी राह पर...?

''अगर मैंने तुम्हें मार डाला तो मेरा क्या होगा...?'' मैं घबरा कर उससे पूछता हूँ.

''भूल जाओ इस ख़ुशफ़हमी को.'' वह हँसकर कहता है, ''तुम मेरे वार से नहीं बच सकोगे अब !''

मुझे जहाँ-जहाँ नहीं होना चाहिए, मैं उन जगहों को उलांघता हुआ भाग रहा हूँ.

मगर मौत मेरे बहुत क़रीब आ गयी है. अब भगवान दास के स्टेज पर मुझे अपनी मौत का सीन नज़र आ रहा है. हज़ारों सोगवार मर्द-हाथों में फूल मालाएँ लिये, रोती हुई औरतें, टी. वी. पर नेताओं के भाषण :

...बहुत बड़ा कलाकार था वह, हजारों दिलों को ख़ुश करने वाला महान आर्टिस्ट, उसकी मौत देश का बहुत बड़ा नुक़सान है.

अब मैं लोहे का बुत बना शहर के किसी चौराहे पर खड़ा हूँ. हाथ उठाये दुनिया को कला के अमर होने का विश्वास दिला रहा हूँ. हॉल में बैठे तमाशाइयों से कह रहा हूँ, ''क्या तुम गवाही दोगे कि कर्फ़्यू की उस काली रात में मैं कहाँ-कहाँ भागता फिरा. मैंने कितने लोगों को पुकारा. मुझे बचा लो...तुम सबको...जो मेरी उम्दा अदाकारी पर तालियाँ पीटते रहे हो. मगर जब पर्दा गिर जाता है तो घुप अँधियारी में डूब जाने वाले कलाकार को भूल जाते हो. माज़ी के स्टेज पर कितने स्वाँग रचाये मैंने. कभी बहादुर सूरमा बना, कभी जी-जान से गुज़र जाने वाला आशिक़ और कभी ऐसा देवता, जिसके आगे सब सिर झुका देते हैं.

मैंने अपने-आपको कितने अर्थ दिये. मगर दुनिया ने मुझे अर्थहीन ही समझा.

अब मेरे आगे आज है. और अब कुछ नहीं.

शायद मैं पहले उसे मार डालूँ...फिर मेरा क्या होगा...?

हम दोनों में से किसी एक को क़ातिल बनना है, जबकि मैं अपने आप को क़त्ल होते हुए देखता हूँ तो रोने लगता हूँ. जब उसे क़त्ल कर देता हूँ तो चिल्लाने लगता हूँ, ''बचाओ. बचाओ.''

किसी के रोने की आवाज़ आ रही है. यह मेरी आवाज़ है. हर तरफ़ से मेरे रोने की आवाज़ आ रही है, मानो भगवान दास ने स्टेज के सभी माइक बन्द करके केवल मेरे रोने की आवाज़ उभार दी है. अब मैं खुद ही अभिनेता था, खुद ही उस खेल का तमाशाई बना एक निहत्थे इनसान को भागते हुए देख रहा हूँ. उसके मुँह पर बँधे मुखौटे गिर चुके हैं. स्टेज पर बोलने वाले डायलॉग वह भूल चुका है. एक-एक कर वे पोशाकें गिर चुकी हैं, जो उसने सूरमाओं और देवताओं का स्वाँग रचाते समय अपने ऊपर डाल ली थीं.

''भगवान...ओ भगवान दास, तुम कहाँ हो...?''

मेरी चीखें सुनकर वह हँसने लगता है.

जीलानी बानो

जन्म : 16 जुलाई 1936, बदायूं.

कृतियाँ : अब तक सत्रह किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं, उनमें मुख्य यह हैं—'रोशनी के मीनार', 'यह कौन हँसा', 'नई औरत', 'सच के सिवाय' (कहानी संग्रह); 'परायाघर', 'जंगजू सितारे', 'ऐव न-ए-ग़ज़ल', 'नग़्मों का सफ़र', 'बारिशे-संग' (उपन्यास).

सम्मान : नुकूश एवार्ड 1991, कुल हिन्द क़ौमी हाली एवार्ड 1989, कुल हिन्द एवार्ड महाराष्ट्र, उर्दू अकादमी एवार्ड, सोवियत लैंड नेहरू एवार्ड 1985, मोदी ग़ालिब एवार्ड 1978, आलमी फरोग़े उर्दू एवार्ड, दोहा क़तर 1998.

"भगवान को पुकारकर मेरी हमदर्दी हासिल करना चाहता है...."

मगर उसकी बात अधूरी रह गयी. अमन का प्रचार करने वाले हाथों में बड़ी-बड़ी तख्तियाँ उठाये दुःखों का व्यापार करने वाले सड़कों पर नारे लगा रहे थे.

ये लोग केवल लाशें गिनने के लिए आते हैं. सड़कों पर बहते हुए ख़ून को अलग-अलग नाम देने के लिए. तो इसका मतलब है, मौत आ गयी है.

चमकते हुए बरछे लहराते, लाठियाँ घुमाते मारने वाले हमारे सिर पर आ पहुँचे थे.

"हमें मत मारो !" हम दोनों खुशामद करने लगे.

"मैं हिन्दू नहीं हूँ. मैं मुसलमान नहीं हूँ, अल्लाह की कसम, भगवान की सौगन्ध", हम दोनों अपने डायलॉग भूलकर, एक दूसरे के मुकाल्में दुहराने लगे.

"हटाओ यार, इन्हें क्या मारें ! ज़मीर से ख़ाली बदन हो चुके हैं सालों के."

यह किसके डायलॉग थे. स्टेज पर तो ये अदाकार नज़र नहीं आते. बस केवल उनकी आवाज़ क्लाइमेक्स सीन का मज़ा ख़राब कर देती है.

"अगर मैं आज तेरे साथ नहीं होता तो अभी ढेर हो जाता तू."

"अब तू ढेर हो जाने को तैयार हो जा. वह सामने नेहरू स्क्वायर नज़र आ रहा है, वहाँ मुझे भगवान मिल जायेगा."

"और मेरे लोगों की बस्ती आ गयी है."

"नहीं, नहीं. तू मुझे छोड़कर नहीं जा सकता." मैंने डर के मारे चिल्लाकर कहा.

उसके हमले से बचाव करते-करते मैं अपने क़ातिल का आदी हो गया था. आगे कुछ सुझाई नहीं दे रहा था. अपने क़ातिल की ललकार ही तो मुझे आगे की ओर दौड़ा रही है.

फिर न जाने किधर से वे सब निकल आये. राम और रहीम के रखवालों ने मुझे घेर लिया. वे सब चारों ओर से हम पर झपट पड़े, तो वह मुझ से इस तरह लिपट गया, जैसे साया अपने बदन में समा जाये.

अब मैं एक हाथ से उसे थामे हुए था और दूसरे हाथ से उसे धकेल रहा था. आगे कहाँ पाँव बढ़ाता...? सामने एक लाश पड़ी थी.

यह तुम्हारी लाश है ?

"मेरी...? नहीं तुम्हारी...!"

हमने लात मारकर लाश को गटर में धकेल दिया....

◆ कहानी ◆

हज़ारों साल लम्बी रात

रतन सिंह

सुनने वाले उसकी बात बड़ी एकाग्रता से सुन रहे थे. हालाँकि सुनाने वाला, जो उन सबके बीच लेटा हुआ था, बिल्कुल ऊट-पटाँग बातें कर रहा था. उनमें कहीं कोई तालमेल नहीं था. बात करता-करता वह खुद ही बहक जाता—जैसे कि राह चलता मुसाफ़िर अपनी राह से भटककर किसी ग़लत रास्ते पर चलने लगे. एक बात अधूरी ही छोड़कर वह किसी दूसरी बात का सिरा पकड़ लेता. इस तरह रात धीरे-धीरे सरक रही थी.

वे सब के सब रेलवे स्टेशन की तरफ़ जाने वाले बाज़ार की एक दूकान के बरामदे में आकर रात काटने के लिए लेट गये थे. थोड़ी देर बाद जब उनमें से सबसे बूढ़े आदमी ने गला साफ़ करते हुए किसी राजा की बात शुरू की तो उस बरामदे में लेटे हुए सब के सब आदमी हुंकारी भरने लगे, ''हूँ, फिर क्या हुआ बाबा ?''

बस फिर क्या था. बात चल निकली...

''एक बादशाह था. उसकी सात रानियाँ थीं. सातों रानियों के लिए बादशाह ने अलग-अलग महल बनवाये. एक लकड़ी का, दूसरा ईट-गारे का, तीसरा संगमरमर का, चौथा ताँबे का, पाँचवां चाँदी का, छठा सोने का और सातवें में हीरे-जवाहरात जड़े थे.''

''बिल्कुल ठीक'' किसी ने हुंकारी भरी.

''इतनी दौलत होने पर भी बादशाह के यहाँ औलाद नहीं थी. इसलिए वह बहुत दुःखी था. बादशाह को आख़िर किसी ने राय दी कि फ़लाँ जंगल में एक पेड़ है. उस पर सात फल लगे हैं. अगर बादशाह फलों को तोड़कर अपनी रानियों को खिलाये तो सबके औलाद हो जायेगी. लेकिन मुसीबत यह थी कि उस पेड़ तक पहुँचना बड़ा मुश्किल था. रास्ते में सात दरिया पड़ते थे और सात देवों से मुकाबला करना पड़ता था. और पेड़ के चारों ओर सात साँपों का ज़बरदस्त पहरा था. लेकिन बादशाह भी अपनी धुन का पक्का था. वह अपनी ज़बरदस्त फ़ौज लेकर चल पड़ा...'' बात अभी यहीं तक पहुँची थी कि बूढ़े को खाँसी का दौरा पड़ा. जब उसकी साँस दुरुस्त हुई तो बूढ़ा बहक गया. उसने एक दूसरी बात चला दी :

''बड़ी पुरानी बात है. एक कारीगर ने एक ऐसा डंडा बनाया, जिसके अन्दर एक आदमी बैठ सकता था. इस तरह वो डंडा आदमियों की तरह ही बोलता था, चलता था, और खाता-पीता था...''

''ठीक-ठीक'', क़रीब-क़रीब सबने मिलकर हुंकार भरी. फिर अचानक यह हुआ कि रिक्शों और ताँगों का रेला शोर मचाता हुआ सड़क पर से गुज़रने लगा. शायद स्टेशन पर कोई मुसाफ़िर गाड़ी रुकी थी. इसलिए बूढ़ा थोड़ी देर रुका. फिर उसने एक मछली की बात शुरू कर दी, जो इतनी बड़ी थी कि उसकी पीठ पर बाकायदा एक शहर बसा हुआ था. जिस पर नमालूम कितने ही मकान बने हुए थे. कितने ही खेत थे. समुद्र में जिस तरफ़ यह मछली जाती, उस तरफ़ यह बसा-बसाया शहर चला जाता.

''बिल्कुल ठीक'', सबने हुंकार भरी.

इस तरह रात निहायत आहिस्ता-आहिस्ता गुज़र रही थी. बूढ़ा बातें किये जा रहा था और वे सब के सब बड़े ध्यान से सुन रहे थे. फिर किसी बात को अधूरी ही छोड़कर बूढ़े ने एक नयी बात शुरू की :

''हजारों साल पहले की बात है. एक बादशाह ने आधी दुनिया फ़तह कर ली. फिर इस ख़ुशी में बादशाह ने एक बहुत बड़ी दावत दी....''

''फिर, फिर ?''

''फिर क्या कि इतना खाना बनाया गया कि बादशाह के शहर के सब के सब मकानों में खाना बनाकर रखा गया.''

''फिर, फिर, फिर ?'' सभी आदमी एक साथ हुंकारी भर रहे थे.

बूढ़े ने कहना शुरू किया, ''सबसे पहले बादशाह और उसके रिश्तेदारों ने खाना खाया.''

''ठीक.''

''फिर बादशाह के सैकड़ों अमीरों-वज़ीरों ने खाना खाया.''

''ठीक.''

''फिर बादशाह के हजारों फ़ौजियों और चुने हुए शहरियों ने खाना खाया.''

''ठीक.''

''इतने लोगों के खाना खाते-खाते रात हो गयी.''

''ठीक.''

''और सबके बाद रात के वक़्त लाखों ग़रीब-ग़ुरबा और भिखारियों ने पेट भरकर खाना खाया.''

''बिल्कुल झूठ ! बिल्कुल झूठ.'' उस बरामदे में लेटे हुए सभी आदमी विरोध में उठ खड़े हुए. और उनमें से एक आदमी बोला, ''बूढ़े, तुझे झूठी बातें करते शर्म नहीं आती. अगर हमने रात को पेट भरकर खाना खाया होता तो इस वक़्त चैन की नींद न सोये होते. रात भर तुम्हारी ये बकवास कौन सुनता ?''

''अरे भाई, नाराज़ क्यों होते हो ?'' बूढ़े ने कुछ सहमी हुई आवाज़ में कहा, ''मैं भी तुम्हारी तरह भूखा हूँ. अगर मुझे ही तुम्हारी तरह नींद आ रही होती तो क्या ये बातें करने के लिए जागता होता ? मैं भी—तो सो जाता.''

रतन सिंह

जन्म : 15 नवम्बर 1927, कस्बा दाउद सियालकोट (पाकिस्तान)

कृतियाँ : 'पहली आवाज़', 'पिंजरे का आदमी', 'मानक मोती', 'काठ का घोड़ा', (सभी कहानी संग्रह) 'दरबदरी', (लघु उपन्यास) 'सुबह की परी', (बच्चों का लघु उपन्यास) 'सपने वाली धरती', (पंजाबी कविता) 'हुड बीती (लंबी पंजाबी कविता) 'रूप अनूप' (हिन्दी दोहे)

पहली कहानी 'मम्मी तुम एक दीवार हो' जून 1953.

पता : 22, आदर्श नगर, नर्बदा रोड, जबलपुर (म.प्र.)

◆ कहानी ◆

बेशुमार

इक़बाल मजीद

मानो का कमरा बहुत दिनों तक उसे टमाटर की तरह लगता रहा. उसने घर वालों से यह ख़्वाहिश ज़ाहिर की कि कमरे को उस औज़ार के बीच रखकर दबा दिया जाय, जिससे टमाटर के क़तले बन जाते हैं तो कमरे के भी क़तले बन जायेंगे. वह उन क़तलों को देखना चाहता है. पहले तो मानो को समझाया गया कि ऐसा करने में मानो के सभी सामान और मानो के भी क़तले बन जायेंगे लेकिन इस पर भी मानो अपने कमरे को इस बदली हुई हालत में देखने का इसरार करता रहा तो घर के लोग चिन्तित हो गये. मानो के मन की दुनिया में ऐसी कौन-सी उथल-पुथल हो रही थी ? उसको समझने के लिए उसके घर वाले जिस पीड़ा से गुज़र रहे थे, न तो मानो को उसका एहसास था और न इस बात का उस पर कोई बोझ कि लोग उसे समझ नहीं पा रहे हैं. उसे इतमीनान था किसी दिन उसकी यह ख़्वाहिश पूरी हो जायेगी. दरअसल मानो की तरह उसके घर वालों को भी यह मालूम नहीं था कि यह सब कैसे हुआ !

मानो ने तालीमी ज़माने में हमेशा ख़ास हैसियत से कामयाबियाँ हासिल कीं. दो बार डबल प्रमोशन पाकर उसने एम. ए. बड़ी कम उम्र में पास किया. गोल्ड मैडल मिलने पर न उसे कोई हैरत हुई और ना ही दूसरों को. मानो को जब उसके दोस्त सड़क के किनारे पुरानी किताबों के लगे ढेर के पास खड़े हुए पाते तो यह समझ जाते कि मैथेमेटिक्स की कोई किताब उसके हाथ लग गयी है. मज़ा तो उसके दोस्तों को तब आता था, जब वह किसी सवाल को समझाने के लिए काग़ज़ पर लिखते-लिखते उसके आखिरी सिरे तक पहुँच जाता और काग़ज़ पर जगह न रह जाने पर काग़ज़ के नीचे रखे तकिये के सफ़ेद ग़िलाफ़ पर सवाल का बाक़ी हिस्सा हल करने लगता और तकिये के गिलाफ़ के खत्म हो जाने पर तकिये के नीचे. फिर मानो के दूधिया लट्ठे के पाजामा की बारी आ जाती और मानो की क़लम पाजामे पर चलना शुरू कर देती.

एक दिन मानो सुबह का नाश्ता कर रहा था. माँ ने उसे दूध और दलिया दिया था. उसने कटोरे में चमचा डाला ही था कि उसे लगा कटोरे में दूध और दलिया के दरम्यान कोई घोड़ा खड़ा है और उसकी पीठ पर एक मैना बैठी है. उसने न तो इस बात की चर्चा की और न ही ज़ोर दिया कि कटोरे में घोड़ा और मैना है. उसे यक़ीन था कि जब कुछ है तभी तो उसे दिखाई दे रहा है और अगर नहीं है, उसके बावजूद दिखाई दे रहा है तो फिर ये मानो का क़सूर नहीं है. क़सूर तो उस चीज़ का है यानी वह चीज़ दिखाई देते वक़्त देखी जाने वाली जगह पर ख़ुद को मौजूद क्यों नहीं रखती. मानो ने पास रखी खाली रकाबी की तरफ़ देखा तो उसे लगा कि रकाबी की साफ़-सुथरी सतह पर बारात के बाजे वाले भड़कीली वर्दियाँ पहने बाजा बजा रहे हैं और उछलते-नाचते बाराती जुलूस के रूप में चल रहे हैं. मानो को हमेशा से गाजे-बाजे और शोर-शराबे से नफ़रत थी. शायद उसकी ऐसे गाजे-बाजे से अलेहदगी पसन्दी की वज़ह वही थी, जो किसी कट्टर हिन्दू को मुसलमान से या कट्टर मुसलमान को हिन्दू को देखकर हो सकती है, मगर सबको मालूम करने पर किसी उचित कारण का क्यों पता नहीं चलता और यदि चलता भी है तो वह एक के लिए उचित होता है और दूसरे के लिए अनुचित. मानो बड़ा शान्त स्वभाव और एकान्तप्रिय था. बारातों को देखकर बराबर वाली गली में घुसकर रास्ता काट दिया करता. रकाबी से निगाहें हटाकर उसने कटोरे में झाँका. मानो को हैरत हुई कि घोड़ा अब ग़ायब हो चुका था और वहाँ सिर्फ़ मैना रह गयी थी. मानो को परिन्दे अच्छे लगते थे. उसकी माँ बचपन में अक़सर मानो के दूध नहीं पीने पर झूठ-मूठ मुँडेर पर बैठे किसी फ़र्ज़ी कौए को बुलाया करती थी.

"आओ कौए, मानो का दूध पी जाओ." कौए को दी जाने वाली दावत पर मानो जल्दी से अपनी निगाहें मुँडेर पर डाल देता. उसे पूरा यक़ीन था कि कौआ दूध पीकर गोरा हो जायेगा और काला बिलकुल नहीं रहेगा क्योंकि माँ को अक़सर वह यह कहते सुनता था कि जो बच्चे दूध पीते हैं, वह ख़ूब गोरे हो जाते हैं. वह हर गोरे बच्चे को देखकर बहुत ख़ुश होता था कि उसका दूध कौए ने नहीं पिया है. यक़ीन अगर न टूटे तो ख़ुशी भी होती है और राहत का एहसास भी. मगर मानो को हैरत थी कि उसके कटोरे का घोड़ा आख़िर कहाँ ग़ायब हो गया. कब और कैसे चीज़ें ग़ायब हो जाती हैं यह बात मानो के लिए हमेशा एक उलझन खड़ी कर देती. वह अपने आसपास हँसते-बोलते, खाते-पीते, गपशप करते लोगों से पूछना चाहता मगर उसे लगता कि उन लोगों की कभी कोई चीज़ ग़ायब ही नहीं हुई, तब मानो ने अपने ऐसे यक़ीनों को जो टूट जाया करते थे, गिनती करने के लिए हमेशा उन्हें एक नोट बुक में दर्ज़ करना शुरू कर दिया.

कटोरे की मैना के देखने के भोले से अन्दाज़ ने जब मानो को उसकी तरफ़ आकर्षित कर लिया तो मैना ने उसे उसका नाम लेकर पुकारा, "मानो...." मानो उसकी ज़बान से अपना नाम सुनकर ख़ुशी से उछल पड़ा. वह चिल्लाया, "मैना, बाहर आओ." फ़िर वह बार-बार 'मैना बाहर आओ, मैना बाहर आओ' की रट लगाने लगा. नाश्ते की मेज़ पर पास बैठी उसकी बहन, जो उससे दो बरस बड़ी थी और अपने ससुराल से बाप की बीमारी की वजह से इन दिनों आयी हुई थी, मानो को ध्यान से देखने लगी. फिर उसने देखा कि मैना को बाहर लाने के लिए वह कटोरे का दलिया रकाबी में उँडेल रहा है. दलिया बिखर गया, मगर तब भी मैना का कोई पता नहीं था. मानो उदास हो गया. उसके यक़ीन था कि मैना बाहर आ जायेगी लेकिन उसके नहीं आने पर मानो ने अपनी नोट बुक खोली और उस टूटे हुए यक़ीन

को भी अपनी फ़ेहरिस्त में जोड़ लिया लेकिन मानो के घर वालों पर जैसे एक बिजली-सी गिर पड़ी.

जब मानो का मेडिकल चैकअप हुआ तो मानसिक रोगियों के विशेषज्ञ बहुत दिनों तक उसे एक से दूसरे की ओर उछालते रहे. मानो के देखने का अन्दाज़ कभी-कभी एक़दम बदल जाता. दोनों हाथों की पाँचों उँगलियों को आपस में फँसाकर वह बार-बार जकड़ता और किसी कलदार खिलौने की तरह अपनी गर्दन को इधर-उधर घुमाता. उस समय उसकी आँखें छत को घूर रही होतीं, होंठों में बेवक्त की सी थरथराहट होती, जिससे चेहरे का नाक-नक़्शा बिगड़ जाया करता, बेमेल वाक्य, होंठों के किनारों से बहने वाली लार का लुआब ग़ायब हो जाया करता. उसकी जगह एक चिकना, चमकदार और ताकतवर चेहरा उभर आता. आँखों में ज़हानत की चमक वापस आ जाती और वह मानसिक रोग विशेषज्ञ से ऐसी बातें करता और ऐसे विषयों पर बातें करता कि उनके होश उड़ जाते.

मानो को कभी अपनी बीमारी का बीता हुआ काल याद भी नहीं रहता और वह अपने कमरे की इकलौती खिड़की के सामने चुपचाप साफ़-सुथरे कपड़े पहने बैठ जाता. सामने की छह मंज़िला इमारत की खिड़कियों के उस पार साड़ियाँ, दुपट्टे और आते-जाते जिस्मों की झलक देखा करता. उन दृश्यों के सारे रंग उसे अच्छे लगते थे. आख़िर

उन्हीं दिनों अपने दलिये के कटोरे में एक बार फिर एक मैना बैठी दिखाई दी तो मानो उससे पूछ बैठा, ''तुम ऐसा करो मैना कि मुझे एक घोड़ा बताओ.''

''घोड़ा नहीं घोड़ी.'' मैना चहककर बोली, ''और उसका नाम है मैना. मैना पर लगाओ.''

मगर रेस की किताब में मैना नाम की घोड़ी नहीं थी. मानो ने सोचा–मैना कहीं न कहीं ज़रूर होगी. वह उसको रेस कोर्स के मैदानों में, होटलों के लॉनों में खोजता रहा मगर वह मैना तो शायद किसी के कटोरे की दलिया में जाकर बैठ गयी थी.

में मानो को उसके बाप ने मुम्बई ले जाने और वहाँ के एक माहिर को, जिसके बड़े चर्चे थे, दिखाने का फैसला किया. उन दिनों मानो की हालत पुराने दौरों से भिन्न थी. उसकी आँखें, चेहरा, हाथों की हरक़त और मुस्कुराहट आदि सभी ठीक-ठाक थे लेकिन उस पर एक अजीब-सी समाधि वाली स्थिति छा गयी थी. वह अक़्सर कहता कि उसे अब बहुत कुछ दिखाई दे रहा है मगर हैरत की बात यह थी कि वह रंगों की पहचान में ऐसी गलतियाँ करने लगा था, जो बच्चे भी नहीं करते. एक दिन माँ के धानी दुपट्टे को उसने नीला दुपट्टा बताया था. बहन से इस बात पर नाख़ुश हुआ कि वह नीले जम्पर पर काली शलवार क्यों पहने है, जबकि शलवार सफ़ेद थी. बहन ने उसे यक़ीन दिलाना चाहा कि उसकी शलवार काली नहीं सफ़ेद है मगर मानो को बहन की खुली धाँधली पर न तो क्रोध आया और न दया क्योंकि उसे यक़ीन था कि शलवार सफ़ेद नहीं काली थी.

मुम्बई में मानो की बहन की खाती-पीती ससुराल थी. मनोचिकित्सक के बारे में उन लोगों ने बताया कि डॉक्टर स्वभावतः लालची और लत की हद तक रेस का खिलाड़ी है. उसे कड़क नोटों
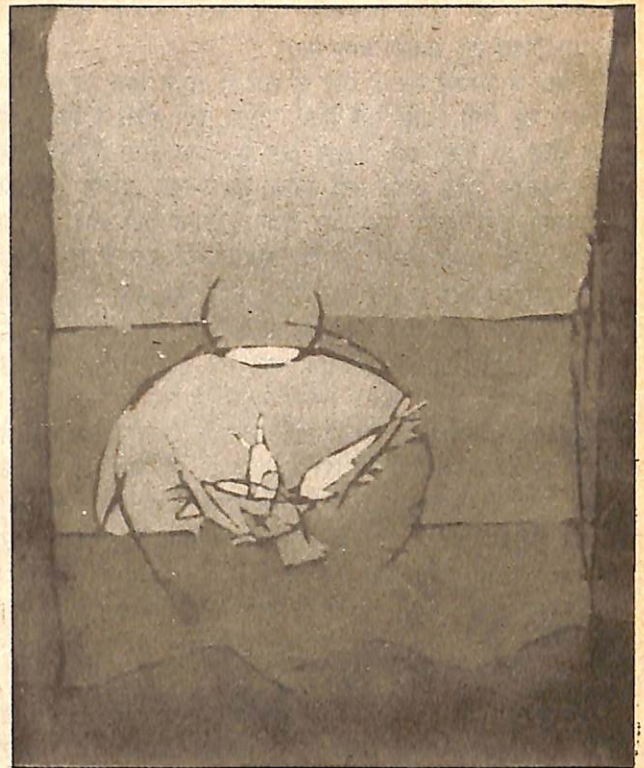
को ताश की गड्डी की तरह फड़फड़ाने का जुनून है. शराब और घुड़दौड़ के शौक़ ने उसे बर्बाद कर रखा है. जब उस स्पेशलिस्ट से मानो को मिलवाया गया तो मानो डॉक्टर की मेज़ के सामने वाली कुर्सी पर बैठा ही नहीं. वह क्लीनिक के उस अव्यवस्थित और मनहूस-से कमरे की फ़र्श पर डॉक्टर को नज़रअन्दाज करके चहलक़दमी करने लगा और फ्रेम में लगी और दीवारों पर टँगी उपाधियों को ध्यानपूर्वक देखते हुए इससे पहले कि डॉक्टर उससे कुछ पूछे, उल्टा उसी से सवालात करने लगा, ''रेस खेलते हो ?'' डॉक्टर मुस्कुराया और 'हाँ' में उत्तर दिया.

''मेरे ख़याल में इस बार भी ग़लती कर रहे हो.'' मानो की इस अचानक कही जाने वाली बात पर दो पल ख़ामोशी रही, फिर डॉक्टर का सवाल था, ''कैसी गलती ?''

उत्तर दिया गया. ''तुम अपने टूटे हुए यक़ीनों के ढेर में एक का और इज़ाफा करने जा रहे हो.''

''मतलब.'' डॉक्टर ने आँखें फाड़ीं, तो फिर सवाल हुआ, ''ब्लैक डायमंड पर दाँव लगाने जा रहे हो न ?''

''हाँ, लगा तो रहा हूँ.''

''वह घोड़ा नहीं टट्टू है. नेपोलियन थंडर पर लगाओ.''

अभी मानो ने वाक्य पूरा किया ही था कि डॉक्टर की जवान और बला की ख़ूबसूरत लड़की छोटे-से कुत्ते को गोद में लिये अन्दर आयी और बाप की मेज़ की दराज़ में कुछ खोजने लगी.

''हैलो.'' मानो बड़े अन्दाज़ से लड़की से मुख़ातिब हुआ, ''आप वाक़ई बहुत ख़ूबसूरत हैं.'' लड़की ने मुस्कुराकर उस कॉम्पलीमेंट पर धन्यवाद दिया ही था कि मानो ने आगाह किया, ''अपने बाप से कहिए कि मेरी बात मानें और कल की रेस में नेपोलियन थंडर खेलें.'' डॉक्टर ने पता नहीं क्यों, बात मान ली, लेकिन उसकी आँखें

हैरत से फटी की फटी रह गयीं, जब उसने अपनी दूरबीन में नेपोलियन थंडर को सबसे आगे पाया.

डॉक्टर ने अगली रेस के घोड़े के बारे में अपने रोगी को कुरेदना शुरू किया तो रोगी उससे पूछ बैठा, ''ऐसा क्यों होता है कि कभी आपको वैसी ही और वही दिखाई देता है, जैसा होता है.'' डॉक्टर को जब उसका कोई उत्तर नहीं मिला तो उसको अगली रेस का विजयी घोड़ा बता दिया. उस शाम डॉक्टर अपनी बेटी और क़ीमती उपहार के साथ मानो के घर आया. डॉक्टर की बेटी रिझाने वाली अदा से उसे लगातार देखती रही. दूसरे दिन की शाम डॉक्टर की सुन्दर बेटी मानो को लेकर ओबराय के लॉन में बैठी थी और मेज़ पर बियर के झाग उड़ाते कट-ग्लास वाले मग रखे थे. फिर तो यह हुआ कि रात का खाना मानो अपनी बहन के घर पर नहीं बल्कि उस लड़की के पसन्द किये हुए किसी होटल में करता, जिसका भारी बिल वह लड़की चुकाती. मानो को बड़ी ख़ुशी इस बात की थी कि ...जितनी बार भी डॉक्टर की लड़की के साथ बियर पी, मानो को बियर का रंग सुनहरा ही दिखाई दिया. मगर एक दिन उदास स्वर में उस लड़की से, जिसे वह अब प्यार से मैना पुकारने लगा था उसने सवाल किया, ''ऐसा हमेशा ही क्यों नहीं होता कि बियर का रंग सुनहरा ही रहे.'' मैना उत्तर में मुस्कुरा दी थी, वह भी मुस्कुराया था.

''कितना अच्छा मौसम है यह,'' उसने कहा था, ''जो कुछ जैसा है, वैसा ही दिखाई दे रहा है. बियर वाक़ई सिर्फ़ सुनहरी है.'' मगर मैना का दिल कहीं और लगा था. फिश-विथ-क्रीम का एक टुकड़ा काँटे से उठाकर रखते हुए कह दिया, ''मानो डियर, कोई घोड़ा मुझे भी बताओ ना.''

''घोड़े तो तुम्हारा रास्ता देख रहे हैं.'' वह धीरे से बोला था, ''जिस पर दाँव लगाओगी, वही जीतेगा.'' मगर लड़की ने जब उसका हाथ चूमा था तो उसने एक घोड़े का नाम बताते हुए कहा था, ''शॉरक.'' बाद में जब मैना ने अपने बिस्तर में रेस की अगली घौड़ों में शॉरक का नाम तलाश किया तो वह मौजूद था. लड़की ने वह घोड़ा खेला और मालामाल हो गयी. उसके दूसरे दिन मैना ने अपने बाप को आगाह कर दिया कि उसका घोड़ा उसे मिल गया है और अब वह अपना अस्तबल ख़ुद बनायेगी.

मैना को मानो से दीवानगी की हद तक इश्क़ हो गया था क्योंकि अब वह कई घोड़े जीत चुकी थी. परन्तु मानो बड़ी उलझन में था. हुस्न, जवानी, हज़ार रंगों में बिखरी हुई ज़िन्दगी और उसकी उन्मत्तता उसके आसपास नाच रही थी ! एक मैना भी उसके पास थी, जो कभी दलिये के कटोरे से बाहर नहीं निकली थी, मगर अब वह जिस क़दर दौड़ में जीतने वाले घोड़ों के नाम याद करता तो उसे घोड़े की जगह पर गधे नज़र आते, जिनका न कोई नम्बर था और न ही नाम. लेकिन जब एक दिन मानो को बियर का बिल ख़ुद चुकाना पड़ा तो पता चला कि मैना को इस ख़याल से मतली हो रही थी कि बियर का रंग कुछ बदल गया है. पता नहीं वह सुनहरा क्यों नहीं दिखाई दे रहा. तब उसने मैना से पूछा, ''मैना डियर, यह बताओ कि ज़िन्दगी क्या है ?''

''घोड़े पर लगाया गया एक दाँव.'' मैना अदा से चहककर बोली थी. मैना का डॉक्टर बाप कई बार जब घोड़े पूछने पर भी मानो को ख़ाली दीवार ताकते हुए देखता रहा तो मानो के मर्ज़ से मायूस हो गया. उन्हीं दिनों अपने दलिये के कटोरे में एक बार फिर एक मैना बैठी दिखाई दी तो मानो उससे पूछ बैठा—''तुम ऐसा करो मैना कि मुझे एक घोड़ा बताओ.''

''घोड़ा नहीं घोड़ी.'' मैना चहककर बोली, ''और उसका नाम है मैना. मैना पर लगाओ.''

मगर रेस की किताब में मैना नाम की घोड़ी नहीं थी. मानो ने सोचा—मैना कहीं न कहीं ज़रूर होगी. वह उसको रेस कोर्स के मैदानों में, होटलों के लॉनों में खोजता रहा मगर वह मैना तो शायद किसी के कटोरे की दलिया में जाकर बैठ गयी थी.

मानो मुम्बई से वापस आ गया है. अपने कमरे की इकलौती खिड़की पर बैठा है. पास ही मेज़ पर उसका दूध भरा गिलास भी रखा है. खिड़की के सामने कोई मैना जैसी लड़की चलती-फिरती आती-जाती कहीं नज़र आ जाती है. वह मुँडेर से किसी कौए को उतरते देखता है, जो उसके गिलास का सारा दूध पीकर गोरा हो जाता है. मगर अब मानो के हाथों की पाँचों उँगलियाँ एक दूसरे से जकड़ी हुई हैं. होंठों के कोने से लार बह रही है, आँखें इधर-उधर घूमकर छत से चिपक रही हैं. पाजामे का एक पांयचा फट चुका है, दूसरे कमरे में मानो का बाप सिसकियाँ-सी ले रहा है. मानो की दोनों जाँघों पर उसकी नोट बुक खुली रखी थी. वह उसमें कुछ गिन रहा था और उलझ रहा था. आख़िर को वह चिल्लाया, ''अब्बा, अब्बा, मुझे बताओ न, घोड़े क्यों हार जाते हैं ? कौए क्यों दूध पी जाते हैं ?''

बाप नाश्ते की मेज़ पर बैठा कटोरे में दलिया खा रहा था. बाप को लगा कि दलिया में पड़े दूध का रंग काला है. वह घबराकर बीवी से दूध की शिकायत करने को उठा मगर यह सोचकर फिर बेटे की आवाज़ की तरफ़ चल पड़ा कि बीवी भला क्यों मानेगी कि दूध का रंग काला है. बाप खिड़की के पास पहुँचा और धीरे से बेटे के सिर पर प्यार से हाथ फेरा और अन्दर के दर्द को सँभाला. फिर भी उसके दिल में एक हूक सी उठी जो कह रही थी, 'जो कुछ जैसा होता है, वह सदा वैसा ही कहाँ दिखाई देता है.'

तब तक एक बार फिर मानो अपनी नोट बुक पर झुका और अपने टूटे हुए यक़ीनों की गिनती करने लगा. मगर बार-बार गिनती भूल जाता था, आख़िर घबराकर उसने नोटबुक को बुरी तरह फाड़कर फेंक दिया.

''यह क्या किया, बेटे ?'' बाप धीरे से बोला.

मानो दो पल बाप को देखता रहा, फिर उसकी आँखें भीग गयीं. वह बुदबुदाया, ''गिनती कर रहा था, अब्बा. मगर ये तो बेशुमार हैं.'' फिर मानो आँखों में आँसू लिये अपने पागलपन पर देर तक हँसता रहा. ▣

इक़बाल मजीद

जन्म : 12 जुलाई, 1934 (मुरादाबाद)
शिक्षा : एम.ए. (राजनीति शास्त्र)
ऑल इंडिया रेडियो (भोपाल) असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर (रिटायर्ड) सेक्रेट्री, मध्य प्रदेश उर्दू एकेदमी (92 से 93)
कृतियाँ : 'दो भीगे हुए लोग', 'एक हलफ़िया बयान', 'शहरे बदनसीब' (कहानी संग्रह); 'किसी दिन' (उपन्यास).
स्टेज ड्रामों में भी ख़ास रुचि रखते हैं. कई ड्रामे डायरेक्ट कर चुके हैं.
सम्पर्क : 132-B, हाउसिंग बोर्ड कालोनी, कोहे फ़िज़ा, भोपाल (म.प्र.)

◆ कहानी ◆

शायान

•

फ़हीम आज़मी

उसने एक पुरानी हडसन एक सौ उनासी डालर में ख़रीदी थी. कोई बीस फुट लम्बी और आठ फुट चौड़ी. उसमें जब मीर बैठता तो तकरीबन ग़ायब हो जाता था. ड्राइविंग सीट को उसने आगे कर लिया था और इस तरह उसका पैर ब्रेक और एक्सिलेटर पर पहुँच जाता था. मगर उसके जिस्म का निचला हिस्सा सीट पर मुश्किल से आता था और सिर और गर्दन दिखायी नहीं देते थे. जब वह पूरी सीट पर बैठता था और टेक लगाने की कोशिश करता था तो उसके लिए गाड़ी चलाना मुश्किल हो जाता था. मेरे कहने पर उसने अपने पीछे एक तकिया रखना शुरू कर दिया था लेकिन ज़्यादातर वह मेरे कमरे में आ जाया करता था और आमतौर पर यही ख़बर होती थी, "गाड़ी ख़राब हो गयी. शहर से चिड़ियाघर जाने वाली सड़क पर खड़ी है." और फिर मैं उसे अपनी गाड़ी में लेकर जाता था और ठोक-पीट कर उसकी गाड़ी को वापस लाता था. कभी-कभी तो उसके साथ उसकी गर्ल फ्रेंड को भी लाना पड़ता था. अकसर ऐसा भी हुआ कि वह अपनी गाड़ी स्टार्ट करने में कामयाब न हो सका और मेरी ही गाड़ी में बैठ गया. एक दिन अपने खटारे पर बैठकर वह चिड़ियाघर गया था. यह जगह उसे बहुत पसन्द थी और सच यह है कि शायान में और कोई इतनी ख़ूबसूरत जगह थी भी नहीं. लेकिन यह ख़ूबसूरती गर्मी के मौसम में ज़्यादा नज़र आती थी. सर्दी में तो बस ऐसा मालूम होता था कि आप आर्कटिक सर्किल में पहुँच गये हैं. झील में बर्फ़ की मोटी तह जमी होती थी, जिस पर लोग पैदल चल सकते थे. बच्चे उस पर स्केटिंग करते थे. चारों तरफ पेड़ तकरीबन आधे बर्फ़ से ढके हुए थे. और सिर्फ़ उनकी शाखें दिखायी देती थीं जिनमें पत्ते नहीं होते थे. चिड़ियाघर भी उसी झील के करीब था, जिसमें दो-तीन रेंडियर और चौपाये थे. वह भी सर्दी के मौसम में कहीं और ले जाये जाते. सिर्फ एक भैंसा रह जाता. हमारे यहाँ के आम भैंसों से बहुत बड़ा. सारे जिस्म पर बड़े-बड़े बाल थे, जो उसके सिर और गर्दन पर इस तरह पड़े हुए थे कि उसका मुँह भी दिखायी नहीं देता था. सींग तो बिलकुल नज़र नहीं आते थे. कहते हैं कि ऐसे भैंसे अमरीका के उस इलाके में बहुतायत में पाये जाते थे. बड़े ख़तरनाक और ताकतवर होते थे. जब यूरोप के मुल्कों से लोगों ने अमरीका में आबाद होना शुरू किया तो ये भैंसे उनके लिए गोश्त का ख़ास साधन थे. ये इतनी तादाद में थे कि लोग अपने घरों की खिड़कियों से उन्हें निशाना बनाया करते थे. बसने वालों की ज़्यादा तादाद से, शिकार की वज़ह से उनकी नस्लकुशी ऐसी हुई कि उस इलाक़े से ऐसे बरबाद हुए कि अब यादगार के तौर पर सिर्फ़ एक भारी-भरकम भैंसा चिड़ियाघर की रौनक था. उसका जोड़ा नहीं था. इसलिए लोगों का ख़याल था कि शायान का वह आख़िरी भैंसा था और उसके मरने के बाद उसकी नस्ल इतिहास का एक हिस्सा बन जायेगी.

झील के क़रीब ही पार्क में स्टेचू ऑफ लिबर्टी का रेपलिका था. उसके आसपास ही चाट और हैमबर्गर की दुकान थी, जिसका नाम 'यमयम' था. यह नाम खाते वक़्त आज़ादी से मजे-ले-लेकर मुँह चलाने से जो आवाज़ पैदा होती है, उसी पर रखा गया था. मीर को न झील में दिलचस्पी थी और न चिड़ियाघर में. वह अपनी गर्लफ्रेंड को लेकर हडसन में आता था और 'यमयम' की दुकान पर बैठ जाया करता था. एक दिन, रात को जब मैं प्लेन्स होटल में अपने दोस्तों के साथ बैठा था, मीर का टेलीफोन आ गया और रोज़ाना की तरह गाड़ी ने बीच सड़क पर चलने से इनकार कर दिया था. अमरीका में आमतौर से यह दस्तूर है कि अगर आप की गाड़ी बीच सड़क पर रुक जाये तो न आपको उतरने की ज़रूरत होती है और न किसी को मदद के लिए बुलाने की. फ़ौरन ही पीछे से आने वाली कार बम्पर से बम्पर जोड़कर दूर तक ख़राब कार को धक्का देती है. आमतौर पर अगर बैटरी ख़राब हो तो धक्के से स्टार्ट हो जाती है और धक्का देने वाला हँसता हुआ आगे बढ़ जाता है. या अगर आप उससे ज़्यादा तेज़ रफ़्तार हों तो व्यू-मिरर से इशारा करके उसका शुक्रिया अदा करते हैं. यह इशारा कई क़िस्म का होता है. कोई उँगली माथे पर रखकर मुस्कुराता है, कोई पूरे हाथ से सलाम कर देता है और कोई सिर्फ़ गर्दन आगे की तरफ झटकता है. मीर की गाड़ी को भी किसी ने धक्का दिया था मगर उसकी बैटरी ख़राब होती तो धक्के से स्टार्ट हो जाती. उसकी गाड़ी के इंजन का अंज़र-पंजर ढीला था. जब दो-तीन मील धक्का देने के बाद भी उसका मददगार उसकी कार स्टार्ट न कर सका तो नाकाम होकर मीर को उसके हाल पर छोड़कर गर्दन हिलाता हुआ आगे बढ़ गया मानो मीर की बेबसी पर अफसोस कर रहा हो.

मुझे गाड़ी के मेकेनिज़्म की कोई ख़ास जानकारी नहीं है. लेकिन तरह-तरह की पुरानी गाड़ियाँ रखने का काफ़ी तजुर्बा है. ऐसी गाड़ी, जो हिचकी ले-लेकर चलती. कभी साइलेंसर रास्ते में गिर जाता था और इतना शोर मचाती थी कि लोग सड़क पर खड़े होकर तमाशा देखते थे और आसपास के कुत्ते गाड़ी के साथ भौंकते हुए भागने लगते थे. कभी ऐसी जगह हॉर्न बजने लगता जहाँ बजाने की मनाही होती थी. कभी चलते-चलते इस तरह खड़ी हो जाती थी कि उसे बीच सड़क से हटाने के लिए पुलिस वाले को भी मेरे साथ मिलकर धक्का देना पड़ता था और कभी-कभी तो मेरी गाड़ी बिलकुल बैलगाड़ी बन जाती थी. बीवी-बच्चों को अन्दर बिठाकर ख़ुद गाड़ी में नध जाता था और काफ़ी दूर नधा रहता था, और यही वजह थी कि मीर की गाड़ी का डिफेक्ट मालूम करने में मुझे कोई दिक़्क़त नहीं होती थी. प्लेन्स होटल में जब मीर का फ़ोन आया तो मेरी ज़बान से अपने आप कुछ गन्दी गालियाँ निकलीं. यह सब मादरी ज़बान में थीं इसलिए कि जब किसी को गुस्सा आता है तो वह आमतौर से उसका इज़हार अपनी मादरी ज़बान में करना ज़्यादा पसन्द करता है. विदेशी ज़बान में एक तो कमज़ोर होती

हैं, दूसरे वह तसल्ली नहीं होती, जो अपनी ज़बान में गालियाँ देकर होती है. मेरे दोस्त तो मेरी ज़बान न समझ सके लेकिन उन्होंने मेरे चेहरे से यह अन्दाज़ा लगा लिया कि कोई बात ज़रूर है, जिससे मैं नाराज़ हूँ. मेरे गुस्से और गालियाँ बकने का कारण यह था कि मैं उस वक़्त बड़े दिलचस्प दोस्तों के झुरमुट में था, जिसमें ज़्यादातर लड़कियाँ थीं. मेरे पाठकों ने मुझे देखा तो नहीं है; शायद वे यह समझें कि मेरे बदन और चेहरे में राजा इन्द्र जैसी कोई सिफ़त है और इसीलिए मैंने इतनी लड़कियों को दोस्त बना लिया था तो यह उनकी ख़ुशफ़हमी होगी. मेरी दोस्ती की वजह कुछ और थी. वह यह कि इस होटल में ज़्यादातर अमरीका की यूनाइटेड एयरलाइन्स में काम करने वाली लड़कियाँ आया करती थीं. एक दिन मैंने मज़ाक से एक लड़की का हाथ पकड़कर उसकी लकीरें देखना शुरू कर दिया. दो-चार बातें ऐसी बतायीं कि सभी लड़कियाँ अपना हाथ सामने रखकर बैठ गयीं और आपस में बाज़ी मारने की कोशिश करने लगीं. दो-एक लड़कियों पर मैंने 'गेस' आजमाया. बस क्या था. अक़्सर ऐसा होता था कि होटल से बाहर बाज़ारों में हैलो-हैलो की आवाज़ें आती थीं और मैं बिना किसी ज़ाहिरी-सिफ़त के उनका हीरो बन गया था. वैसे मुझे पामिस्ट्री का 'प' भी नहीं आता था और मैं उसे बहुत ही अनसाइंटिफ़िक समझता हूँ. लकीरों को मैं एक फ्रॉड ख़याल करता हूँ और मेरा यक़ीन है कि लकीरें कुछ भी नहीं कहतीं. यह ज़रूर है पामिस्ट्री की बुनियाद भी मनोविज्ञान पर है, जैसे हिप्नाटिज्म की. यह इन्सान की, आमतौर से औरतों की, खास तौर से बुनियादी सजेस्टिबिलिटी का शोषण है. साइक्लॉजी की थोड़ी-बहुत जानकारी होने के कारण मैंने उस फ्राड में कामयाबी हासिल कर ली थी. हर शख़्स की ज़िन्दगी में ऐसी घटनाएँ होती हैं जो कॉमन होती हैं. जैसे बचपन में तक़रीबन हर शख़्स को कोई-न-कोई बीमारी लग सकती है. तक़रीबन जवान होने के बाद हर शख़्स मुहब्बत करता है या ख़याल करता है कि वह मुहब्बत करता है, चाहे वह इनफेच्युएशन ही क्यों न हो, उनमें अक़्सर लोग नाकाम होते हैं और दूसरी मुहब्बत की तमन्ना करते हैं. हर शख़्स सफ़र का शौक़ीन होता है और उसे बताया जाय कि वह विदेश जायेगा, जो आजकल कोई मुश्किल नहीं है तो वह फूला नहीं समाता. हर शख़्स बुनियादी तौर पर ख़र्चीला होता है या इस महँगाई के दौर में पैसा नहीं बचा सकता, इसलिए उसे ख़याल होता है कि वह खर्चीला है. हर शख़्स को अच्छे कैरियर की तमन्ना होती है, जिसके लिए वह भाग-दौड़ करता रहता है. अक़्सर लोगों को अमीर होने का शौक़ होता है. उन्हें अगर बताया जाये कि उनके हाथ में स्टार है तो वह उससे बहुत खुश होते हैं. अक़्सर लोगों का कैरियर बड़ा दबदबे वाला होता है या फिर वे इस तरह के सजेशन से ख़ुश होते हैं और यही बातें हैं, जो आमतौर पर पामिस्ट और ज्योतिषी बताते हैं. मेरी शोहरत का भी यही भेद था. लेकिन कभी-कभी मुझे मुश्किल भी होती थी. जैसे यह कि एक दिन एक साहबज़ादी, जिनको मैं जानता था, मेरे क़रीब ही बैठी थीं मगर मुझसे बात नहीं कर रही थीं. मैंने 'हैलो' कहा तो बड़ी लापरवाही से 'हैलो' कहकर मुँह दूसरी तरफ़ फेर लिया. मैंने पूछा, "क्या बात है ?" तो कहने लगीं, "तुमने मुझसे कह दिया मुहब्बत में नाकाम रहेंगी. मैंने अपने बॉयफ्रेंड से यह बात कही तो वह बहुत नाराज़ हुआ. वह मुझसे बेहद मुहब्बत करता है. भला मुझे नाकामी कैसे हो सकती है ?" मुझे अचानक ख़याल आया कि कहीं उन साहबज़ादी का बॉयफ्रेंड मुझे खोज न रहा हो और इस डर से मैंने पूछा, "आपका बॉयफ्रेंड आपके साथ आया है ?" लड़की ने जवाब दिया कि वह शायान में नहीं रहता बल्कि फोर्ट कालेन्स में काम करता है और सिर्फ़ वीकएंड पर आता है. यह सुनकर मेरी जान में जान आयी. इसलिए कि शायान वायुमिंग के काऊब्वॉयज़ से मुझे इतना डर नहीं लगता था, जितना मियाँवाली और केम्बलपूर के जवानों से.

मैं ऐसे ही हाथ दिखाने वाली लड़कियों के झुरमुट में बैठा था और उसी क्षण मीर का कॉल करना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा. लेकिन न चाहते हुए भी उसके पास पहुँचा. देखा तो मीर और उसकी गर्लफ्रेंड गाड़ी के पास बैठे हैं और उनकी हालत से मालूम होता था कि धक्का देते-देते थक चुके हैं. मीर की कमीज़ के बटन खुले हुए थे और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं ! उसकी गर्लफ्रेंड के बाल बिखरे हुए थे और वह गर्दन झुकाये इस तरह बैठी थी कि उसके ब्लाऊज का कॉलर, जो ऐसे भी बहुत बड़ा था, कुछ आगे की तरफ़ लटक आया था और उसके बदन का नज़र खींचने वाला अंग तकरीबन पूरा-का-पूरा बिना किसी कोशिश के देखा जा सकता था. मुझे देखकर दोनों बहुत ख़ुश हुए और मीर हमेशा की तरह मेरा शुक्रिया अदा करते हुए माफ़ी चाहने लगा, "देखिए और मैं क्या करता ! मुझे मालूम है कि मैंने आपको तकलीफ दी. लेकिन और कोई चारा भी नहीं था. मैं आपका बहुत शुक्रगुजार हूँ." मीर की गर्लफ्रेंड जूलिया भी मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुराती रही और ग़ैर-इरादी तौर पर अपने बाल ठीक करती रही. फ़िर उसने अपने पर्स से लिपस्टिक निकाली और अपने होंठों पर लगानी शुरू कर दी. मीर के शब्द मेरे लिए पुराने हो चुके थे. हर बार जब उसकी गाड़ी खड़ी हो जाती थी और मैं उसकी मदद के लिए आता था तो वह यही वाक्य बोला करता था. इसलिए मैंने बिना सुने उससे कहा, "बोनट खोलो."
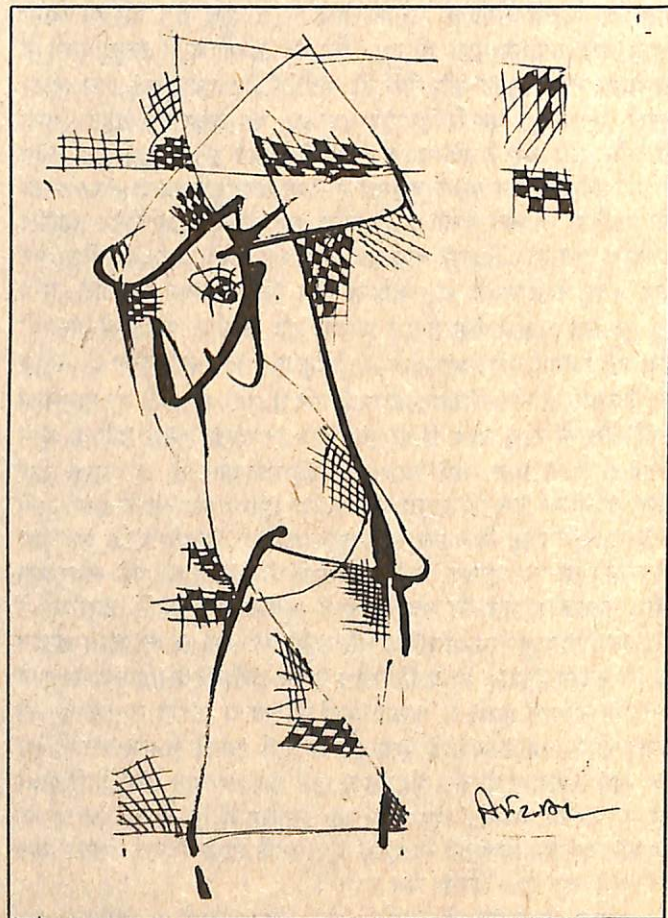
और फिर मैंने देखा चोक से लीड निकली हुई थी. मुझे बहुत गुस्सा आया कि इतने दिन पुरानी गाड़ी रखने के बाद भी मीर की समझ में कुछ नहीं आता था. मैंने लीड लगा दी और मीर से कहा, ''बैठो और गाड़ी स्टार्ट करो.'' गाड़ी स्टार्ट हो गयी और मीर की ख़ुशी से बाछें खिल गयीं. उसने गाड़ी से उतरकर दोनों हाथों से मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरा शुक्रिया अदा करने लगा. मेरा गुस्सा ठंडा हो गया और मैं उसकी बेचारगी पर अफ़सोस करने लगा. जूलिया भी मेरे क़रीब आ गयी और मेरा शुक्रिया अदा करके बोली, ''चलिए, हम किसी पब में चलते हैं.''

''कुछ दिनों के लिए रान के ज़ख़्म की वजह से इलाज में रहीं और ख़याल था कि मैं चलने फिरने से लाचार हो जाऊँगी. मगर बाद में टांगें बिलकुल नॉर्मल हो गयीं. कमर से ऊपर का हिस्सा बिलकुल ठीक-ठाक था. मेरे कई ऑपरेशन किये गये.'' यह कहकर जूलिया ख़ामोश हो गयी और मीर से मुख़ातिब होकर बोली, ''देखना चाहते हो ?'' मीर ने कोई जवाब न दिया और न मैं कुछ बोल सका. जूलिया ने अपनी जीन्स के बटन खोले और उसे घुटनों तक खिसका दिया.

''मुझे वापस प्लेन्स होटल जाना है. लोग मेरा इन्तज़ार कर रहे होंगे.''

''एक रोज़ न जाइयेगा तो क्या होगा ! मेरे साथ चलिए न, प्लीज़ !''

जूलिया ने ये अल्फ़ाज़ कुछ इस तरह अदा किये कि मैं थोड़ी देर के लिए सकते में आ गया. जूलिया बहुत ख़ूबसूरत थी. कोई पाँच फिट छह इंच का कद. मुनासिब जिस्म और नीली आँखें. उसका रंग कुछ यूरोपीय मालूम होता था और आम अमरीकियों की तरह नहीं था. एक दिन मैंने उससे पूछा था, ''तुम्हारा रंग कांटीनेन्टल है. क्या कारण है ?''

उसने हँसकर कहा, ''मैं हूँ ही कांटीनेन्ट की.''

और फिर उसने बताया कि उसके दादा जो रूमानिया के रहने वाले थे वर्जिन आइलैंड् में आकर आबाद हुए थे जहाँ वह फ़ार्मिंग करते थे. वर्जिन आइलैंड अमरीका का हिस्सा क़ानूनी तौर पर नहीं था और अमरीकन नेशनल होना ज़रूरी नहीं था. जूलिया के बाप भी अमरीकन फ़ौज में थे और कोरिया की जंग में एक दस्ते के साथ थे. कुछ अमरीकी ख़ानदान भी अपने माँ-बाप के साथ कोरिया में थे. उनमें जूलिया ख़ुद, उसकी माँ और उसका छोटा भाई भी था. वह प्यांग यांग के क़रीब कैम्प में रहते थे. इसके बाद जूलिया खामोश हो गयी थी और थोड़ा रुकने के बाद बोली, ''चलिए डांस करें.''

कुछ दिनों से मुझे महसूस होने लगा था कि जूलिया मुझमें भी उतनी ही दिलचस्पी लेती है, जितनी मीर में. हालाँकि यह बात मुझे कुछ अच्छी नहीं मालूम होती थी. मीर मेरा दोस्त था और मेरा हद से ज़्यादा भक्त. मैं उसके भरोसे को ठेस नहीं लगाना चाहता था. और मेरा उसूल भी यही था कि मैं किसी दूसरे की गर्लफ्रेंड में कोई दिलचस्पी नहीं लेता था. हालाँकि अमरीका में किसी ऐसे उसूल की पाबन्दी नहीं होती बल्कि अक़्सर इसका उल्टा होता है. मगर मैं इस उसूल का सख़्ती से पाबन्द था और जूलिया से मेरा ताल्लुक कुछ पलों तक सीमित रहता था, जिसके दौरान अक़्सर मीर भी मेरे साथ होता था. मीर जूलिया से बेहद मुहब्बत करता था और जब से उसकी जूलिया से मुलाकात हुई थी, उसे मैंने किसी और लड़की के साथ नहीं देखा था. सिर्फ़ एक बार मैंने मीर को अपने मामूल (रोज़मर्रा के काम) से हटते हुए देखा था और वह था लारमी में. लारमी शायान से कोई पचास मील दूर एक शहर था, जिसमें एक यूनिवर्सिटी भी थी. यह क्षेत्र रेड इंडियन क़ौम से अमरीकनों की लड़ाइयों के लिए काफी मशहूर था. वहाँ एक जगह थी, जिसे फ़ोर्ट लारमी कहा करते थे. हमारी शब्दावली में फ़ोर्ट एक क़िला होता है और क़िले का तसव्वुर हमारे दिमाग़ में दिल्ली के लाल क़िले या लाहौर के फ़ोर्ट की तरह का था. लेकिन जब हम लारमी फ़ोर्ट देखने गये तो वहाँ हमें लकड़ी के बने कुछ बैरकनुमा घर दिखाये गये. एक म्यूजियम भी था, जो 1876 में बनाया गया था. हमें अपने नज़रिये के मुताबिक कोई क़िला नज़र न आया और जहाँ तक म्यूज़ियम का सवाल है तो हममें से बहुतों का पुश्तैनी मकान उससे ज़्यादा पुराना है. बहरहाल, हम अमरीका का मशहूर लारमी फ़ोर्ट देखकर लारमी शहर में आ गये. मेरे साथ मीर था और मेरे एक और दोस्त. लारमी शहर में घूमते-घूमते हम एक जगह पर पहुँचे, जो रेलवे लाइन से सटी हुई थी. कई इमारतें एक जैसी थीं और मालूम होता था कि वे एक दूसरे से मिली हुई हैं. वहाँ अंग्रेज़ी में 'रूम्स' मोटे हरूफ़ों में लिखा हुआ था. थोड़ी देर तक हम उसे देखते रहे और सोचते रहे कि यह कोई होटल है या प्राइवेट मकान. इसी दरमियान एक अमरीकी इधर से गुज़रा. मैंने उससे पूछा, 'यह कौन-सी जगह है ?'

उसने हँसकर कहा, 'अन्दर जाकर देख लो.' हाँ, मकान तो ज़ाहिर है किसी का होगा. मगर तुम आसानी से अन्दर जा सकते हो. वहाँ तुम्हें खूबसूरत लड़कियाँ मिलेंगी.

अब हमारी समझ में आया कि यह लाहौर के शाही मुहल्ले या कराची की नैय्यर रोड जैसी कोई जगह है. वैसे यह बात मुझे ग़ैरमामूली मालूम हुई क्योंकि आम तौर से अमरीका में किसी ऐसी ख़ास जगह पर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती और तक़रीबन हर सड़क और मुहल्ले में तफ़रीह का सामान आसानी से मिल सकता है. मीर कहने लगा, ''मैं अन्दर जाकर देखता हूँ.''

'नॉनसेन्स. क्या ज़रूरत है. जूलिया काफी नहीं तुम्हारे लिए ?' मैंने हँस कर कहा.

'जूलिया कम्पनी के लिए ठीक है. सैर सपाटा, डांस, पब, यमयम, बस.'

''क्यों ?''

मीर ने थोड़ा ठहरकर कहा, 'मेरे और उसके दरमियान कोई जिन्सी ताल्लुकात नहीं हैं.'

'क्यों नहीं ?'

'उसने मुझे इसका मौक़ा नहीं दिया.'

'एकदम ही बेवकूफ़ आदमी हो. फिर तुम क्यों उसके पीछे-पीछे फिरते हो ? पैसे खर्च करते हो ? तुम मजनूं तो नहीं हो !'

'तुम मुझे बेवकूफ़ कहो या मजनूं. मैं उससे मुहब्बत करता हूँ और इसी उम्मीद पर उसे नहीं छोड़ता कि शायद कभी राज़ी हो जाय.'

'तुम तो शादी कर डालो और जब अमरीका से जाने लगना तो किसी बहाने से तलाक़ ले लेना. यहाँ यह कोई मुश्किल काम नहीं है. मैं तुम्हारी मदद करूँगा. एक दिन रात को जूलिया के कमरे में चला जाऊँगा और तुम आडलट्री का इलज़ाम लगाकर तलाक़ दे देना.'

लघुकथा

मानक-मोती

रतनसिंह

मैं गहरी नींद सो रहा था.

इतने में टोबाटेक सिंह मेरे पास आया और बोला, "मंटो साहब ने अर्श से आपके लिए यह कलम भेजा है."

अभी मैं एक ख़ूबसूरत कलम मिल जाने पर ख़ुश हो रहा था कि अपने सामने एक हब्शी को खड़ा पाया, "जोगिन्दर पाल साहब ने फ़र्श से आपके लिए यह रोशनाई भेजी है."

मैंने रोशनाई लेकर अपने पास रख ली.

सुबह जब नींद खुली तो मेरी हथेली पर 'मानक-मोती' चमक रहे थे.

'यह बात नहीं है, मेरे दोस्त. मैं अगर उससे शादी कर सकूँ तो उसे कभी न छोड़ूँगा लेकिन मुश्किल यह है कि वह शादी की कोई बात सुनने के लिए तैयार नहीं है. जब कभी मैं इसरार करता हूँ तो कहती है, मैं हर बंदिश से आज़ाद हूँ.'

मीर ने यह बात कुछ इस तरह कही कि मुझे दया आ गयी. मैंने कहा, 'अच्छा जाओ ग़म ग़लत कर लो, मैं क़रीब के रेस्टोरेन्ट में जाता हूँ. वहाँ मुझसे मिलना.'

मीर और मेरे दोस्त एक कमरे में घुस गये और मैं रेस्टोरेन्ट में जाकर काफ़ी पीने लगा. अभी मेरी कॉफ़ी ख़त्म नहीं हुई थी कि मीर आकर मेरे क़रीब बैठ गया. बावजूद सर्दी के माथे पर पसीना था और कुछ ख़ुश नहीं मालूम होता था.

'अरे तुम इतनी जल्दी भाग आये ? घुस नहीं पाये क्या ?'

'नहीं, मैं अन्दर गया और कमरे के दूसरी ओर से दरवाज़ा खुला, जिसमें से एक ख़ूबसूरत लड़की आकर मेरे पास बैठ गयी...और...?" कहकर मीर ख़ामोश हो गया.

मैंने पूछा, 'फिर क्या हुआ ? लड़की से डरकर भाग आये या जूलिया का ख़याल आ गया ?'

मीर फिर भी ख़ामोश था. मेरे बहुत इसरार और तक़रीबन बुली करने पर बोला, 'उसने फ्रेंच स्टाइल अपनाया.'

और फिर मीर ने मुझे जो कुछ बताया, उससे मुझे उल्टी आने लगी और मैं उसे लिख नहीं सकता. थोड़ी देर के बाद मेरे दोस्त भी आ गये. बड़े हश्शाश-बश्शाश नज़र आते थे. मैंने पूछा, 'क्या गुज़री ?'

वह बोले, 'गुज़रती क्या ? बिलकुल नारमल.'

मैं मीर की तरफ़ देखकर ख़ामोश हो गया और अचानक मुझे डनोर के एक रेस्टोरेन्ट का मंज़र याद आ गया.

डनोर शायान से कोई सौ मील दूर है. हम लोग हॉकी शो देखने गये थे. यह आइस हॉकी शो था. बर्फ़ की मोटी तह जमाकर हॉकी-कोर्ट बनाया जाता है और खिलाड़ी स्केट्स पहनकर उस पर हॉकी खेलते हैं. यह खेल अमरीका में बहुत मक़बूल है. हमारे लिए बिलकुल नयी चीज़ थी और हम उसे देखने के लिए शायान से आये थे. मैच कोई ग्यारह बजे ख़त्म हुआ. मीर ने मुझसे कहा कि इस शो के बाद पीटरपेन शो होगा, क्लब में चलकर खाना खाया जाय क्योंकि भूख बड़ी सख़्त लगी है और पीटरसेन शो इतना दिलचस्प नहीं है. हम क़रीब ही के एक रेस्टोरेन्ट-कम-नाइट क्लब में चले गये. मीर ने व्हिस्की का एक पैग माँगा और मैंने ऑरेंज जूस. वेटरेस ने मीर की शक्ल देखी और बोली, 'मैं आपका आइडेन्टिटी कार्ड देख सकती हूँ ?'

मीर को अक़सर यह मुश्किल पेश आती थी, इसलिए कि उसकी उम्र बीस साल थी लेकिन अपने जुस्से और चेहरे से पन्द्रह सम्ल का मालूम होता था और अमरीका में सोलह साल से कम उम्र के लोगों को शराब नहीं बेची जा सकती. अचानक मुझे ख़याल आया कि शायद मीर का बचकानापन और नातजुर्बकारी उसकी इस मुसीबत का कारण थी, जो लारमी में उस पर गुज़री. कभी मैं यह भी सोचता था कि जूलिया शायद जिस्मानी तौर पर उसे अट्रेक्टिव नहीं समझती और इसीलिए उसने मीर के साथ जिन्सी ताल्लुकात क़ायम नहीं किये और बराबर शादी से इनकार करती रही. मैंने जूलिया से इस विषय में अक़सर बात की. जूलिया ने हमेशा कहा कि वह मीर को बेहद हैंडसम समझती है और उसे बहुत पसन्द करती है. बल्कि मीर जिस अन्दाज़ से उसके बोसे लेता है और उससे मुहब्बत का इज़हार करता है, उसे वह बहुत सेटिस्फायिंग समझती है. वह हमेशा कहती कि शादी करना उसके लिए नामुमकिन है.

शायान में फ्रंटियर डेज़ शुरू हो गये थे. यह एक क़िस्म का मेला था, जो जुलाई के महीने में होता था. यह उन दिनों की यादगार थी, जब यह इलाक़ा शुरू-शुरू में आवाद हुआ था. शहरों और क़स्बों में बड़े-बड़े फार्म हुआ करते थे, जहाँ रेड-इंडियन क़ौम से लड़ने के लिए बड़े साहसी काऊब्वॉयज काम करते थे और उनकी ज़िन्दगी हर वक़्त असुरक्षित होती थी. डाकुओं और लुटेरों के गिरोह पहाड़ों में घूमा करते थे. हर व्यक्ति बन्दूक़ और पिस्तौल से लैस होता था. काऊब्वॉयज तो अब भी थे मगर उनके तौर-तरीक़ों में बदलाव आ गया था. अब वे कानून की पाबन्दी करते थे और पहले जैसे जंगली नज़र नहीं आते थे. मार-पीट के बजाय घुड़सवारी के मुक़ाबले से अपना दिल बहलाते थे. ये मुक़ाबले रोड्यू कहलाते थे. फ्रंटियर डेज़ में शायान का शहर बिलकुल मजनुओं और पागलों का शहर मालूम होता था. शहर की बड़ी-बड़ी सड़कों पर कोयला पीसकर बिछा दिया जाता था, जिस पर मर्द और औरत एस्क्वायर डांसिंग किया करते थे. यह डांसिंग घटों चलती थी. इसके कोई नियम-क़ायदे नहीं थे. बैंड हद से ज़्यादा तेज होता था. ट्रैफ़िक बन्द हो जाता था और ज़्यादातर जगहों पर, जहाँ डांसिंग होती थी, बार के अलावा सारी दुकानें बन्द हो जाती थीं. रेड इंडियन क़ौम के लोग, जो रिज़र्वेशन में आमतौर से रहते थे, वहाँ से आकर अपने नुकीले खेमों के घास-फूस के छप्परों को शहर की सड़कों पर लगा देते थे और रेड इंडियन जीवन शैली का मुज़ाहरा करते थे, जिसमें उनका ख़ास लिबास और नाच शामिल था. शायान के जवान और बूढ़े दाढ़ियाँ और मूँछें बढ़ा लेते थे. और मेले के दो महीने के दौरान तक बढ़ाये रखते थे। उनमें अमरीकी फ़ौज और वायुसेना के जवान भी शामिल होते थे. मुझे यह बात अजीब मालूम हुई क्योंकि हमारी फ़ौज और वायुसेना के पहचान-पत्र पर जो तस्वीर होती है, शक्ल भी हमेशा वही होनी चाहिए. अगर कोई मूँछें या दाढ़ी रखे तो फिर से पहचान-पत्र

बनवाना पड़ता है बल्कि दाढ़ी बढ़ाने के लिए इजाज़त भी लेनी पड़ती है. अमरीकी फ़ौज में कोई ऐसी कैद नहीं थी—ख़ासकर उन लोगों के लिए जो शायान के दौरान वहाँ रहते थे. विभिन्न स्थानों पर रोडियो होते रहते थे. मवेशियों का शो भी होता था और हस्पानिया मेक्सिको के ढंग की इंसान और साँड़ की लड़ाई भी दिखायी जाती थी. शाम होते ही विभिन्न स्थानों पर आतिशबाजियाँ छूटने लगती थीं. गरज़ यह कि हर व्यक्ति हॉली-डे मूड में होता था.

उन्हीं दिनों एक शाम मीर और जूलिया मेरे साथ मेला देखने गये थे. डांसिंग जिस सड़क पर हो रही थी, वहाँ पहुँचकर जूलिया से रहा न गया. वह मजमे में कूद पड़ी और डांस करने लगी. मीर भी उसके साथ जाकर बेढंगे तरीक़े से उछलने-कूदने लगा. मीर तो थोड़ी देर बाद थककर वापस आ गया. लेकिन जूलिया बहुत देर तक डांस करती रही और हम उसका इन्तज़ार करते रहे. आयी तो कहने लगी, "जल्दी से किसी बार में चलो, मैं कुछ पिऊँगी और एक बड़ा सा स्टीक खाऊँगी." हम क़रीब के एक ग्रीक रेस्टोरेन्ट में घुस गये. जूलिया ने डबल पैग व्हिस्की आर्डर की और कई बार की. आख़िर हम सब खाने-पीने से फारिग़ होकर वापस लौटे तब रात के लगभग दो बजे थे. मीर और जूलिया डांस और ड्रिंक के असर से बड़े अच्छे मूड में थे. जूलिया के क़हक़हे पीछे की सीट से कार में गूँज रहे थे और मीर की दुःसाहसी हरक़तें, गुस्ताखियां व्यू-मिरर में दिखायी दे रही थीं. मीर आख़िर में तक़रीबन थक गया और जूलिया से धीमी आवाज़ में कुछ बोला, जिसे मैं सुन न सका. हाँ, जूलिया की हँसी ज़रूर सुनायी दी और फिर मैंने व्यू-मिरर से देखा कि जूलिया मीर के गले में बाँहें डालकर कह रही थी "कमरे में चलो तो बताती हूँ."

कमरे में पहुँचकर जूलिया एक सोफ़े पर बैठ गयी और मैंने कॉफ़ी बनने को रख दी. जूलिया ने रिलेक्स करते हुए कहा, "तुम लोग मेरे बेहतरीन दोस्त हो और मीर को मैं इतना प्यार करती हूँ कि मैंने अभी तक किसी को नहीं किया. मीर ने मुझे हर तरह की ख़ुशियाँ दीं और मेरे लिए बड़ी तकलीफ़ें उठायीं. मेरे इनकार ने उसका दिल तोड़ दिया. लेकिन आज तुम लोगों को अपनी मजबूरी की दास्तान सुनाती हूँ."

मैंने बहुत ही लापरवाही से जूलिया का आख़िरी वाक्य सुना और देखने लगा कि कॉफ़ी का पानी गर्म हुआ या नहीं. मुझे यक़ीन था कि जूलिया की दास्तान क्या होगी, वही घिसी-पिटी बातें. मेरी शादी हो चुकी है. मैं मुहब्बत में नाकाम हुई और मेरा दिल टूट गया. मेरे बच्चे हैं जो मेरे तलाकशुदा शौहर के पास रहते हैं. अगर शादी कर लूँगी तो भत्ता बन्द हो जायेगी. बाप ग़ैर-ज़िम्मेदार है, बच्चों की ज़िम्मेदारी नहीं सँभाल सकता. मैं कैथोलिक हूँ और तुम मुसलमान. मुझे अपने पुराने आशिक से जान का ख़तरा है, मैं शायान नहीं छोड़ सकती वग़ैरह-वग़ैरह.

लेकिन मुझे ज़्यादा देर सोचना नहीं पड़ा. पाँच मिनट ठहरने के बाद जूलिया ने कॉफ़ी बनाकर हम लोगों के सामने रख दी और फिर कहना शुरू किया, "अब से छह साल की बात है, मैं प्यांग यांग में अपनी माँ और भाई के साथ अपने क्वार्टर में थी. मेरे पिता दफ़्तर में राशन का जायज़ा लेने गये थे. वह अमरीकी पल्टन के क्वार्टर मास्टर थे. एक दिन पहले हमें ख़बर मिल चुकी थी कि उत्तरी कोरिया की फ़ौज ने प्यांग यांग की तरफ़ बढ़ना शुरू कर दिया है और पूरा शहर आर्टलरी की पहुँच में है. मैं अपने छोटे भाई को लिये हुए लॉन पर बैठी थी कि इतने में मेरा भाई तितलियाँ पकड़ते-पकड़ते झाड़ियों की तरफ़ लपका और मेरी आँखों से ओझल हो गया. अचानक मैंने तोपों की गरज सुनी. फिर बिजली के तारों के टूटने और मकानों की छतें और दीवारें गिरने की आवाज़ें आने लगीं. मेरे देखते-ही-देखते एक गोला मेरे मकान में लगा और मकान का तक़रीबन आधा हिस्सा मलबे का ढेर बन गया. मैं झाड़ियों में अपने भाई को आवाज़ देते हुए भागी. इतनी देर में एक गोला बिलकुल मेरे करीब फटा और मैं ज़मीन पर गिर पड़ी...."

हमारी कॉफ़ी खत्म हो चुकी थी. जूलिया ने पूछा—"और कॉफ़ी ?" हमारे 'हाँ' में सिर हिलाने पर उसने कॉफ़ी बनाकर हमारे सामने रख दी. इस दौरान पूरी ख़ामोशी रही और हम सब जूलिया का आख़िरी वाक्य भूलने की जेहनी कोशिश में मशग़ूल थे. जूलिया ने कहना शुरू किया, "मैंने अपने-आप को सिविल के फ़ील्ड हॉस्पीटल में एक बिस्तर पर पड़ा पाया. वहाँ से मुझे जापान ले जाया गया और फिर शायान में. इसलिए कि मुझे एक स्कूल में टीचर की जगह मिल गयी थी. मुझे कोरिया में मालूम हो चुका था कि मेरे माँ-बाप उस दिन हमले में काम आ गये. मेरा भाई शायद उसी गोले से मरा, जिससे मैं जख़्मी हुई थी. अब मैं इस दुनिया में बिलकुल अकेली हूँ और अकेली रहूँगी. इसलिए कि कोई मेरा शरीक़-ए-हयात (जीवन-साथी) नहीं बन सकता."

जूलिया फिर खामोश हो गयी. वह इस बात की इच्छुक मालूम होती थी कि हम लोग कोई सवाल करें लेकिन हमारी ख़ामोशी ख़ुद एक सवाल थी. जूलिया ने हमारे ख़ामोश सवाल का जवाब देना शुरू किया, "मेरे जिस्म के निचले हिस्से में बहुत जख़्म आये. मेरी टांगें कुछ दिनों के लिए रान के जख़्म की वजह से इलाज़ में रहीं और ख़याल था कि मैं चलने फिरने से लाचार हो जाऊँगी. मगर बाद में टांगें बिलकुल नॉर्मल हो गयीं. कमर से ऊपर का हिस्सा बिलकुल ठीक-ठाक था. मेरे कई ऑपरेशन किये गये." यह कहकर जूलिया ख़ामोश हो गयी और मीर से मुखातिब होकर बोली, "देखना चाहते हो ?" मीर ने कोई जवाब न दिया और न मैं कुछ बोल सका. जूलिया ने अपनी जीन्स के बटन खोले और उसे घुटनों तक खिसका दिया. मैंने जो मंज़र देखा, उसको बयान करना मेरे लिए बड़ा तकलीफ़देह है. नाफ से रानों के जोड़ तक मुख़्तलिफ क़िस्म के धब्बे थे और खाल पर पपड़ी जमी हुई थी. सारा हिस्सा बालों से खाली था और जिस जगह जूलिया का गुप्तांग होना चाहिए था, वहाँ एक छोटा सा सुराख़ था जो शायद ऑपरेशन के जरिए रफ-ए-हाजत (मूत्र त्याग) के लिए बनाया गया था. मैंने अपना मुँह दूसरी तरफ कर लिया. मेरी निगाहों के सामने जूलिया जैसे मज़लूमों की बहुत सी कहानियाँ फिल्म की रील की तरह तेज़ी से गुज़रने लगीं. पर्ल हार्बर की कहानी. हिरोशिमा की कहानी. वियतनाम की कहानी. सोवियतों की कहानी. पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के पार्टीशन की कहानी. ◙

फ़हीम आज़मी

मूल नाम : इम्दाद बाकर रिज्वी
जन्म : 1925, स्थान : चमांवा, आज़मगढ़
शिक्षा : एम. ए. (फिलॉसफ़ी और इतिहास) एल. एल. बी, पी-एच. डी (यू. एस. ए)
कृतियाँ : पाकिस्तान के बूर्ज्वा इन्क़िलाबात, क़ौम और क़ौम्यतों का मसला, बहुत देर कर दी, फिर क्या हुआ; जन्म कुंडली, हिसार, आरा, शौक़े मुन्फ़इल
सम्पर्क : 14-C ब्लॉक 20 एफ़. बी. एरिया, कराची 75950 पाकिस्तान

◆ कहानी ◆

और वह काली हो गयी

●

सायरा हाशमी

उ नों मेरे पति का ट्रांसफर कोयटा हो गया था. कोयटा बर्फ का हुआ था और रज़िया बीबी की आँखें गहरे गदले आँसुओं से. ज़या मेरे घर का काम करती थी और उसका पति मेरे मियाँ के तर में चपरासी था.

जब मैं वहाँ पहुँची तो जनवरी की ठंडी हवाएँ बन्द खिड़कियों अ दरवाज़ों से टकराकर चक्करों में घूमती, बर्फ़ के नरम गालों से झती, सुनसान गलियों और वीरान राहों पर सफ़र करती हुई पथरीले बर्फ़ से ढके पहाड़ों की तरफ उड़ जाया करतीं. मैं जो लाहौर की गहमागहमी की आदी थी, उस तनहाई-भरे माहौल से उदास हो गयी. ऐसे मौसम में दिल अनजाने बोझ से दब जाता है. मेरा दिल भी इस विस्तीर्ण अकेलेपन में अपने पर गुज़री हुई महरूमियों और अधूरी ख़्वाहिशों से निढाल हो जाता. मेरे मियाँ अक़्सर दौरे पर रहते और रगे जां (सबसे बड़ी खून की नस जो दिल में जाती है) में घुलने वाली हज़ारों छोटी बड़ी महरूमियाँ दिल के अंदर आहिस्ता-आहिस्ता यों सरकने लगतीं जिस तरह ज़मीन के नीचे कारेज (पटी हुई नाली) में बर्फ़ की सख़्त तह के तले सरकता हुआ पानी.

शायद औरत के जन्म में ही दुखों का पानी घोल दिया गया है. मैं जानती थी, रजिया की आँखें एक बड़े अलमिये की तमहीद (दुखान्त की प्रस्तावना) हैं, लेकिन मैं जो एक उच्च अफ़सर की बीवी थी, उसके साथ दूसराथ की सतह पर नहीं उतर सकती थी. मैं दिन का ज़्यादा समय कोयलों से दहकते आतिशदान के सामने बैठकर गुज़ार देती या कोई किताब पढ़ने की कोशिश करती. खिड़कियों के शीशे बर्फ़ की सफ़ेदी में धुँधला जाते और मेरे भीतर उदासी भरा अकेलापन और भी गहरा हो जाता. मेरे दोनों बेटे अपनी-अपनी वीडियो-गेम्स में उलझते रहते या सुपरमैन और टार्जन वाले कॉमिक्स पढ़ते रहते.

सुपरमैन जो आसमानों को अपने क़ब्ज़े में कर सकता है. टार्जन जो जंगल के घोर अँधेरों पर अपना शासन करता है. ज़हन के लिए नये ख़्वाब, ख़्वाहिशों की नयी परत.

मेरा छोटा बेटा कहता, "अम्मूंजान, देखें सुपरमैन ने ऊँची इमारत से गिरती हुई लड़की को थाम लिया है. कितना बहादुर है यह. काश, मैं भी सुपरमैन होता." उसकी आवाज़ में हसरत भर आती और मैं सोचती हूँ, ज़िन्दगी में हर लड़की को एक सुपरमैन की ज़रूरत रहती है, जो उसे गिरने से बचाकर अपने रंगमहल में ले जाये. और रज़िया के सुपरमैन ने उसे शायद आँसुओं के हवाले कर दिया है, हालाँकि किसी सुपरमैन को ऐसा नहीं करना चाहिए. मेरा शौहर जमील अहमद भी तो सुपरमैन ही है जिसने मुझे आम ज़िन्दगी से बुलंद मुकाम पर थाम रखा है, और मुझे लगता है, अगर वह मुझे गिरा दे तो शायद मैं भी केवल आँसू बहाती रहूँ रज़िया बीबी की तरह.

रज़िया बीबी अपनी मैली-कुचैली फ़राक की आस्तीनों से आँसू पोंछती रहती है. यह फ़राक शायद नयी और रंगीन होगी. तरह-तरह के धागे के फूलों से सुसज्जित, चमकीले शीशों से रौशन ! लेकिन अब सब कुछ बड़ा बोसीदा (बासी) और बेरंग हो चुका है. सिर्फ़ उसके आँसू नये हैं, जो हर पल उसकी आँखों को सैलाब किये रहते हैं.

मेरे बड़े बेटे को रज़िया की रोती आँखें बिलकुल अच्छी नहीं लगतीं. वह अक़्सर कहता है "अम्मूं, आख़िर आप इस गन्दी औरत को क्योंकर बर्दाश्त कर रही हैं. मुझे घिन आती है. ख़ुदा के लिए इसे निकाल दें." मैं उसे समझाना चाहती हूँ. औरत के अन्दर भरे दुखों से अवगत कराना चाहती हूँ. लेकिन वह इन बातों को समझ नहीं सकता. इसलिए मैं चुप रहती हूँ.

बाहर की दुनिया के साथ मेरा सम्बन्ध सिर्फ़ रज़िया बीबी के ज़रिए ही क़ायम है. और फिर उसका शौहर सरकारी नौकर है.

एक दिन मैंने लातअल्लुकी (तटस्थता) से पूछा, "रज़िया बीबी तुम रोती रहती हो या तुम्हारी आँखों में कोई बीमारी है." उसने कोई जवाब न दिया बल्कि अपना सिर झुका लिया. फिर उसकी नाक की लौंग और कानों में पड़ी बड़ी-बड़ी बालियाँ हिचकियों के ज़ोर से हिलने लगीं. उसके गले में पड़े बड़े-बड़े मोतियों की मालाएँ आवाज़ पैदा करने लगीं...और वह बाहर चली गयी.

जमील अहमद न जाने कब आयेंगे—इंतज़ार—इंतज़ार. मैं रज़िया बीबी के बारे में सोचने की कोशिश करते हुए बोली.

रज़िया के प्रिय पति ने कभी उसे कुछ नहीं कहा. लगता है दोनों आपस में किसी दुख की डोर से बँधे हुए हों. ज़्यादा 'नज़दीक' कभी-कभार तो मुझे उन दोनों पर बड़ा रश्क आता है, और मेरे ज़हन की सारी सोचें गडमड होने लगती हैं. हर हाल में ज़िन्दगी को गुज़ारा भी तो एक बहुत बड़ी मजबूरी है.

लॉन की घास, फूलों की रंगीनी, पेड़ों की हरियाली, सब कुछ एक अनन्त पतझड़ में डूबे हुए हैं. रज़िया नंगे पाँव बाहर ढंकी कारेज़ के गढ़े से पानी लाती है. मैंने अक़्सर उसे जूती पहनने के लिए कहा है. वह जूती पहनती है तो उसे चलना नहीं आता. वह ज़ोर-ज़ोर से हँसती है और फिर टूटी-फूटी उर्दू में कहती है, "हमारी नानी, दादी या माँ...वे जूती नहीं पहनती थीं. मैंने भी तो अम्मा, बचपन से जूता नहीं पहना न. घबराहट होता—'चोड़ो, चोड़ो' जाने दो." और वह उसे उतारकर काम में व्यस्त हो जाती है.

मैं फिर उसकी बहती हुई आँखों के बारे में सोचने लगती हूँ. औरत—औरत का दिल, उसकी काया, उसकी रोती आँखें...मेरा उदास दिल...दिल हमेशा मुस्कुराता क्यों नहीं रहता—मुझे ज़रूर पूछना चाहिए—रोना नहूसत (अशुभ) है, मातम है और बसते घरों में मातम नहीं होना चाहिए—लेकिन मेरा बुलन्द दर्जा उसका दुख बाँटने नहीं

क्या करूँ अम्माँ, क्या करूँ...'' और वह अपनी छाती पीटने लगी—अपने बालों को नोचने लगी—मुजस्सम ग़म—सरापा एहतिजाज (सिर से पैर तक रोष).

''कौन थी वह तुम्हारी ?''

''वह मेरी बेटी थी. मेरी रूह थी, मेरी जान थी.'' वह लगातार मातम किये जा रही थी.

''क्या उसको कोई उठाकर ले गया.''

''नहीं अम्माँ, वह काली हो गयी थी. उसकी क़िस्मत में लिक्खा था.''

''यह काली होना क्या होता है.''

''होता है अम्माँ, जब बेटियों की बदक़िस्मती ज़मीन पर उतरती है तो वह काली हो जाती है. उन्हें काला कर दिया जाता है, जबर्दस्ती—और उन्हें कोई सफ़ेद नहीं कर सकता—.'' वह एकदम यों चुप हो गयी जैसे अन्दर-बाहर से वीरान हो गयी हो. उसकी मातम भरी आवाज़ आतिशदान के चटखते कोयलों की आवाज़ के साथ मिलकर बोझिल हवा की तरह बन्द कमरे में चककर काटने लगी थी.

मैंने सोचा वह अपने दुःख पर काबू हासिल कर लेगी तो मैं उससे उसकी कहानी सुनूँगी. लेकिन वह उठकर चली गयी और उसके आँसू मुझे दोबारा इस कहानी को दुहराने से रोकते रहे.

जमील अहमद दौरे से वापस आ गये. डॉक्टर यूसुफ़ उनसे मिलने आये. जब रज़िया बीबी चाय की ट्रे लेकर अन्दर आयीं तो डॉक्टर यूसुफ ने पूछा, ''रजिया बीबी, अच्छी तो हो...अब तो कूदकर मरने का इरादा नहीं है ना ?''

वह धीरे से मुस्कुरायी और दुआएँ देती चली गयी.

मैंने कहा, ''डॉक्टर साहब, क्या आप इसकी कहानी जानते हैं ?''

''इसकी कहानी—यह उस अकेली की कहानी नहीं, यह तो यहाँ की सारी औरतों की कहानी है. मजबूर और बेबस औरतों की कहानी. मर्द के समाज की, उसके जबर की कहानी.''

देता. बड़े रुतबे पर होना इनसान को खुद दूसरे से अलग और अकेला कर देता है. और हम उस पर दिल ही दिल में फख्र करके लगते हैं, और फिर अकेलापन बाकी रह जाता है.

मेरे बच्चे किसी न किसी काम में एक दूसरे के साथ व्यस्त रहते हैं और मैं बाहर तेज ठंडी हवा को उजाड़ डालो और रुंड मुंड पेड़ों की खुली टहनियों को झुलाते हुए देखती रहती हूँ. मेरे बेटों ने कभी मौसम की सख़्ती की शिकायत नहीं की !

रज़िया चाय लेकर आयी तो मैंने कहा, ''रजिया बीबी, अन्धा होना बड़ा तकलीफ़देह है. ये आँसू तो तुम्हारी आँखों का नूर हैं, जिन्हें तुम हर समय बरबाद करती रहती हो. साहब के दोस्त डॉक्टर शरीफ़ जब मिलने के लिए आयें तो तुम अपनी आँखें उन्हें ज़रूर दिखाना. मुफ़्त देख लेंगे. फ़िक्र न करो.''

वह मेरे पास बैठ गयी और उसकी आँखों से यों आँसू बहने लगे जैसे कमज़ोर बाँध एकदम टूटकर उसके सारे वजूद को बहा लेना चाहता हो. मैंने उसके सिर पर धीरे से हाथ रख दिया. तो यह आँसू दुख के थे. इस अनजाने ग़म की तेज़ लहर मेरे अन्दर भी उतर आयी.

''रज़िया बीबी कुछ तो कहो. कुछ तो बताओ.''

''अम्माँ क्या कहूँ—दुख है जो मेरे दिल को अपने पंजों में जकड़कर ज़ख़्मी करता रहता है. सोचती हूँ पैदा न होती तो बेहतर था. फिर वह भी यों ना मरती. उसकी चीखें पूरे समय मेरे कानों में गूँजती रहती हैं, और फिर मेरा तन-मन एक मातम में ढल जाता है.

मैंने रज़िया बीबी की कहानी के टुकड़ों को जोड़कर एक दास्तान बनायी है, उसके दुख को समझने में मुझे बहुत दिन लगे हैं.

रज़िया बीबी, ताज बीबी, मीर बख़्श, सरदार चंगेज़ खान, जानाँ खान, कई सुपरमैन और कमज़ोर, मासूम, ख़ूबसूरत लड़की. लेकिन सुपरमैन ने उसे ऊँची इमारत से नीचे गिरने दिया और फिर उसका ख़ून चारों ओर बिखर गया. उन चट्टानों पर जिस पर ताज बीबी बैठी थी, रज़िया के दिल पर, जो उसकी माँ थी. मेरे दिल में भी, मैं जो उसकी कुछ नहीं लगती.

रज़िया बीबी और उसका शौहर जानाँ ख़ान टेम्पल डेरा के पास बहुत से इनसानों की तरह पहाड़ की खोह में बनाये गये एक घर में बेटी ताज बीबी और आठ-दस बकरियों के साथ रहते थे. एक टूटा

वक्सा, कुछ मिट्टी के बर्तन, और ओढ़ने के लिए एक-दो फटे पुराने लिहाफ़ उनकी कुल कायनात थे. लेकिन फिर भी वे अपने आप को ग़रीब नहीं समझते थे क्योंकि ताज बीबी का हुस्न उनकी सबसे बड़ी दौलत बनने वाला था.

गर्मियों में तपती ज़मीन और बेबादल रौशन आसमान तले ताज बीबी नंगे पाँव पत्थरों को फलाँगती भेड़-बकरियों के पीछे तितली की तरह उड़ती तो रज़िया बीबी सोचती—बस तीन-चार साल और—और फिर हम ग़रीब नहीं रहेंगे. मुझे अभी से अपने भांजे मीर बख़्श से कह देना चाहिए कि वह ढेर सारे पैसों का बन्दोबस्त कर ले. कितनी उजली-उजली सी है मेरी बेटी. पन्द्रह हज़ार से कम की तो किसी तौर नहीं ! वह आटे को पत्थर के गिर्द लपेटकर दहकते चूल्हे में डालते हुए सोचती रहती. जानाँ ख़ान रस्सी बटते हुए तसव्वुर ही तसव्वुर में एक बढ़िया बन्दूक़ कन्धे पर रखे बेहतरीन कुत्तों के साथ पहाड़ों पर शिकार करने लगता. जैसे-जैसे बीबी बड़ी हो रही थी वैसे-वैसे उसे अपनी ख़ानदानी पुरानी तोड़ेदार बन्दूक़ बुरी लगने लगती थी.

वह दोनों अपनी ख़्वाहिशों के पीछे दौड़ लगाते अपनी बेटी के एक-एक अन्दाज़ पर फिदा होते रहते, और ताज बीबी अपनी किस्मत से बेख़बर चट्टानों पर उगे हुए तेज़ ख़ुशबू वाले फूलों को तोड़कर उन्हें एक दूसरे के डंठल में फँसाकर लम्बा-सा हार बना लेती और गले में डाले सहज-सहज क़दमों से एक से दूसरे पत्थर पर उतरती बकरियों के पीछे चल पड़ती. उसका सिर तेज़ फूलों से उठती तेज़ गन्ध से बोझिल हो जाता तो उसे लगता जैसे वह चिड़िया बनी बहुत ऊपर नीले आसमान के पास-पास उड़ान भर रही हो.

सूरज किसी बड़ी-सी चट्टान के पीछे छुप जाता—उसका कुत्ता बकरियों को घेरने के लिए भोंकना शुरू कर देता तो उसकी माँ की पुकार चट्टानों से टकराती गूँज-दर-गूँज उसे घेरने लगती.

''ताज बीबी—हौ—औ—औ—औ—''. वह भी मुँह के आगे हाथों का भोंपू बनाकर जवाब देती. उसकी बकरियाँ सिर उठाकर उसे देखतीं, में-में करतीं और वे सब ख़ुश्क होते किसी बरसाती नाले के गढ़े में भरे पानी पर झुक जाते. वह पानी न जाने धरती की गोद से कहाँ से फूटता. फिर वह सब चट्टानों की ऊँचाइयों पर बने हुए घर को चल पड़ते. वह मौसम की आखरी खुम्बियों को गोद में इकट्ठा करती रहती. माँ कहती—'ताज बीबी, गले में फूल मत पहना करो. नहीं तो बगूले का जिन्न किसी रोज़ तुम्हें उठाकर ले जायेगा.'

'बगूले का जिन्न—लेकिन माँ, मुझे आज तक बगूले का जिन्न नज़र नहीं आया. वह मेरे कुत्ते से डरता है ना—और माँ, कितना बड़ा होता है वह जिन्न ?' वह उत्सुकता से पूछती. उसके अन्दर भय और जिज्ञासा दोनों गड्डमड्ड होने लगते. 'नहीं उसे कोई नहीं उठा सकता. मैं बड़ी मस्जिद के मुल्ला से तावीज़ करवा कर लाऊँगी. उसके बड़े होने पर मैं ख़ुद चली जाया करूँगी बकरियों के साथ. अभी तो फ़िक्र की बात नहीं.' वह अपने आपको तसल्ली देती. ताज बीबी और दौलत. रुपयों का ढेर रज़िया बीबी के तसव्वुर में बढ़ने लगता, इतना बड़ा जितना कि उसके छोटे से घर में भी समा नहीं सकता. तब मैं बड़ा सा घर बनाऊँगी और.... लेकिन वह आगे सोच न पाती. उससे आगे की ख़्वाहिशों के बारे में वह खुद भी कुछ नहीं जानती थी. बस, सोच सकती थी, उतना ही जितना उसने ज़िन्दगी में देखा था.—वह भी तो ताज बीबी की तरह चट्टानों के बीच बड़ी हुई थी और फिर जानाँ ख़ान उसे पाँच हजार बलवर (ब्याह के लिए तय किया हुआ मूल्य) देकर ब्याह कर यहाँ ले आया था और ताज बीबी...लेकिन मेरी बेटी मुझसे भी बहुत ज़्यादा ख़ूबसूरत है. वह गर्व से सोचती.

एक दिन वह ख़ास तौर पर से अपनी बहन के घर दूसरे डेरे पर गयी और उसने ताज बीबी के हुस्न का ज़िक्र कुछ इस तरह किया कि दूसरे कमरे में बैठे मीर बख़्श के दिल में उसे देखने की तलब शिद्दत से जाग उठी. लेकिन वह जानता था कि यह बहुत बड़ा जुर्म है. पन्द्रह हज़ार रुपया—उसके जवान दिल में ख़ुशी और रंज की ज्वाला सी जलने लगी. वह जानता था, ताज बीबी उसकी मंगेतर थी और पहाड़ों की बर्फ़ की तरह उजली और पाकीजा थी. और उसे पन्द्रह हजार अदा कर के ही उस तक पहुँचना था.

ताज बीबी की माँ के जाने के कुछ दिन बाद वह मज़दूरी करने के लिए कोयटा चला गया. जाने से पहले वह सुबह से शाम तक उन राहों पर चलता रहा जो उसकी मंगेतर के घर की तरफ़ जाती थीं. एक बार, सिर्फ़ एक बार—वह अपने दिल के अन्दर उभरती उत्सुकता को किसी तरह दबा नहीं सका था. उत्सुकता की नन्हीं सी लौ उसके सारे वजूद को तपा रही थी.

ताज बीबी हमेशा की तरह चट्टानों के बीच फूलों को ढूँढ़कर उनकी माला बना रही थी. मीर बख़्श का दिल चाहा कि वह ज़ोर से पुकारे—ताज बीबी हौ...औ...औ. लेकिन वह चट्टान के पीछे छिपा उसे देखता रहा और जब उसकी माँ की आवाज़ घाटियों में गूँजने लगी तो उसने भी अपनी आवाज़ को उस गूँज में शामिल कर दिया. —ताज बीबी हौ...औ...औ. दूर घाटी में धूल का बगूला उठ रहा था. और ताज बीबी को लगा जैसे बगूले से कोई उसे पुकार रहा हो—ताज बीबी...ताज बीबी. प्यार भरी पुकार. उत्सुकता ही उत्सुकता. बगूले का जिन्न ! वह भयभीत होकर कुलाँचें भरती घर की तरफ़ दौड़ पड़ी, और वह चट्टान के पीछे छुपा-छुपा क़हक़हे लगाने लगा. फिर यह क़हक़हे ताज बीबी का पीछा करने लगे—हा हा हा—हा आ—.

पन्द्रह हजार रुपया और ताज बीबी का सुन्दर चेहरा—हाँ, मैं जमा करूँगा और फिर उसे अपने घर ले जाऊँगा—उसने वापस जाते-जाते सोचा—पन्द्रह हज़ार रुपया और ताज बीबी. ताज बीबी—हौ औ—हौ—औ—, आवाज़ उसके साथ-साथ दौड़ रही थी.

जब ताज बीबी को अपने मंगेतर मीर बख़्श के बारे में मालूम हुआ तब उसे शहर गये तीन बरस हो चुके थे. ताज बीबी की मेंढियाँ गूँधते गूँधते उसकी माँ के हाथ दुखने लगे थे और उसके लिबास के लिए इस बार कपड़ा भी ज़्यादा ख़रीदना पड़ा था. 'पता नहीं कब होगा उसके नाम पन्द्रह हज़ार रुपया और वह कब ले जायेगा ताज बीबी को.'

रज़िया को ताज बीबी का चौदह साला वजूद चौदह पहाड़ों की तरह भारी लग रहा था. उसे मर्दों की नज़रों से खौफ़ आता था. मीर बख़्श उसका भाँजा था. उसका अपना और ताज बीबी का बचपन का मंगेतर.

अब ताज बीबी भी भेड़-बकरियों को हाँकते-हाँकते पत्थरों को फलाँगती तो उसके क़दम ख़ुद-ब-ख़ुद रुक जाते. उसे लगता कोई किसी चट्टान के पीछे छुपा-छुपा उसे पुकार रहा हो—ताज बीबी—हौ—औ—औ. और फिर वह हँसी की आवाज़ झाड़ियों के सायों और चट्टानों की दरारों से उसका पीछा करने लगती. वह बरसाती नाले के किनारे चुपचाप बैठ जाती. फिर हर चट्टान से एक धुँधला सा आकार उभरता जिसका चेहरा मीर बख़्श का बन जाता. वह सोचती और अपने अन्दर आती तब्दीली से भयभीत हो जाती. उसका मासूम वजूद अपने अन्दर किसी अजनबी के ख़याल से घायल हो रहा था—मीर

बख़्श...मीर बख़्श...उसका दिल आवाज़ की तकरार से भर जाता.

उस दिन उसका चेहरा काली चट्टान के मुक़ाबले में ज़्यादा सुर्ख़ हो गया जब उसने सचमुच मीर बख़्श को अपने सामने खड़ा पाया.

"मैं मीर बख्श हूँ...तुम्हारी ख़ाला का बेटा." कुत्ता और ज़ोर से भौंकने लगा था. लेकिन ताज बीबी ने उसे सख़्ती से डाँट दिया. कोई अपनों पर भी भौंकता है.

"मैं बड़ा लम्बा सफ़र करके आया हूँ तुम्हें देखने. मैं अपने घर भी नहीं गया." मीर बख़्श की आँखों की चमक उसे चौंधिया रही थी.

वह परेशान और भयभीत सी सिर झुकाकर बैठी रही.

"तुम बोलती क्यों नहीं. बताओ क्या मैं तुम्हें याद आता हूँ." मीर बख़्श की मद्धिम आवाज़ में भावनाओं की तीव्रता थी. वह तीव्रता जो सोचों की आग ने भड़कायी हुई थी.

उसने अपना सिर हिलाकर मंजूर कर लिया. बस इतनी-सी बात थी. वह दिल-ही-दिल में हँसी. फिर वह दोनों चुपचाप बैठे रहे. दूर नीचे बकरियाँ चर रही थीं. कुत्ता चट्टानों की दरारों में सूँघता फिर रहा था—और ताज बीबी के दिल की आवाज़ उस सारी ख़ामोशी को तोड़ रही थी.

जाने से पहले मीर बख्श ने कहा, "ख़ाला को मत बताना. मैंने भी माँ को नहीं बताया." और फिर वह अनमने ढंग से बेनाम पंगडंडियों पर चलता वापस मुड़ गया. वह अब वहाँ अकेले बैठी उस राज़ के बोझ को सँभालने की कोशिश कर रही थी. अन्दर बाहर से ज़्यादा रौशन और उजला.

अब वह हर दिन उस चाप का इन्तज़ार करती रहती. वह चाप जिसने चट्टानों को बड़ा जानदार बना दिया था, फूलों को ज़्यादा खुशबूदार और हवाओं को ज़्यादा कोमल—प्रतीक्षित. पन्द्रह हजार रुपयों के ढेर के पीछे उसकी खुशियाँ छिपी हुई थीं. वह सोचती कि जब वह आयेगा तो मैं घर की दीवार में बनी छोटी सी खिड़की से देखूँगी. वह मेरे लिए रंगीन और शीशों वाले लिबास लायेगा और शायद जूती भी. वह अपने नंगे पैरों को छूती—मीर बख़्श की कल्पना से उसका सारा वजूद महका रहता. उसका चेहरा लाल हो जाता.

अब उसके हुस्न की चर्चा आते-जाते लोग करने लगे थे और सरदार चंगेज़ ख़ान के कारिन्दे जो पहाड़ों पर जड़ी-बूटियों की खोज में फिरते थे उसकी चर्चा को ताहफ़े के तौर पर अपने सरदार के सामने ले गये.

"सरदार, वह वहाँ चट्टान पर बैठी थी. बिल्कुल परी की तरह नाज़ुक और ख़ूबसूरत. आपके घर की जीनत बनने के लिए मौजूँ."

सरदार के पास बोरियों में भरे बहुत नोट थे. उसी दिन चालीस हज़ार वलवर के साथ अपने एक आदमी को जानाँ ख़ान के पास उसकी बेटी के नाते के लिए भेज दिया.

चालीस हज़ार. रज़िया बीबी और जानाँ ख़ान को यक़ीन नहीं आ रहा था. उन्होंने इतने ढेर सारे रुपये कभी नहीं देखे थे ! रुपयों को उँगलियों से पर गिनने की कोशिश में उनके हाथ दर्द करने लगे. और फिर चंगेज़ ख़ान उनके इलाक़े का सरदार था, और उसने उस मामूली आदमी की बेटी का रिश्ता माँगा था लेकिन रज़िया बीबी के दिल में बहन और भांजे का प्यार भी था. वह मीर बख़्श से डरती भी थी.

उसने कहा, "मीर बख़्श की बचपन की मंगेतर है वह. ऐसा न हो कि वह बदला ले. बर्बाद कर डाले सब कुछ."

सरदार के कारिन्दे ने अपने सलूके की जेब से नोटों की गड्डियाँ उनके सामने ढेर करते हुए कहा, "जानाँ ख़ान, रुपयों का इतना बड़ा ढेर कभी तुमने सपनों में भी नहीं देखा होगा. एक ही बेटी ने तुम्हारा नसीब जगा दिया. वह इलाक़े का सरदार है और बहुत कुछ देगा. तुम घोड़ा ख़रीदो या बन्दूक़. कोठरी, मकान बनाओ या अपनी ज़मीन पर खेती करो. तुम बहुत कुछ कर सकते हो. और तुम्हारी बेटी सरदार के दिल पर हुकूमत करेगी. ख़ूब सोच लो. लेकिन याद रखो, वह यहाँ का सरदार है. चट्टानों के पत्थर भी उसके हुक्म के बिना नहीं हिलते. और तुम एक मामूली आदमी हो—"

जानाँ ख़ान को लगा जैसे वह कारूं के ख़ज़ाने का मालिक हो. और रज़िया बीबी के दिल में भी अपनी बहन और भांजे का ख़ौफ मद्धिम पड़ गया. चालीस हज़ार रुपया और पन्द्रह हज़ार रुपया, उनकी चीज़ जब इतनी क़ीमती है तो उसे वह सस्ते दामों क्यों बेचें ? इतना रुपया तो भावनाओं के बड़े मज़बूत बाँध को भी बहाकर ले जा सकता है, रिश्तों को ख़रीद सकता है...ग़रीबी को मिटा सकता है. वह ग़रीब थे. बहुत ग़रीब.

जानाँ खान ने धीरे-धीरे अपने दोनों हाथ बढ़ाकर नोटों के ढेर पर रख दिये. वह किसी से नहीं डरेगा. अब वह खुद अमीर हो गया है. सरदार का रिश्तेदार.

और ताज बीबी मीर बख़्श से कह रही थी, "मीर बख़्श, तुम आते हो तो मुझे डर लगने लगता है. किसी ने तुम्हें देख लिया तो—."

मीर बख़्श ने कहा, "डरने की क्या बात है. मैं तुम्हारा मुहाफ़िज़ (रक्षक) हूँ. बस कुछ देर बाद मैं तुम्हें अपने घर ले जाऊँगा. फिर तुम मेरी बकरियाँ चराना. मेरे लिए मगीर साग की मीठी रोटी पोसन पकाना और मेरी माँ की सेवा करना—और—"

"लेकिन मुझे तो पोसन पकानी नहीं आती."

"मेरी माँ तुम्हें सिखा देगी."

"तुम बहुत देर लगा रहे हो. क्या पन्द्रह हज़ार रुपया बहुत होता है."

"हाँ, पन्द्रह हज़ार रुपया भी तो बहुत ज़्यादा होता है." मीर बख़्श के दिल में मायूसी उतर आयी थी.

ताज बीबी ने जाते बसन्त के फूलों का छोटा सा हार बनाकर मीर बख़्श की ओर उछाल दिया. फूल जो उस सूखी हुई ज़मीन के सुहाग की निशानी थे.

हवाएँ अब गर्म होने लगी थीं. चट्टानों की दरारों से पानी रिस-रिस कर बरसाती नाले में भरने लगा था. और किनारों पर दरियाई पेड़ पर मीठे नन्हे-नन्हे दाने उगने लगे थे. नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ खुले नीले आसमान के नीचे उड़ते हुए चहचहाने लगी थीं. जड़ी-बूटियों वाले पहाड़ों की ओर आने लगे थे. और बकरियों के जिस्म मोटे होने लगे थे.

ताज बीबी जब घर पहुँची तो जानाँ ख़ान रुपयों के ढेर को आगे रखे सेहरज़दा (जादू का मारा हुआ) सा बैठा था. उसकी माँ का सदियों की ग़रीबी और बेचारगी से मुर्झाया चेहरा रौशन था. अजनबी आदमी का घोड़ा चट्टान की ओट में खड़ा था और उसकी लम्बी नाल वाली काली बन्दूक़ उसके कन्धे से लटक रही थी. वह अन्दर चली गयी, कुछ समझने की कोशिश करते हुए—अजनबी की आँखों से भयभीत होकर, माँ और बाप के मुस्कुराते चेहरों का अर्थ समझने की कोशिश में. माँ ने अन्दर आकर उसके सिर पर हाथ रख दिया, "ताज बीबी, तेरे नसीब जाग उठे हैं—तू सरदार चंगेज़ खां के दिल पर हुकूमत करेगी. मैं तेरे लिए ख़ूबसूरत फूलों वाले कपड़े बनाऊँगी. तेरे पाँव के

लघुकथा

डरपोक

•

बशेशर प्रदीप

उसने ट्रंक खोला और चीख़ मारकर पीछे हट गयी,...ट्रंक में कपड़ों के ऊपर एक काकरोच था.

उसकी चीख़ सुनकर उसकी माँ उसके पा आ गयी, उसके डर की वजह जानकर माँ हँसने लगी, "डरपोक कहीं की ! अहानिकारक कीड़े मकोड़ों से भी कोई इस तरह डरता है ?" माँ ने उसे सीने से लगा लिया. उसकी पेशानी पसीने से तर थी और छाती धक-धक कर रही थी.

वह घर में ही नहीं, अपनी सहेलियों में भी डरपोक मशहूर थी. पालतू कुत्ते बिल्लियों और पिंजड़े में बन्द परिन्दों से भी उसे डर लगता था.

लेकिन, उसी रोज रात के बारह बजे जब माँ गहरी नींद सो रही थी. वह चुपके से उठी, ट्रंक में रखी शाल निकालकर ओढ़ी और दरवाज़ा खोलकर घर से बाहर आ गयी. खुली सड़क वाला रास्ता निःसन्देह सुरक्षित था, पर बहुत लम्बा था. उसने दूसरा रास्ता चुना जो छोटा था. घने पेड़ों पर परिन्दों के फड़फड़ाने और चीखने की आवाज़ रात के सन्नाटे में गूँज रही थी. क़ब्रिस्तान के बाद एक बड़ी हवेली का खंडहर था, उस खंडहर के लिए मशहूर था कि चोरों का अड्डा है.

इसके बावजूद नियत समय से पहले अपनी मंज़िल पर पहुँच गयी....

जब वह उसके सीने से लगी खड़ी थी तो उसने पूछा, "इतनी रात गये तुम इस सुनसान रास्ते से कैसे आयी ? तुम्हें डर न लगा ?"

"डर—डर काहे का ? क्या तुम समझते हो मैं डरपोक हूँ ?" ▣

लिए जूती ख़रीद दूँगी और तुझे बहुत-सा गहना बनाकर दूँगी." उसकी माँ न जाने ख़ुद सपना देख रही थी, या उसे दिखा रही थी. उसका दिल चाहा कि कहे...माँ, यह सब तो मीर बख़्श के रुपये भी ख़रीद सकते थे. लेकिन उसे बाबा से डर लगता था. बाबा जो उड़ते परिंदों का शिकार करता था और भेड़ की खाल को एक झटके में उसके जिस्म से उतार फेंकता था. वह उसकी खाल भी उधेड़ सकता था. वह रुपये की अहमियत को जानती भी कब थी. उसने आज तक एक पैसे को भी अपने हाथ से नहीं छुआ था. और कुछ देर पहले चट्टानों को फलाँगते हुए गा रही थी. 'ऐ मेरे महबूब तू चाँद की तरह पहाड़ों की ओट से निकलता है तो मेरे दिल का तमाम अँधेरा दूर हो जाता है. तू सरदारों का सरदार है, और तेरी चमकदार काली बन्दूक़ की गोली आसमान की ऊँचाई में गुम हो जाती है.'

वह एकदम अँधेरे में खड़ी रह गयी. ऐसा अँधेरा जिसमें सब रास्ते और गीत दम तोड़ गये थे.

माँ अब अक़सर बाबा के साथ दूर के गाँव से सौदा लाने चली जाती और वह चट्टान पर बैठी, कदमों के चाप के इन्तज़ार में अकेली बैठी रहती. गर्म हवाएँ बरसाती नाले पर नन्हीं-नन्हीं लहरें पैदा करतीं. ख़ुदरो (अपने आप उगे हुए) फूलों की ख़ुशबू से बोझिल हवा उसके पास चक्कर लगाती. लेकिन वह सिर झुकाये कुछ सोचने की कोशिश करती जो कभी पूरा का पूरा उसके ज़हन में न समाता. क़ालीन बुनते, चादरी पर फूल काढ़ते या पुशक पर शीशे टाँकते हुए उसका वजूद आँसुओं से उमड़ आता, लेकिन वह रो नहीं सकती थी.—क्या फ़ायदा ? वह जानती थी, पता नहीं उसका दिल औरत की जन्मजात बेचारगी को कैसे अपने आप जान गया था.

अब हवाएँ और ज़्यादा गर्म हो गयी थीं. वह सोचती...शायद मीर बख़्श आता हो. अब वह बकरियाँ चराने नहीं जाती थी. माँ को वह एकदम कीमती लगने लगी थी. और सरदार ने भी यही हुक्म दिया था. वह घर से बाहर नहीं जा सकती थी.

जब सरदार चंगेज़ ख़ाँ के घर से अनाज से लदे घोड़े और मोटे-ताजे दुंबे उसके घर के सामने आकर रुके तो उसने सूखी आँखों से दूर चट्टानों की तरफ़ से आने वाली राह को देखा और अपने दिल से उसके ख़याल को निकालने का इरादा करके अन्दर चली गयी. लेकिन जब भी वह सरदार की कल्पना करती तो केवल मीर बख़्श ही नज़र आता. मीर बख़्श जो न जाने कौन से रास्ते में खो गया था.

ढोल की थाप पर घेरदार सलूके पहने और बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ बाँधे, लाल चेहरों और रौशन आँखों वाले रिश्तेदार मर्द अपनी बड़ी-बड़ी सलवारों को थामे नाच रहे थे. उनकी बन्दूक़ें आसमान की तरफ़ हवाई फ़ायर करती रहतीं, अन्दर औरतें उसके जिस्म को ख़ुशबूदार उबटन से सजातीं और बिदाई के गीत गातीं. वह उसकी क़िस्मत पर गर्व कर रही थीं. वह सरदार की बीवी बनने जा रही थी. सरदार, जिसकी ऊँची हवेली के अन्दर कोई झाँक भी नहीं सकता था. वह सोचती—शायद वहाँ भी चट्टानें हों और उन पर बकरियाँ चरती हों. खुली हवाएँ सनसनाती चट्टानों की दरारों से गुज़रती हों, और बरसाती नाले के किनारे ख़ुदरो ख़ुशबू वाले फूल उगते हों. और...और ...फिर उसकी सोच उलझ जाती.

सरदार ढोल की तेज़ थाप पर नाचते जवानों के साथ उसे अपनी हवेली पर ले गया. हवेली जो ऊँची दीवारों वाली थी. जहाँ बकरियों की आवाज़ें, झरनों का शोर और खुली सरसराती हवाओं की आवाज़ें नहीं आती थीं. उसने भयभीत निगाहों से बन्द कमरे को देखा. बन्द कमरा जिसका दरवाज़ा उसके क़द से बड़ा था.

सरदार ने अपने सिरहाने गोलियों से भरा पिस्तौल रखते हुए कहा, "ताज बीबी, इस पिस्तौल की ख़ामोशी तुम्हारी पाकीज़गी की गवाह होगी. मुझे इससे पहले केवल एक बार इसे चलाने की जरूरत पड़ी थी. और मेरा निशाना बड़ा अचूक है. क्योंकि मैंने कभी किसी की थाली का बचा नहीं खाया. मैं जानता हूँ मीर बख़्श तुम्हारा मंगेतर था. लेकिन वह तुम्हारी क़ीमत अदा नहीं कर सकता था. मेरे पास तुम्हारे लिए बहुत कुछ है. मैंने अपनी पहली शादियों पर इतना रुपया कभी नहीं अदा किया. हालाँकि वे भी ख़ूबसूरत थीं. और मीर बख़्श को मैंने कभी अपनी हवेली के पास देखा तो मेरे निशानची अपनी गोली कभी नहीं चूकते और मेरे कुत्ते इनसानी गोश्त बड़े चाव से खाते हैं." सरदार की बड़ी-बड़ी सुर्ख आँखें उसे घूरते हुए मुस्कुरा रही थीं.

ताज बीबी हमेशा की तरह ख़ामोश रही. उसे बोलना ही कब आता था. सदियों की ख़ामोशी को तोड़ना वह जानती ही नहीं थी. रात बीत गयी थी और सरदार ने बिना कुछ कहे पिस्तौल उठा लिया था लेकिन वह जब भी अकेली होती और उसकी ख़िदमतगार घर के काम में उलझी हुई होतीं तो मीर बख़्श का धुँधला आकार उसके

सामने खड़ा हो जाता. वह भयभीत होकर इधर-उधर देखती. वह गुनाह की सज़ा जानती थी. वह मरना नहीं चाहती थी. आईनों से सजे पोशाक पहने वह आईने के अन्दर झाँकती तो हैरान रह जाती. यह वह तो नहीं थी—पैबन्द लगे कपड़े और नंगे पैर वाली लड़की, जो सर्दी-गर्मी चट्टानों पर छलाँग लगाया करती थी. वह एकदम पीछे हट जाती क्योंकि उसका चेहरा एक और चेहरे में ढल जाता और उसे लगता जैसे हवेली से परे कोई उसे पुकार रहा हो—ताज बीबी हो—औ—औ—. शायद यह माँ है, शायद—नहीं—नहीं—, वह दिल ही दिल में विरोध करती. और जल्दी से चादरी को सामने बिछाकर काढ़ने लगती लेकिन उसका तुरपन का टाँका टेढ़ा पड़ता. और वह उसे उधेड़ने लग जाती.

उसकी माँ बहुत बीमार हो गयी थी. उसका बाबा उसे लेने आया था. वह महीनों बाद उन राहों पर जा रही थी, जो उसकी ज़िन्दगी

मीर बख़्श ने कहा, 'ताज बीबी, मेरी मुहब्बत में सिर्फ़ तुम ही शामिल नहीं थीं, तुम्हारा यह ख़ूबसूरत वजूद भी शामिल था. मैंने मुद्दतों इसके बारे में सोचा था. इसे छूने की ख़्वाहिश की थी. और तुम अच्छी तरह जानती हो—अपनी मंगेतर को किसी ग़ैर के हवाले करना आसान नहीं. और आज मैं अपने हक़ को वसूल करके रहूँगा—चाहे तुम चीखो या चिल्लाओ या रोओ. ताज बीबी जब सब लोग तुम्हें काली कहेंगे तो फिर मैं तुमको याद आया करूँगा.'

से एकदम काट दी गयी थी. घोड़े की लगाम पकड़े उसका बाबा आगे-आगे चलते हुए उससे बातें कर रहा था. उससे बहुत सी बातें पूछ रहा था, 'सरदार कैसा बर्ताव करता है ? कितने कपड़े बनाकर दिये उसने, क्या ख़ान ने ज़ूती बनाकर दी है या नहीं, और यह कि खुद कितने रुपये जमा किये हैं.' जानाँ ख़ान को रुपयों की सख़्त ज़रूरत थी. उसने नयी बन्दूक़ और खेती की ज़मीन ख़रीदी थी. और उसकी माँ बहुत बीमार थी. वह अमीर थी और उसका बाप ग़रीब. वह जवाब देती जा रही थी. उसकी निगाहें चट्टानों पर भटक रही थीं. और फिर उसने मीर बख़्श को एक चट्टान के पीछे छिपा हुआ देखा. उसका चेहरा सँवलाया हुआ और कमज़ोर था.

ताज बीबी का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़का और उसका पूरा वजूद ठंडा हो गया.

जानाँ ख़ान ने बातों में बताया कि, ''मीर बख़्श ने नयी बन्दूक़ ख़रीदी है और तुम्हारी माँ को तुम्हारी बड़ी फ़िक्र है—न जाने क्या हो.''

वह बेबसी से मुस्कुरायी, ''नहीं बाबा, मीर बख़्श ऐसा नहीं कर सकता. वह ऐसा नहीं करेगा. वह मुझे बर्बाद नहीं करेगा.'' हालाँकि उसे आबाद होने का पूरा अर्थ भी मालूम नहीं था.

''वह ऐसा ज़रूर करेगा—इन्तक़ाम लेना तो उसका फ़र्ज़ बनता है. वह इतना बेग़ैरत नहीं हो सकता था—वह महीनों से पहाड़ों में आवारा फिर रहा है.''

''बाबा, तुम चाहते हो वह इन्तक़ाम ले ?'' वह हैरान होकर पूछने लगी, ''तुम चाहते हो कि मेरा शौहर मारा जाय और मैं फिर तुम्हारे पास वापस आ जाऊँ ताकि तुम मुझे मीर बख़्श के हवाले कर सको. दुबारा मेरी क़ीमत वसूल कर सको—'' उसकी आवाज़ में बड़ी पीड़ा थी.

जानाँ ख़ान ज़ोर से हँसा, ''ताज बीबी, तुम बहुत होशियार हो गयी हो और समझदार लड़की मर्दों को बहुत पसन्द आती है. वैसे भी वह तुम्हारा मंगेतर था, और मेरे चाहने से क्या होगा. मैं जानता हूँ सरदार ताक़तवर है और तुम्हारी हिफ़ाजत ख़ूब करेगा और उसकी बन्दूक़ की गोली सिर्फ़ चट्टान को चाटकर पलट आयेगी.''

उसकी माँ रो रही थी. वह चिन्तित थी, ''मीर बख़्श महीनों से बन्दूक़ लिये पहाड़ों में घूम रहा है. पता नहीं उसका निशाना तुम हो या सरदार चंगेज़ ख़ाँ ?—वह घर भी नहीं जाता. माँ से भी नहीं मिलता. उसने सबसे मिलना छोड़ दिया है.''

''मैं उससे मिलूँगी. उसे समझाऊँगी.'' ताज बीबी ने तय किया और नीचे उतरने लगी.

''मत जाओ ताज बीबी, वह तुझे मार डालेगा—'' माँ चिल्लायी. लेकिन ताज बीबी इस तरह नीचे उतरने लगी जैसे हारा हुआ व्यक्ति जाता है. वह यादों के रेगिस्तान में सूखे होंठ लिये वहाँ अकेली ही खड़ी थी कि मीर बख़्श आकर खड़ा हो गया. लेकिन अब इन दोनों के बीच न पार कर सकने वाली दूरी थी.

''अच्छी तो हो ताज बीबी—.'' मीर बख़्श की वीरान आँखें उसे बेबसी से देख रही थीं. वह सिर झुकाकर रोने लगी.

''ताज बीबी, चालीस हज़ार बहुत होता है, इतना कि मुझे अगर दूसरी ज़िन्दगी भी मिल जाती तो मैं इकट्ठा नहीं कर सकता. मैं तुम को भी इल्ज़ाम नहीं देता कि तुमने अपने आप को एक ग़ैर के हवाले क्यों कर दिया ? लेकिन दुख यह है कि मैं जी रहा हूँ, तुम जी रही हो और सरदार भी जी रहा है—बस मुझे यही दुख है.''

''हाँ, मीर बख़्श, मैं जी रही हूँ. मैं जीना चाहती हूँ—मुझे मत मारो. मैं उस हवेली के अन्दर क़ैद हूँ. बहुत सी दूसरी औरतों की तरह. अगर मैं मर गयी तो बाबा को सरदार का रुपया वापस देना पड़ेगा और वह फिर ग़रीब हो जायेगा—मैं तो कुछ भी नहीं हूँ. बस बिकने वाली चीज़ हूँ. तुम चाहते तो तुम ख़रीद लेते—.''

मीर बख़्श पहली बार बढ़कर उसके सामने खड़ा हो गया, और उसने आगे बढ़कर उसे अपनी गिरफ़्त में ले लिया. ताज बीबी ने घबराकर अपने चारों तरफ़ देखा. वे घर से बहुत दूर चट्टानों के बीच खड़े थे. इतनी दूर कि उसकी आवाज़ भी उन तक नहीं पहुँच सकती थी. लेकिन मीर बख़्श के जिस्म के लम्स (स्पर्श) ने उसके बदन को जगा दिया था, 'नहीं...नहीं...नहीं...' वह चिल्लाना चाहती थी लेकिन यह इनकार उसके ज़ेहन के अँधेरे कोने में चक्कर लगा रहा था. बाहर निकलने के लिए बेचैन लेकिन फिर भी इनकारी. वह अपनी हालत को पूरी तरह चैतन्य भी नहीं रखती थी.

मीर बख़्श ने कहा, ''ताज बीबी, मेरी मुहब्बत में सिर्फ़ तुम ही शामिल नहीं थीं, तुम्हारा यह ख़ूबसूरत वजूद भी शामिल था. मैंने मुद्दतों इसके बारे नें सोचा था. इसे छूने की ख़्वाहिश की थी. और तुम अच्छी तरह जानती हो—अपनी मंगेतर को किसी ग़ैर के हवाले करना आसान नहीं. और आज मैं अपने हक़ को वसूल करके रहूँगा—चाहे तुम चीखो या चिल्लाओ या रोओ. ताज बीबी जब सब लोग तुम्हें काली कहेंगे तो फिर मैं तुमको याद आया करूँगा—सरदार से मेरा इन्तक़ाम पूरा हो जायेगा. वह सरदार है और मैं एक मामूली आदमी. लेकिन देखो मैं उसकी इज्जत को काला कर रहा हूँ,' वह ज़ोर से हँसा.

''वह तुझे मार डालेगा, वह मुझे मार डालेगा,'' ताज बीबी की आवाज़ उसके अन्दर ही घुट गयी थी.

''मैं भी तुझे मार डालना चाहता था—और मैं ख़ुद भी ज़िन्दा नहीं रहना चाहता था. तुम्हारे बग़ैर मेरी साँस भी मुश्किल से निकलती है. मैंने बड़ी मुश्किल से अपने आप को मरने से रोका है.''

उसने मुस्कुराना चाहा लेकिन उसकी सोचों पर गहरी धुन्ध छा गयी. जिसकी गहराई में सोच की सारी किरणें डूब गयीं. वह सब कुछ हो गया जो नहीं होना चाहिए था. उसका ज़हन एक ठंडे बर्फ़ीले एहसास में बदल गया था.

एक बात भी नहीं की थी. पता नहीं वह सुखी थी या दुखी, बस ठहराव का एक लम्हा उसके चेहरे पर टिका था. और जब दूर चट्टानों पर घोड़ों की टापों की आवाज़ गूँजी तो वह चौंककर खड़ी हो गयी. इस वाक़ये की तमाम सच्चाई उस पर प्रकट हो गयी !

''मैं काली हो गयी—मैं काली हो गयी.'' वह धीरे से बड़बड़ायी 'मीर बख़्श ने मुझसे इन्तक़ाम लिया है—और अब सरदार चंगेज़...'' उसने सामने फैले वादी के पत्थरों को हसरत से देखा. कोई रास्ता है ?—कोई रास्ता जिस पर मैं जा सकूँ ?... लेकिन कहाँ...? उसका मासूम ज़हन खौफ़ के मारे दोबारा सुन्न हो गया. वह दुबारा बैठ गयी.

फिर वह दोनों चलते हुए अलग-अलग राहों पर मुड़ गये. घर की दहलीज़ पर बैठकर उसने नीचे घाटी को देखा. शाम की लाली धीरे-धीरे धूमिल हो रही थी. और सूरज किसी बड़ी सी काली चट्टान के पीछे छुप रहा था. बकरियों की आवाज़ में इक्का-दुक्का उड़ते परिंदे की आवाज़ भी शामिल हो जाती. शायद यह मेरी ज़िन्दगी की आख़िरी शाम हो. यकायक उसके अन्दर ज़िन्दा रहने की ज़बर्दस्त ख़्वाहिश जागी. वह भाग जाना चाहती थी लेकिन कहाँ ? वह उठ खड़ी हुई लेकिन सब तरफ़ पत्थर ही पत्थर थे.

रास्ते किधर को मुड़ते हैं—वह नहीं जानती थी. मीर बख़्श ने ऊँची चट्टान के दूसरी तरफ़ उतरने से पहले आख़िरी बार उस घर को देखा जहाँ कभी उसका सारा रांसार सिमटा हुआ था. लेकिन अब वह वहाँ अकेली बैठी हुई थी, उसके बिना....

'यह क्या हो गया ? मैंने क्या किया— ?' मीर बख़्श ने सोचने की कोशिश की—वह यह नहीं चाहता था. लेकिन उसके अन्दर के इन्तक़ाम ने एक तबाहकुन (विध्वंसक) रुख़ ले लिया था और वह इसके लिए ख़ुद को भी मुआफ़ नहीं कर सकता था. वह अब फिर उन्हीं चट्टानों के बीच घूम रहा था, जहाँ पिछले छह माह से आवारा झोंके की तरह भटकता रहा था. वह मेरी मंगेतर थी. वह ताज बीबी थी...वह...वह...उसने अपनी बन्दूक़ का रुख़ नीचे को कर लिया, और सरदार की हवेली की ओर चल पड़ा. जीत की सारी ख़ुशी भुरभुरी मिट्टी की तरह उसकी ज़बान पर उतर आयी थी। और बीते दुख की सारी चुभन उसकी आँखों में आँसू बन गयी थी. चाहत के ज़हर ने उसे जुनूनी बना डाला था.

अगले दिन सरदार चंगेज ख़ाँ की हवेली से गुज़रते हुए उसने चट्टानों से उभरे सूरज को देखा और सरदार के आदमी के पीछे चलता हुआ अन्दर दाख़िल हो गया.

''सरदार, तुमने मेरी मंगेतर को छीनकर मेरी ग़ैरत को ललकारा था. और आज मैंने तुम्हारी इज़्ज़त को दागदार किया है, और अब मैं सज़ा के लिए तैयार हूँ,'' यह कहते ही उसे लगा जैसे इतने महीने की लम्बी यात्रा तय करते-करते वह निढाल हो चुका है. और कहीं नरम घास पर लेटकर सो जाना चाहता है.

सरदार चंगेज़ ख़ाँ ने पास पड़ी हुई बन्दूक़ उठायी और बोला, 'तुम झूठ बोलते हो. तुम्हारी यह हिम्मत नहीं हो सकती—.''

''नहीं, मैं झूठ नहीं कहता, मुझे अपने बाप की सफ़ेद दाढ़ी की कसम. मैंने कल उसे काला किया है—वह चट्टान भी इस बात की गवाही दे सकती है. और तुम ताज बीबी से पूछ सकते हो. जाओ, देखो वह आज भी नंगे सिर अपने बाप की दहलीज़ पर बैठी है. उसके चेहरे पर शर्मिन्दगी की राख और आँखों में आँसू. मैं इसलिए आया हूँ कि तुम्हें बता सकूँ. तुम्हारी दाढ़ी की लम्बाई को कम कर सकूँ. तुम्हें बेइज़्ज़त करके मुझे बड़ा सकून मिला....'' इससे पहले कि वह अपनी बात पूरी करता सरदार ने उसकी ओर बन्दूक़ तान दी.

वह बड़ा पक्का निशानेबाज़ था.

ताज बीबी बार-बार उठती और बैठ जाती. रज़िया और जानाँ किसी अनहोनी की प्रतीक्षा में अन्दर बैठे थे. लेकिन ताज बीबी ने कल से एक बात भी नहीं की थी. पता नहीं वह सुखी थी या दुखी, बस ठहराव का एक लम्हा उसके चेहरे पर टिका था. और जब दूर चट्टानों पर घोड़ों की टापों की आवाज़ गूँजी तो वह चौंककर खड़ी हो गयी. इस वाक़ये की तमाम सच्चाई उस पर प्रकट हो गयी !

''मैं काली हो गयी—मैं काली हो गयी.'' वह धीरे से बड़बड़ायी 'मीर बख़्श ने मुझसे इन्तक़ाम लिया है—और अब सरदार चंगेज़...'' उसने सामने फैले वादी के पत्थरों को हसरत से देखा. कोई रास्ता है ?—कोई रास्ता जिस पर मैं जा सकूँ ?...लेकिन कहाँ...? उसका मासूम ज़हन खौफ़ के मारे दोबारा सुन्न हो गया. वह दुबारा बैठ गयी.

सरदार ने उसके बाप को ज़ोर-ज़ोर से पुकारा. उसकी आवाज़ में कुछ था जिसने बता दिया था कि मीर बख़्श नहीं रहा. मीर बख़्श नहीं रहा और चट्टानें बेवा हो गयीं. मैं बेवा हो गयी. उसने पास पड़े पत्थर पर अपनी काँच की चूड़ियों से भरी कलाई को दे मारा...छन छन...टुकड़े ही टुकड़े. उसके मासूम जज़्बात के...उसकी बेज़रर तमन्नाओं (नुकसान पहुँचाने वाली इच्छाएँ)...सब ओर बिखर गये. सरदार के चेहरे का खौफ़ मौत के खौफ से बढ़कर उसे अन्दर ही अन्दर डुबोने लगा. उसका जी चाहा, वह भागी हुई अन्दर जाकर माँ की गोद में छुप जाय. उसने अपने चेहरे को हाथों से छिपा लिया और उसकी हथेलियाँ आँसुओं से भीग गयीं. वह अनजाने ही में रो रही थी. उसका दिल दुख के किसी स्पष्ट भाव को नहीं समझ रहा था. बस, वह एक गहरे और गाढ़े खौफ़ में डूबी हुई थी.

जब उसका बाप वापस आया तो उसकी पगड़ी गले में पड़ी हुई थी और उसकी नयी ख़रीदी हुई बन्दूक़ का रुख़ जमीन की तरफ़ था ''तुमने यह क्या किया ? तुमने सब कुछ मिटा दिया ताज बीबी.'' उसकी माँ रोती हुई आकर उससे चिमट गयी.

वह क्या कहती...कुछ था जो बहुत डरावना था, जिससे डर कर उसके माँ बाप रो रहे थे. दूर चट्टान के पास सरदार खड़ा था. वह जो उसके लिए रंगीन कपड़े और गहने लेकर आया था. जिसने उसके

हुस्न की तारीफ़ की थी. लेकिन इतने महीने बाद भी वह उसे अपना नहीं लगा था. उसने अपनी रंगीन पोशाक को देखा और फिर सिर झुकाकर बैठ गयी.

सरदार के घोड़े की टापें उसके सामने आकर रुक गयीं. उसने बन्दूक़ की नली उसके सीने से लगाते हुए कहा, ''क्या तुम मीर बख़्श के लगाये गये इल्ज़ाम को क़ुबूल करती हो ?'' सरदार की आँखें अंगारों की तरह दहक रही थीं, और उन अंगारों में मीर बख़्श का मुर्दा जिस्म तैर रहा था.

इल्ज़ाम—इल्ज़ाम—क्या अपने आप को मिटा देना इल्ज़ाम है. क्या मिल कर किया गया गुनाह गुनाह होता है ? क्या मैं जीना चाहती हूँ, मीर बख़्श के बग़ैर ? मीर बख़्श, जो उसका बचपन का मंगेतर था—उसने इक़रार में सिर हिला दिया. सरदार की बन्दूक़ उसको चुभ रही थी और वह अब भी सिर झुकाये बैठी थी...सरदार आहिस्ता-आहिस्ता पीछे हटा. लेकिन वह फिर ज़ोर से चिल्ला उठा. और उसने सोचा कि उसके वजूद में तेज़ आग की तरह की गोली...और फिर सारा दुख मिट जायेगा.

परन्तु सरदार चिल्लाया, ''जानाँ ख़ान और रज़िया बीबी, तुम लोग चले जाओ यहाँ से...ले जाओ जो लेकर जाना है. मैं इसे अपनी मर्ज़ी की मौत मारूँगा. ऐसी मौत कि फिर किसी बीवी को अपने शौहर से बेवफ़ाई की हिम्मत ना हो.'' सरदार को उसके चेहरे के ठहराव ने एकदम आगबबूला कर दिया था.

जानाँ ख़ान और रज़िया बीबी जानते थे, होनी होकर रहेगी. उसे अब कोई टाल नहीं सकेगा. फिर ताज बीबी के जीने का क्या फ़ायदा—, वह काले दाग़ को लेकर कब तक ज़िन्दा रहेगी. वह जो काली है—मर ही जाय तो बेहतर है. उनकी बेटी और काली... काली—काली उनका दिमाग़ गूँज रहा था, उन्होंने रुकते हुए कहा, 'खान, हमें उस बरसाती नाले के पार जाने देना. फिर तुम्हारी मर्ज़ी ...बस इतना इन्तज़ार करना....'' और वे दोनों भागने लगे...नाला दूर था और वह उनकी इकलौती बेटी थी.

इससे पहले कि वह नाले तक पहुँचते ताज बीबी की दर्दनाक चीख़ उनके पीछे तेज़ी से लपकी और फिर उनको ऐसा लगा जैसे ऊपर-नीचे आगे-पीछे सिर्फ़ चीखें ही चीखें हों. कुल्हाड़ी से कटते उस मासूम वजूद की चीखें जो कुछ देर बाद सदा के लिए मिट्टी हो जायेगी ...चीखें जो ख़ून में डूबी हुई थी. उस सुर्ख़ ख़ून में जो ताज बीबी के चेहरे का उजाला, उसके बालों की स्याही और आँखों की चमक था.

फिर धीरे-धीरे सभी आवाज़ें थम गयीं या उन्होंने सुनना छोड़ दिया था. सन्नाटे का डरावना एहसास उनकी रगों में उतरने लगा था. धुँधली आँखों से उन्होंने चंगेज़ ख़ाँ को ख़ून से रंगी कुल्हाड़ी समेत दूर एक चट्टान के पीछे मुड़ते देखा.

इससे पहले कि जानाँ ख़ान पूरी तरह होश में आता रज़िया बीबी ने नीचे छलाँग लगा दी थी मरने के लिए. जानाँ ख़ान जब उसे अस्पताल से लेकर घर पहुँचा तो वह अधमरी थी, और फिर डॉक्टर यूसुफ़ ने उसका इलाज किया था और जानाँ ख़ान को दफ़्तर में लगवाया था.

रज़िया बीबी रोते हुए कहने लगी, ''वह ज़ालिम उसे बन्दूक़ की एक गोली से भी मार सकता था, लेकिन उसने उसके नाज़ुक जिस्म को टुकड़े-टुकड़े कर दिया. और अम्माँ, उसकी चीखें आज तक मेरे कानों से कभी जुदा नहीं हुई हैं. वह मुझे पुकारती रहती है...लेकिन वह मुझे कहीं नज़र नहीं आती. मेरी रौशन चेहरे वाली चिड़िया.''

सायरा हाशमी

जन्म : 14 अप्रैल 1938
पहली कहानी : 'रेत की दीवार', 1980
कृतियाँ : 'रेत की दीवार', 'संगे ज़ीस्त', 'और वह काली हो गयी' (कहानी संग्रह).
पता : 29, सेन्ट जॉनपार्क, लाहौर कैन्ट (पाकिस्तान)

जानाँ ख़ान ने नोटों की एक पोटली खोलकर दिखाते हुए कहा, ''बेगम साहब, लगता है यदि मैंने इन रुपयों को हाथ लगाया तो मेरा हाथ ख़ून से भर जायेगा. उसके ख़ून से.''

मैंने देखा—नोटों के किनारे मैले हो गये थे. वलवर...कौमार्य की कीमत, दिलों और जज़्बों के रंगीन इन्द्रधनुष की कीमत. पता नहीं रज़िया बीबी इस समय क्या सोच रही होगी. आने वाली मौत के बारे में या मीर बख़्श के बारे में...या सिर्फ़ उस कुल्हाड़ी के बारे में जो उसके जिस्म को काट रही थी. मैं जानती हूँ रज़िया बीबी सोच नहीं सकती सिर्फ़ आँसू बहा सकती है...घुल सकती है.

एक साल के अन्दर ही रज़िया बीबी का शरीर कमज़ोर और पीला हो गया. शायद उसे टी.बी हो गयी थी...मैंने उससे काम लेना छोड़ दिया. वह अपने क्वार्टर में पड़ी खाँसती रहती. जानाँ ख़ान उससे उलझता रहता—और फिर एक दिन वह खामोशी से मर गयी.

मैं कई दिनों दुखी रही. मुझे अक़सर तसव्वुर में उसकी आँखें नज़र आतीं, आँसुओं से तर.

कुछ महीनों के बाद जानाँ ख़ान ने शादी कर ली. उसकी बीबी खूबसूरत चेहरे और हिरण जैसी आँखों वाली छोटी सी भोली भाली लड़की थी.

उसने कहा, ''बेगम साहब, मैंने पूरा तीस हज़ार रुपया अदा किया है.'' वह बहुत ही खुश था. उसके अधेड़ उम्र चेहरे पर जज़्बात की नयी लौ रौशन थी—मैंने उसकी दुल्हन के सिर पर हाथ रखते हुए कहा, ''देखो ख़ान इसको कभी मैके न भेजना.'' मैं नहीं जानती कि ये शब्द उस समय मैंने क्यों कहे थे. शायद मेरे अचेतन में अभी तक ताज बीबी की चीखें अटकी थीं.

''जी बेगम साहिबा'', उसने मेरी ओर देखकर सिर झुका लिया. और वे वापस चले गये.

मैं बरामदे में बैठी सामने पहाड़ों को देखती रही. बसन्त के आगमन पर चट्टानों से हरियाली फूट रही थी. लॉन की सूखी घास में हरियाली की नन्ही-नन्ही शाखें उभर रही थीं और फूलों की शाखों से भोले सुर्ख पत्ते झाँक रहे थे. बिलकुल जानाँ ख़ान की नयी दुल्हन की तरह के खूबसूरत पत्ते.

कुछ दिन बाद बहार आयेगा. लॉन फूलों से भर जायेगा, फूल और चेहरे, बहार और यौवन—लेकिन दूर कोई आवाज़ गूँज रही है. शायद कोई किसी को पुकार रहा है. ताज बीबी हौ—औ—औ—शायद रज़िया बीबी की आवाज़ हो या मीर बख़्श की. ताज बीबी—खुदरो फूल. लेकिन आज भी मेरे तसव्वुर में रज़िया की गीली, सुलगती हुई आँखें फैली हुई हैं—और फिर वह रोते हुए कहती है।—'बीबी, वह काली हो गयी थी...वह जो मेरी इकलौती बेटी थी.' ◙

◆ कहानी ◆

माइकल एंजेलो

●

गुलज़ार

फ्लोरेन्स से आये माइकल एंजेलो को फिर पाँच साल हो चले थे. वह ऊबने लगा था रोम से.

"रोम में चेहरे नहीं मिलते चेहरों पे किरदार नहीं मिलते. सब एक ही से लगते हैं." उसने पोप जूलियस से कहा था.

"मेरे चेहरे पे तुम्हें क्या नज़र आता है ?" जूलियस ने पूछा था,

"एक जलती हुई मोमबत्ती."

जूलियस एक वक़्फे (ठहराव) के बाद मुस्कुरा दिया. एंजेलो की कड़वी बातों का वह आदी था.

"हाँ, मैं जानता हूँ तुम क्या कहना चाहते हो. उन हज़ारों बेसूरत मोमबत्तियों में जलती हुई एक मोमबत्ती जिन्हें लोग इबादत के वक़्त गिरजा के आल्टर पर जला जाते हैं."

एंजेलो चुप रहा...

"हैरत है; खुदा की इतनी बड़ी दुनिया में एक चेहरा दूसरे से नहीं मिलता और तुम्हें अपनी तस्वीरों के लिए शक्लें नहीं मिलतीं, मॉडल नहीं मिलते और चार महीने से तुम यहूदा के लिए..."

उसकी बात अधूरी रह गयी और एंजेलो सेंट पीटर्ज़ से बाहर चला गया.

पोप जूलियस एंजेलो के मिज़ाज से वाक़िफ़ था. यह पाचवाँ साल था. पाँच साल एंजेलो सेंट पीटर्ज़ के सिस्टेन चैपल के गुम्बद और दीवारों पर पुराने और नये अहदनामे (बाइबिल) की अहम वाक़यात चित्रित कर रहा था और अब आख़िर में आकर एंजेलो के साथ कोई बदमज़गी नहीं पैदा करना चाहता था. जूलियस सानी को याद था कि एंजेलो ने चर्च ऑफ़ होली स्पिरिट के लिए लकड़ी पर ईसा मसीह का 'क्रूसीफिक्स' तराशा था. तो उसका मॉडल वह नौजवान था जिसका होली स्पिरिट मोनेस्टरी में अचाानक इन्तक़ाल हो गया था.

वह बरमान्ते नहीं था जो कल्पनाशक्ति से किरदार पैदा करता था. इसीलिए बरमान्ते के किरदारों के नाक-नक़्शा हमेशा एक ही तर्ज़ के लगते थे. बक़ौल मेदेसी वह एक ही खानदान के लगते थे. बरमान्ते को हटाकर उसे फिर एंजेलो से समझौता करना पड़ा था.

पाँच साल पहले जब माइकल एंजेलो रोम वापस लौटा था तो घंटों सेंट पीटर्ज़ के गुम्बद के नीचे लेटकर आप ही आप कुछ बड़बड़ाया करता था. जूलियस को उसकी दिमाग़ी हालत पर शक हुआ था. एक बार उसने बहुत पास जाकर सुना तो वह बाइबिल के कुछ उपदेश दोहरा रहा था.

"यह क्या कर रहे थे एंजेलो ?"

"अँ ?" उसने चौंककर देखा था पोप की तरफ़, "आयतों की पट्टियाँ खोल रहा हूँ."

जूलियस द्वितीय जानता था वह क्या कह रहा है. उन ईंट-गारे की, चूने से बनी हुई दीवारों में वह चेहरे ढूँढ़ रहा था. यीसू का चेहरा, मरियम का चेहरा, पीटर्ज़ यूहन्ना और यहूदा का चेहरा. जिनके हाड़ माँस के पाँव तो नज़र आते थे लेकिन चेहरे बाइबिल की आयतों में लिपटे हुए थे.

जिब्राईल[1] की सूरत के कई ख़ाके उसने काग़ज़ों पर बनाये थे. जूलियस ने पूछा था— "जिब्राईल का ख़ाका कैसे बनाया तुमने ? वह तो इस ख़ाकी[2] दुनिया से नहीं है."

"उसकी आवाज़ सुनी थी. पुराने अहदनामे में."

"तो फिर खुदा की आवाज़ भी सुनी होगी तुमने !" जूलियस ने मजाक़ किया था, "उसकी ख़ामोशी सुनी थी."

1. खुदा का उपदेश पहुँचाने वाला फरिश्ता, 2. मिट्टीवाली

जूलियस को यक़ीन हो गया था उसने सही चित्रकार को चुना है.

"सनकी है !" उसने 'वेटीकन' कमेटी से कहा था.

"लेकिन स्टेम चैपल की शिनाख़्त सिर्फ़ वही कर सकता है."

मरियम का मॉडल एंजेलो ने अपनी माँ से चुना था और उस रोज़ चुना था जिस दिन उसने अपनी माँ को एक बाँस पर पानी के दो डोल लटकाकर कन्धों पर उठाते देखा था. ऐसी ही कोई हृष्ट-पुष्ट औरत होगी जिसने नबी (पैगम्बर) का बोझ अपनी कोख में सँभाला होगा. आग जलाकर जब उसकी माँ उसके बाप के नहाने के लिये पानी गरम कर रही थी तो उसने बहुत ग़ौर से अपनी माँ का तमतमाता हुआ चेहरा देखा था. आग की लपटों के पीछे दहकता हुआ, सुर्ख, गरम कुन्दन की तरह तपा हुआ चेहरा...काग़ज़ पर उसने स्केच बनाये थे उस चेहरे के.

गुलज़ार

जन्म : 1936, दीना (पाकिस्तान)
कृतियाँ : 'चाँद पुखराज का' (कविता-संग्रह), 'धुआं' (कहानी संग्रह)
सम्पर्क : 91-ए, कोजिहोम सो., 251, पालीहिल, बांद्रा, मुम्बई-400050

उस रात उसने चूल्हे के पास बैठी माँ से कहा भी था, "तूने यीसू को जन्म क्यों नहीं दिया ?"

"इसलिए कि तेरा बाप मिल गया था. वह देख शराब पी के धुत् पड़ा है. जा सँभाल उसे."

अपने बाप को दिखाने के लिए उसने उस वक़्त एक गत्ते पर बड़ा सा स्केच बनाकर उसके पलंग पर लटका दिया ताकि वह देख ले कि पीने के बाद वह क्या लगता है. नीचे लिखा था : "बाप, अगर तू यह न होता तो माँ मरियम होती."

लेकिन उसकी माँ को वह स्केच बहुत पसन्द आया. हमेशा अपने पास रखा. आख़िर तक उससे कहती रही, "ऐसा ही एक बुत बना देना बाप का. बहुत मासूम लगता है."

और वह हमेशा यही कह के टालता रहा, "कोई संगमरमर ही नहीं मिलता जिसका किरदार मेरे बाप से मेल खाता हो."

वह बहुत साल पहले की बात है. उन दिनों वह बोलोग्ना में रहते थे. गली के नुक्कड़ का पब उसका खास अड्डा था और वही अड्डा उसके बाप का था. बाप शराबखाने के अन्दर बैठकर पीता था और एंजेलो बोतल लेकर पब के बाहर आकर बैठ जाता था. सामने बैठे ख़ोंचे वाले से बार-बार गर्म मूँगफलियाँ ख़रीद के खाता रहता. खोंचे वाला जितनी बार मूँगफली तौलता था कुछ दाने ख़ोंचे से ज़मीन पर गिर जाते थे और सामने खड़ा एक नंगा बच्चा हर बार उठाकर उन्हें ख़ोंचे में वापिस रखता और एक दाना मुँह में डाल लेता था और फिर अगले ग्राहक का इन्तज़ार करता था. इसी तमाशे के लिए वह बार-बार मूँगफली खरीदता था. उस बच्चे के बहुत से खाके बनाये थे उसने और कई साल बाद जब 'मेडोना ऑफ़ व्रिर्जोस' का बुत बनाया तो नन्हे यीसू के लिए उस बच्चे का मॉडल इस्तेमाल किया था—छोटा सा नंगा यीसू !

वही दिन थे जब पहली बार माइकल एंजेलो को पोप ने सेन्ट पीटर्ज़ के स्टेन चैपल में पुराने और अहदनामे की उपमाएँ चित्रित करने के लिए कहा था. एंजेलो सिर्फ़ इस मुलाकात के लिए रोम पहुँच गया था कि इटली का हर चित्रकार और संगतराश उस काम के लिए अपनी जान धड़ की बाज़ी लगाने को तैयार था. इतिहास में लाफ़ानी (अमर) हो जाने के लिए यह एक काम ही काफी था, लेकिन माइकल एंजेलो को लाफ़ानी हो जाना ही काफी नहीं था. इस फ़ानी (नश्वर) ज़िन्दगी के लिए उसकी कुछ शर्तें थीं. उसे संगमरमर के लिए रक़म की ज़रूरत थी. पोप जूलियस द्वितीय ने वादा तो किया लेकिन रक़म नहीं दी.

"तुम्हें पत्थर से क्यों इतना लगाव है ? रंगों से क्यों नहीं ?"

"रंग दूसरों से मिलकर अपना रंग छोड़ देते हैं. बदल जाते हैं. संगमरमर ऐसा नहीं करता."

और अब वह रंगों से भी इतना ही ऊब गया था जितना रोम से.

चार महीने गुज़र चुके थे. चैपल की नक़्क़ाशी अब आख़री हिस्से तक आ गयी थी.

वह ईसा का लास्ट सुपर चित्रित करना चाहता था. लेकिन हर बार उसकी कल्पनाशक्ति एक ही चेहरे पर आकर ख़ाली हो जाती थी, यहूदा ! ईसा का तेरहवाँ शागिर्द जिसने सोने के तीस टुकड़ों के लिए अपने पीर-ने-मुर्शिद को रोमियो के हवाले कर दिया. सलीब पर चढ़वा दिया. जूलियस की बेताबी भी बढ़ने लगी थी.

एंजेलो भी सारा-सारा दिन काग़ज़ काले करता रहता था. पुराने स्केच निकालकर उन पर काम करता रहता लेकिन किसी चेहरे से तसल्ली नहीं होती.

और एक दिन अचानक रोम के एक छोटे से गन्दे पब में उसे यहूदा मिल गया. ज़रूरत से ज़्यादा चमकदार आँखें, तेज़ फुर्तीला, बार-बार इधर-उधर थूकता था, उम्र से पहले ही पेशानी चौड़ी हो गयी थी. बोलता था तो अल्फ़ाज़ इतनी तेज़ी से निकलते थे जैसे जेब फटने पर सारे सिक्के एक साथ गिर पड़ें. एक दीनार की रेज़गारी लेने आया था एंजेलो के पास और उसकी बोतल का हिस्सेदार बन बैठा. एंजेलो जब बाहर निकल रहा था तो वह किसी और से दीनार की रेज़गारी माँग रहा था.

एंजेलो उसे अपने साथ चैपल में ले आया सौदा तै करने और उसे बताया कि वह क्या कर रहा है. उसे यहूदा की शक्ल में चित्रित करना चाहता है. वह लाफ़ानी हो जायेगा. उसे चादरें उठा-उठाकर सारी दीवारें और छत दिखायीं. वह हैरतज़दा सब कुछ देखता रहा. फिर अपनी उसे खिदमत के लिए एक अच्छी-ख़ासी रक़म माँगी जो एंजेलो देने के लिए तैयार हो गया. फिर उसने कुछ रक़म पेशगी चाही. एंजेलो ने वह भी दे दी. वह कुछ रोज़ पाबंदी से आता रहा चैपल में. एंजेलो उसे बैठक के लिए बुलाता था : एक रोज़ एंजेलो के पुराने स्केच देखते हुए उसने 'बोलोग्ना' के बच्चे के बारे में पूछा, "यह बच्चा कौन है ?"

"बोलोग्ना में रहता था. बहुत साल पहले की बात है. उसे नन्हे यीसू की सूरत दी थी मैंने."

"उसका नाम याद है तुम्हें ?"

"हाँ, मारसोलेनी."

वह आदमी मुस्कुराया. उसने अपनी क़मीज़ की आस्तीन उठायी. बाँह पर खुदा हुआ नाम दिखाया—मारसोलेनी.

"मैं वही यीसू हूँ जिसे तुम यहूदा नक़्श कर रहे हो." ▣

◆ कहानी ◆

वक़्फ़ा

●

नैय्यर मसऊद

एक

मेरा बाप अनपढ़ आदमी था और मामूली पेशा किया करता था. उसे कई हुनर आते थे. बचपन में तो मुझे यक़ीन था कि उसे हर हुनर आता है, लेकिन उसका असली हुनर राजगिरी का था, और यही उसका असली पेशा भी था, हाँ अगर मौसम की ख़राबी या किसी और कारणवश उसको राजगिरी का काम ना मिलता तो वह लकड़ी पर नक़्क़ाशी या कुछ और काम करने लगता था.

मेरी परवरिश उसकी गोद में हुई और आँखें खोलने के बाद मैंने वर्षों तक सिर्फ़ उसी का चेहरा देखा. मुझे अपनी माँ याद नहीं, जबकि मुझे उस समय तक की बात याद है जब मैं दूध पीता बच्चा था. उस समय मैं रोता बहुत था लेकिन मेरा बाप मुझे बहलाने के बजाय मुझको अपनी जाँघ पर लिटाये ख़ामोशी के साथ देखता रहता. यहाँ तक कि मैं उसका चेहरा देखते-देखते आप ही आप चुप हो जाता. सच है मेरी परवरिश अकेले उसने नहीं की होगी इसलिए कि उसे काम पर भी जाना होता था, लेकिन उस ज़माने की यादों में, जिनका कोई भरोसा भी नहीं, अपने बाप के अतिरिक्त किसी और चेहरे की तस्वीर मेरे मन में सुरक्षित नहीं और वह भी सिर्फ़ इतना कि एक दोहरे दालान में वह गर्दन झुकाये चुपचाप मुझे देख रहा है और मुझको उसके चेहरे के साथ ऊँची छत नज़र आ रही है जिसकी कड़ियों में लाल और हरे रंग के काग़ज़ की नुची-खुची सजावट झूल रही है.

जब मैंने कुछ होश सँभाला तो मुझे एहसास होने लगा कि मेरा बाप देर-देर तक घर से बाहर रहता है. यह उसका ऐसा नियम था कि जल्द ही मुझको घर से उसके जाने और वापस आने के समय का अन्दाज़ा हो गया. मैं उन दोनों वक़्तों पर, बल्कि उससे कुछ पहले ही, एक हंगामा खड़ा कर देता था. उसके जाते समय मैं आँगन में जमा मलबे के ढेर में से ईंटों के टुकड़े उठा-उठाकर उसे मारता रहता यहाँ तक कि पड़ोस की कोई ख़स्ताहाल बुढ़िया मुझे गोद में उठा लेती. ऐसी औरतें मेरे मकान के आसपास बहुत थीं. जितनी देर मेरा बाप घर से बाहर रहता उनमें से एक-दो औरतें मेरे पास मौजूद रहतीं. कभी-कभी उनके साथ मैले-कुचैले बच्चे भी होते थे. बाप के जाने के कुछ देर बाद मेरा गुस्सा कम हो जाता और मैं बूढ़ियों से कहानी सुनने या बच्चों के साथ खेलने लग जाता, लेकिन उसकी वापसी का वक़्त क़रीब आता तो मेरा मन फिर बिगड़ने लगता था. और जैसे ही वह घर के आँगन में क़दम रखता, मैं लपककर उसकी तरफ़ जाता और अपने छोटे-छोटे कमज़ोर हाथों से उसे मारना शुरू कर देता. उस वक़्त मेरा बाप मुझसे भी ज़्यादा हंगामा करता और इस तरह चीख़ता और तड़पता था मानो मैंने उसकी हड्डियाँ तोड़-फोड़ कर रख दी हैं. आख़िरकार मेरा गुस्सा कम हो जाता और मैं उसको इलाज शुरू करता. वह तुतला-तुतलाकर मुझे बताता कि उसको कहाँ-कहाँ चोटें आयी हैं और मैं उसके बदन को कहीं दबाता, कहीं सहलाता और ख़याली दवाएँ उसके मुँह में उँडेलता, जिनकी कड़वाहट प्रकट करने के लिए वह ऐसे बुरे-बुरे मुँह बनाता कि मुझे हँसी आ जाती थी.

उस वक़्त तक बल्कि उसके आख़िरी वक़्त तक, मुझे ज्ञान नहीं था कि वह मेरा असली बाप है. मैं समझता था कि वह मेरे ख़ानदान का कोई पुराना नौकर है जिसने वफ़ादारी के साथ मेरी परवरिश की है. इस ग़लतफ़हमी की ज़िम्मेदारी मुझसे ज़्यादा ख़ुद उस पर थी. उसका व्यवहार मेरे साथ सचमुच ऐसा था जैसे मैं उसके मालिक का बेटा हूँ. इसलिए मेरा व्यवहार उसके साथ बुरा था. लेकिन मैं अपने वहशियाना अंदाज़ में उससे मुहब्बत भी करता था जिस कारण से उसका बदन खराशों से कभी ख़ाली नहीं रहता था.

जब मैं कुछ और बड़ा हुआ तो उसका घर से निकलना मुझे और बुरा लगने लगा. अब मैं कभी उसके औज़ारों का थैला छिपा देता, कभी उसमें से कुछ औज़ार निकालकर ईंटों या लकड़ी के टुकड़े रख देता, यहाँ तक कि उसने थैला एक मचान पर छिपाकर रखना शुरू कर दिया. और जब मैं उस मचान तक भी पहुँचने लगा तो एक दिन थैला लापता हो गया. उसके बाद कई दिन तक मेरा बाप घर से बाहर नहीं निकला, और दोहरे दालान के लाल-हरी सजावट वाली छत के नीचे बैठा लकड़ी पर नक़्क़ाशी करता रहा. उसमें वह ऐसा खोया था कि मैं उसके काम में बाधा डालते हुए डर रहा था, लेकिन उससे ज़्यादा मुझे इस बात का डर था कि जल्द वह नक़्क़ाशी का काम छोड़ देगा और औज़ारों का थैला निकालकर फिर घर से बाहर जाना शुरू कर देगा, इसलिए मैं इस फ़िक्र में लग गया कि थैला तलाश करके उसे सदा के लिए लापता कर दूँ. अपने बाप को बताये बिना कि मुझे किस चीज़ की तलाश है, मैं थैले को मकान के एक-एक हिस्से में ढूँढ़ता फिरा. मकान के भीतरी दालानों में ज़्यादातर दरवाज़ों पर ताले लगे थे और मुझे पता नहीं था कि उनके पीछे क्या है. पुराने ढंग के ज़ंग लगे तालों को देखकर यह शुबहा होता था कि उन्हें बरसों से खोला नहीं गया है बल्कि उनकी चाभियाँ भी कब की खो गयी होंगी, इसलिए मैंने फैसला कर लिया कि थैला इन दरवाज़ों के पीछे नहीं है. लेकिन मकान में ऐसे दरवाज़े भी बहुत थे जो बन्द नहीं थे. उनके पीछे मुझे खाली कमरे और कोठरियाँ नज़र आयीं. साफ़ मालूम होता था कि उनमें का सामान हटाकर हाल ही में उनकी मरम्मत की गयी है. किसी-किसी फ़र्श पर तो अभी तक पानी मौजूद था. मुझे ताज्जुब हुआ कि मेरा बाप घर पर भी किसी वक़्त राजगिरी का काम करता है. यही ताज्जुब करता हुआ मैं मकान की पश्चिमी दीवार के करीब एक बड़े दरवाज़े के पास पहुँच गया. उस दरवाज़े के दोनों पटों पर लकड़ी की दो मछलियाँ उभरी हुई थीं. मुझे नहीं मालूम था कि मेरे

मकान में कोई ऐसा दरवाज़ा भी है. मैं देर तक उस पर हाथ रखे सोचता रहा कि उसके पीछे क्या होगा. मुझको यक़ीन था कि यह किसी ख़ाली कमरे का दरवाज़ा नहीं है. और यक़ीन के लिए मैंने उसे थोड़ा-सा खोलकर अन्दर झाँका. पहले तो मुझको सिर्फ़ लकड़ी के लम्बे-लम्बे मचान नज़र आये. फिर मैंने देखा कि उन मचानों पर बहुत बड़ी-बड़ी किताबें तरतीब के साथ सजी हुई हैं. मैंने अभी पढ़ना शुरू नहीं किया था, फिर भी मुझे उन किताबों में कुछ दिलचस्पी-सी पैदा हुई और उन्हें क़रीब से देखने के लिए मैं दरवाज़े से अन्दर प्रवेश कर गया. मैंने देखा कि सामने वाली दीवार के क़रीब फ़र्श पर भी किताबों के ढेर हैं. उन्हें नज़दीक से देखने के लिए मैं आगे बढ़ा और किताबों की तरफ़ से मेरा ध्यान हट गया. ढेर के उस तरफ़ दीवार से मिली हुई चटाई पर एक बूढ़ा आदमी आँखें बन्द किये चित पड़ा हुआ था. पुराने काग़ज़ों की ख़ुशबू के बीच में वह स्वयं भी एक पुरानी-धुरानी किताब मालूम हो रहा था.

मैं एक क़दम पीछे हटा. दूर मेरे बाप की हथोड़ी की हल्की-हल्की आवाज़ सुनायी दे रही थी और मैं चटाई पर पड़े आदमी को ग़ौर से देख रहा था. अपने बालों और लिबास से वह मुझे फ़क़ीर-सा मालूम हुआ. उसे और ग़ौर से देखने के लिए मैं घुटनों पर हाथ रखकर झुका ही था कि उसने आँखें खोल दीं, कुछ देर तक चुप-चुप मुझको तकता रहा, फिर उसके होंठ हिले.

"आओ शहज़ादे," उसने कहा, "सबक़ शुरू किया जाय ?"

पागल ! मैंने सोचा और भागकर अपने बाप के पास आ गया. वह उसी तरह अपने काम में लगा था. उसके बायें हाथ की उँगलियों में चाँदी का तार लिपटा हुआ था और दायें हाथ में नाजुक-सी हथौड़ी ! लकड़ी की आठ किनारे वाली थाली उसके सामने थी जिस पर उसने तरह-तरह से मुड़ी हुई पत्तियाँ उभारी थीं और अब उन पत्तियों की पतली रगों में चाँदी के तार बिठा रहा था. मुझे अपने क़रीब महसूस करके उसने गर्दन उठायी और धीरे से मुस्कुराया.

"आइए", वह धीरे से बोला, "कहाँ घूम रहे थे आप ?"

"वहाँ...वह बुड्ढा कौन है ?" मैंने पूछा !

"तो आपने अपने उस्ताद को ढूँढ़ निकाला." वह बोला और पत्तियों की रगों में तार बिठाने लगा.

"उस्ताद ?" मैंने पूछा.

"लेकिन आप ढूँढ़ क्या रहे थे ?"

"वह आपको नहीं मिलेगा."

"कहाँ है ?" मैंने फिर पूछा.

"नहीं मिलेगा."

मुझे और ग़ुस्सा आया, लेकिन उसी वक़्त उसने पूछा, "आज कौन दिन है ?"

मैंने उसे झोंक में बता दिया और फिर पूछा, "थैला कहाँ है ?"

"परसों से आपका सबक़ शुरू होगा." उसने बड़े सुकून के साथ कहा. मैंने उसे बुरा-भला कहने के लिए मुँह खोला ही था कि उसने दोनों हाथ आगे बढ़ा कर मुझे अपने क़रीब खींच लिया. देर तक वह मेरा चेहरा देखता रहा. उसकी आँखों में उम्मीद और उदासीनता का ऐसा मेल था कि मैं अपना सारा ग़ुस्सा भूल गया. उसकी मज़बूत उँगलियाँ मेरी कलाई और कन्धे में गड़ी जा रही थीं और बदन धीरे-धीरे काँप रहा था. इस हालत में वह मुझे सदा अच्छा मालूम होता था.

"छोड़ बुड्ढे !" मैंने हँसते हुए कहा और लकड़ी की नक्शीन थाली
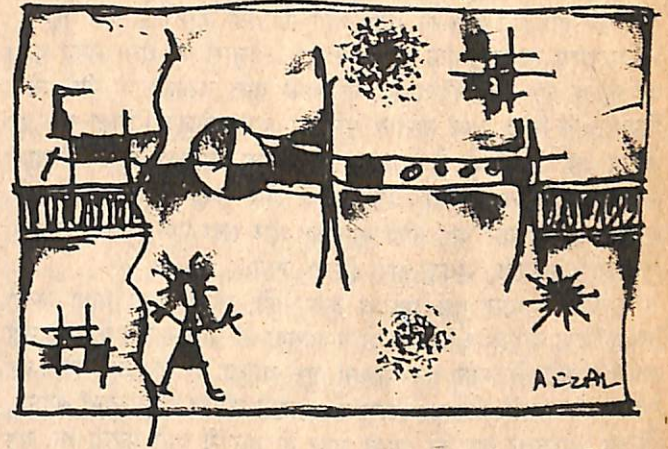
पर हल्की-सी ठोकर लगायी. एक पत्ती की रग में बैठा हुआ तार थोड़ा उखड़ आया और मेरे बाप ने जल्दी से मुझे छोड़ दिया. उसकी उँगलियों में बैठे हुए तार ने मेरी कलाई पर जाली का सा नक़्श बना दिया था. मैंने कलाई उसकी आँखों के सामने की. वह तार के नक़्श को देर तक सहलाता रहा और फूँकता रहा, फिर बोला : "परसों से", और फिर बोला "परसों से."

दो

सबक़ शुरू होने का ख़याल मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ था इसलिए दूसरे दिन मैं अपने बाप से खफ़ा-ख़फ़ा सा रहा, लेकिन शाम होते-होते मुझे अपने उस्ताद के बारे में उत्सुकता पैदा हुई, और तीसरे दिन मैंने अपने बाप के पीछे-पीछे बड़े चाव के साथ मछलियों वाले दरवाज़े में प्रवेश किया. उस्ताद चटाई पर घुटनों के बल बैठा हुआ था. बाप ने मुझे उसके सामने बिठा दिया और ख़ुद फ़र्श पर ढेर किताबों को उठा-उठाकर मचानों पर सजाने लगा, यहाँ तक कि फ़र्श पर सिर्फ़ एक किताब पड़ी रह गयी.

"इसे आप उठाइए, शाबाश !" उसने मुझसे कहा. मुझे यह सब एक मनोरंजक तमाशा मालूम हो रहा था. किताब का वज़न ज़्यादा था, फिर भी मैंने उसको उठा लिया और बाप के इशारे पर उसे उस्ताद के सामने रख दिया. उस्ताद किताब पर हाथ रखकर धीरे से मुस्कुराया और मुझे हैरत हुई कि परसों वह मुझे फ़क़ीर क्यों मालूम हुआ था.

"इसे खोलो, शहज़ादे." उसने कहा.

किताब के कुछ शुरू के पन्नों को छोड़कर बाकी पन्ने सादा थे. उस दिन पहले सादा पन्ने पर उस्ताद ने मेरा हाथ पकड़कर मुझसे कुछ लिखवाया. इतनी बड़ी-सी किताब पर अपने हाथ की लिखावट मुझे बहुत अच्छी मालूम हुई. मैं चाहता था उस्ताद मुझसे कुछ और लिखवाये लेकिन मेरे बाप ने दोनों हाथ आगे बढ़ाकर मुझे अपने क़रीब खींच लिया. उसका बदन फिर धीरे-धीरे काँप रहा था. इसी हालत में देर तक वह उस्ताद से चुपके-चुपके बातें करता रहा, लेकिन वह दोनों मालूम नहीं किन इशारों में बात कर रहे थे कि मेरी समझ में उनकी एक बात भी नहीं आयी और मैं अपने बाप के हाथों के घेरे में मचानों पर सजी बड़ी-बड़ी किताबों पर नज़रें दौड़ाता रहा.

आख़िरकार मेरा बाप मुझे लेकर बाहर आ गया.

उसके बाद मेरा ज़्यादा वक़्त उस्ताद के साथ बीतने लगा और मैं अपने बाप को भूल-सा गया, यहाँ तक कि कुछ दिन तक मुझे यह भी एहसास ना हुआ कि उसने फिर से औज़ारों का थैला लेकर काम पर जाना शुरू कर दिया है. मछलियों वाले दरवाज़े के पीछे मोटी किताबों में घिरा हुआ उस्ताद मुझे हर वक़्त मौजूद मिलता था. वह शायद वहीं रहता था. मैं अक़्सर उसे देखता कि फ़र्श पर ढेर किताबों के पास आँखें बन्द किये चित पड़ा है और फ़क़ीर मालूम हो रहा है. मेरी आहट सुनकर वह आँखें खोलता और सदा एक ही बात कहता, ''आओ, शहज़ादे, सबक़ शुरू किया जाये.''

लेकिन उसने मुझे पढ़ाया कुछ नहीं, हाँ लिखना बहुत जल्दी सिखा दिया. हर रोज़ लिखने के बाकायदा अभ्यास कराने के बाद मुझे अपने सामने बिठाकर वह बोलना शुरू करता. किसी-किसी दिन वह मुझे पुराने वक़्तों और दूर-दराज़ के इलाक़ों की दिलचस्प बातें बताता, लेकिन ज़्यादातर वह मेरे अपने शहर के बारे में बातें करता था. वह शहर के विभिन्न मुहल्लों में बसने वाले ख़ानदानों का हाल सुनाता था कि किस मुहल्ले का कौन ख़ानदान किस तरह आगे बढ़ा और क्यों तबाह हुआ और अब उस ख़ानदान में कौन-कौन लोग बाक़ी हैं और किस हाल में हैं. यह दिलचस्प किस्से थे लेकिन उस्ताद उन्हें बेदिली से बयान करता था इसलिए वह मुझे सिर्फ़ बेजोड़ टुकड़ों की तरह याद रह जाते थे, पर वह शहर के मुहल्ले की व्याख्या इस तरह करता था कि हर मुहल्ला मुझे एक इनसान नज़र आता था जिसका स्वभाव और चरित्र ही नहीं, रूप-रंग भी दूसरे मुहल्लों से भिन्न होता था. जोश में आकर उस्ताद यह दावा भी करने लगता था कि वह शहर के किसी भी आदमी को देखते ही बता सकता है कि वह किस मुहल्ले का रहने वाला है या किन-किन मुहल्लों में रह चुका है. उस वक़्त मैं उसके दावे पर हँसता था लेकिन अब देखता हूँ कि ख़ुद मुझमें यह गुण कुछ-कुछ मौजूद है.

कभी-कभी उस्ताद बातें करते-करते चटाई पर चित लेटकर आँखें बंद कर लेता तो मैं फ़र्श पर ढेर किताबों के सफ़ों को उलटने-पलटने लगता. सिर्फ़ पलटते-पलटते मुझे मालूम हुआ कि मैं पढ़ भी सकता हूँ. लेकिन हाथ की लिखी हुई वह भारी-भारी किताबें मेरी समझ में नहीं आयीं. उनमें कुछ तो मेरी अपनी ज़बान ही में नहीं थीं, कुछ की इबारत और कुछ की लिखावट इतनी उलझी हुई थीं कि बहुत गौर करने पर भी उनका बिलकुल धुँधला सा अर्थ मेरे मन में आता और तुरन्त निकल जाता था. ऐसे अवसरों पर मुझे अपने उस्ताद पर गुस्सा आने लगता और कई बार मैंने उससे बदतमीज़ी के साथ बात की. एक बार वह आँखें बंद किये चुपचाप पड़ा मेरी बातें सुन रहा था कि अचानक मेरे सिर के अंदर चमक-सी हुई. मैंने चिल्लाकर कहा. ''बहरा हो गया है फ़क़ीर ?'' और एक भारी किताब उठाकर उसके सीने पर फेंक दी.

उसके दूसरे दिन मुझे अपने मकान के क़रीब एक छोटे से मदरसे में पहुँचा दिया गया.

इसके बाद मैं शहर के तमाम मदरसों में पढ़ता रहा. शुरू-शुरू में मेरा बाप बड़ी पाबन्दी के साथ मुझको मदरसे तक पहुँचाता और वहाँ से वापस लाता था. छुट्टी होने पर मैं बाहर निकलता तो देखता कि वह मदरसे के फाटक से कुछ दूरी पर किसी पेड़ के तने से टेक लगाये ख़ामोश खड़ा है. मुझे देखकर वह आगे बढ़ता, मेरी किताबें सँभालता, और कभी-कभी मुझको भी गोद में उठाने की कोशिश करता लेकिन मैं उसे नोच-खसोट कर अलग हो जाता था. अगर किसी दिन उसे आने में देर हो जाती तो मैं ख़ुशी-ख़ुशी सैर करता हुआ अकेला घर लौटता और दूसरे दिन अकेले घर से जाने की ज़िद करता था. आख़िरकार धीरे-धीरे मैंने अकेले जाना और वापस आना शुरू कर दिया. फिर मैं ख़ाली वक़्तों और छुट्टी के दिनों में भी घर से बाहर निकलने लगा और उसी ज़माने में अच्छी-बुरी संगतों से भी परिचित हुआ. मैंने शहर के उन सभी मुहल्लों के चक्कर लगाये जिनके बारे में उस्ताद बताता था ! कौन मक्कार है, कौन बुज़दिल, कौन चापलूस और कौन झगड़ालू. उन्हीं चक्करों के बीच एक दिन मैंने अपने बाप को बाज़ार में देखा.

वह बाज़ार के उस हिस्से में खड़ा था जहाँ सुबह के वक़्त मज़दूर और कारीगर काम की तलाश में आकर जमा होते हैं. औज़ारों का थैला ज़मीन पर अपनी दोनों टांगों के बीच में रखे वह आसपास के लोगों से धीरे-धीरे बातें कर रहा था कि उसकी नज़र मुझ पर पड़ गयी. थैला ज़मीन पर छोड़कर वह लपकता हुआ मेरी तरफ़ आया, ''क्या हुआ ?'' उसने पूछा.

''कुछ नहीं,'' मैंने जवाब दिया.

वह कुछ देर तक मुझे सवालिया नज़रों से देखता रहा, फिर बोला, ''कोई बात हो गयी है ?''

''कुछ नहीं,'' मैंने फिर कहा.

''हमें देखने आये थे ?'' उसने पूछा, फिर ख़ुद ही बोला, ''ऐसा ही है तो हमें काम पर देखिए.'' फिर वह धीरे से हँसा.

उसी वक़्त किसी मज़दूर ने उसका नाम लेकर पुकारा और वह अपने थैले की तरफ़ लौट गया जहाँ अधेड़ उम्र का एक आदमी उसके इंतज़ार में खड़ा हुआ था. उसने मेरे बाप से कुछ पूछा, फिर देर तक उसे कुछ समझाता रहा. वह बार-बार अपने हाथों से हवा में मेहराब या गुम्बद का नक्शा बनाता था. उसकी उँगलियों में बड़े-बड़े नगीनों वाली कई अँगूठियाँ थीं जिन्हें वह जल्दी-जल्दी अँगूठे से घुमाता था. बहुत-सी आवाज़ों के बीच में उसकी ऊँची खरखराती हुई आवाज़ साफ़ सुनाई दे रही थी लेकिन यह समझ में नहीं आता था कि वह कह क्या रहा है. कुछ देर बाद मेरे बाप ने औज़ारों का थैला उठाया और उस आदमी के पीछे-पीछे चल दिया. मुझे ध्यान आया कि उसके थैले में किसी औज़ार की जगह मेरा रखा हुआ लकड़ी या ईंट का टुकड़ा नहीं होगा. लेकिन इस विचार से मुझे ख़ुशी के बजाय दुःख का एहसास हुआ. इस दुःख पर मुझे ताज्जुब भी हुआ. मैं सीधा घर वापस आ गया, और हालाँकि वह पूरा दिन मैंने उस्ताद के साथ फिज़ूल बहसों में गुज़ारा लेकिन पूरे वक़्त मुझे घर में बाप की कमी महसूस होती रही. यह विचार भी मुझे बार-बार आया कि मैंने अभी तक उसको राजगिरी का काम करते नहीं देखा है और यह मुझे अपनी बहुत बड़ी कमी मालूम हुई मगर उस कमी को पूरा करने का विचार मुझे नहीं आया.

एक दिन तीसरे पहर के क़रीब घूमता-फिरता मैं अपनी एक पुराने मदरसे के सामने पहुँच गया. वह मदरसा बरसों पहले एक तारीख़ी इमारत में स्थापित की गयी थी और उसी इमारत में थी. इमारत जर्जर हो गयी थी और जब मैं वहाँ पढ़ता था तो उसकी एक छत बैठ गयी थी जिसके बाद मेरे बाप ने मुझे उस मदरसे से उठा लिया, इसलिए कुछ देर पहले तक मैं उसी छत के नीचे था. इतने दिन बाद इधर आया था तो मैंने देखा कि मदरसे की टूटी हुई चारदीवारी ठीक कर दी गयी है. लकड़ी का वह बाहरी फाटक लापता

था जिसके पटों में लोहे के फूल जुड़े हुए थे और बायें पट में नीचे की तरफ़ छोटा-सा एक दरवाज़ा था. अब उस फाटक की जगह लोहे का कटहरेदार फाटक था जिसके पीछे असल इमारत में प्रवेश वाली ऊँची मेहराब नज़र आ रही थी. मेहराब के पीछे लोग चल फिर रहे थे, जबकि वह छुट्टी का दिन था. यह सोचकर कि शायद उन लोगों में कोई मेरी जान-पहचान वाला मिल जाये, मैं फाटक से गुज़रकर मेहराब की तरफ़ बढ़ा. क़रीब पहुँचकर मैंने देखा कि मेहराब की पेशानी पर बिलकुल वैसी ही दो मछलियाँ उभरी हुई हैं जैसी मेरे मकान में उस्ताद वाले कमरे के दरवाज़े पर थीं. मुझको हैरत हुई कि इस मदरसे में इतने दिनों तक आने-जाने के बाद भी इन मछलियों पर कभी मेरी नज़र नहीं पड़ी. अब मैंने उन्हें ग़ौर से देखा. मेहराब की टूटी हुई पेशानी की मरम्मत की जा चुकी थी. मछलियाँ भी जगह-जगह से टूटी हुई थीं. दायें तरफ़ वाली मछली की दुम ग़ायब थी. उसकी जगह नया नारंजी मसाला भर दिया गया था और मेरा बाप दो आड़ी बल्लियों पर टिका हुआ उस मसाले को मछली की दुम के रूप में तराश रहा था. वह सिर पर एक कपड़ा लपेटे हुए था जिसके कारण मैं उसे पहचान नहीं सका. मैंने उसे उसके थैले से पहचाना जो मेहराब के दायें पाये से लगा हुआ रखा था और उसमें से कुछ औज़ार बाहर झाँक रहे थे. देर तक उसे अपने काम में खोया हुआ देखते रहने के बाद मैंने ज़मीन पर से पुराने टूटे हुए मसाले का एक टुकड़ा उठाकर उसकी तरफ़ उछाला. टुकड़ा उसके पैर के पास बल्ली से टकरा कर वापस गिरा और उसने नीचे की तरफ़ देखा, धीरे से हँसा, फिर बोला, "तो आपने मुझे ढूँढ़ निकाला ?"

मुझे उसकी आवाज़ टूटी मछली के खुले हुए मुँह से आती मालूम हुई. वह फिर अपने काम में लग गया.

"अभी कितनी देर है ?" मैंने पूछा.

"वक़्त तो हो चुका है," उसने बताया, "काम थोड़ा बाक़ी है, ज़्यादा देर नहीं है." कुछ देर बाद वह नीचे उतरा. उसके हाथ में छोटे औज़ार थे जिन्हें उसने पास ही बने हुए एक अस्थायी हौज़ में धोया, सिर का लपेटा हुआ कपड़ा खोलकर उससे औज़ारों को पोंछा और मेरी तरफ़ देखकर थके हुए अन्दाज़ में मुसकुराया. मैंने औज़ार उससे लेकर थैले में रख दिये और हम दोनों साथ-साथ कटहरेदार फाटक की तरफ़ चले. आधा रास्ता चलकर वह रुक गया. अपनी जगह पर खड़े-खड़े गर्दन मोड़कर उसने अपने दिन भर के काम को देखा, फिर फाटक की तरफ़ बढ़ गया.

चौथे या पाँचवें दिन मैंने उसे थैला लेकर घर से बाहर निकलते देखा तो पूछा, "आज कहाँ काम लगाया है ?"

"वहीं," उसने कहा, फिर बोला, "आज भी देर में लौटना होगा."

लेकिन उस दिन दोपहर से थोड़ा पहले विद्यार्थियों के झगड़े में मेहराब से लगी हुई बल्लियाँ इस तरह हिलीं कि मेरे बाप का सन्तुलन बिगड़ गया और वह मछलियों की ऊँचाई से मदरसे के पत्थर वाले फ़र्श पर आ गिरा.

उस वक़्त मैं घर पर ही था और उस्ताद से किसी फ़िज़ूल बात पर बहस कर रहा था. दो-तीन मज़दूर उसे सहारा देकर लाये. उन्होंने अपनी गँवारी बोली में घटना का अस्पष्ट ब्योरा दिया और काम पर वापस चला गया. उसके बदन पर कोई जख़्म नहीं था लेकिन उसकी आँखों से मालूम हो रहा था कि वह पीड़ा में है. मैंने और उस्ताद ने उसे बिस्तर पर लिटा दिया.

कई दिन तक मेरा बाप चुपचाप बिस्तर पर पड़ा रहा और मेरा उस्ताद चुपचाप उसके सिरहाने बैठा रहा. पड़ोस की बड़ी बूढ़ियाँ उन दोनों की देख-रेख करती रहीं. मैं इस बीच कई बार घर से बाहर निकला लेकिन थोड़ी ही दूर जाकर वापस आ गया.

एक दिन वापस आते हुए मुझे उस मेहराब और टूटी हुई मछलियों का ध्यान आया और मैं मदरसे की तरफ़ लौट गया. वह भी छुट्टी का दिन था, मैं मेहराब के समाने जाकर खड़ा हो गया. एक मछली ठीक हो चुकी थी. उसकी पीठ पर सफ़नों (मछली की खुरदरी चमड़ी) का जाल इस तरह तराशा गया था कि मालूम होता था एक-एक सफ़ने को अलग-अलग ढाल कर मछली के शरीर पर बिठाया गया है. हर सफ़ना बीच में हल्का सा उभरा हुआ, किनारों पर धँसा हुआ और दूसरे सफ़नों में फँसा हुआ नज़र आता था. मछली की आँख की जगह एक गोल छेद था. मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मछली मुँह खोले हुए मुझे घूर रही है. मैंने उस पर से नज़र हटा ली.
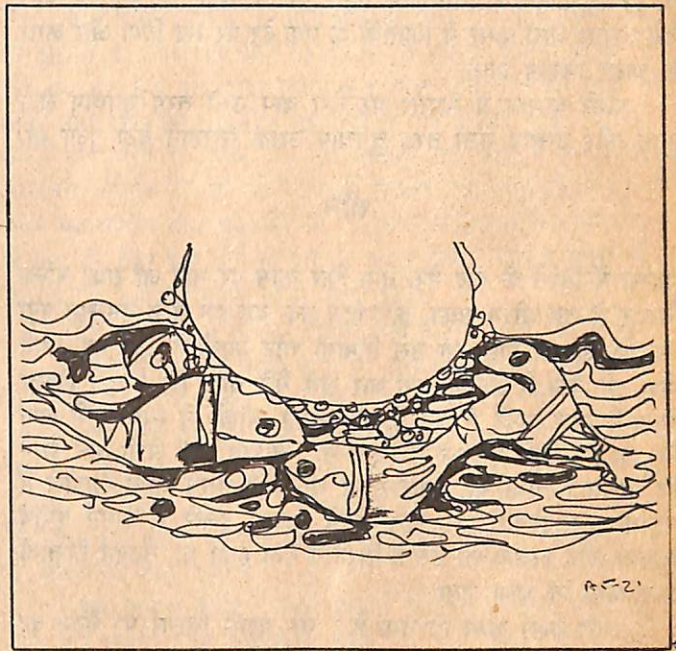
दूसरी मछली का सारा ऊपरी मसाला तोड़ दिया गया था और अब उसके नीचे की पतली-पतली ईंटें आधे वृत्त के रूप में उभरी रह गयी थीं, लेकिन उन उभरी हुई ईंटों से भी एक मछली का ढाँचा बनता था. दायें तरफ़ वाली पूरी मछली के बराबर उस ढाँचे के कारणवश मेहराब की पेशानी कुछ टेढ़ी और सिलवटों से भरी मालूम होने लगी थी. बल्लियाँ इस तरह लगी हुई थीं. मैंने एक बल्ली को पकड़ कर धीरे से हिलाया. उसके ऊपरी सिरे पर आड़ी बँधी हुई बल्ली हल्की आवाज़ के साथ मेहराब से टकरायी. यह आवाज़ भी मछली के खुले हुए मुँह से आती हुई महसूस हुई. फिर यह आवाज़ एक इनसानी आवाज़ में बदल गयी जो गँवार बोली में मेरे बाप की ख़ैरियत पूछ रही थी. उसी वक़्त मेरी नज़र मेहराब के नीचे खड़े एक आदमी पर पड़ी. यह उन्हीं मज़दूरों में से एक था जो मेरे बाप को घर लाये थे. मैंने उसके सवाल का मुख़्तसर जवाब दिया और वह देर तक मेरे बाप की कारीगरी की तारीफ़ करता रहा. उसमें उसने राजगिरी की कई ऐसी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जिनके अर्थ से मैं

परिचित नहीं था. फिर उसने शहर की कई तारीखी इमारतों के नाम लिये जिनकी मरम्मत में वह मेरे बाप के मातहत काम कर चुका था. उसने अपना नाम भी बताया और ताकीद की कि मैं अपने बाप को बता दूँ कि इस नाम का मज़दूर उसे पूछ रहा था. फिर मुझे ठहरे रहने का इशारा करके वह पास की एक कोठरी में गया और मेरे बाप का थैला लिए हुए बाहर आया. थैला मेरे हाथ में देते हुए उसने लम्बी साँस खींची. वह मेरे बाप से बहुत ज़्यादा उम्र का मालूम होता था. एक और लम्बी साँस खींचने के बाद वह कुछ कहने ही को था कि मदरसे के भीतरी हिस्से से किसी ने उसको आवाज़ दी. मैंने उसे मेहराब में प्रवेश करते और बायें तरफ़ मुड़ते देखा. थैले के औज़ारों में हल्की-सी खड़खड़ाहट हुई और हालाँकि मेरी नज़रें ज़मीन पर थीं लेकिन मुझे फिर एहसास हुआ कि दायें तरफ़ वाली मछली मुँह खोले हुए अपनी आँख के छेद से मेरी तरफ़ देख रही है. मैंने उसकी तरफ़ देखे बिना औज़ारों को थैले में ठीक से रखा और पाठशाला के कटहरेदार फाटक से निकलकर सड़क पर आ गया. घर पहुँचकर थैला मैंने उस्ताद वाले कमरे में किताबों के एक ढेर पर रख दिया और कमरे से बाहर निकल आया.

दोहरे दालान में बिस्तर पर मेरा बाप उसी तरह चुपचाप लेटा हुआ और उस्ताद उसी तरह चुपचाप उसके सिरहाने बैठा हुआ था.

तीन

मदरसे में गिरने के बाद मेरा बाप फिर काम पर नहीं जा सका बल्कि बिस्तर से उठ भी न सका. कुछ दिन तक वह इस तरह गुम-सुम पड़ा रहा कि ख़याल होता था उसे दिमाग़ी चोट आयी है और वह अपने होश खो बैठा है लेकिन एक बार जब मैंने चाहा कि उसका बिस्तर किताबों वाले कमरे में कर दूँ तो उसकी आँखों से स्पष्ट होने लगा कि वह इस दोहरे दालान से हटना नहीं चाहता जहाँ अभी तक उसने हर मौसम बिताया था. आख़िरकार धीरे-धीरे उसने धीमी आवाज़ में बोलना शुरू किया. एक दिन उसने मुझको इशारे से अपने क़रीब बुलाया और उस्ताद जो उसके सिरहाने बैठा हुआ था, उठकर किताबों वाले कमरे में चला गया.

''मेरा काम ख़त्म हो गया है.'' वह मुझसे बिस्तर पर बैठने का इशारा करते हुए बोला. मुझे उसका गर्दन मोड़कर अपने दिन भर के काम को देखना याद आया और मैंने सिरहाने बैठकर उसका सिर अपनी जाँघ पर रख लिया.

''एक मछली अभी बाक़ी है.'' मैंने गर्दन झुकाकर उसे देखते हुए कहा.

वह कुछ बोले बिना मेरी तरफ़ देखता रहा. मुझे उसकी आँखों में अपने चेहरे के साथ छत की कड़ियों से झूलती हुई सजावट नज़र आयी, या शायद यह मेरा सिर्फ़ भ्रम था. उसी वक़्त उसने अपनी गर्दन मोड़ ली और बोला, ''मुझे बिठा दो.''

कई तकियों के सहारे बैठने के बाद वह किसी ख़याल में डूब गया. उससे पहले वह मुझे सोचने वाला आदमी नहीं मालूम होता था लेकिन उस वक़्त कई तकियों से टेक लगाये, ढंग का साफ़ सुथरा लिबास पहने वह कुछ सोच रहा था. और उस वक़्त पहली बार मुझे हल्की-सी शुबहा हुई कि वह मेरा असली बाप है.

''जब सिर्फ़ यह मकान और तुम बाकी रह गये,'' उसने छत की तरफ़ देखते हुए कहा, ''तो मैंने सोचा अब मुझे कुछ-ना-कुछ करना चाहिए.''

मुझे यक़ीन था कि वह अपनी ज़िन्दगी की कहानी सुनाने वाला है, लेकिन वह ख़ामोशी के साथ छत को घूरता और कुछ सोचता रहा. फिर दूसरी तरफ़ गर्दन मोड़कर बोला. ''जाओ कहीं घूम आओ.''

''जी नहीं चाहता,'' मैंने कहा.

उसने मेरा कन्धा पकड़कर धीरे से अपनी तरफ़ खींचा. उसकी पकड़ कमज़ोर थी और हाथ में थरथराहट थी.

''सामान कम रह गया था,'' उसने लगभग कानाफूसी के अंदाज़ में कहा, ''मैंने उसे और कम नहीं होने दिया. तुम्हें वह बहुत मालूम होगा.''

मुझे ज़ंग लगे तालों वाले बन्द दरवाज़े याद आये. मैंने कहा, ''सामान मुझको नहीं चाहिए.''

''मैंने उसको कुछ बढ़ाया भी है.''

''मुझे कुछ नहीं चाहिए.''

''उसी में कहीं वह भी है,'' उसने कहा, ''मैंने उसे तलाश नहीं किया तुम ढूँढ़ लेना,'' फिर कुछ रुककर बोला, ''वह किताबों में भी होगा,'' यह कहकर उसकी हालत कुछ बिगड़ गयी. मैं दौड़ता हुआ उस्ताद के कमरे में गया. वह मुझे देखते ही उठ खड़ा हुआ और मैं उसे हाथ पकड़कर घसीटता हुआ बाप के बिस्तर तक लाया. उसने गर्दन घुमाकर उस्ताद को देखा, फिर मुझे. मेरी तरफ़ देखते-देखते उसने अपनी उखड़ती हुई साँसों पर क़ाबू पाया और बोला, ''उसे अलग मत करना, वह हमारा निशान है.''

मैंने उस्ताद की तरफ़ देखकर इशारे से पूछा कि मेरा बाप किस चीज़ की चर्चा कर रहा, लेकिन उस्ताद इस तरह गुम-सुम बैठा था जैसे न कुछ सुन रहा हो, न देख रहा हो, हाँ मेरे बाप की आँखें, जिनकी चमक मन्द पड़ गयी थी, कुछ देखती मालूम हो रही थीं.

''वह क्या चीज़ है ?'' मैंने उस पर झुककर पूछा.

''उसकी ख़ातिर ख़ानदान में ख़ून बहा है,'' वह धीमी आवाज़ में बोला और उसकी मुट्ठियाँ भिंच गयीं. उसकी साँस जो ठीक हो चली थी फिर बिगड़ गयी.

उस्ताद उसी तरह गुम-सुम बैठा था और मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि इस अवसर पर मुझे क्या करना चाहिए. मैंने बाप के दोनों कन्धे पकड़ लिये. अब मुझे यक़ीन हो गया था कि मैं उसका असली बेटा हूँ, और मेरी समझ में यह भी नहीं आ रहा था कि उसे क्या कहकर पुकारूँ, इसलिए मैं उसके कन्धे पकड़े ख़ामोशी के साथ उसके चेहरे के बदलते हुए रंगों को देखता रहा. कुछ देर बाद उसकी हालत अपने-आप सँभल गयी और वह बिलकुल ठीक मालूम होने लगा. उसने बहुत साफ़ और सन्तुलित आवाज़ में कहा, ''जाओ, घूम आओ.''

इस बार मैं इनकार नहीं कर सका और उसके कन्धे छोड़कर मकान से बाहर निकल आया.

मेरा बाप बहुत दिन ज़िन्दा नहीं रहा. आख़िरी दिनों में वह ज़्यादातर ख़ामोश पड़ा रहता था, सिर्फ़ कभी-कभी धीरे-धीरे कराहने लगता लेकिन पूछने पर बताता नहीं था, कि उसे क्या तकलीफ है. एक बार जब मैंने बहुत इसरार करके पूछा और उसके ख़ामोश रहने पर गुस्सा जाहिर किया तो उसने सिर्फ़ इतना बताया, ''कुछ नहीं.''

उसके दूसरे या तीसरे दिन दोपहर के वक़्त मैं सो रहा था कि उस्ताद ने मुझे झिंझोड़कर जगा दिया. आँख खुलते ही मैंने समझ लिया

कि मेरा बाप ख़त्म हो गया है. लेकिन जब मैं दौड़ता हुआ उसके बिस्तर के पास पहुँचा तो वह मुझे जिन्दा मिला. मुझको देखते ही उसने एक हाथ आगे बढ़ाया और मेरा कन्धा पकड़कर जल्दी-जल्दी कुछ कहने लगा. उसकी आवाज़ बहुत धीमी थी. मैं ठीक से सुनने के लिए उस पर झुक गया, फिर भी मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या कह रहा है. बहुत झुककर सुनने पर सिर्फ़ इतना समझ में आया कि वह तुतलाकर बोल रहा है. उसी वक़्त वह बेहोश हो गया, और उसी बेहोशी में किसी वक़्त उसका दम निकल गया.

बाप के मरने के बाद देर तक मैं बिलकुल खामोश रहा. मैंने बड़ी गम्भीरता से उसके आखिरी इन्तज़ामात के बाबत उस्ताद से सलाह की और हर बात का ख़ुद फ़ैसला किया. लेकिन जब वह प्रक्रिया शुरू हो गयी तो मेरे सिर के भीतर कोई चीज़ हिली और मुझ पर एक जोश तारी हो गया. मैंने उसी जोश में फ़ैसला कर लिया कि मौत मेरे बाप की नहीं, मेरी हुई है ! फिर यह फ़ैसला किया कि बाप भी मैं ख़ुद ही हूँ. फिर मुझको ये दोनों फ़ैसले एक मालूम होने लगे और मैंने अजब वाहियात हरकतें कीं ! आँगन से ईंटों के टुकड़े उठा-उठा कर दोहरे दालान में फेंके और ख़ुद से मुखातिब हो तुतलाना शुरू कर दिया, मेरे बाप का मुर्दा, नहलाने के लिए जो पानी भरा गया था उसमें से कुछ अपने ऊपर डाल लिया और बाकी में कूड़ा-करकट मिला दिया ! उसके बदन पर लपेटने के लिए जो सफ़ेद कपड़ा मँगाया गया था उसे खोलकर ख़ुद को उसमें लपेट लिया ! और जब उसे लेकर जाने लगे तो उसमें भी ऐसी-ऐसी रुकावटें डालीं कि कई बार उसका जनाज़ा ज़मीन पर गिरते-गिरते बचा. मैंने इतना हंगामा किया कि लोग उसके मरने पर अफ़सोस ज़ाहिर करना भूल गये. आख़िरकार मुझे ज़बरदस्ती पकड़कर वापस लाया गया और घर में बन्द कर दिया गया जहाँ सोती हुई खस्ताहाल बुढ़ियों की तसल्लियों पर मुझे इतना गुस्सा आया कि कुछ देर के लिए मैं अपने बाप की मौत को भूल गया. लेकिन मैंने उन बूढ़ियों पर अपना गुस्सा ज़ाहिर नहीं होने दिया और उम्मीद के बिलकुल उलट मुझे नींद आ गयी.

मैं दूसरे दिन तक सोता रहा. मैंने कई सपने भी देखे लेकिन उनका मेरे बाप या उसकी मौत से कोई सम्बन्ध नहीं था.

तीन दिन तक मैं खोया-खोया सा रहा. उस्ताद दिन में कई बार आता और कुछ देर तक मुझे ख़ामोशी से देखते रहने के बाद वापस चला जाता था. चौथे दिन मुझे याद आया कि मेरे बाप ने मुझसे कुछ ढूँढ़ने को कहा था, और मैंने बिना समझे-बूझे घर भर में उसे तलाश करना शुरू कर दिया. उसी तलाश में फिरता हुआ मैं मछलियों वाले दरवाज़े में प्रवेश कर गया और मचानों पर सजी हुई किताबें खींच-खींचकर ज़मीन पर गिराने और पढ़े बिना उनके पन्ने पलटने लगा. फ़र्श पर धूल फैल गयी और काग़ज़ख़ोर रूपहली मछलियाँ किताबों के अंदर से निकल-निकलकर ज़मीन पर इधर-उधर भागने लगीं. उसी में मेरी नज़र चटाई के क़रीब किताबों के ढेर पर रखे हुए औज़ारों के थैले पर पड़ी. मैं उसके क़रीब बैठ गया, देर तक बैठा रहा और रात हुई तो वहीं सो गया.

उस रात मैंने सपने में अपने बाप को देखा कि मदरसे की मेहराब के आगे खड़ा हुआ है और गर्दन मोड़ कर अपनी ठीक की हुई मछली को देख रहा है और मछली की आँख चमक रही है और वह भी मेरे बाप को देख रही है.

दूसरे दिन मैंने औज़ारों का थैला उठाया, घर से निकला और बाज़ार में अपने बाप की जगह पर जा खड़ा हुआ. देर हो गयी थी और सब लोग वहाँ से जा चुके थे, फिर भी मैं बहुत देर तक उसी जगह खड़ा रहा और किसी ने मेरी तरफ़ ध्यान नहीं दिया, यहाँ तक कि मेरा उस्ताद मुझे ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा और मेरा हाथ पकड़कर घर वापस ले आया. रास्ते में जब उसने मुझको समझाने-बुझाने की कोशिश की तो मैंने उसके कपड़े फाड़ डाले.

कई रोज़ तक इसी तरह उस्ताद से मेरा झगड़ा चलता रहा, आख़िरकार उसने मेरे यहाँ आना छोड़ दिया, लेकिन मेरा खाना वह दोनों वक़्त पाबन्दी से भिजवाता रहा. मैली-कुचैली आवारागर्द छोकरियाँ और हिलती हुई गर्दनों वाली बूढ़ी औरतें मकान का मुख्य दरवाज़ा खटखटातीं और खाने की पोटली मेरे हाथ में थमाकर चुपचाप लौट जातीं. मगर एक दिन मैंने देखा कि खाना लाने वाली एक छोकरी के पीछे उसके कन्धे पर हाथ रखे मेरा उस्ताद खड़ा है. मुझे देखकर वह आगे बढ़ आया, कुछ देर तक ख़ामोशी के साथ मेरी तरफ़ देखता रहा फिर अपने सीने की तरफ़ उँगली से इशारा करके बोला, "अब मैं ख़त्म हो रहा हूँ."

उस दिन मैंने रौशनी में पहली बार उसे ग़ौर से देखा. उसके चेहरे पर झुर्रियों का जाल था और वह हमेशा से ज़्यादा फ़क़ीर मालूम हो रहा था. देर तक हम दोनों बिना कुछ बोले आमने-सामने खड़े रहे और उसके साथ की छोकरी दोनों हाथों से अपना सिर खुजलाती रही. उलझे हुए बालों में उसके बढ़े हुए नाख़ूनों की रगड़ से खरखराहट की ऐसी आवाज़ पैदा हो रही थी जिसे सुनकर मुझे बहुत-सी अँगूठियों वाला वह व्यक्ति याद आ गया जो मेरे बाप को बाज़ार से अपने साथ ले गया था, फिर मुझे बाप के औज़ार लेकर अपना बाज़ार जाना और उस्ताद का मुझको वापस लाना याद आया.

"मैंने तुम्हारे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया." मैंने धीरे से कहा.

उसने मेरी बात तो सुनी नहीं, या सुनकर अनसुनी कर दी और मेरी तरफ़ इस तरह देखता रहा जैसे मुझसे किसी बात की आशा कर रहा हो. इस तरह वह मेरी तरफ़ पहले भी कभी देखने लगता था जिस पर मुझे ख़्वाहम-ख़्वाह गुस्सा आ जाता था. उस वक़्त भी मुझे उलझन-सी महसूस हुई और मैंने उसके चेहरे पर से नज़रें हटा लीं. मैं उससे कुछ कहना चाहता था. लेकिन उससे पहले ही उसने छोकरी के कन्धे पर हाथ रखा.

"अब ताहिरा बीबी," उसने छोकरी को बताया और उसके पीछे धीरे-धीरे चलता हुआ वापस हो गया.

जब वह दोनों मेरी निगाहों से ओझल हो गये तो मुझे ख़याल आया कि मैंने उस्ताद से घर के अंदर चलने को नहीं कहा.

मुझे उसका घर नहीं मालूम था. पड़ोस की बूढ़ियों ने सिर्फ़ अन्दाज़े से उसके अलग-अलग पते बताये, लेकिन जब मैं इन पतों पर पहुँचा तो वहाँ कोई उस्ताद का जानने वाला नहीं निकला. मैंने उस तलाश में कई दिन बर्बाद किये. उसी चक्कर में अपने शहर के ऐतिहासिक इमारतों को मैंने विशेष रूप से देखा. मैंने उन इमारतों के मरम्मत किये हुए हिस्सों का ग़ौर से जायज़ा लिया और उनमें कई जगह मुझे अपने बाप का हाथ नज़र आया. उन इमारतों के किसी न किसी दरवाज़े या प्रवेश द्वार पर मुझे मछलियाँ ज़रूर बनी हुई नज़र आयीं. शहर के पुराने गिरते हुए मकानों के दरवाज़े भी मछलियों से ख़ाली नहीं थे और हर मछली मुझे अपने बाप की बनायी हुई मालूम होती थी और हर टूटी-फूटी मछली को देखकर मुझे अपनी मदरसा की मेहराब पर बनी हुई पूरी मछली याद आती थी.

उसी घूमने-फिरने में मुझे यक़ीन हुआ कि मछली मेरे शहर का

निशान है. मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैंने अस्पष्ट सी पहेली का हल प्राप्त कर लिया है, लेकिन उसी के साथ मुझे यह भी महसूस होने लगा कि हल असल पहेली से भी ज़्यादा अस्पष्ट है. अपने बाप का ख़याल मुझे बार-बार आने लगा, यहाँ तक कि एक गुमनाम ऐतिहासिक इमारत के खंडहर की तरफ़ बढ़ते-बढ़ते मैं पलट पड़ा. घर पहुँचकर मैंने उस्ताद के कमरे वाली चटाई उठायी और दोहरे दालान में अपने बाप के आख़िरी बिस्तर की जगह बिछा दी. चटाई के ठीक ऊपर छत की कड़ियों में लाल हरी काग़ज़ की सजावट झूल रही थी. मैंने देखा कि उस दालान की भी मरम्मत हुई है और छत में जगह-जगह नया मसाला भरा गया है. लेकिन छत का वह हिस्सा जहाँ पर यह सजावट थी, बेमरम्मत रह गया था और उसके पुराने फूले हुए मसाले को देखकर गुमान होता था कि यह बहुत जल्द गिरने वाला है. मेरी इच्छा हुई कि यह अभी गिर जाये, और चटाई पर लेटकर आँखें बन्द कर लीं. उसी वक़्त मकान के मुख्य दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी.

आख़िरी बार उस्ताद के साथ आने वाली छोकरी दरवाज़े के सामने खड़ी थी. वह एक हाथ से सिर खुजाये जा रही थी, दूसरे हाथ में एक बड़ा-सा फ़सली फल था जिस पर वह इधर-उधर दाँत लगा रही थी.

"क्या बात है ?" मैंने पूछा.

वह कुछ देर तक फल पर मुँह मारने के लिए उचित जगह की तलाश करती रही, फिर बोली, "ताहिरा बीबी ने कहलाया है, आपके उस्ताद नहीं रहे."

एक पल के लिए मुझे भ्रम हुआ कि उस्ताद उसके कन्धे पर हाथ रखे खड़ा है. मैं देर तक छोकरी की तरफ़ देखता रहा, यहाँ तक कि वह शरमाने लगी.

"कब ?" अन्ततः मैंने पूछा.

"कई दिन हो गये. हम तीन बार आये, आप मिले नहीं."

"उनके घर में कौन-कौन है ?" मैंने पूछा.

"उस्ताद के घर में ? कोई भी नहीं."

"उनकी देखभाल कौन करता था."

"ताहिरा बीबी आ जाती थी."

"ताहिरा बीबी उनकी कौन हैं ?"

"पता नहीं."

"वह रहती कहाँ हैं ?"

"ताहिरा बीबी ? पता नहीं."

उसके बाद वह वापस जाने के लिए मुड़ गयी. कुछ देर बाद मैंने मुख्य दरवाज़ा बन्द कर लिया और मुड़ रहा था कि फिर दस्तक हुई. मैंने दरवाज़ा खोल दिया. छोकरी सामने खड़ी थी. अब उसके हाथ में फल की जगह लाल कपड़े का गोला-सा था.

"हम भूल गये थे," उसने मुझे देखते ही कहा और गोला मेरी तरफ़ बढ़ा दिया, "यह रख लीजिए, कुंजियाँ हैं."

"कैसी कुंजियाँ ?"

"पता नहीं, ताहिरा बीबी ने दी हैं."

मैंने मुख्य दरवाज़ा बन्द कर लिया.

चटाई पर खड़े होकर मैंने गोले को खोला. यह किसी मोटे मगर नर्म कपड़े का पारचा (टुकड़ा) था जिसके एक कोने में पुरानी शैली की कुंजियाँ बँधी थीं. पारचे में से फ़सली फल की ख़ुशबू आ रही थी. मैंने जल्दी से कुंजियाँ खोलकर उसे चटाई के पांएती ज़मीन पर डाल दिया और कुंजियों को गिनने लगा. उनमें से कुछ का रंग हाल ही में साफ़ किया गया था. सबसे बड़ी कुंजी, जिसके पूरे हल्के़ पर बारीक़-बारीक़ नम्बर खुदे हुए थे, मुझे उस्ताद के चेहरे के समान नज़र आयी लेकिन समानता का कारण मेरी समझ में नहीं आया. मैंने कुंजियाँ चटाई के नीचे रख दीं और एक बार फिर लेटकर आँखें बन्द कर लीं. मुझे उसी जगह पर अपने बाप का मरना याद आया और मैंने अपना बदन अकड़ा कर पैर फैला दिये. मेरी एड़ी को नर्म कीड़े की छुअन महसूस हुई. मैंने आँखें बंद किये-किये झुककर लाल पारचे को उठा लिया और उसका गोला बनाकर फेंकने को था कि मुझे एहसास हुआ इसमें से फल की ख़ुशबू ग़ायब हो गयी है. मैं उसे अपने नथुनों के क़रीब लाया और मुझे महसूस हुआ उसमें कोई और ख़ुशबू मौजूद है. मेरी आँखें मेरी इच्छा के बिना ही खुल गयीं. मैंने परचे को पूरा खोलकर दोनों हथेलियों पर फैला लिया. यह एक बड़ा रूमाल था जिसके बीच में बहुत हल्के हरे रंग के रेशमी धागे से एक मछली कढ़ी हुई थी. उसके सफ़नों का जाल छोटे-छोटे फन्दों से बनाया गया था और जगह-जगह से उधड़ा हुआ था. लेकिन उस वक़्त मेरा ध्यान मछली से ज़्यादा उस हल्की ख़ुशबू की तरफ़ था जो पूरे रूमाल में घूमती हुई मालूम हो रही थी. मैंने रूमाल का फिर से गोला बना लिया और पूरी साँस खींचकर उसे सूँघा. ख़ुशबू बहुत धीमे-धीमे उभरती और फिर डूब जाती, जैसे कोई सोते में साँस लेता हो. मुझे ख़ुशबुओं से दिलचस्पी और इत्रों की अच्छी पहचान थी मगर उस मिश्रित ख़ुशबू का कोई भी भाग मेरी पहचान में ना आ सका. मैंने उसे देर तक और बड़े ध्यान से सूँघा और मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वह बड़ी आहिस्तगी के साथ रूमाल से निकलकर मेरे सीने में उतर गयी है. मैं उसे पहचान तो ना सका लेकिन मुझे यक़ीन हो गया कि अगर यह थोड़ी भी तेज़ होती तो उसी वक़्त मेरा दम घुट जाता.

जब नींद से मेरी आँखें बन्द होने लगीं तो मुझे धुँधला-सा ख़याल आया कि मैं अपने बाप के मरने की जगह पर लेटा हुआ हूँ और अभी-अभी मैंने अपने उस्ताद के मरने की ख़बर सुनी है. लेकिन, इस ख़याल का कोई असर जाहिर होने से पहले ही मैं सो गया.

मैंने अपने उस्ताद को देखा, लेकिन सपने में वह मुझे एक नौजवान लड़की नज़र आया और इस पर, जैसा कि सपनों में अक़सर होता है, मुझे थोड़ा भी ताज्जुब नहीं हुआ. ▣

नैय्यर मसऊद

जन्म : 1936, लखनऊ

शिक्षा : एम. ए. फारसी लखनऊ विश्वविद्यालय, एम. ए. उर्दू इलाहाबाद विश्वविद्यालय. फ़ारसी में पी. एच. डी. (1965) लखनऊ विश्वविद्यालय.

सम्प्रति : 1966 तक लखनऊ विश्वविद्यालय में फ़ारसी के उस्ताद.

कृतियाँ : रजब अली बेग सुरूर : हयात और कारनामें, ताबीरें, गालिब, काफ़का के अफ़साने (अनुवाद), सीमिया, मरसिया ख़्वानी का फन (आलोचना), इत्रे काफूर, ताऊ से चमन के मैना (कहानियाँ).

इनकी प्रकाशित पुस्तकों का संख्या लगभग इक्कीस हैं. कई छोटे बड़े सम्मान और पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं.

सम्पर्क : 'अदबिस्तान'--दीनदयाल रोड, लखनऊ-226003

◆ कहानी ◆

निजात

●

सैयद मोहम्मद अशरफ़

वह महावट की अँधेरी रात थी. तेज़ ठंडी हवाएँ ठहर-ठहर के शोर मचातीं और चुप हो जातीं. दालान के पर्दों की दरारों से होकर भीगी हुई हवा के झोंके अन्दर आकर मोटे-मोटे लिहाफ़ों में छेद किये दे रहे थे. लोहा बजने की आवाज़ ड्योढ़ी और आँगन को पार करके मद्धिम होती हुई कानों से फिर टकरायी. इससे पहले हम लोग इस आवाज़ को भ्रम समझे थे. पश्चिमी दालान से चाचा ने लिहाफ से मुँह निकालकर काफ़ी बुलन्द आवाज़ में कहा, ''दरवाज़े पर कोई है'', यह कहते-कहते वह उठे और सिरहाने से टॉर्च और पलंग के नीचे से हाथ भर का डंडा उठाकर आँगन में निकल आये. हम पर्दों के पीछे दालान में चुप्पी मारे, लिहाफ़ लपेटे ख़ामोश लेटे थे. अब्बा ने बड़ी कठिनाई से लिहाफ़ को ख़ुद से अलग किया, सिरहाने की तरफ़ ज़मीन पर रखी लालटेन की लौ ऊँची की और पलंग की पट्टी पर पाँव लटकाकर बैठ गये. फिर कुछ सोचकर तेज़ी से उठे और आँगन को पार करते हुए सदर दरवाज़े पर इतनी जल्दी से पहुँचे कि चाचा बड़े दरवाज़े की कुंडी भी नहीं खोल पाये थे. चाचा ने मुड़कर देखा और बड़े भाई को अपने पीठ पीछे देखकर राहत की साँस ली. कुंडी गिराकर सदर दरवाज़े के दोनों पट खींचकर बोले. तेज़ हवा ने दोनों भाइयों के बदन का हर वह भाग बर्फ़ कर दिया, जो कि खुला हुआ था.

सामने शबराती खटबुना सिकुड़ा-सिमटा लज्जित सा खड़ा था. इतनी तेज़ सर्दी के होते भी वह केवल एक पुरानी बंडी पहने था, जिसका रंग पहचानना इस अँधेरे में और भी मुश्किल था.

''घर में बच्चा हुआ है. कान में दुआ पढ़वाना है.'' उसने सलाम करके नीची नज़रें किये मुस्कुराते हुए यह सूचना दी.

''मुबारक हो !'' अब्बा ने कहा.

''लाहौल वला क़ुव्वत-इल्ला...'' चाचा मुँह ही मुँह में बड़बड़ाये. अब्बा बोले, ''ऐसा करो, शबराती कि बच्चे के सीधे कान में अज़ान पढ़वा दो, बायें कान में अक़ामत (थोड़ी देर के लिए उँगली डालना), क़लमे की उँगली (यानी दायें हाथ की उँगली) से शहद चटाओ और छोटी चमची से कुनकुना पानी थोड़ा-थोड़ा पिलाओ.''

''पानी वाली बात तो ठीक है पर दुआ आप ही को पढ़नी है,'' खटबुना कुनमुनाया. मैं भी इतनी देर ठंडी हवाओं से उलझता, दौड़ता, आँगन पार करके ड्योढ़ी में आकर दरवाज़े का पट पकड़कर खड़ा हो चुका था. अब्बा चाचा से बोले, ''तुम शबराती के घर हो आओ. अज़ान और अक़ामत पढ़ देना.'' फिर धीमी आवाज़ से गुस्से के अदाज़ में बड़बड़ाये.

''हर साल एक बच्चा. हद हो गयी.'' मुझ पर नज़र पड़ी तो माथे पर बल पड़ गये.

''तुमसे किसने कहा था यहाँ आने को ? चलो, अन्दर जाकर लेटो.''

''मैं भी खटबुने का बच्चा देखूँगा.''

''नहीं ! बच्चे ऐसी जगहों पर नहीं जाते.''

''भाई, जाने दो, दूर खड़ा रहेगा.'' चाचा ने सिफ़ारिश की.

जब हम चाचा-भतीजे शबराती के घर पहुँचे तो दरवाज़ा अन्दर से बन्द नहीं था. शबराती खंखारकर अन्दर दाख़िल हुआ.

''छोटे मियाँ आये हैं. पर्दा कर लो.'' उसने काफ़ी बुलन्द आवाज़ में कहा.

घर में दाख़िल होते ही कच्ची मिट्टी का एक दालान नज़र आया और कुछ भी नहीं. मैंने अँधेरे में ग़ौर से देखा. एक बेछत का, कमर की ऊँचाई भर का कच्चा शौचालय भी दरवाज़े से लगा था.

ये लोग पैर रखने वाले

कदमचों पर खड़े होकर कमर बन्द बाँधने हैं या नीचे उतरकर. मुझे कुछ सोचकर बड़े ज़ोर से हँसी आयी मगर मैंने बड़ी चतुराई से उसे रोका.

दालान में मिट्टी के थमले के पीछे खटिया पर लेटी शबराती की पत्नी ने उधड़ी हुई रज़ाई से सिर इस तरह छुपाया कि सिरहाने की तरफ़ उसके सीधे हाथ ने मुड़कर कलाई की हड्डी की मदद से एक फ्रेम सा बना लिया. मैंने जल्दी ही यह अन्दाज़ा लगा लिया कि खटबुने की पत्नी एक अक़लमन्द औरत है. इस तरह लेटने में रज़ाई के अन्दर साँस लेने में भी आसानी हो रही होगी और पर्दे का पर्दा हो गया. खटिया के पास ज़मीन पर एक काली-मोटी ख़ूँखार औरत अल्युमीनियम के तसले में खून में डूबे चिथड़े और कुछ उससे भी ज़्यादा ख़ौफ़नाक चीज़ें लिये बैठी थी.

चाचा ने उसे दाई माँ कहकर सलाम किया. जवाब देने में उसके दाँत चमके तो मैं सिहर उठा. लेकिन उसकी आवाज़ और लहजे में बड़ी नरमी और अदब था. मेरा दिल चाचा के पति श्रद्धा से भर गया. माँ के उधर एक छोटे-से गद्दे पर हल्का कालापन लिये लाल लोथड़ा आँखें बन्द किये पड़ा था. अभी उसे कपड़े नहीं पहनाये गये थे. विभिन्न रंगों के पुराने मोटे उधड़े फटे कपड़ों से उसे ढंके रखने की कोशिश की गयी थी. चाचा ने जल्दी-जल्दी सीधे कान में अज़ान और उल्टे कान में अक़ामत के कल्मे (मंत्र) पढ़े.

मैं आहिस्ता-आहिस्ता उससे मुख़ातिब हुआ, "अयूब ! तुम जानते हो, जो दुनिया में आता है, उसे जाना होता है. मुझे भी मरना होगा और तुम्हें भी. तुम्हें मालूम है कि ख़ुदा ने अपने अच्छे बन्दों के लिए जन्नत बनायी है. जन्नत में जगह-जगह बगीचे हैं. लाल और पोखराज के महल हैं. वहाँ नहरें हैं, जिनमें दूध और शहद बहता है"–मैंने आख़िरी बार यासीन शरीफ़ का पाठ किया.

"शहद लाओ." चाचा शबराती से मुखातिब हुए. शबराती ने दीवार के सहारे पुआल पर लेटे-बैठे अपने हैरान बच्चों के क़रीब जाकर इशारों में कुछ पूछा. वह न न करने लगे. वह घबराया हुआ बीवी की खाट की तरफ़ मुड़ा. हम दोनों को देखकर बीवी से कुछ बोल नहीं सका. चाचा मुझे लेकर दरवाज़े के क़रीब खिसक आये. वह बीवी की कोहनी हिला-हिलाकर कुछ पूछ रहा था, जो रज़ाई के अन्दर इनकार में सिर हिला रही थी. वह पूछते-पूछते खिसिया गया. उसकी आवाज़ सम्भवतः तेज़ हो जाती, अगर चाचा उसका नाम लेकर उसे क़रीब न बुला लेते.

"शक्कर से भी काम चल जायेगा. शक्कर है ?" वह ख़ुश हो गया. तेज़ी से अन्दर गया और बड़े बेटे से कुछ पूछा. वह देर तक लहजे को तेज़ और आवाज को नर्म बनाकर पूछता रहा. अचानक उसका बड़ा बेटा बिलबिलाकर रोने लगा.

"इधर आओ, शबराती !" चाचा ने तेज़ लहजे में आवाज़ दी. शबराती खिसियाया हुआ उनके पास आकर खड़ा हो गया.

"घर में थोड़ा सा चुटकी बराबर गुड़ होगा ?"

"गुड़ का तो मुझे अच्छी तरह मालूम है कि नहीं है. मग़रिब की नमाज़ के बाद सारे बच्चों के साथ आज गुड़ से रोटी खायी थी. जो बचा था, दाई माँ ने पानी में घोलकर बच्चों की माँ को पिलवा दिया था."

मैंने देखा, चाचा के चेहरे पर कुछ विचित्र रंग आ रहे हैं. बड़ी कठिनाई से उन्होंने ख़ुद पर क़ाबू पाया और समझाने वाले अन्दाज़ में धीमे-धीमे शबराती से कहा, "शहद, शक्कर या गुड़ फ़र्ज व वाजिबात (अल्लाह के वे हुक्म जो कतई छोड़े न जा सकें) में नहीं है. कानों में अज़ान दी जा चुकी है. अब तुम इसे कुनकुना पानी पिला देना. बच्चे की माँ को गर्म-गर्म दूध पिलाओ और तब उससे कहो कि बच्चे को दूध पिलाये. समझे ?

शबराती दालान में घुसा. देर तक घुसा रहा. इशारों में बीवी और बच्चों से बातें करता रहा और जब रुआँसा होकर दालान से बाहर निकला तो उसके हाथ में एक बर्तन था, जो ऐसे घरों में आमतौर पर दूध रखने के लिए इस्तेमाल होता है. चाचा देर तक माँ की सेहत, उसकी खुराक और उस आहर से बच्चे पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में नर्मी से समझाते रहे. शबराती सब कुछ सुनता रहा और बुत बना खड़ा रहा. तब चाचा की नज़र उस बर्तन पर पड़ी, जो बिलकुल ख़ाली था. चाचा ने 'उँह' कहकर मेरा हाथ पकड़ा और तक़रीबन खींचते हुए मुझे घर की तरफ़ ले चले. थोड़ी देर बाद जब मैं अम्माँ से थोड़ा सा शहद और पतीली भर दूध लेकर चाचा की नज़र बचाकर शबराती के घर की तरफ़ जा रहा था तो आसमान के निचले हिस्से में एक मैली-मैली सुबह प्रकट हो रही थी.

अयूब दिन भर जाँघिया पहने गली में घूमता रहता. नाक बहती रहती और मैल की तहें जमती रहतीं. एक दिन मैंने अब्बा से कहा कि खटबुने के बच्चे अयूब को मदरसे में बिठा लीजिये. उन्होंने हामी भर ली. मैं भागा-भागा गया और एक बुगदादी क़ायदा, तख़्ती, मुल्तानी मिट्टी और क़लम ख़रीद लाया. और बाक़ी के पैसे अब्बा को वापस कर दिये जो उन्होंने बगैर गिने जेब में रख लिये. घर से बाल्टी और मग लेकर चौक में खड़े होकर कुएँ से पानी खींच-खींचकर मैंने उसे खूब नहलाया. वह गोरे रंग का निकला. उसके बाल बहुत चीकट थे. बड़ी मुश्किल से साफ हुए. उँगलियों से उसके बालों में कँघी की. उसकी सूरत लड़कियों जैसी नर्म-नर्म थी. अब्बा ने मूढ़े पर बैठे-बैठे तमाम कामों का जायज़ा लिया और कहा...

"आज मकतब का वक़्त तो ख़त्म हो गया. तुम इसे इसकी माँ के पास ले जाओ और कहो कि क़ायदा और क़लम एक पवित्र सुथरे बस्ते में रखें और कल सुबह उसे साफ़-साफ़ कुर्ता पाजामा पहनाकर पाठशाला भेज दें. मैं बिस्मिल्लाह पढ़ दूँगा" यह कहकर उन्होंने जेब में हाथ डालकर कुछ सिक्के निकाले और मुझे देकर कहा, "इनके बताशे ले आना. इतनी सुबह बताशों की दुकानें नहीं खुलतीं."

मैं इसे लेकर उसके घर गया. उसके घर में कोई विशेष फर्क नहीं आया था, अलबत्ता शबराती की साँस बहुत फूलने लगी थी. मैंने अयूब की माँ से पाक साफ़ कुर्ता-पाजामा और बस्ता तैयार करने को कहा. वह मुझे देखकर सिर पर दुपट्टा बराबर करने लगी थी. मेरी बात सुनकर हाथ वहीं के वहीं रह गये.

सुबह की नमाज़ के बाद मुँहअँधेरे मैं उसके घर पहुँचा. अयूब तैयार था ! रातो-ही-रात उसके बाप का पाजामा काटकर उसके साइज़ का कर दिया गया था. शबराती लुँगी पहने साँस से लड़ रहा था.

"बस्ता कहाँ है ?" मैंने माहिर जासूस की तरह चारों तरफ़

निगाहें फेंककर सवाल किया. उसकी माँ कुछ नहीं बोली. पीठ मोड़कर टीन का बक्सा खोला. उसमें साफ़ और मैले कुछ कपड़े, दो-तीन पुरानी मज़हबी किताबें और थोड़े ताँबे के बर्तन थे. वह उलट-पुलटकर हर कपड़े को देखती और हर कपड़े की इफ़रादियत (उपयोगिता) उस बस्ते से ज़्यादा नज़र आती. मैं पीछे से केवल उसके हाथ देख पा रहा था. उसकी उँगलियों की गति से यह मालूम हो रहा था कि वह किस कपड़े को कितना महत्त्व दे रही है. कपड़े देखते-देखते उसका हाथ सन्दूक के तल से टकराया. मैंने गर्दन उठाकर अयूब की माँ के सिर के ऊपर से नीचे की तरफ़ देखा. कपड़े ख़त्म हो चुके थे. सन्दूक के तल पर पीले पुराने उर्दू अख़बार बिछे हुए थे.

मैं अयूब की माँ और शबराती को मनाने के लिए शिक्षा और उसका महत्त्व, पाठशाला और उसकी सामग्री, पुस्तकों, क़लम और बस्ते के बारे में देर तक बातें करता रहा. यहाँ तक कि वे तमाम शब्द समाप्त हो गये, जो मैंने मदरसे के मुंशी जी से सुने थे. शबराती यह सब सुनकर आलिमाना अन्दाज़ में सिर हिलाता रहा और धरती को देखता रहा. इतनी देर तक देखता रहा कि मुझे शक़ होने लगा कि वहाँ कुछ सिक्के न पड़े हों. मैंने आगे बढ़कर ग़ौर से देखा. वहाँ कुछ भी नहीं था. मैं अयूब की माँ की तरफ़ बढ़ा. उसने मुझसे नज़रें नहीं मिलायीं, सन्दूक एक तरफ़ करके चुपचाप बैठ गयी.

मेरे मुँह से अकस्मात 'उँह' निकला. मैं अयूब का हाथ पकड़कर तक़रीबन घसीटते हुए घर की तरफ़ चला. उसे दरवाज़े पर खड़ा किया. भीतर जाकर अम्माँ की नज़र बचाकर क़ुरआन शरीफ का जुज़दान (खोल) निकालकर लाया और अयूब का हाथ पकड़कर मदरसे की ओर चला, जहाँ अब्बा बैठे हम दोनों का इन्तज़ार कर रहे थे, जिनके समीप रात के लाये बताशे एक पुड़िया में बन्द रखे थे. मकबत के बाहर एक काहिल वजूद बीमार दिन घुटनों के बल धीमे-धीमे रेंगने लगा था.

शबराती और उसकी पत्नी का इन्तकाल तीन रातों के अन्तराल में हुआ. खटबुना पहले विदा हुआ. उसे साँस की बीमारी थी. उसकी बीवी को टी.बी. थी. अयूब अपने बड़े-भाई बहनों के साथ शव की चारपाई के पास ख़ामोश खड़ा था. कफ़न का इन्तज़ाम हो चुका था. मैं अभी-अभी नौकरी से छुट्टी पर आया था. सामान भी ठीक से नहीं रखा था कि यह ख़बर मिली. मैं जनाज़े के छोटे से जुलूस में आकर शामिल हो गया. अभी जनाजा नहीं उठा था.

मुहल्ले के इमाम का आग्रह था कि अव्वल मंज़िल में देर न करो. एक नयी जानमाज़ (नमाज़ की चटाई) का इन्तज़ाम करो और शव को लेकर क़ब्रिस्तान चलो. अयूब इमाम साहब को लेकर एक कोने में गया. जाने क्या हुआ कि इमाम साहब के माथे पर बल पड़ गये. मैंने देखा अयूब सबकी नजरें बचाकर दालान में लटकी शबराती की बंडी की जेबें टटोल रहा है. उसने जेबें उलट दीं. चाँद तारा बीड़ी का बंडल और एक माचिस बरामद हुई और कुछ नहीं था. ख़ाली जेबें बूढ़ी गाय के सूखे थनों की तरह लटकी हुई थीं.

इमाम साहब अयूब को अलग बुलाकर ले गये. मैंने ग़ौर से सुना. वह उसे जनाज़े की नमाज़ का महत्त्व, मोक्ष में शीघ्रता और कब्र के उत्पीड़न से सुरक्षा आदि के बारे में बहुत गम्भीरता और सहानुभूति के साथ कुछ समझा रहे थे. वह आँखें नीची किये उनकी बातें ध्यान से सुनता रहा. एक शब्द नहीं बोला. यूँ भी उसे बोलते मैंने कभी नहीं सुना था. उसकी आवाज़ भारी है या संतुलित या लड़कियों की तरह कोमल. मैं यही सोचता रहा. इमाम साहब का चेहरा और लहजा आहिस्ता-आहिस्ता नर्क की आग की तरह लाल और तेज़ हो रहा था. अयूब के भाई-बहन इन तमाम बातों को एक गुना आदर और भय के साथ सुनते रहे. जब इमाम साहब को ख़याल आया कि धार्मिक पुस्तकों के वे समग्र भाग बयान किये जा चुके हैं, जो इस विषय पर उन्हें याद रह गये थे तो वह एक अजीब-सी उकताहट की दशा में अयूब के काले पड़ते चेहरे की तरफ़ देखने लगे कि शाम का समय हो चुका था और अयूब की माँ आँगन में कफ़न ओढ़े लेटी थी. अयूब खड़ा हुआ निराशा की दशा में हाथ मल रहा था. तब मैंने तेज़ नज़रों से इमाम साहब की ओर देखा. वह कुछ सहम से गये कि रात का खाना और ईद के कपड़े हमारे ही घर से जाते थे. वह शव की चारपाई की तरफ़ लपके.

"हज़रात ! कलमा पढ़ते हुए आहिस्ता-आहिस्ता क़ब्रिस्तान की तरफ़ चलिए. अव्वल मंज़िल में देर नहीं करनी चाहिए. यही हुकूम आया है."

वह सिरहाने लगे ! मैं पायंती लगा. रास्ते भर 'उँह, उँह' की आवाज़ें कानों में आती रहीं. बहुत चाहा लेकिन अनुमान नहीं हो सका कि आवाज़ें कहाँ से आ रही हैं. मेरा दिमाग़ पुरानी यादों को खंगालता रहा...दूध का ख़ाली बर्तन, खाली सन्दूक़ में बिछे पीले पुराने अख़बार और बंडी की ख़ाली लटकी हुई जेबें. मैंने चाचा को, ख़ुद को और इमाम साहब को लाभदायक और ज्ञान से ओतप्रोत और सहानुभूति

भरी बातें करते सुना. दूर और समीप के भूतकाल की आवाज़ों की तकरार, कलमे और दरूद (हज़रत मोहम्मद और अल्लाह के लिए पढ़ी जाने वाली विशेष आयत) को मिश्रित करता, आपस में उलझाता, निकालता, सुलझाता, सुनता और लीन करता हुआ मैं आगे ही आगे बढ़ता रहा. गर्मियों की शामें शफ़्फ़ाक होती हैं लेकिन उस दिन के सोग ने उन्हें धुँधला कर दिया था कि हमारे कन्धों पर एक शव था और उस शव के बच्चे हमारे दायें-बायें कलमा दरूद पढ़ते ही धीमे-धीमे चल रहे थे. गेहूँ के ताज़ा कटे खेतों में डंठलों से पैरों को बचाते हुए जब हमने क़ब्रिस्तान में प्रवेश किया तो मैंने अयूब के कन्धे पर प्यार से हाथ रखा. उसने मेरी तरफ़ हैरान सहमी-सहमी निगाहों से देखा. मुझे 'उँह, उँह' की आवाज़ें फिर सुनायी दीं. इस बार मैं जान गया. ये आवाज़ें इमाम साहब के होंठों से निकल रही थीं, जो व्याकुलता और निराशा के साथ शव उठाये अपने क़दमों को खेंचते क़ब्रिस्तान में दाखिल हो रहे थे. इशा (रात की नमाज़) के बाद जब रात शुरू हो चुकी थी, तब मैं घर से निकला और शबराती के घर वालों से नज़रें बचाकर इमाम साहब को एक नयी जानमाज़ दे आया.

तार का विषय संक्षिप्त था :

"अयूब अस्पताल में दम तोड़ रहा है. आपकी ज़रूरत है. फ़ौरन आ जाइए." नीचे उसके बड़े भाई का नाम लिखा था. मैं उसी वक़्त चल पड़ा. घर पर अब्बा ने बताया कि वह ट्रक ड्राइवर बन गया था. बरसात का मौसम, तंग सड़कें, मूसलाधार बारिश, सामने से आते ट्रक की तेज़ हेड लाइट और ड्राइवर की शराबनोशी. नतीजा यह हुआ कि अयूब का ट्रक बुरी तरह दुर्घटना का शिकार हो गया. दुर्घटनास्थल की जगह से लेकर वतन के अस्पताल तक सेरों खून बह गया. बीच में कोई चिकित्सा सम्बन्धी सहूलियत नहीं मिली.

मैंने जल्दी-जल्दी जेब में बहुत से रुपये रखे और अस्पताल पहुँचा. आधी रात का वक़्त था. अस्पताल आबादी से हटकर एक बग़ीचे के किनारे बना हुआ था. अस्पताल में अयूब के भाइयों और सरकारी डॉक्टर के अलावा मेरा बचपन का साथी डॉ. निहालुद्दीन भी था. मुझे बेचैन देखकर वह इधर-उधर की बातें बनाने लगा.

"निवाड़ के पलंग का रिवाज शुरू हुआ तो उन लोगों ने निवाड़ का काम शुरू कर दिया. फिर धीरे-धीरे शहरों की देखा-देखी सस्ते डबल बेड का फैशन शुरू हुआ. तब ये लोग बिलकुल बेरोज़गार हो गये. अयूब ने मदरसे में बड़ी कठिनाई से चार जमातें पास कीं. जब वह सोलह बरस का हो गया तो उसने मुझसे उम्र का झूठा सर्टीफिकेट बनवाकर ट्रक का लाइसेन्स निकलवाया. तीन-चार साल तक इसी काम में लगा रहा. ट्रक वालों की ज़िन्दगी का तुम्हें मालूम है, वक़्त पर खाना, न वक़्त पर सोना, मानसिक उत्पीड़न और दिन-रात की यातना एक तरफ़. परिणाम यह हुआ कि कमज़ोर हो गया. तेज़ बारिश में सामने वाले शराबी ट्रक ड्राइवर ने डिपर नहीं दिया. उसने बचाने की बहुत कोशिश की लेकिन कमज़ोर हाथों से भारी ट्रक का स्टियरिंग कितना घूम पाता. सड़क के किनारे शीशम के एक पेड़ से ट्रक बुरी तरह टकराया. सीने की कोई पसली ऐसी नहीं, जो फ्रेक्चर न हुई हो. अन्दर ही अन्दर बहुत खून बहा है, जो कभी-कभी मतली के साथ बाहर आ जाता है और सबसे बढ़कर यह कि उसका दिल बहुत बीमार है", डॉक्टर निहाल बताते-बताते थक गया.

"बीमार है, क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि दिल का निचला हिस्सा खून पम्प करने की चौथाई सलाहियत पर काम कर रहा है."

"यह बीमारी तो अमीर लोगों को होती है ?" मैंने आश्चर्य से पूछा.

"अगर बचपन और लड़कपन में ढंग का आहार न मिले तो दिल की मछलियाँ और वह पट्ठे आहिस्ता-आहिस्ता दुर्बल हो जाते हैं, जो साफ़ खून को बदन में फैलाते हैं. परिणाम उसका यह होता है कि दवाएँ भी बदन के हर हिस्से में इतनी शीघ्रता से नहीं पहुँच पातीं, जैसा डॉक्टर चाहते हैं. दूसरी बात यह है कि इस बीमारी में फेफड़ों का प्रभावित होना आवश्यक हो जाता है. दिल और फेफड़े अगर एक साथ दुर्बल हो जायें तो फिर मामला..."

यह कहकर वह रुक गया और मेरे चेहरे की तरफ़ देखने लगा. बेबसी और एक विचित्र प्रकार के क्रोध के एहसास से मेरे दिमाग़ की सारी रगें तन गयीं. और मुझे बहुत स्पष्ट आभास हुआ कि मेरी आँखों के दीदे फूलकर हलक़ों के समीप आ गये हैं और पूरे बदन में एक खिंचाव की दशा पैदा हो गयी है. इस दशा में देखकर निहाल ने एक डॉक्टर की हैसियत से मुझे ठंडा पानी पिलाया, जो मैं दो घूँट से ज़्यादा नहीं पी सका.

"मैं उसे देखना चाहता हूँ."

"चलो", निहाल मेरा हाथ पकड़कर इस क़स्बाई अस्पताल के पहले वार्ड में दाख़िल हुआ, जहाँ एक लालटेन जल रही थी, जिसकी लौ हवा के झोंको से बार-बार भड़क जाती. जब मेरी आँखें अर्ध प्रकाशमय वार्ड में कुछ परिचित हुईं तो मैंने देखा वह लोहे के पलंग पर चित लेटा है. उसका पूरा शरीर पट्टियों से जकड़ा हुआ था, जिन पर जगह-जगह खून छलक आया था. एक टांग छत के हुक के सहारे लम्बी-सी रस्सी बँधी हुई थी. उसका चेहरा साफ़ था, सिर्फ़ माथे पर दो फाहे लगे हुए थे. वह दुबला और साँवला हो गया था और गालों पर हड्डियाँ उभर आयी थीं. वह क्योंकि पहले से ही अँधेरे में था, इसलिए मुझे जल्दी पहचान गया. मैं उसके क़रीब बढ़ा. उसने मुझे ध्यानपूर्वक देखा और धीमे से तकलीफ़ के साथ मुस्कुराया.

"तुम मुस्कुराओ मत, अयूब", उसकी तकलीफ़ के ख़याल से आकस्मिक मेरे मुँह से निकला.

उसने आश्चर्य से मुझे देखा और अपने खिंचे हुए होंठ शीघ्रता से भींच लिये. अस्पताल के बराबर किसी बाग़ में कोयल बोली और बोलती चली गयी. वह कुछ कहना चाह रहा था मगर बोल नहीं पा रहा था. अचानक मुझे ख़याल आया कि मैंने आज तक उसकी आवाज़ नहीं सुनी है. मैंने अपना चेहरा उसके क़रीब कर दिया. लालटेन की लाल रौशनी में हर चीज़ की परछाईं बड़ी भयावह लग रही थी. मैंने ध्यान से उसका हाथ देखा, वह फिर कुछ बोलना चाहता था मगर शायद साँस की तकलीफ़ के कारण बोल नहीं पा रहा था. न बोल पाने की लज्जा उसके चेहरे पर एक दुखदायी मुस्कुराहट के रूप में जम गयी. मैंने ज़ख़्म बचाकर उसके सिर पर आहिस्ता-आहिस्ता हाथ फेरा. उँगलियों के स्पर्श में छुपी सहानुभूति के आभास से उसकी आँखें बन्द होने लगीं. फिर उसने आहिस्ता से अपनी सहमी हुई ख़ाली-ख़ाली आँखें खोलीं. उसकी ख़ाली-ख़ाली आँखें देखकर मैंने सोचा कि मैं पढ़-लिखकर अब बड़ा आदमी बन चुका हूँ. मैंने दुनिया देखी है. मैं अतीत की विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं को वर्तमान

की विभिन्न वस्तुओं और समस्याओं से जोड़कर अर्थयुक्त विधाएँ बना सकता हूँ. मैंने साहित्य, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र और सभ्यता पर बेशुमार पुस्तकें पढ़ रखी हैं. अयूब से सम्बन्धित अतीत की सम्पूर्ण समस्याएँ एक नज़र में सामने आ गयीं. दूध का खाली बर्तन, कपड़ों का ख़ाली सन्दूक और बंडी की ख़ाली जेबें मुझसे कानाफूसी के अन्दाज़ में कह रही थीं कि सारे लाभदायक दर्शन से भरी और सहानुभूति से भरी बातें सर आँखों पर लेकिन वह सब हमारे बस की बात नहीं हैं. वह सब हमारे बस की बात नहीं हैं. वह सब...

उसकी आँखें फिर आहिस्ता-आहिस्ता बन्द होने लगीं. डॉक्टर निहाल ने तेज़ी से बढ़कर उसकी नब्ज़ सँभाली. फिर उससे भी ज़्यादा तेज़ी के साथ सीने पर जकड़ी हुई पट्टियों में जगह बनाकर दिल की धड़कन सुनी. डॉक्टर निहाल का चेहरा धुआँ-धुआँ हो रहा था. मैंने बेचैनी से निहाल की तरफ़ देखा. उसने मेरा बाज़ू पकड़ा और वार्ड के कोने में ले जाकर बोला, "दिल की गति तीस हो गयी है, जो आम हालात में सत्तर और अस्सी के दरम्यान होती है. दिल के हिस्सों की आवाज़ें भी बेढंगी होने लगी हैं. इसका वक़्त पास आ गया है. इस वक़्त की दुआ पढ़ दो..."

मैं उसके पलंग के पास कुर्सी खींचकर बैठ गया और यासीन शरीफ़ (क़ुरआने पाक का एक अति महत्त्वपूर्ण अध्याय) आहिस्ता-आहिस्ता पढ़ने लगा. सरकारी डॉक्टर अन्दर दाख़िल हुआ. निहाल से बोला, "ऑक्सीजन का सिलेन्डर मिल जायेगा मगर ज़मानत के तौर पर पाँच सौ रुपये जमा करने होंगे." अयूब की आँखें खुलीं. उसने अपने चेहरे से बड़ी मुश्किल से दीवार पर टँगे खून से सने कपड़े की तरफ़ इशारा किया. मैं कुछ समझ गया. मैंने अपनी जेब में जाता अपना हाथ रोका और उसके कपड़े की जेब से सारी रक़म निकाली. यह सात सौ से ज़्यादा थे. मैंने जान बूझकर बुलन्द आवाज़ में कहा, "सिलेन्डर की ज़मानत में पाँच सौ रुपये जायेंगे, जबकि अयूब के पास सात सौ रुपये से ज़्यादा हैं."

मेरे इन शब्दों से उसके चेहरे पर चोटों की तकलीफ़ के बावजूद इत्मीनान की लहर दौड़ गयी. मैंने नक़दी डॉक्टर के हवाले की और यासीन शरीफ़ जहाँ से छोड़ी थी वहीं से शुरू कर दी. उसकी आँखें फिर आहिस्ता-आहिस्ता बन्द होने लगीं. अधखुली आँखों में अब केवल सफ़ेदी नज़र आ रही थी.

"है तो तकलीफ़देह बात लेकिन यह काम तुम ही कर सकते हो. अयूब से कहो, कलमा पढ़े," डॉक्टर निहाल ने गले से उतारकर आला मेज़ पर रख दिया. बाहर हल्की-हल्की बूँदा-बाँदी शुरू हो चुकी है. मैं उसके क़रीब गया, उसके माथे पर देर तक बोसा दिया. होंठों की हरारत से उसकी आँखें खुलीं. मैंने दिल पर जब्र करके टूटे-फूटे शब्दों में उससे कहा, "मैं सूर-ऐ-मिल्क (क़ुरआन का एक अध्याय) पढ़ रहा हूँ. इससे कब्र का उत्पीड़न नहीं होता."

वह आँखें खोले टुकुर-टुकुर मेरी तरफ़ देखता रहा. मैंने सूर-ऐ-मिल्क पढ़ना शुरू किया.

"वह प्रत्येक चीज़ पर नियंत्रण रखता है. वह जिसने मौत और ज़िन्दगी की रचना की कि तुम्हारी परीक्षा हो. तुममें से किसका कार्य अति उत्तम है."

"निःसंकोच वह जो बेदेखे अपने ईश्वर से डरते हैं उनके लिए मोक्ष और बड़ा पुण्य है और तुम अपनी बात आहिस्ता से कहो, वह दिलों को जानता है."

"वही है, जिसने तुम्हें पैदा किया और तुम्हारे कान और आँख और दिल बनाये मगर तुम कितने नाशुक्रे हो." वह लगातार आश्चर्य-चकित नज़रों से मुझे देख रहा था. फिर वह धीमे से मुस्कुराया और हाथ से अपनी टांग की तरफ़ इशारा किया कि उसे रस्सी के शिकंज़े से आज़ाद कर दिया जाय. मैंने डॉक्टर निहाल की तरफ़ देखा. उसने आँखों ही आँखों में इजाज़त दे दी. मैंने आहिस्तगी से उसकी टांग निकालकर पलंग पर रख दी. एक तेज़ सिसकारी उसके होंठों से निकली. उसने मज़बूती के साथ ज़ब्त किया और सिसकारी रोकी और फिर चुपके से मुस्कुराया. मैं आहिस्ता-आहिस्ता उससे मुखातिब हुआ, "अयूब ! तुम जानते हो, जो दुनिया में आता है, उसे जाना होता है. मुझे भी मरना होगा और तुम्हें भी. तुम्हें मालूम है कि ख़ुदा ने अपने अच्छे बन्दों के लिए जन्नत बनायी है. जन्नत में जगह-जगह बगीचे हैं. लाल और पोखराज के महल हैं. वहाँ नहरें हैं, जिनमें दूध और शहद बहता है"—मैंने आख़िरी बार यासीन शरीफ़ का पाठ किया.

"और हमने उसमें बाग़ बनाये खजूरों और अँगूरों के. और हमने उसमें कुछ झरने बहाये कि उसके फलों में से खायें. उनके लिए उसमें मेवा है और उनके लिए, उसमें जो माँगें."

उसकी साँसें बिगड़ चुकी थीं और साँसें बहुत अनियंत्रित ढंग से आ रही थीं. यह रात का तीसरा पहर था और मुझे बताया गया था कि रात का तीसरा पहर दुआओं की मंजूरी के लिए बहुत शुभ होता है. "अयूब..." मैंने ऊँचे स्वर में उस पर झुकते हुए कहा, "अयूब ! तुम हाथ उठाओ दुआ के अन्दाज़ में अपने लिए मग़फ़िरत की दुआ करो. तुम देखना तुम्हारी रूह बदन से निकलते ही जन्नत में पहुँच जायेगी, जहाँ दूध और शहद..."

उसने कूल्हों के पास, हथेलियों के बल पड़े अपने कमज़ोर हाथ उठाये और बजाय इसके कि हथेलियाँ अपने चेहरे की तरफ़ मोड़कर दुआ करता, हथेलियाँ मेरे आगे कर दीं. ख़ाली सूखी और लाल हथेलियाँ मेरे चेहरे के समाने काँपने लगीं. इन आख़िरी क्षणों में उसे सहारा देने के लिए मैंने जन्नत के भोग विलास की चर्चा फिर शुरू की ही थी कि उसने बड़ी दिक़्क़त से आँखें खोलीं और बहुत साफ़ अन्दाज़ में केवल एक लफ़्ज कहा, "उँह" उसकी ख़ाली हथेलियाँ आहिस्ता से उसके बदन के पास गिरीं और आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गयीं.

सैयद मोहम्मद अशरफ़

जन्म : 8 जुलाई 1957, सीतापुर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा : एम. ए. (अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी)

सम्प्रति : इंडियन रिवेन्यू सर्विस के अधीन मुम्बई में डिप्टी कमिशनर ऑफ इनकमटेक्स के पद पर कार्यरत

कृतियाँ : 'डार से बिछड़े' (कहानी संग्रह), 'नम्बरदार का नीला' (उपन्यास)

1995 में 'कथा' एवार्ड से सम्मानित किया गया.

सम्पर्क : बड़ी सरकार ख़ानकाहे बरकाती, मारहराशरीफ़, जिला-एटा, उत्तर प्रदेश

◆ कहानी ◆

कान्हा देवी का घराना

•

हसन मंज़र

मेमनपाड़े में एक घर कान्हा देवी का भी है. उनके आसपास के घरों में भी हिन्दू रहते हैं. ऐसा लगता है जैसे मुसलमानों के घरों का एक समन्दर है और इसमें सड़कों, गलियों की काट-छाँट से पैदा होने वाली लकीरों के बीच में एक टापू है, जिस पर ये लोग रह रहे हैं. इनमें से ज़्यादातर लोग हमेशा ही से यहीं रहते आये हैं. कभी-कभी भारत से आने वाला उनका माईट दूर से आने वाली समन्दर की लहर की तरह उस टापू को भिगोकर वापस लौट जाता है और ज़िन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर कान्हा देवी के घर में भी चलती रहती है और घर के बाहर भी. इस तंग अन्धकारमय बाज़ार में लकड़ी की नक़्शो-निगार वाली चीज़ें बनती और बिकती हैं. पीतल की चीज़ें ढाली जाती हैं. और सिन्धी देहाती खड्डी के कपड़ों से बाज़ार पटा पड़ा है. इन गलियों में लोग जब कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हैं तो कोई नहीं कह सकता है कि उनमें कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान. यूँ भी सब एक दूसरे को सलाम करने के आदी हैं और यहाँ अपने से बड़ों के पैर छूने की रस्म से ये पहचानना नामुमकिन है कि पैर छूने वाला हिन्दू है या उसके सर पर हाथ रखने वाला. यूँ भी हो सकता है कि दोनों हिन्दू हों या दोनों मुसलमान ! यूँ अलबत्ता कुछ चीज़ें ऐसी भी हैं जो इन दुकानों में नज़र नहीं आती हैं, जैसे : पूजा की मूर्तियाँ, भगवतगीता और घर में लगाने की आर्ट पेपर पर छपी हुई बड़ी-बड़ी रंगीन तस्वीरें, जो कान्हा देवी के बैठने के कमरे की दीवारों पर भारी सुनहरी लकड़ी के फ्रेमों में लटकी हैं और उसके पीछे छुपे हुए छोटे से पूजा के कमरे को भी वैसे ही छोटी तस्वीरों से सजाया गया है. इस छोटे से कमरे में एक ताक़ में पीतल की शिव की मूर्ति रखी हुई है और एक पीतल का चिराग़ भी है. इन दोनों कमरों में जाकर ऐसा लगता है कि हम किसी दूसरी दुनिया में आ गये हैं, वो दुनिया जो कभी पहले बसती थी...छुपकर मक्खन खाने वाले कृष्ण गोपाल, सूँड वाले गणेश, शिव पार्वती, दुःशासन का द्रौपदी की साड़ी खींचना और एक अनदेखे नीले हाथ का उसे इस तरह छूट देते जाना जिस तरह कोई पतंग लड़ाते समय माँझे और डोर की ढील देता जाय, देता जाय, इतनी कि खींचकर काट देने वाला झल्लाकर बैठ जाय. और यही द्रौपदी के साथ हुआ था.

औरत जब तक स्वयं को कटी पतंग बनाने पर उतारू न हो जाये उसकी साड़ी के पाट चाहे कितने ही खुलते जायें वो उनकी परतों के अन्दर छुपी रहती है, यहाँ तक कि दुःशासन जैसे लोभी के हाथ भी थकान से मात खा जाते हैं.

ये सब बताते हुए कान्हा देवी स्वयं सतीत्व की मूर्ति बन जाती हैं. इस चित्र में रामचन्द्र जी की खड़ाऊँ भरत उतार रहे हैं कि ले जाकर उनकी ग़ैरहाज़री में सिंहासन पर रख दें और स्वयं बजाय सिंहासन पर बैठने के उसके आसपास कहीं खड़े होकर प्रोक्सी से राज करें. आजकल तो ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता. प्रोक्सी देने वाला भला ख़ुद कब राजगद्दी से महरूम होने को तैयार होगा और दूसरा गद्दी छोड़कर क्यों वन की राह लेने लगा ? और वो भी अपनी खड़ाऊँ तक अपने भाई के हवाले करके !

कान्हा देवी की बहन सोमर यानी सोमवार के दिन शिव का व्रत रखती है और इनका देवर जो साल के कुछ ही महीनों में ठीक रहता है और कुछ महीनों में उस पर चीखने-चिल्लाने के दौरे पड़ते हैं, सुबह-सवेरे उठकर पक्षियों को दाना डालता है. इससे इनकी छत की मुंडेर पर चिड़ियाँ उतर आती हैं और परसूमल, सिन्धी में भागवत पढ़ता है जो आठ-दस साल पहले उसे किसी ने भारत से लाकर दी थी.

इसका ये मतलब होता है कि वो आजकल ठीक है और पूरा घराना सुख की साँस ले रहा है. वरना जब इस पर तेज़ी का दौरा पड़ता है तो वह वांड्यों यानी ख़ुद अपनी जाति वालों को गालियाँ देनी शुरू कर देता है. ऐसा लगता है कि भागवत पढ़ना उसकी सेहतमन्दी की निशानी है. और उस पर उसका ईश्वरीय ज्ञान बाद के तेज़ दौरे में होता है. वो अपने बाप और बड़े भाइयों को वाणिये कहकर पुकारता है जो सूद पर रुपये चलाते हैं. गोश्त खाते हैं. शराब उड़ाते हैं. चरस के दम लगाते हैं यानी कि हर वो काम करते हैं जिसे भागवत में नीचता से सम्बोधित किया गया है. उस समय चाडूँमल, मिरचूमल, धूमती, सीता, अशोक हालाँकि ख़ुद कान्हा देवी तक खिसियाने होकर रह जाते हैं. नाक की नोक छूकर कानों को हाथ लगाते हैं, "बाप रे बाप, ईश्वर ने इतना ज्ञान दिया है, पर ये नहीं किया कि इसकी बुद्धि को थोड़ी लगाम भी लगा देता !"

"इतनी अक़्ल परसूमल को देकर अल्लाह ने हम सब की ज़िन्दगी मुश्किल में डाल दी है." भला कोई कहेगा ये कान्हा देवी के शब्द हैं ?

इसके बाद कई बार दयमंती ने अकेले में घर के छोटों और अपने पति को बात-बात पर इंशाअल्लाह कहने पर टोका. उसने अपनी प्याली अलग कर ली और अगर कान्हा देवी के साथ उसे जबरदस्ती वाड़े की किसी मुसलमान औरत के घर जाना पड़ता था और वहाँ बराबर के होटल से चाय मँगायी जाती थी तो वह किसी न किसी बहाने उसे बे पिये उठ जाती थी.

ये लोग बातचीत करने में जिस तरह सलाम करने के आदी हैं उसी तरह अल्लाह और इन्शाल्लाह भी इनकी ज़बान से दिन-रात निकलता रहता है. और इस पर इन्हें कोई नहीं टोकता. किसी की आस्था के भिन्न होने से उसका बनाने वाला तो अलग नहीं हो जाता !

ऐसे समय में अक़सर इनके मुसलमान पड़ोसी परसूमल को समझा-बुझा कर अपने घर ले जाते हैं. कोई उसे ताबीज़ लाकर पहनाता हैं, कोई पाँव के अँगूठे और कलाइयों पर स्याह धागा बाँधता है और कोई औरत किसी मज़ार का पढ़ा हुआ पानी इसे हज़ार मिन्नतों से पिलाती है और परसूमल जो खाने-पीने के मामले में पूरा वैष्णव है इसके गिलास का पानी आख़िर पी ही लेता है. ये नहीं कहता, 'नहीं मैं तुम्हारे गिलास में नही पिऊँगा. तुम लोग गोश्त खाते हो'. इस दीवानगी के आलम में वह, वह कह गुज़रता है जो इनसान में वाक़ई बुरा है, वो नहीं जिसे उन्होंने एक दूसरे पर विशिष्टता दिखाने के लिए बनाया है. इन लोगों के भारत से आने वाले रिश्तेदार इन तीस-बत्तीस सालों में वहीं के वहीं हैं जहाँ इन्हें सदियों पहले मनु ने छोड़ा था. ज़ात-पाँत के बन्धनों में गिरफ़्तार.

इनमें से अक़सर बच्चे अब हिन्दी लिखते और पढ़ते हैं. और जब वो कान्हा देवी के सहन में आसपास के मुसलमान बच्चों के संग खेल में लग जाते हैं तो कान्हा देवी तो नहीं, भारत से आने वाली धर्म पर अटल बूढ़ी औरतें ताज्जुब से इस सीन को देखती हैं. जैसे कि इन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं आ रहा हो. कान्हा देवी के पाड़े के बच्चे तो बच्चे बड़े-बूढ़े तक ऐसा लगता है इस चौथाई सदी में, छूत-छात, ज़ात-पाँत और ऊँची-नीच की दीवारें फलाँग चुके हैं और ऐसे खुले मैदान में आ गये हैं जहाँ ब्राह्मण श्रीराम का लड़का धूमीमल वाणिये की लड़की से शादी करने वाला है और कोई इस बात का नोटिस तक नहीं ले रहा है.

यही नहीं, यहाँ के शूद्र जाति के लोग रामलीला रचाते हैं जिसमें ओखा का लड़का पिछले छह-सात साल से राजा रामचन्द्र बनता आ रहा है. और कालेज में वह, ब्राह्मण और मुसलमान लड़के अक़सर एक ही गिलास से पानी पीते हैं, जिस तरह कान्हा देवी के सहन में खेलने वाले बच्चे. और बावजूद हिन्दू मज़हब में अपनी श्रद्धा के कान्हा देवी को ये बात नहीं खटकती है कि वो मुसलमान बच्चों के लिए अलग गिलास रखें और भारत से आने वाले दृढ़ विश्वासी हिन्दू मेहमानों के खाने-पीने के बरतन जुदा.

हालाँकि जब कान्हा देवी अपने लड़के के लिए भारत से दुल्हन ब्याह कर लायी तो इनके घर में अजीब तरह का खिंचाव पैदा हो गया, जिससे वह ख़ुद काफ़ी समय तक अनजान रहीं. उनकी ज़िन्दगी पापड़ बेलते हुए गुज़री थी जो घर भर को रोज़ाना चाहिए होते थे. ये पापड़ मुहल्ले में भी बँटते थे और आने-जाने वालों की ख़ातिरदारी के काम भी आते थे. इसी तरह वह साल भर अचार डालती रहती थीं. त्योहारों पर मीठी टिकिया और हलवा बनाती थीं. दो तरह का खाना बनाना उनकी ज़िम्मेदारी थी, एक वो जिसमें अंडा, मछली, गोश्त सब ही शामिल होते थे और दूसरा वह जिसके बनाने में चमचा तक इस्तेमाल नहीं किया जाता था जिससे गोश्त का शोरबा चलाया गया हो. सब ही काम ऐसा लगता था हमेशा से इनके ज़िम्मे रहे हैं, क्या बाप के घर और क्या पति के !
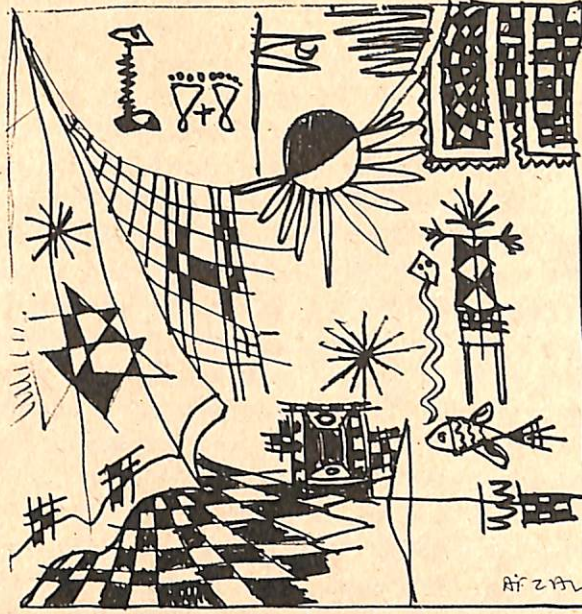
परसू की बीवी उनकी छोटी बहन थी और पति के साथ-साथ आधी पागल हो चुकी थी. उसको सिर्फ़ एक ही काम आता था. शिव की अगरबत्ती जलाना, शिव का व्रत रखना लेकिन बच्चा उसके नसीब में नहीं था. इस कोलाहल में जहाँ घर के दूसरे सदस्य सावन भर जुआ खेलते थे और इस आस में जीते थे कि कब होली, दीवाली आये और नशा करने को मिले कान्हा देवी ही जानती थीं कि किस जिगरे से उन्होंने घर को चलाया था !

बहू के आने-आने तक वह अपनी थकन को मान चुकी थीं और पहले से तय किये बैठी थीं कि बहू आये और मैं घर का चार्ज देकर दिन भर झूले में बैठकर अपने पड़ोस की औरतों से कचहरी किया करूँ, पान खाँऊ, सिगरेट पिऊँ और वक़्त पर पका-पकाया खाना मेरे सामने बहू ले आया करे.

लेकिन दमयन्ती ने चार्ज लेते वक़्त ये नहीं कहा कि ठीक है काम मैं करूँगी लेकिन बताना आपको पड़ेगा कि कितने पापड़ बनेंगे, किस मौक़े पर कितना ख़र्च करना पड़ेगा और किस दिन क्या पकाया जायेगा. कान्हा देवी को बाद में अन्दाज़ा हुआ. दो-तीन महीने बैठी-बैठी दमयन्ती अन्दर ही अन्दर खौलती रही है. इसे आसपास के बच्चों का घर के सहन में दौड़ना, भागना अखरने लगा था हालाँकि अगर कोई उसे समझाता तो असल बात ये थी कि इसे बच्चों से नफ़रत नहीं थी, उनका बावर्चीखाने में बे-रोक-टोक आना-जाना उसे इतने दिनों खटकता रहता था. दमयन्ती को भारत से आने वाले मेहमान बुरे नहीं लगते थे. इनका वह स्वागत करती थीं. चाहे उन्हें इन लोगों की मुहब्बत यहाँ खींचकर न लायी हो क्योंकि इनमें से ज़्यादातर को अपने मुर्शिद के मज़ार पर वह कर्ज़ा चुकाना होता था, जो मन्नत माँगते समय वह ख़ुद पर चढ़ा बैठते थे. जैसे ख़ुद कान्हा देवी अजमेर में हाज़िरी देने जा चुकी थीं.

भारत से आने वाले मेहमान धान की सौग़ातें लाते थे. रंग-बिरंगी बिन्दियाँ, साड़ियाँ, जिनकी वो ख़ुद आदी थीं और जिनका ज्ञान उसके ससुराल की लड़कियों को न था. फिल्मी रिसाले और वहाँ की कहानियाँ.

यहाँ तक तो बात समझ में आती थी लेकिन इस घराने की पुरानी मिलने वालियाँ उसे खलने लगी हैं. ये बात कान्हा देवी के ज्ञान में नहीं थी. मुसलमान औरतें और मर्द और ज़ात-पाँत की अहमियत से अनभिज्ञ हिन्दू मेहमान जिन प्यालियों में चाय पीते थे उनमें चाय

जिसे देखो बिनबुलाये का मेहमान था.

कान्हा देवी मुसलमानों के घर न सिर्फ़ यह कि ख़ुद जाती थीं बल्कि उसे भी साथ ले जाने पर उतारू रहती थीं.

ऐसा लगता था कि इन लोगों में धर्म यानी उसे जिस हद तक वह जानती थी, दम तोड़ चुका था, और दीवारों पर लगी हुई सरस्वती, लक्ष्मी, कृष्ण और गोपियों की तस्वीरें सिर्फ़ घर में बरकत और हिफ़ाज़त के लिए लगी हुई थीं. वरना ग़ैर धर्म वालों से नफ़रत का न होना, उसके नज़दीक इस बात का संकेत था कि यहाँ वाले आस्था के मामले में फुसफुसे थे. वैसे भी इन लोगों से उसका ज्ञान कहीं ज़्यादा था. भागवत उसे ज़बानी याद थी. हिन्दू नामों के शब्दार्थ वो जानती थी और इतने सालों में जिस देश को वो पीछे छोड़कर आयी थी वहाँ पर होने वाले अनेक साम्प्रदायिक दंगों, लड़ाइयों और हरिजनों से ऊँची जात वालों से आये दिन के टकराव ने उसमें धर्म का वह एहसास जगा दिया था जो नफ़रत पर पलता है. यहाँ वालों में से कितने ऐसे थे जो भारत गये थे और यात्राएँ करके लौटे थे !

एक रात उसने किशन चन्द से कहा, "क्या हम हमेशा यहीं रहेंगे ?"

"हमेशा क्या मतलब ?" किशन ने चौंककर पूछा. उसे नींद आ चली थी और दमयन्ती का ये सवाल उसके दिमाग़ पर बम के धमाके से फटा.

"तुम्हें यहाँ रहना पसन्द है ?"

"तुम्हें नहीं पसन्द ?" किशन ने पूछा दमयन्ती ख़ामोश रही, "क्यों मैं पसन्द नहीं हूँ ? किसे छोड़ आयी हो वहाँ ?" उसने ख़तरे को हँसी में उड़ाते हुए कहा.

"तुम्हारी बात नहीं हो रही है. मैं तो यहाँ का कह रही थी."

"यहाँ तो यहाँ है ही," किशन ने कहा, "मैं ख़ुद यहीं का हूँ. मुझे ये जगह पसन्द नहीं होगी तो किसे होगी और मैं इस जगह को पसन्द नहीं करूँगा तो फिर किसे पसन्द करूँगा."

दमयन्ती घुटनों में सर दिये बैठी थी. बहुत सोच-समझकर वह बात कह रही थी जिस तरह शादी के बाद हर लड़की पहली बार शौहर से दुनियादारी की बात झिझकते हुए करती है और जिसकी तान प्रायः ससुराल वालों के बारे में उसकी राय पर टूटती है. बोली, "मुझे यहाँ का रहन-सहन कुछ अजीब सा लगता है."

"तुम्हारा कुछ अलग था ?" किशन ने पूछा.

"हाँ !" दमयन्ती ने कहा, "वहाँ हम लोग बराबर वालों से मिलते थे हर ऐरा ग़ैरा रसोई में जूते लिये नहीं घुसा आता था और न ही घर में गोश्त पकता था."

किशन ने कहा, "मैं तो जब-जब गया मुझे गोश्त खाने को मिला."

"औरों के घर मिला होगा हमारे यहाँ नहीं ?"

"फिर तुम्हारे घर के मर्द गोश्त कहाँ खाते हैं ?'

"होटलों में," दमयन्ती ने हँसकर कहा.

"अच्छा तो तुम्हारा मतलब है कि मैं और बाक़ी घर के मर्द यहाँ भी होटलों में खाने लगें."

दमयन्ती ने बार-बार बात को आगे बढ़ाना चाहा लेकिन ऐसा लगता था कि किशन और वो, रेडियो की दो भिन्न वेवलेंथ्स पर बात कर रहे थे.

आखिरकार किशन चन्द ने कहा, "मेरा ख़याल है अगर तुम भी यहाँ पैदा हुई होतीं, अम्मी की तरह आज को होतीं ! अपने धर्म पर क़ायम भी और दूसरे धर्म वालों से नफरत करने वाला भी नहीं ! मैं भला ये मुल्क क्यों छोड़ने लगा, दिस इज़ ए लैंड ऑफ़ अपार्चुनिटि."

"वह क्या ?" दमयन्ती ने भोलेपन से पूछा.

"मतलब, ये कि मुझे भारत-वारत नहीं जाना, मैं यहीं ख़ुश हूँ इन्हीं लोगों में पलकर बड़ा हुआ हूँ. इन्हीं को अपना समझता हूँ. ये तुम्हारी बदक़िस्मती थी कि जिस माहौल में थी वहाँ उकसाने वाले भरे पड़े थे. जिनका धन्धा कभी इस धर्म के ख़िलाफ़ उस धर्म वालों को भड़काकर चलता है और कभी एक ज़ात वाले को दूसरे के ख़िलाफ़. सियासतदां ख़ुशक़िस्मत हैं कि इस दौर में भी उन्हें मज़हब के नाम पर जनता को भड़काने वाले मिल जाते हैं."

इसके बाद कई बार दमयन्ती ने अकेले में घर के छोटों और अपने पति को बात-बात पर इंशाअल्लाह कहने पर टोका. उसने अपनी प्याली अलग कर ली और अगर कान्हा देवी के साथ उसे ज़बरदस्ती वाड़े की किसी मुसलमान औरत के घर जाना पड़ता था और वहाँ बराबर के होटल से चाय मँगायी जाती थी तो वह किसी न किसी बहाने उसे वे पिये उठ जाती थी.

कुछ ही दिन बाद कान्हा देवी का पति जो फट्टी (रूई) का आढ़ती था और ब्याज पर रुपया भी चलाता था एक सवेरे समय से पहले ही घर लौट आया. पूछने पर पता चला कि भारत के सनअती (औद्योगिक) शहर में दो धार्मिक समुदायों में टकराव हो गया था.

हमेशा की तरह कान्हा देवी ने बिना दिलचस्पी लिये पूछा, "आख़िर क्या इरादा है ? समान बाँधूँ ?"

बावर्चीख़ाने में दमयन्ती के हाथ रुक गये. उसे नहीं मालूम था कि कान्हा देवी के लहजे में व्यंग्य था. क्योंकि पिछले तीस-बत्तीस बरस से इस घर में इसी तरह होता आया था. चन्दूमल कारोबार तो करता था लेकिन ऐसा लगता था जैसे : कोई पक्षी डाल पर बैठा, उड़ने के लिए पर तोल रहा है. वह रुपया फँसाने का आदी नहीं था. दूसरे वाणियों को चिन्ता छूकर नहीं गयी थी ! किसी की बेकरी थी, किसी का होटल, कोई फ़िल्म बना रहा था, और कोई कन्ट्रेक्टर था. सिर्फ़ चन्दूमल हमेशा से हवाई घोड़े पर सवार था. जब भारत में फ़सादात होते थे और उसकी ख़बर यहाँ पहुँचती थी तो वह झूले में बैठकर घबराहट में अपनी ठुड्डी के नीचे के बाल चुन-चुनकर उखाड़ने लगता था. लोग कहते हैं कि परसूमल वाली बीमारी की रमक़ इसमें भी है.

उस दिन भी यही मालूम था. जब वो बाज़ार गया तो लोग अपने कामों में व्यस्त थे.

सिर्फ़ फ़ोटोग्राफ़र लीला राम ने धीरे से पूछा, "सवेरे बी.बी.सी. सुना था ?"

"नहीं. क्यों ?" चन्दूमल ने घबराकर पूछा, "तुमने सुना था ?"

"बड़े पैमाने पर दंगे हुए हैं."

"कहाँ ?" चन्दूमल ने पूछा हालाँकि जवाब इसे ख़ुद मालूम था.

"भारत में चाचा," लीलाराम ने कहा.

दोनों ने एक दूसरे की आँखों में झाँककर देखना चाहा. थोड़ी ही देर बाद उसके कान में अख़बार वालों की आवाज़ें आने लगीं—हिन्दू, मुस्लिम दंगे में तीन सौ मुसलमान शहीद कर दिये गये. ...मुसलमानों के हुजूम पर पुलिस की फायरिंग.

इन शब्दों के पीछे आक्रोश पैदा करने वालों और आक्रोश पर जीने वालों की आवाज़ें छुपी हुई थीं. अख़बार बेचने वाले ख़ुश थे कि

इन शब्दों के पीछे आक्रोश पैदा करने वालों और आक्रोश पर जीने वालों की आवाज़ें छुपी हुई थीं. अख़बार बेचने वाले ख़ुश थे कि आज काम जल्दी निपट जायेगा. सिर्फ़ चन्दूमल की समझ में नहीं आ रहा था वह क्या करे. इसने एक सिरे से दूसरे सिरे तक बाज़ार का चक्कर लगाया, ये जानने के लिए कि यहाँ के लोगों का क्या मूड था, लेकिन लोग अपनी चिन्ताओं में लगे हुए थे. किसी को पोलियो से ग्रस्त बच्चे को लेकर अस्पताल जाना था, किसी की अदालत में पेशी थी, हालाँकि हिन्दू दुकानदार और दिनों से ज़्यादा अपने काम में व्यस्त दिखाई दे रहे थे जैसे कि लोगों से बचने की कोशिश कर रहे हों.

दीपक टेलर मास्टर सर झुकाये अपने सामने फैले हुए कपड़े पर नीले चाक से लकीर खींच रहा था. इसका लड़का एक ब्लूची नौजवान का नाप ले रहा था.

वह रात दमयन्ती को बड़ी लम्बी महसूस हुई क्योंकि किशन ने दंगे-फ़साद के बारे में कोई ज़िक्र नहीं किया. वह अपने दोस्तों के साथ फ़िल्म देखकर आया था और जल्दी ही पड़कर सो गया था.

इस दो मंज़िला मकान में जिस में दस-पन्द्रह आदमी रह रहे थे वह ख़ुद को तन्हा महसूस कर रही थी. उसे खटका सा था कि अब कुछ होने वाला है. चौकीदार की हर सीटी पर चौंक पड़ती थी.

सुबह के वक़्त जब आसपास से अज़ानों की आवाज़ें हवा में गूँजने लगीं और बाहर अभी अँधेरा ही था, तो उसे एहसास हुआ कि हालात ने उसे ज़मीन की ऐसी गहराई में पटका था जहाँ से फ़रार होने की कोई राह नहीं निकलती थी और उसकी हालत उस जानवर की सी थी जिसे खूँटे से बाँधकर मारा जा रहा हो. उसे अपनी मौजूदा हालत में और उस हालत में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ नज़र आया जब वह अपने देश में थी. यही ख़बर उसने आज यहाँ बैठकर सुनी होती तो शायद उसके कान पर जूँ तक न रेंगती और न ही उसकी नींद उड़ती. बिना माँ-बाप के बच्चे की तरह हर अल्पसंख्यक को सपने में भी डरने की आदत होती है.

तब किशन सोते में कुनमुनाया और बोला, "तुम उठ गयीं. क्या सुबह हो गयी ?" तो दमयन्ती ने कहा, "मैं सोयी भी कब थी ?"

किशन ने लेटे-लेटे अपने पहलू में बैठी हुई सूजे हुए पपोटों वाली दमयन्ती के गले में बाँहें डालकर पूछा, "क्यों क्या हुआ ? किसी ने तुम्हारे गिलास में पानी पी लिया ?"

"वो तो होता ही रहता है. कौन कहाँ तक बचकर रह सकता है."

"तो बचना छोड़ दो और सबमें मिल जाओ." उसने उसके बालों की लट उठाते हुए कहा.

दमयन्ती ने उसकी बाँहों से गर्दन निकाल ली और बोली, "तुम भारत चलो मेरे साथ. यहाँ मुझे कभी सुकून की नींद सोना नसीब नहीं होगा."

"क्यों ? यहाँ क्या मसहरी में काँटे उगते हैं ?"

"तुम्हारा मुल्क नहीं है. इन लोगों का है."

"किन लोगों का ?" किशन ने पूछा.

"इन लोगों का जो हमें चारों तरफ़ से घेरे हुए हैं. जिन्होंने इसे धर्म के नाम पर बनाया है."

किशन कुछ देर तक उसके चेहरे पर लिखी हुई तहरीर को पढ़ता रहा फिर बोला, "अगर एक औरत किसी की बीवी होते हुए किसी दूसरे की माँ बन सकती है तो ज़मीन का एक ही टुकड़ा जो एक ही समुदाय के लिए इसलिए क़ाबिले इज्ज़त हो कि उसे धर्म के नाम पर हासिल किया गया है दूसरे के लिए मातृभूमि होने के लिहाज से क्यों पूजा के लायक़ नहीं हो सकता ? जब तुम किसी की माँ बन जाओगी तो क्या मेरी बीवी नहीं रहोगी ? या ये कि दो दमयन्तियाँ हों तब ही ये सोचा जा सकता है कि एक माँ दूसरी बीवी."

वो हँस पड़ी लेकिन दिल अन्दर से धक-धक करता रहा. अज़ानों की आवाज़ इतने क़रीब से उसने पहले नहीं सुनी थी. सवेरे ही सवेरे जब वो छत पर किसी काम से गयी तो उसने देखा परसू रोज़ की तरह चिड़ियों को दाना डाल रहा है ! ये काम ऐसा था जो वो बीमारी में भी नहीं भूलता था. इस घर का आवे का आवा ही बिगड़ा हुआ था, क्या सास, क्या पति और क्या पति का चाचा परसूमल वरना ऐसे समय में कौन निश्चिंत होकर रह सकता था और चिड़ियों को दाना खिलाने की सोचता.

वह बजाय काम ख़त्म करके लौट जाने के, वहीं खड़े होकर परसूमल को देखती रही जो हाथ जोड़कर सूरज को प्रणाम कर रहा था और मुँह ही मुँह में कुछ पढ़ रहा था.

"कुछ मुझसे पूछना है ?" परसूमल ने कुछ देर बाद मुहब्बत से पूछा.

"हाँ." दमयन्ती ने कहा, "कल हिन्दू-मुसलमान फ़साद हुआ है !"

"कहाँ ?" परसू ने बेदिली से पूछा.

"इंडिया में."

"वो तो होता ही रहता है," परसू ने ऐसे कहा जैसे जुकाम तो होता ही रहता है.

"आप इंडिया जाने की नहीं सोचते ?" दमयन्ती ने कहा.

"नहीं ये बात तुम्हारा शौहर सोचता है—मेरा बड़ा भाई, मैं नहीं."

"आपको डर नहीं लगता कि यहाँ के लोग अगर भड़क गये तो चारों तरफ़ वो ही वो हैं. मुझे तो रात भर नींद नहीं आयी."

परसू ने हाथ से आसमान में एक तरफ़ इशारा करते हुए कहा, "देखो वो क्या है ?"

दमयन्ती ने उधर देखकर कहा, "मस्जिद की मीनार."

परसू ने अपनी छत पर दाना कबूतरों की तरफ़ सरका इशारा करते हुए कहा, "ये कबूतर रात को वहीं सोते हैं और अब मैं कुछ नहीं कहूँगा. इससे ज़्यादा बोलने की मुझे आज्ञा नहीं है."

वो पूछना चाहती थी कि किसकी तरफ़ से आज्ञा नहीं है लेकिन परसू को दोबारा पूजा में मगन देखकर उसे ख़ामोश रहना पड़ा—नीचे जाकर दमयन्ती ने जब कान्हा देवी को ये बात बतायी तो बजाय हँसने के उन्होंने बड़ी श्रद्धा से कहा, "परसू को लाख लोग पागल कहते हों पर उसके जैसा ज्ञानी इस पाड़े में तो क्या पूरे शहर में नहीं मिलेगा." ▣

हसन मंज़र

जन्म : 4 मार्च 1934, मेरठ
पहली कहानी : 'देहक़ान', 'हस्तक़लाल' लाहौर से छपी
कृतियाँ : 'रिहाई', 'नदीदी' (कहानी संग्रह)
सम्पर्क : बी. सी. ब्लाक-ए, पोस्ट न. 10, लतीफ़ाबाद (हैदराबाद-सिन्ध) पाकिस्तान

◆ कहानी ◆

गुम्बद के कबूतर

•

शौकत हयात

बेठिकाना कबूतरों का झुंड आसमान में उड़ान भर रहा था. लगातार उड़ता जा रहा था. ऊपर से नीचे आता, बेताबी और बेचैनी से अपना आशियाना ढूँढ़ता और फिर पुराने गुम्बद को अपनी जगह से ग़ायब देखकर मायूसी के आलम में आसमान की ओर उड़ जाता.

उड़ते-उड़ते उनके बाजू शल (शिथिल) हो गये. जिस्म का सारा लहू आँखों में सिमट आया. बस एक उबाल की देर थी कि चारों तरफ़...

लेकिन पड़ोसियों के बच्चे भी कम बदमाश नहीं. मुर्ग़ियों के दड़वे में आदमी रहने पर मजबूर हो जायें और मुर्गियाँ एक विस्तृत हाल में चहलक़दमी करने का सौभाग्य हासिल कर लें तो कई बातों पर नये सिरे से ग़ौर करना होता है. लेकिन बच्चे तो बच्चे ठहरे. अपार्टमेंट के बच्चे हों या आम क़स्बाई गलियों और झोंपड़ियों के बच्चे. बच्चे भी इतने अजीब होते हैं...इतना शोर मचाते हैं...सारे फ़्लैट को सर पर उठा लेते हैं लेकिन सर पर उठाने के लिए शहर के सबसे बड़े अपार्टमेंट का सबसे छोटा वन बेडरूम यूनिट भी उसका फ़्लैट ही था, जिसमें खेदकूद की सबसे कम गुंजाइश थी. कारपेट एरिया के नाम पर चन्द इनसानों के साँस लेने के लिए जिस्म के हिलने-डुलने भर की जगह दी गयी थी. चारों तरफ से वन्द दड़बों में बस एक छोटी-सी बाल्कनी ही राहत पहुँचाती थी जिसके बड़े हिस्से में ढेरों गमले सजे हुए थे. गमलों में नाना प्रकार के फूलों के पौधे लगे हुए थे. गुलाब, चमेली, करोटन और...जीने की आरज़ू के रूपक.

दिन भर के थके-हारे, हाँफते-काँपते, बग़ैर लिफ्ट के अपार्टमेंट की चौथी मंज़िल पर पहुँचकर वह अपने फ़्लैट की कॉल बेल बजाता, बदहवासी पूरे वजूद पर तारी होती. बच्चे पैरों से लिपटते, कन्धों पर चढ़ने की कोशिश करते.

"तुम लोग अब तक कल्चर्ड नहीं हो सके...दूसरे बच्चों को देखो ...सीखो कुछ उनसे...किस तरह ना होने की तरह होते हैं. यही तो उनकी पहचान है...."

लेकिन छोटी-सी बाल्कनी में आकर बैठ जाओ—गर्म-गर्म चाय की एक प्याली मिल जाय और बच्चे ख़ामोश और मशरूफ हों तो मालूम होता है कि ज़िन्दगी में किसी और चीज़ की ज़रूरत नहीं. जन्नत में इससे ज़्यादा लुत्फ़ आयेगा भला...सारी थकान दूर हो जाती.

अपार्टमेंट के कैम्पस में बड़े से पीपल के पेड़ को बिल्डर ने अपनी जगह रहने दिया था. उसकी एक डाल उसकी बाल्कनी तक फैली हुई थी. सिमेन्ट के उस पहाड़ के साथ पीपल के पेड़ का कोलाज़ नवीन चित्रकला के शाहकार नमूने की तरह दिखाई देता था.

गौरैयों का झुंड चहचहाता हुआ अपार्टमेंट की उस बाल्कनी में मँडराता रहता और ज़िन्दगी की ख़ूबसूरती के गीत गाता. एक नटखट गिलहरी तेज़ी से आती और शरारत भरी आँखों से उसे घूरती हुई पीपल के पेड़ की टहनी के रास्ते पेड़ पर वापस चल देती. हवाओं की नमी में सूरज की सुनहरी किरणों की गर्मी मनपसन्द दिलरुवा और चाँदी जैसे जिस्म की गर्मी से स्वादिष्ट मिलावट का मज़ा देती.

ज़िन्दगी इतनी निर्दयी न बन...

सब कुछ दाँव पर लगा कर तुझे हासिल किया है. या अब भी तुझे पाने की जुस्तजू में हूँ...

वह धीमे-धीमे सुर में गुनगुनाता !

व्हिस्की और बियर को मिला दो तो उसकी तल्ख़ी मस्तिष्क को झनझनाता हुआ मज़ा देती है. सारा वजूद हलका होकर आसमान में उड़ने लगता है. ऊपर से देखने पर ज़मीन पर चलने वाले लोग कितने बौने नज़र आने लगते हैं.

हवाएँ तेज़ चलने लगीं. पीपल के पत्ते हिलने लगे. पीपलियाँ टूटकर गिर रही थीं. गौरैयों की चहचहाहट रोज़मर्रा से अलग श्रवण प्रतिबिम्ब धारण कर रही थी.

बगल वाला पड़ोसी कह रहा था, "इस बार पिछले साल वाला उबाल नहीं. दिन ख़ैरियत से कट जायेगा. मौसम ठीक है. जीने की चाहत क़ायम है...आप भी मज़े से रहिए. नो प्रॉब्लम...."

अपार्टमेंट के तमाम बच्चों को मेरे ही फ़्लैट में जमा होना था. उनकी कोई कॉन्फ्रेन्स है क्या. टू बेडरूम और थ्री बेडरूम के बड़े-बड़े फ़्लैट छोड़कर वन बेडरूम फ़्लैट, उनका जमाव...हर जगह बड़ी मछली छोटी मछली को निगल रही है...लेकिन तमाम छोटी मछलियाँ मिलकर बड़ी मछली का रूप धारण कर लें तो..."

टेलीविजन ऑन था. प्राइवेट चैनेल के प्रोग्राम चल रहे थे. दूधिया स्क्रीन पर इतिहास की अनन्त सदियाँ लमहों की नोक पर अपने-आप आख़िरी हिचकी ले रही थीं.

"कोई तो समझाये इन बच्चों को जाकर. इस कुछ न कहने वाले हालात में क्या आसमान सर पर उठा लेने का इरादा है...मुझे डर है ! मेरे पौधों, छोटी-छोटी कोंपलों, कलियों, फूलों और तुलसी की पत्तियों, मेरे गमलों पर कोई चोट न आये...बड़ी मेहनत से इन्हें सींचा है... अजी सुनती हो...ज़रा देखो...अच्छा छोड़ो...शरीफ़ आदमी को तो मरना ही पड़ता है...कुछ मत कहो...बच्चे तो बच्चे ही हैं...पड़ोसियों के बच्चे...हुमकेंगे भी किस हद तक जायेंगे..." बग़ल वाले फ़्लैट के यंग मैन ऑफ़ सिक्सटी टू सैन दादा के साथ बाहर निकलने से पहले उसने बीवी से बुदबुदाते हुए कहा. फिर उनके साथ चहलक़दमी करते हुए दूर तक निकल गया. दादा बोल रहे थे, "हाँ साहब, घबराने की बात नहीं. सब कुछ नॉर्मल ढंग से हो रहा है. यकायक पैदा होने वाली चीजें ज़्यादा दिनों तक क़ायम नहीं रहतीं. अमन और सीधी की राह अपनाकर ही हम और आप चैन और सुख की ज़िन्दगी गुज़ार सकते

हैं...मैं पिछले साल के मुक़ाबले में बड़ी तब्दीली महसूस कर रहा हूँ. रावी (बयान करने वाला) चैन और राहत की साँसें लिखता है !''

पुराने ज़माने के सैन दादा उसके साथ होते तो उर्दू के भारी-भरकम शब्द कुछ ज़्यादा ही इस्तेमाल करते थे.

सड़क पर गाड़ियाँ रोज़ के मुताबिक़ चल रही थीं. छुट्टी के दिन चहल-पहल की जो कमी आम तौर पर देखी जाती है, वह उस रोज़ भी थी.

पड़ोसी ने सिगरेट का लम्बा कश लिया.

''अरे साहब, क्यों मातमी मूड धारण किये हुए हैं. मैं समझ सकता हूँ. आप अपनी बाल्कनी में बच्चों के इकट्ठा होने से घबराये हुए हैं. अपने पौधों और गमलों की सुरक्षा के लिए बेचैन हैं. कुछ नहीं होगा. आपके सारे गमले ख़ैरियत से रहेंगे. अब दोस्तों से मिलने चल रहे हैं. तो यूँ उदास नज़र आना छोड़िए...एन्ज्वाय कीजिये...देखिए गोल-गोल गुम्बदों की गोलाई और नुकीले उभार...उफ़...सामने के आकर्षक दृश्य से जिस्म में अजब तरंग पैदा हो रही हैं...ज़रा देखिए आप भी...!''

''इस उम्र में दादा आप...''

उसने वाक्य अधूरा छोड़ दिया.

उसका दिल दूसरे गुम्बदों में उलझा हुआ डर जाने वाली अवस्था से गुज़र रहा था. सैन दादा नर्म व गुदाज़ जिस्मानी गुम्बदों में टामकटूइयाँ मारते हुए चटख़ारे भर रहे थे.

''उम्र की क्या बात करते हो...हमेशा ख़ुद को जवान समझो ...यही ज़िन्दगी है...देखना और देखते हुए इन रंगीन तस्वीरों में डूब जाना और बार-बार डूबना उबरना...!'' सैन दादा ने फिर कहा.

''यंग मैन ! तुम जवानी में बूढ़ा हो गया...ज़रा नज़र तो उठा... !'' सैन दादा ने उसके सटाने पर अपनी उँगलियों की पकड़ सख़्त की, आगे तीन क़यामतें फ़ाख़्ताओं की चाल चलती हुई गपशप में व्यस्त थीं.

''सैन दादा आप इन फ़ाख़्ताओं में उलझे हुए हैं. ज़रा ऊपर देखिए. बेठिकाने कबूतरों का झुंड लगातार आसमान में चक्कर काट रहा है. अपने घर को बेदर्दी और ज़ुल्म के साथ तोड़-फोड़ के ग़ायब कर दिये जाने के बाद कैसी बेघरी ओर बेआमानी झेल रहा है. आप इन कबूतरों की आँखें देख रहे हैं...इनमें उतरता ख़ून, बेचारगी और कुछ कर गुज़रने की तड़फती हुई आरज़ू

महसूस कर रहे हैं....''

सैन दादा अपनी धुन में मगन थे. आसमान की तरफ़ नज़र उठाने की ज़रूरत क्या थी. उनके पास तो पूरी ज़मीन थी और ज़मीन पर आसमानी जलवे मौजूद थे. वह उन ज़्यादा उम्रों वाले लोगों में थे जिनकी आँखों से बीवियों के मर जाने के बाद वासना के शरारे (चिनगारियाँ) फूटते रहते हैं.

उसे याद आया कि एक रोज़ जब गार्ड ने ख़बर दी कि अपार्टमेंट के नीचे एक साँप नज़र आया है तो सब पर भय तारी हो गया था. पूरे अपार्टमेंट में रेड एलर्ट कर दिया गया था. लोग रात भर नहीं सो पाये. इधर-उधर से माँगकर डंडे और लाठियाँ जमा कर ली गयीं. खिड़की-दरवाजों पर ताले लटका दिये गये. आँखें पहरे दे रही थीं लेकिन हर पल यह डर था कि रौशनी बुझ गयी या आँखें लग गयीं तो पता नहीं साँप किसको डस ले.

उसे तो बस इस बात की फ़िक्र थी कि उसकी बाल्कनी में आने वाली गिलहरी और गौरैयों का झुंड भयभीत न हो जाये. कहीं साँप उन्हें न डस ले. कहीं ऐसा ना हो कि उसके रंग-बिरंगे फूलों वाले गमलों, गिलहरी और गौरैयों से जो कोलाज़ बनता है उस पर काले बादल मँडराने लगे.

वह चुपचाप एक लोहे की छड़ लेकर अपनी बाल्कनी में जाकर बैठ गया. बाल्कनी में गौरैयों ने छोटा-सा घोंसला बना रखा था. चूँ-चूँ की आवाजें रंगीन रौशन फ़व्वारों की तरफ फूट रही थीं. उसने राहत की गहरी साँस ली. उसके एक हाथ में तीन सेल वाली टार्च थी. उसकी बीवी बक-बक करती रही. उसे बुरा-भला कहती रही. बाल्कनी से हटने की हिदायत देती रही. उसने तरह-तरह से उसे साँप के ज़हर से डराने की कोशिश की लेकिन उसने एक न सुनी. आख़िरकार उसे कहना पड़ा कि अगर बहुत डर लग रहा है तो बाल्कनी का दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर ले. वह गौरैयों की सुरक्षा पर तैनात रहेगा. बहुत देर तक उसकी बीवी-बच्चे मन्नत समाजत करते रहे. उसे मूर्ख और बेवकूफ़ क़रार देते रहे. लेकिन उसने गौरैयों की नन्हीं-सी जानों से लापरवाही के लिए ख़ुद को किसी क़ीमत पर आमादा नहीं किया. किसी फ़्लैट में साँप नहीं मिला. तमाम कोने खुदरे झाड़े गये. बक्स और कबर्ड की छान फटक की गयी. बच्चे तो बच्चे ही ठहरे कुछ देर तक साँप का चक्कर उन्हें दिलचस्प तमाशे की तरह
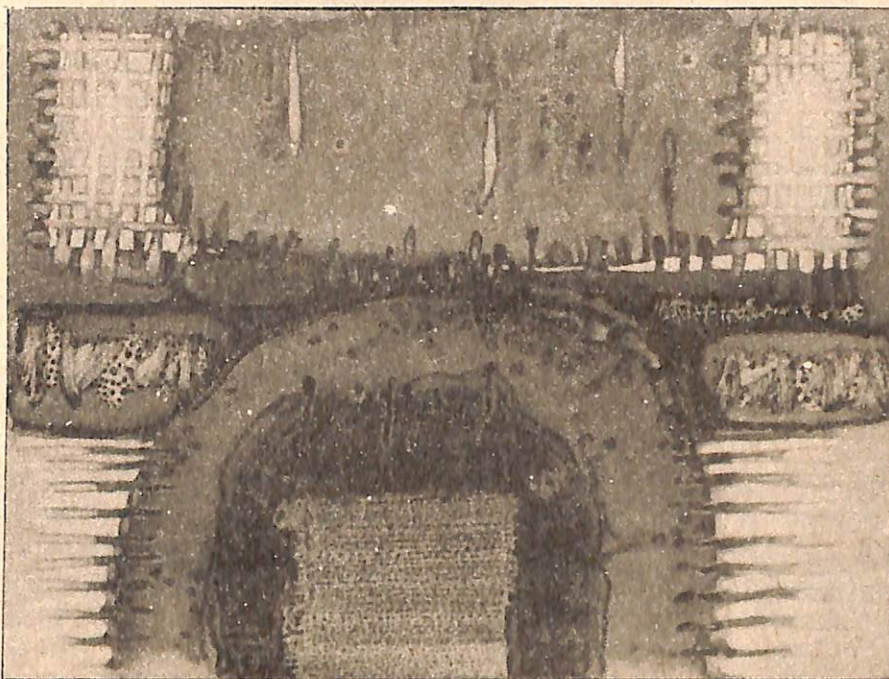
लगा. बड़ों के कामों में वह बड़े चाव से हाथ बटाते रहे. इसके बाद सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह एक अफ़वाह थी जो उन्हें रात भर परेशानियों में डाले रखने के लिए उड़ायी गयी थी. पूछताछ की गयी कि सबसे पहले यह ख़बर किसने उड़ायी थी. आख़िरकार अपार्टमेंट का गार्ड शक के घेरे में आ गया. सब उसी की करतूत है. सुरक्षा की ज़िम्मेदारी में वह घपला कर रहा है.

सुबह की नर्म व नाज़ुक हवाओं के साथ तितलियाँ उड़ती हुई फूलों की तरफ़ आयीं. भौंरे फूलों का चक्कर काटने लगे. घोंसले से गौरैयों के झुंड ने दाना चुगने के लिए उड़ान भरी. सूरज की नर्म कच्ची किरणों ने उसकी बाल्कनी को गले लगाया तो उसे महसूस हुआ कि जीने का औचित्य अभी ख़त्म नहीं हुआ.

"दादा मेरा दिल नहीं लग रहा है...अब वापस चलें...ना मालूम मेरे फूलों की क्या गत हुई होगी. बच्चों के इरादे नेक नहीं मालूम होते... !"

गर्म गोश्त से उठती हुई भाप से सैन दादा के शरीर में सनसनी की लहर दौड़ गयी. मिस्टर थाम्सन पहले ही से पीने में व्यस्त थे. उनका नशा आसमान को छू रहा था. सैन दादा भी मस्त हो रहे थे. उनसे बर्दाश्त न हुआ. उन्होंने काजू की प्लेट लाती हुई मिस रीज़ा की नंगी गर्म पिंडली पर अपनी कँपकँपाती हुई उँगलियाँ रख दीं.

"तुम ख़्वामख़्वाह वहमी हो गये हो. किसी न किसी फ़्लैट में बराबर इकट्ठा होते हैं. इस बार तुम्हारे फ़्लैट की बारी है. आख़िर तुम्हारे बच्चे भी तो उसमें शामिल हैं....घबराने की क्या बात है... !"

"दादा...मेरा दिल न जाने क्यों घबरा रहा है...यह बेठिकाना कबूतरों का उड़ता हुआ झुंड दिमाग़ में अजीब क़िस्म का डर पैदा कर रहा है. इनके रहने की जगह इनसे छिन गयी. गुम्बदों की बुलन्दी धूल चाट रही है. यह कबूतर अब कहाँ जायें दादा ...इन्हें कहाँ आसरा मिलेगा... ?"

"तुम यंग मैन !...पाज़ीटिव होकर सोचो तो हर जगह ठिकाना ही ठिकाना है...गुम्बद, पहाड़ों की जालिम चोटियाँ, पथरीली गुफाएँ और घने जंगल के पेड़ों की डालियाँ...मौसमों के सर्द-गर्म झेलने के लिए तैयार रहो...यार, अपनी खाल थोड़ी खुरदरी बनाओ... !"

हर तरफ़ अन्दर ही अन्दर अलग-अलग तरह की आहटें थीं. कहीं फुलझड़ियाँ छूट रही थीं, कहीं शहनाई पर शोक की धुन बज रही थी. एक मुद्दत के बाद वह अजीबो-ग़रीब पल एक बिन्दु पर जम गया था जहाँ से एक समय खुशियों और ग़म के धारे फूट रहे थे. बज़ाहिर चारों तरफ भय और गहरा सन्नाटा था. जो आने वाले बड़े तूफ़ान का पता दे रहा था.

सैन दादा दोनों जज़्बों से एकदम बेनियाज थे. उन पर वासना हावी थी. जिन दोस्तों के यहाँ जा रहे थे, उनकी औरतों को ललचायी हुई नज़रों से देख रहे थे. कई जगहों से होते हुए वह दोनों मिस्टर थाम्सन के घर पहुँचे. मिस्टर थाम्सन मेहमाननवाज़ इंसान थे. उन्होंने झट नयी बोतल निकाल ली. गिलास सामने रख दिये. उनके घर की नौजवान नौकरानी मिस रीज़ा बड़ी फुर्ती से हर काम में हाथ बटा रही थी.

झटपट उसने फ्रीज में रखे हुए गोश्त के क़तले काटे और उन्हें फ्राई करके उनके आगे रख दिया. गर्म गोश्त से उठती हुई भाप से सैन दादा के शरीर में सनसनी की लहर दौड़ गयी. मिस्टर थाम्सन पहले ही से पीने में व्यस्त थे. उनका नशा आसमान को छू रहा था. सैन दादा भी मस्त हो रहे थे. उनसे बर्दाश्त न हुआ. उन्होंने काजू की प्लेट लाती हुई मिस रीज़ा की नंगी गर्म पिंडली पर अपनी कँपकँपाती हुई उँगलियाँ रख दीं.

उसने बड़े प्यार से सैन दादा के हाथ को अपने हाथ में लेकर श्रद्धा से चूमा और उनका पेग बनाकर गिलास उनके होंठों से लगा दिया. एक लमहे के लिए उनकी मुद्दत की प्यास बुझ गयी. दिल को क़रार आ गया. दूसरे ही लमहे उनकी तड़प और मुखर हो गयी. रगों में ख़ून का दबाव बढ़ गया—उनकी उँगलियाँ एक बार फिर मिस रीज़ा की नंगी पिंडली को छूती हुई उसकी सुडौल जाँघों की तरफ़ रेंगने लगीं. मिस रीज़ा कुछ देर स्तब्ध रही...कोई प्रतिक्रिया उसके चेहरे पर नहीं थी. उसने कोई ऐतराज़ नहीं किया. उनकी उँगलियाँ और आगे बढ़ने लगीं. मिस रीज़ा की आँखों में आँसू डबडबाने लगे. दरअसल मिस रीज़ा दादा को देखकर अतीत की वादियों में खो गयी थी. उसे अपना बचपन याद आने लगा था.

माई लविंग डॉटर रीज़ा...
लाइफ इज़ एन्डलेस स्काइ...
यू हेव टू गो लोंग वे...वेरी लांग.

उसके दयालू बाप की आँखों में कैसे-कैसे सपने थे. वह बाप से लिपट गयी—नन्हे-नन्हे पैरों से उसके कन्धों पर चढ़ गयी—मिस्टर सैन के चेहरे की उसके बाप से समानता ने उसे पलक झपकते ही उनके निकट कर दिया था. उसके बाद उसके बाप ने ताबूत में अपना घर बसा लिया. हवाओं के काँधों पर उड़ती हुई पत्ती की तरह कई जगहों से होकर उसे थाम्सन के यहाँ आसरा मिला था, जो उस इलाक़े में बड़ा इज़्ज़तदार शख़्स माना जाता था. यहाँ उसे बहुत दबाव और ज़बरदस्ती हँसते और ख़ुश दिखते हुए ख़ुद को थाम्सन के हवाले करना पड़ा था.

उसके लिए कोई और रास्ता भी न था. कई दरवाज़े उसने बदले थे. हर दरवाज़े पर ज़बानें लपलपाते, सुर्ख़ आँखों वाले हैवान मौजूद थे, राल टपकाते. फिर मिस्टर थाम्सन क्या बुरे थे. साफ़ सुथरे ख़ुशबूदार इनसान. उनके स्पर्श में कम से कम उसे सौन्दर्य से किसी प्रकार की घिन का एहसास न होता था. सैन दादा मिस रीज़ा की इन एहसासात से बेख़बर अपनी नशीली और आनन्दमयी दुनिया में लीन थे. जज़्बात की बहुलता से उनकी पलकें मुँदने लगी थीं—मिस रीज़ा ना चाहते हुए भी उनके नज़दीक खड़ी थी. नशे की हालत में भी मिस्टर थाम्सन ने सैन दादा के इरादे को भाँप लिया था. वह एक दरियादिल इनसान थे. शराब व कबाब में तो दूसरों की हिस्सेदारी पसन्द करते थे, लेकिन और किसी निजी चीज़ में उन्हें किसी की हिस्सेदारी मंज़ूर नहीं थी.

उन्होंने खिसयानी निगाहों से मिस रीज़ा की तरफ़ देखा मिस रीज़ा जिसकी आँखों में सैन दादा के लिए हमदर्दी उमड़ आयी थी, थाम्सन की यह दशा देखकर सटपटा गयी और ख़ाली प्लेट उठा कर आँसू पोंछती हुई किचन की तरफ़ बढ़ गयी. फिर वह नज़र नहीं आयी. यहाँ तक कि ज़रूरत पड़ने पर मिस्टर थाम्सन को चीख़कर बुलाना पड़ा.

उसने सोचा, उसके और मिस रीज़ा के दुख में किसका दुख बड़ा
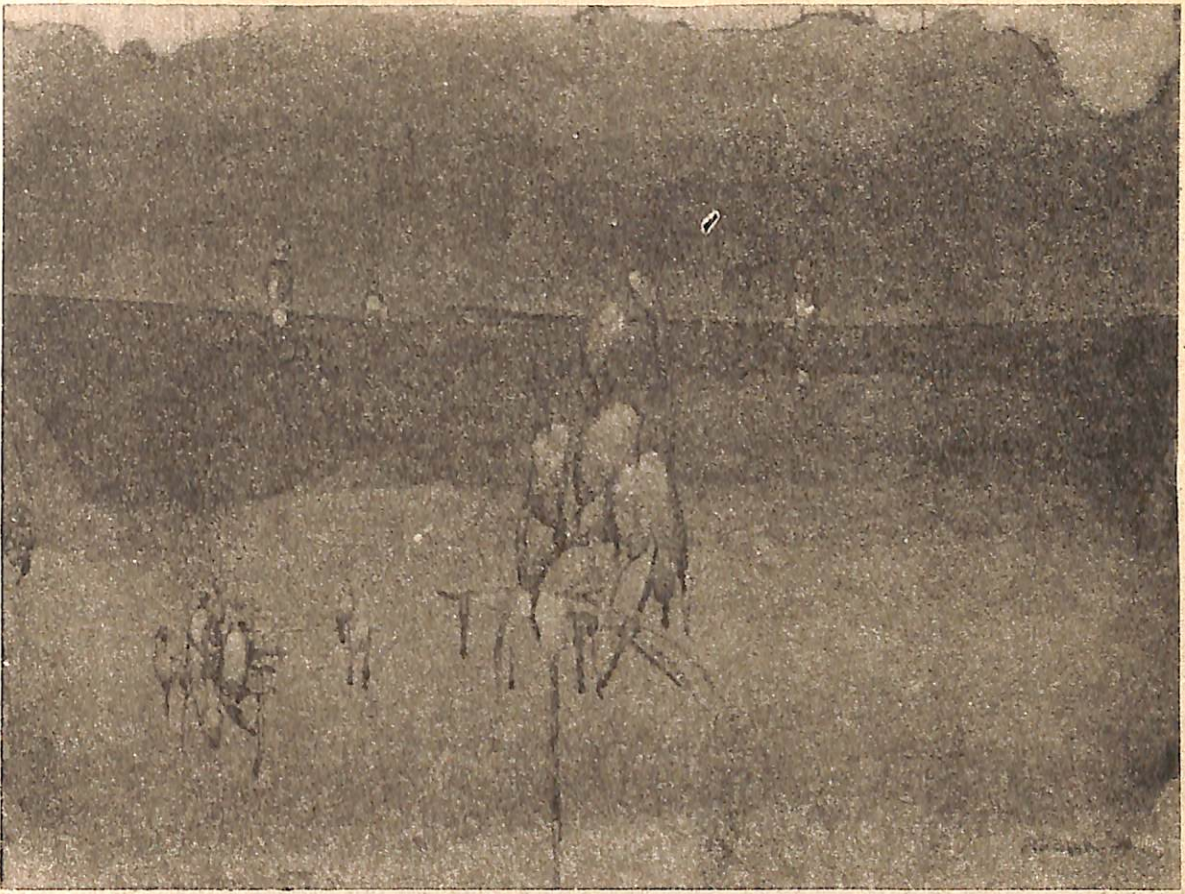
है. गुटर-गूँ करते हुए कबूतरों का झुंड उसके सर पर मँडराने लगा. उसने हामी भरी. उससे बड़ा ग़म तो इन बेघर कबूतरों का है जिन्हें अब सारी उम्र विस्थापन का प्रकोप झेलना है...कई नस्लों से वह इन गुम्बदों के बाशिन्दे थे लेकिन अब...उसे सैन दादा और मिस्टर थाम्सन की नशेबाज़ी पर गुस्सा आने लगा. सैन दादा बोलते हैं, 'यंग मैन ! गम भुलाओ...एन्ज्वाय करो.' ऐसे हालात में भला कोई एन्ज्वाय कर सकता है...?

घर के अन्दर से बर्तनों के गिरने की आवाज़ आ रही थी. डरी सहमी सी रीज़ा दौड़ती हुई आयी.

"अंकल...एक कबूतर घर के अन्दर दाख़िल हो गया है. बग़ल वाले पड़ोसी की बिल्ली उस पर झपटना चाह रही थी. कबूतर किचन में बर्तनों के बीच छुप गया है. बड़ी मुश्किल से मैंने बिल्ली को भगाया और किचन का दरवाज़ा बन्द करके आ रही हूँ...!" उसका कलेजा धक से होकर रह गया. उसने सैन दादा की आँखों में झाँका फिर थाम्सन को देखा. नशे की चमक होने के बावजूद उनकी आँखों में कबूतर के बारे में सुनकर घबराहट पैदा हो गयी थी. दोनों के सर झुक गये जैसे कोई आफ़त आ पड़ी हो.

उसी समय बाहर के दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी.

"मिस्टर थाम्सन...मिस्टर थाम्सन... !"

उदास और घबराई हुई रीज़ा ने दरवाज़ा खोला. पड़ोसी मिस्टर जॉन खड़े थे.

"मिस रीज़ा...मिस्टर थाम्सन को बुलाओ... !"

"क्या है भाई..." मिस्टर थाम्सन नशे में झूमते हुए भारी-भारी क़दमों से बाहर आये.

"मेरा कबूतर आप के यहाँ आ गया है...आप जानते हैं मेरी मदर-इन-लॉ पुरानी-मरीज़ हैं...आजकल उनके हाथों में सनसनाहट रहती है. डॉक्टर ने कबूतर का जूस लेने को कहा है...उसे हलाल कर ही रहा था कि उड़कर आप के यहाँ चला आया."

"हाँ...हाँ...मेरे यहाँ आकर छुप गया है...अभी-अभी मिस रीज़ा ने मुझे रिपोर्ट दी है...एक बिल्ली भी है जो इसकी जान की दुश्मन बनी हुई है...मिस रीज़ा जाओ...इनका कबूतर इन्हें वापस कर दो—आइये...आप ड्राइंग रूम में बैठें मिस्टर जान...कुछ हो जाये...जब तक...."

"ओह नो थैंक्स...मैं सिर्फ़ वीक एंड में लेता हूँ. दूसरे रोज़ छुट्टी रहती है. सवेरे उठने का चक्कर नहीं होता. कमबख़्त को लेने से मुझे नींद बहुत आती है...!"

हज़ार अन्दरूनी शिकस्त व टूट-फूट से गुज़रने के बाद लाचार मिस रीज़ा कबूतर को पकड़कर ले आयी थी. लेकिन उसने देखा कि उसके पूरे वजूद पर कँपकँपाहट तारी थी. मिस्टर थाम्सन ने उसकी आवाज़ों को सुना. बहुत दिनों से वह उसे ख़ुद से इसी तरह की बातें कहते हुए सुन रहा था.—ख़ामोश निगाहों से वह बुदबुदा रही थी.

'लड़ नहीं सकता तो भाग जा नामुराद...उड़ जा...बस्तियों से दूर विस्तृत आसमानों और जंगलों की तरफ़ भाग...''

लेकिन सहमा हुआ कबूतर उसकी हथेलियों में सिकुड़ता सिमटता छुपने की कोशिश में मसरूफ़ था और जब मिस्टर जान ने 'थैंक यू

...थैंक यू...' कहते हुए उसे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया तो मिस रीज़ा के अन्दर से किसी ने उछाल लगायी.

इस परिदृश्य में उसकी समझ में न आया कि किसमें कम्पन ज़्यादा थी—कबूतर में, मिस रीज़ा में ? या वह ख़ुद ज़्यादा काँप रहा था ? यह कबूतर कहीं...अचानक उसे ख़याल आया. बे अमां कबूतर. शायद उनमें से एक बूढ़ी औरत के हाथों को गर्मी पहुँचाने के लिए मजबह का असीर (वधस्थल का कैदी) हो गया...मिस रोज़ा ने हथेलियाँ ढीली कर दीं. उसके अन्दर किसी ने उछलकर जैसे उसके हाथों को झटका दिया. लड़ नहीं सकते तो कम से कम भाग तो सकते हो.

...हाय नामुराद...तूने यह सलाहियत भी खो दी.... कबूतर उड़ा और रौशनदान पर जाकर बैठ गया. मिस्टर थाम्सन ने एक तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया. वह बेहद ग़ुस्से में थे मिस रीज़ा पर सक्ता तारी हो गया. थाम्सन ने टेबल पर स्टूल रखकर उसे पकड़ने का हुक्म दिया. इस कोशिश में स्टूल खिसकने से मिस रीज़ा गिर पड़ी. उसे गहरी चोटें आयीं. सैन दादा उसे उठाने के लिए आगे बढ़े लेकिन तब तक मिस्टर थाम्सन ने बढ़कर उसे उठा लिया था.

"इजाज़त हो मिस्टर थाम्सन—आप की महफ़िल में बड़ा आनन्द आया...."

"लेकिन यह साहब तो इतने उदासीन हैं कि उन्होंने कोई मज़ा न लिया...!"

सैन दादा ने बड़े प्यार के उसके कन्धों पर हाथ रख दिया. वैसे मिचमिची नज़रों से वह निरन्तर काँपती हुई मिस रीज़ा को देखे जा रहे थे. उसकी उदासी सच्ची है. लेकिन मेरा कहना है कि ख़्वाहमख़्वाह उदास होने का फ़ायदा क्या है...कोई रास्ता निकलता तो ठीक था. आप के पास लाया था कि अंगूर की बेटी के साथ शग़ल करेगा तो बहल जायेगा लेकिन यहाँ कबूतर और बिल्ली का तमाशा देखकर यह और भी उदास हो गया. कोई बात नहीं अपनी-अपनी क़िस्मत है. आप ने बड़ी दरियादिली दिखायी. इस गर्मागर्म मुहब्बत का शुक्रिया ...विदा होने से पहले उन्होंने मिस रीज़ा को भरपूर निगाहों से देखा जो इस विस्मित अन्दाज़ में भी बला की हसीन लग रही थी.,

बाई बाई रोज़ा...बाई मिस्टर थाम्सन...गुडबाई...!

उस रोज़ कई दोस्तों के यहाँ दोनों गये थे. सबने उस रोज़ की अहमतरीक वाक़ये पर बातचीत करने से दामन बचाया. लोग दिल ही ही दिल में या तो रो रहे थे, या हँस रहे थे. अजीब बेबसी और दिली ख़ुशी के एहसासात थे जिनसे मुख़्तलिफ़ लोग अपने अपने हिसाब से गुज़र रहे थे. लेकिन तमाम एहसासात और बेपरवाही के बावजूद एक सवाल सबको कुरेद रहा था.

"अब क्या होगा...आगे क्या होने वाला है...?"

वह ऊब गया था. थाम्सन के यहाँ उसने भी नशा किया था ! लेकिन उसे नशा आना तो दूर, हल्का खुमार तक न हुआ. रह-रहकर उसे अपने गमले के पौधों, बाल्कनी और बच्चों के जमघटे का ख़याल आ रहा था. एक अजीब चिन्ता में वह पूरे समय गिरफ़्तार रहा. इस इलाक़े के तमाम दोस्तों के यहाँ सैन दादा ने जी भरकर एन्ज्वाय करने के बाद वापसी का इरादा किया. उनके क़दम लड़खड़ा रहे थे. गुलाबी नशा पूरे वजूद पर तारी था. रीज़ा के साथ पल दो पल के सम्पर्क ने उन्हें अजीब तरह के नशे में डुबो दिया था. फिर भी इतना होश उन्हें था कि हमसफ़र का हालचाल मालूम करना है. उसे अपने फूलों, पौधों और गमलों की सुरक्षा के तअल्लुक़ से ढाढस बँधानी है. रास्ते भर उनका अन्दाज़ पुचकारने और दुलारने वाला रहा.

घबराओ नहीं बच्चे...सब ठीक हो जायेगा. गेट पर के गार्ड ने उनके दाख़िल होने के लिए रास्ता छोड़ दिया. चारों तरफ़ ख़ामोशी थी. अपार्टमेन्ट की सीढ़ियों पर सैन दादा को सहारा न दिया होता तो वह लड़खड़ाकर गिर पड़ते. तीसरी मंज़िल पर बड़ी कठिनाई से उसने दादा की जेब से उनके फ़्लैट की चाबी निकालकर उनका इन्टर लॉक खोला. उन्हें उनके फ़्लैट के अन्दर दाख़िल किया. यह यक़ीन हो जाने के बाद कि दादा ने अन्दर से चटख़नी लगा ली है वह अपने फ़्लैट की ओर रवाना हुआ. ऊपर की मंज़िल की सीढ़ियाँ तय करते हुए उसके क़दम काँप रहे थे. दिल एक अनजाने ख़ौफ़ से काँप रहा था.

कॉल बेल बजाने पर बीवी ने दरवाज़ा खोला तो उसकी आँखें सूजी हुई लगीं. जैसे बहुत देर से रोती रही हो.

"क्या हाल है मेरे फूलों का...?"

"ख़ुद देख लो जाकर...."

बच्चे अपने बिस्तरों में गहरी नींद में डूबे हुए थे. सबके चेहरों पर ऐसी उत्पीड़न थी जैसे कोई बहुत ही डरावना तकलीफ़देह सपना देख रहे हों—आख़िर वही हुआ जिसका डर था...उसके शरीर में काटो में लहू नहीं. बाल्कनी के खुलते ही वहाँ के टूटे-फूटे बिखरे हालात ने उसे अपनी गिरफ़्त में ले लिया. बचे हुए फूल, मोज़ाइक के फ़र्श पर मसली कुचली बिखरी हुई फूलों की पँखुड़ियाँ...टूटे-फूटे गमले...गमलों की मिट्टियों के जगह-जगह ढेर...गौरैयों के घोंसलों के बिखरे तिनक ...गौरैयों का कोई पता नहीं था...गिलहरी, तितलियाँ और भौंरे तो अब एक मुद्दत तक दिखाई नहीं देंगे...उसकी बाल्कनी का सारा हुस्न मलियामेट हो चुका था.

आख़िर बच्चों के अपने खेल में मेरा सब कुछ...उसकी शंका सही निकली. उस दिन अपार्टमेंट में घुसे साँप को चन्द बच्चों ने अपने क़ब्ज़े में ले लिया था और उससे खेलने के ख़तरनाक अमल के आदी हो गये थे. इसीलिए तो बच्चे इतने ज़हरीले और वहशी हो गये थे.

आसमान में गुम्बद के ख़ूनआलूद कबूतरों का झुंड निरन्तर छुपने की जगह की तलाश रहा था और कुछ कर गुज़रने के जुनून में चक्कर काट रहा था.

बीवी से उसकी निगाहें मिलीं तो उसे अचानक एहसास हुआ कि घर में शव पड़ा है और बाहर क़र्फ़्यू में उसको दफ़नाना एक संगीन मसला है.

■

शौकत हयात

जन्म : 1 दिसम्बर, 1950
शिक्षा : स्नातकोत्तर
कृतियाँ : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लगभग सौ कहानियाँ प्रकाशित. 'वाँग' (कथा संग्रह) शीघ्र प्रकाश्य, 'गुंबद के कबूतर' के लिए कथा अवार्ड-1996 से महाश्वेता देवी के हाथों सम्मानित
सम्प्रति : अर्ध सरकारी कल्याणकारी संस्थान में कार्यरत
सम्पर्क : 104, अभिलाषा अपार्टमेंट 176, पाटलिपुत्रा कालोनी, पटना-800013

◆ कहानी ◆

काले सफ़ेद परों वाले कबूतर

●

साजिद रशीद

सबकी नज़रें ख़ानक़ाह (मुस्लिम-सन्तों का आश्रम) के दरवाज़े पर जम गयी थीं. जहाँ सफ़दे तहमद और कुर्ते में एक बुजुर्ग खड़े थे जिनकी दाढ़ी और गर्दन तक लम्बे बाल जगह-जगह से सफ़ेद हो गये थे; कन्धे पर महीन सफ़ेद कपड़े का एक बड़ा सा रूमाल रखा हुआ था. इक़बाल ने महसूस किया कि बुजुर्ग का चेहरा ताँबे की तरह सुर्ख़ हो रहा है. वह ठीक से फ़ैसला नहीं कर पा रहा था कि उनके चेहरे की चमक का कारण उनकी वह नेकियाँ है जिनके बारे में सुनता रहा था या ठीक चेहरे पर पड़ने वाली दोपहर के बाद की धूप ने उनके चेहरे को तमतमा दिया था. इक़बाल उनसे बहत दूरी पर और अक़ीदतमन्दों (श्रद्धालुओं) की भीड़ से हटकर खड़ा हुआ था लेकिन इतनी दूर से भी वह बुजुर्ग के चेहरे की आकृति को अच्छी तरह देख सकता था. उनका दाढ़ी में ढका हुआ चेहरा लगभग वैसा ही था जैसा कि उसने एक ग्रुप फोटो में देखा था. फ़र्क़ सिर्फ़ इतना था कि तस्वीर में ऐनक थी और इस वक़्त वह बिना ऐनक के सामने खड़े हुए थे. जिस्म तस्वीर से कुछ छरैरा दिखाई दे रहा था कि लेकिन माथे पर ज़ख़्म का निशान अब भी उतना ही साफ़ था. अचानक कबूतरों का एक झुंड कहीं से उड़कर आया और ठीक उनके सिर पर दो-चार बार मँडराने के बाद उनके पैरों के क़रीब उतरकर चलने लगा.

हज़रत पीर सैयद ख़्वाजा खाकी खजूर (जलालुद्दीन ख़ाकी खजूर) के पत्तों की चटाई पर गावतकिये से पीठ लगाकर बैठ गये. वहाँ मौजूद तमाम लोग बिलकुल मशीनी अन्दाज़ में, जिसको जहाँ जगह मिली बैठ गया. क़ीमती कपड़े पहने हुए औरतें, जिनके बदन पर सोना सूरज से ज़्यादा चमक रहा था, वह भी बिना किसी झिझक के गन्दे कपड़े और मैले बदन वाली औरतों के साथ नंगे फ़र्श पर बैठ गयी थी. लोग एक-एक करके पीर साहब के सामने जाकर अक़ीदत से हाथ चूमते, धीरे-धीरे कुछ कहते. उनमें कुछ ऐसे भी थे जो पीर हज़रत के हाथों पर सिर रखकर रोने लगते. वह आँखें बन्द किये सुनते रहते और सबको लगभग एक-सा जवाब देते जो कुछ इस तरह होता—"मुसीबतें खुदा का इम्तिहान हैं साबित क़दम (सही रास्ते पर दृढ़ता से चलते रहना) रहो."

जो ज़्यादा दुःखी और परेशान दिखाई देता उसके सिर पर हाथ रखकर कुछ पढ़ते और चेहरे पर फूँक देते. ऐसा शख़्स जब उनके सामने से उठता तो उसके चेहरे पर ताज़गी होती. ऐसे ही परेशान लोगों में इक़बाल को वह शख़्स कुछ अजीब सा महसूस हो रहा था जिसने सिल्क का नफ़ीस कुर्ता और मलमल की क़ीमती धोती पहन रखी थी. दोनों हाथों की उँगलियों में सोने की अँगूठियाँ थीं. सीने पर सोने की मोटी चेन, जिसके मरकज़ (केन्द्र) में 'ॐ' बना हुआ था. बारी आने पर वह शख़्स जब हज़रत के सामने जाकर दो जानूँ होकर (घुटने के बल) बैठ गया तब इक़बाल को उस ख़ुशहाल दिखाई देने वाले शख़्स में पैदा होने वाली दिलचस्पी खींचकर आगे की क़तार में ले गयी कि ऐसे लोगों को किसी बात की तकलीफ़ या परेशानी हो सकती है उसे सुना जाये.

ख़ुशहाल दिखाई देने वाला शख़्स हज़रत के हाथों को चूमकर बोला, "हज़रत, कारोबार में बहुत नुक़सान हो रहा है. दुश्मन धन्धे में भाँजी मारकर मेरी तरक़्क़ी में रुकावट पैदा कर रहे हैं. मेरे लिए प्रार्थना कीजिए. मैं बहुत परेशान हूँ." वह सिसकने लगा.

"हम सबके लिए दुआ करते हैं. उनके लिए भी जो भलाई में शामिल हैं और उनके लिए भी बुराई जिनका पेशा है. अच्छाई और बुराई इनसानी अमल है. अच्छाई रूह का उजला लिबास है और बुराई रूह की गन्दगी है. इसलिए हम बन्दों के वजूद पर बद्दुआ नहीं भेजते बल्कि बुराई की, गन्दगी को दूर करने की ख़ुदा से दुआ करते हैं. ज़िन्दगी ख़ुद एक कारोबार है. औलाद का क़ुदरती सरमाया कभी नफ़ा देता है तो कभी नुक़सान में डालता है. आशाएँ ही नफ़ा और नुक़सान का मीज़ान बन जाती हैं. आशा कम रखोगे तो नुक़सान कम मालूम होगा, आशा को जितना बढ़ाओगे नफ़ा उतना ही कम महसूस होगा. ज़र और ज़मीन परस्ती लालच पैदा करती है और लालच हृदय की शान्ति के लिए नासूर है. हमारी दुआ है, ख़ुदा तुम्हारे दिल से लालच और आशा को दूर और दिल को सकून अता फरमाये."

हज़रत ने उसके सिर पर हाथ रखकर आँखें बन्द करके कुछ पढ़ा और उसके चेहरे पर फूँककर कहा, "खुदा मुसीबतों से छुटकारा दिलाने वाला है." वह सिर झुकाकर उठा और उल्टे पाँव चलकर भीड़ में से ऐसे निकला जैसे दिल पर जमी सारी गर्द धुल गयी हो. मग़रिब (सूर्यास्त के समय) की अज़ान होने तक भीड़ छट चुकी थी. पीर साहब नमाज़ की ग़रज़ से अहाते में बनी हुई छोटी सी मस्जिद में अपने अनुयायियों और श्रद्धालुओं के साथ चले गये थे. इक़बाल कटहल के पेड़ के नीचे अपने ख़यालों में डूबा खड़ा था.

"आप अब तक क्यों खड़े हैं." सहन को झाड़ू लगाने वाले एक नाटे क़द बूढ़े आदमी ने उसके क़रीब आकर पूछा.

"आँ" इक़बाल ने चौंककर उस बूढ़े आदमी की तरफ़ देखा जो उसकी तरफ़ सवालिया नज़रों से देख रहा था. इक़बाल की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे. क्या उसे अपने और हज़रत के बारे में बता दे. हो सकता है कि यह शख़्स उसके लिए मददगार साबित हो. लेकिन क्या वह मेरी बातों पर यक़ीन करेगा. कहीं मुझे पागल या फिर कोई धोखेबाज़ न समझ बैठे. कहाँ हज़रत की पुरवकार शख़्सियत और कहाँ मैं ?

बूढ़े ने ख़यालों में सोये हुए इक़बाल के चेहरे को ग़ौर से देखा और फिर कन्धों को उचकाकर बिदबिदाता हुआ फ़र्श पर झाड़ू लगाते हुए आगे बढ़ गया. ज़िन्दगी की स्पर्धा और क़ुदरती परेशानियों के

सामने हथियार डाल देने वाले कम हिम्मत लोगों को आस्ताने (वली की चौखट) पर हाज़िर और ग़ायब की कैफ़ियत में देखना बूढ़े खादिम के लिए कोई नया तजुर्बा नहीं था.

इक़बाल का ध्यान उस सूखे पत्ते के कारण टूटा जो हवा के झोंके से टहनी से टूटकर ठीक इक़बाल के सिर पर गिरा. सूर्यास्त की लाली में ख़ामोश आस्ताने के सामने झुककर झाड़ू देते बूढ़े खादिम का साया तिलिस्मी कहानी का कोई किरदार मालूम हो रहा था. इक़बाल छोटे-छोटे कदम उठाता हुआ जब आस्ताने की चहारदिवारी से बाहर आया तो शुरू नवम्बर का सर्द अँधेरा फैलने लगा था. शहर से दूर होने की वजह से आस्ताने के आसपास में चाय और सिगरेट की चार-पाँच कच्ची दुकानों के अलावा कोई आबादी ना थी. इसलिए आस्ताने के आसपास का इलाक़ा पीपल, नीम, आम, पपीते और गुलमुहर के बेतरतीब, अपने आप उगने वाले पेड़ों के कारण बड़ा रहस्यमय मालूम होता था. जुमेरात (गुरुवार) को छोड़कर आस्ताने के आसपास में शाम होते ही एक गहरी ख़ामोशी छा जाती. ऐसे में आस्ताने की चहारदिवारी के बाहर सूखे पत्तों पर अगर किसी के पैर पड़ जाते तो चुरमुराहट की आवाज़ भी शोर महसूस होती. आस्ताने में हज़रत के अलावा मौजूद दूसरे सात-आठ लोग भी ऐसी किसी आवाज़ को अहमियत नहीं देते थे क्योंकि चोर का उन्हें कोई खटका नहीं था कि आस्ताने में लंगर के गल्ले के अलावा कोई धन-दौलत ना थी और हर शाम खुले में निकल आने वाले लक्कड़बग्घों से उन्हें कोई ख़तरा इसलिए नहीं था कि लक्कड़बग्घे आस्ताने की चहारदिवारी में कभी घुसते नहीं थे.

सूखे पत्ते को रौंदता और काँटेदार जंगली झाड़ियों से खुद को बचाता हुआ इक़बाल बड़ी सड़क तक आ गया था जहाँ बहुत इन्तज़ार के बाद उसे एक बस में जगह मिल गयी थी.

होटल के कमरे में पहुँचकर वह धम से बिस्तर पर गिर गया. शारीरिक थकान से ज़्यादा उस पर मानसिक थकान छायी थी. उसने अपनी अटैची में से एक लिफ़ाफ़ा निकाला और उसमें से एक ज़र्द सा फोटो निकालकर ध्यान से देखने लगा.

यह किसी कॉलेज की हॉकी टीम के खिलाड़ियों का ग्रुप फोटो था जिसमें आगे बैठे हुए नौजवान के हाथों में हॉकी स्टिक थी. इक़बाल की नज़रें उस नौजवान के चेहरे पर रेंग रही थी जिसके माथे पर जख़्म का निशान तस्वीर में भी साफ था. नानीजान ने बताया था कि यूनिवर्सिटी की हॉकी टीम में जलालुद्दीन को अतिरिक्त खिलाड़ी की हैसियत से शामिल किया गया था और नेशनल कॉलेज की टीम से एक मुक़ाबले में जब उसे मैदान में उतारा गया तब वह इतने जोश में भरा हुआ था कि गेंद को हिट करने की कोशिश में लड़खड़ा कर ऐसा गिरा था कि अपनी ही हॉकी स्टिक से जख़्मी हो गया था. 'लेकिन यह चश्मा' उसने सोचा उनके चेहरे पर तो चश्मा नहीं है जबकि किसी को एक बार चश्मा लग जाये तो वह फिर ज़िन्दगी भर नाक पर ही जमा रह जाता है. अगर वह सही व्यक्ति तक पहुँचा है तब यही पीर जलालुद्दीन ख़ाकी उसके सगे मामूँ हैं जो लगभग बीस-बाईस बरस पहले कहीं ग़ायब हो गये थे. फिर उसके बाद उनकी कोई ख़बर नहीं मिली थी, लेकिन घर वालों को इस बात का यक़ीन था कि वह किसी दुर्घटना का शिकार नहीं हुए हैं क्योंकि घर से ग़ायब होने के कुछ महीने पहले कारोबार में उनकी दिलचस्पी ख़त्म हो गयी थी और उनके बारे में सुना गया था कि वह मज़ारात और ख़ानकाहो पर जाने लगे हैं. अकसर वह कई-कई दिन घर से ग़ायब रहते और फिर अचानक चले आते. हर सुबह बालों को हेयर क्रीम से सँवारने वाले और नये ढंग के कपड़ों के शौकीन जलालुद्दीन ने उन्हीं दिनों दाढ़ी रख ली थी. और वह बीच में माँग निकालने लगे थे. घर का माहौल दीनी (धार्मिक) ज़रूर था लेकिन ऐसा भी नहीं कि घर का जवान लड़का धर्म का होकर दुनिया छोड़ दे और किसी को तक़लीफ़ ना हो. जलालुद्दीन की घर से ग़ैर-हाज़री का समय बढ़ने लगा था और फिर एक रोज़ फज्र (सूर्योदय से पहले का समय) की नमाज़ के लिए मस्जिद गये और उसके बाद उन्हें किसी ने शहर में नहीं देखा था.

जवान बेटे के लापता होने का दुःख जागीरदाराना स्वभाव रखने वाले बाप सैयद शहाबुद्दीन को भी अन्दर-ही-अन्दर खाने लगा था और माँ ने तो रो-रोकर आँसू सुखा लिये थे. अगर वह ग़रीब होते तो इस बात पर रोते कि उम्र की आख़िरी मंज़िलों का सहारा साथ छोड़कर चला गया लेकिन घरेलू बेफ़िक्री के कारण वह बेटे के ग़ायब होने पर इसलिए उदास थे कि तीन बेटों में जो सबसे दुलारा था वही चला गया. अब इतने बड़े कारोबार को कौन सँभालेगा और वंश की एक शाखा भी तो बिना फल के ही रह जायेगी. ऐसे ही चिन्ताओं में घिरे सैयद शहाबुद्दीन ने एक दिन बेग़म से कहा था, "दो बड़े भाई हैं जलाल के, लेकिन देखता हूँ कि उसके ग़ायब होने का दुख किसी को नहीं है."

''क्यों होगा दुख.'' माँ जो एक कोख में सभी सन्तानों को अपने शरीर का सारा जौहर देकर पोसती है और जिसके प्यार की समानता दुनिया के किसी भी सियासी और इमरानी (राजनीतिक और सामाजिक) फ़लसफ़े की समानता से उत्तम होती है. वह अपने दूसरे बेटों को भी तो कम नहीं चाहती है. फिर वह उन पर शक़ क्यों करती और करने देती.''

''वह अगर उन्हें छोटे भाई के लापता होने का दुख होता तो कोई गली, गाँव, क़स्बा और शहर ना छोड़ते, लेकिन हम देखते रहे हैं बेगम, उनकी ख़ामोशी इस दौलत के कारण से है जो उन्हें और ज़्यादा लालच में मुब्तिला (ग्रस्त) करती है.''

उसी दिन शहाबुद्दीन ने फ़ैसला सुना दिया था कि वह अपनी बेवा बेटी सादिक़ा के बेटे इक़बाल को भी अपनी ज़ायदाद में जलालुद्दीन के हिस्से में भागीदार बनायेंगे ताकि जलालुद्दीन के हिस्से में दूसरे भाई कोई खयानत न कर सकें. और उन्होंने वसीयत कर दी कि जलालुद्दीन जब अदालत में मजिस्ट्रेट के सामने आकर हस्ताक्षर करेंगे तब ही इक़बाल को भी हिस्सा मिल सकेगा. और हुआ भी यही. साइंस से ग्रेजुएशन करने के बाद इक़बाल ने जब दोनों मामुओं से अपने हिस्से के बारे में पूछा तो उन्होंने उसे दरवाज़ा दिखा दिया. माँ और बीवी ने इक़बाल को यह कहकर समझाना चाहा था कि ख़ुदा देख रहा है. वह इन्साफ करेगा. लेकिन नानी, जिसने अपने बच्चों पर प्यार को समानता से निछावर करते हुए यह सोचा था कि वह जायदाद को भी दरियादिली और ईमानदारी से आपस में बाँट लेंगे, बेटों की इस तोता-चश्मी (बेमुरव्वती) पर सदमे में नहीं क्रोध में डूब गयी और काँपती आवाज़ में कहा था, ''इक़बाल की माँ ने अपनी जवानी, बेटे की परवरिश और उसके भविष्य, उसके आराम के लिए क़ुर्बान की है. मैं यह बेईमानी उन्हें नहीं करने दूँगी.''

''नहीं मियाँ, जब हमने घर को छोड़ा था तब तमाम रिश्तों और उनसे जुड़े सभी सम्बन्धों को भी छोड़ दिया था. अब ना तो हमें रिश्तों की ज़ंजीरें अपनी तरफ़ खींचती हैं और ना दुनियावी ज़रूरतें और दुनियावी सुख अपनी तरफ़ आकर्षित करते हैं. रिश्ते भी दुनियावी लोभ का हिस्सा हैं. लोभ से छुटकारा ही दरवेशी है.'' उनका चेहरा उस व्यक्ति की तरह पुरसुकून था जो दुनिया की हर नेमत को हासिल कर चुका हो.

मग़रिब की नमाज़ पढ़कर पीर जलालुद्दीन आस्ताने के लम्बे-चौड़े दालान के बीचों-बीच खड़े कबूतरों को बड़ी नर्मी से आ-आ-आ की आवाज़ें निकालकर पुकार रहे थे. इक़बाल दूर खड़ा उन्हें देख रहा था. काले-सफ़ेद परों वाले कबूतर एक-एक करके दालान के मध्य में बने एक छोटे से हौज़ के आसपास उतरते. कुछेक तो पीर जलालुद्दीन के सिर और कन्धों पर आकर बैठ जाते, अपनी जगह बैठे-बैठे गर्दन को दायें-बायें घुमाकर जायज़ा लेने वाली नज़रों से देखते और फिर उड़कर नीम और आम के पत्तों के झुंड खो जाते. पीर जलालुद्दीन के पैरों के क़रीब कुछ कबूतर अपनी पूँछ को फुलाकर और परों को फैलाकर एक ही दायरे में घूम रहे थे जैसे बादशाहों को रिझाने के लिए कनीज़ें रक्स करती हैं. अचानक ही पीर जलालुद्दीन इक़बाल की तरफ़ आकर्षित हुए और उसे ध्यान से देखने लगे. इक़बाल के क़दम आप ही आप उनकी तरफ़ उठ गये. जैसे उन्होंने उसे अपनी तरफ़ खींच लिया हो. इक़बाल उनके ठीक सामने जाकर खड़ा हो गया और लगातार उनके चेहरे को तकने लगा.

''क्या बात है नौजवान.''

उनके सवाल पर इक़बाल पर छाया हुआ जादू टूटा. ''अस्सलाम अलैकुम'' उसके मुँह से अचानक निकला.

''वालेकुम अस्सलाम'' कहकर वह इक़बाल के चेहरे को ध्यान से देखने लगे.

''मुझे आपसे कुछ बात करनी है.''

''लेकिन दरबार का वक़्त ख़त्म हो चुका है.'' वह मुस्कुराये, सफ़ेद मूँछों के नीचे सफ़ेद दाँत चमक उठे.

''मैं सिर्फ़ अपनी परेशानी लेकर नहीं आया हूँ बल्कि मैं आपकी वाल्दा (माता) मुख़्तार महल का पैग़ाम लेकर आया हूँ.''

मुख़्तार महल...नाम सुनते ही उनकी तपस्या से सुर्ख़ आँखें दहक उठीं. वह इक़बाल के चेहरे को ऐसे घूरने लगे जैसे पूछ रहे हों, 'तुम कौन हो ? कहाँ से और क्यों आये हो.'

''मैं सादिक़ा बानो का बेटा इक़बाल'' इक़बाल के चेहरे के धुँधले शीशों को अपनी आँखों से पोंछकर वह अतीत का अक्स देखने लगे.

''गुड़िया ?'' उनके मुँह से हल्के से निकला.

''हाँ, मैं उन्हीं का बेटा हूँ.''

उनके चेहरे के तने तार एकदम ढीले पड़ गये. उनकी आँखों में एक साथ अनगिनत चेहरे घूम गये. लेकिन मुखाकृति किसी की भी स्पष्ट नहीं थी. वह कुछ कहे बिना मुड़े और अपने हुज्रे (ठिकाना) की तरफ़ चल दिये. इक़बाल भी उनके पीछे चल पड़ा.

हुज्रे में लालटेन जल रही थी. फ़र्श पर खजूर की चटाई बिछी हुई थी और एक तकिया दीवार से ऐसे लगा हुआ था जैसे वह सिरहाने के साथ टेक लगाने के भी काम आता हो. वह चटाई पर उस तकिये से टेक लगाकर बैठ गये. इक़बाल उनके सामने ख़ामोश खड़ा धुँधले कमरे की पुरसुकून ख़ामोशी में उनके चेहरे पर गहरी हो जाने वाली लकीरों को ध्यान से देखते हुए उनके दिली-जज़्बात का अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करने लगा. बाहर कहीं कोई बच्चा हिचकियों से रो रहा था. इक़बाल ने सोचा कि इस वीराने में और खासतौर से यहाँ आस्ताने में कोई बच्चा इतनी रात को क्यों रो रहा है, जबकि यहाँ कोई ख़ानदान रहता भी नहीं है. उन्होंने सिर उठाकर इक़बाल के चेहरे को देखा और फिर आँखों के इशारे से उसे बैठ जाने को कहा. दोनों देर तक ख़ामोश बैठे रहे. एक दूसरे के चेहरे पर अतीत की तस्वीरें बनाते रहे. बाहर के बढ़ते अँधेरे के साथ-साथ कमरे के अन्दर लालटेन की टिमटिमाती रौशनी बढ़ती जा रही थी.

''अम्माँ कैसी हैं ?'' उन्होंने पूछा.

''बीमार रहती हैं. आपको बहुत याद करती हैं.''

उसके बाद वह फिर देर तक ख़ामोश रहे. अब्बा जान के बारे में कुछ नहीं पूछा. शायद उनकी मौत की ख़बर मिल चुकी थी. बच्चे की दबी-दबी सिसकियाँ रह-रहकर उभर आती थीं. इक़बाल ने सोचा कि वह उनसे पूछ ले कि इस वीराने में कौन रो रहा है. ठीक उसी वक़्त अज़ान की आवाज़ ने उसे चौंका दिया. पीर जलालुद्दीन अज़ान की आवाज़ सुनते ही उठ खड़े हुए.

इशा की नमाज़ के बाद फिर जलालुद्दीन दस्तरख़्वान पर खद्दामों

के साथ इक़बाल को भी शामिल किया गया. दोपहर के लंगर का बचे हुए गोश्त का शोरबा और गेहूँ की रोटियाँ दस्तरख़्वान पर चुन दी गयी थीं. पीर जलालुद्दीन ने गोश्त को छुआ तक नहीं. उनके लिए जौ की रोटियाँ और पालक का साग एक ख़ादिम अलग लेकर आया था. जौ की रोटी और सब्ज़ी ही उनका रोज़ाना का भोजन था. खाने के दौरान भी ख़ामोशी रही. किसी ने किसी से कोई बात ना की. लालटेन की रौशनी में दीवारों पर उनके साये हिलते रहे.

खाने के बाद पीर जलालुद्दीन चहलक़दमी के लिए आस्ताने से बाहर निकल आये. इक़बाल भी उनके साथ हो लिया, सभी सेवक इक़बाल को अजीब नज़रों से देख रहे थे लेकिन कुछ कहने की हिम्मत किसी में इसलिए नहीं थी कि हज़रत ने अपने किसी अमल से अजनबी नौजवान की मौजूदगी पर नापसन्दगी का इज़हार नहीं किया था. सभी ख़ादिम हैरत में थे कि आख़िर कौन है यह नौजवान, जिसे हज़रत इतनी कुर्बत (नज़दीकी) प्रदान कर रहे हैं ?

आधे चाँद की सर्द दूधिया रौशनी मैदान और पेड़ों पर फैली हुई थी. पीर जलालुद्दीन छोटे-छोटे क़दमों से चल रहे थे. उन्होंने अपने दोनों हाथ पीठ पर बाँध रखे थे.

''गुड़िया के दूल्हा मेरा मतलब तुम्हारे वालिद....''

''उनकी मौत हो चुकी है.'' इक़बाल ने तुरन्त कहा. ''मैं जब छोटा था तब ही वह गुज़र गये.''

इन्ना लिल्लाहे व इन्ना इलैहे... (किसी की मौत की ख़बर सुनकर यह वाक्य कहा जाता है. यानी हम अल्लाह ही के लिए हैं और अल्लाह ही की तरफ़ लौटकर जाने वाले हैं.) उन्होंने इक़बाल की तरफ़ देखे बिना ही पढ़ा और रुककर आसमान की तरफ़ देखने लगे जहाँ बहुत ऊपर एक कबूतर दायरे में ऐसे उड़ रहा था जैसे चाँद की तरफ़ जाना चाहता हो. दिन में कबूतर का उड़ना उसे बड़ा अजीब सा लगा.

''तुम क्या कर रहे हो ? तालीम या कारोबार.'' उन्होंने कबूतर को बदस्तूर घूरते हुए पूछा.

इस सवाल ने इक़बाल को अवसर और साहस दोनों ही दे दिया था और फिर उसने सारी घटनाएँ और सारे मामलात उनसे कह सुनाये. किस तरह दोनों मामुओं ने नाना की विरासत में से हिस्सा देने से इनकार कर दिया है, जबकि उसका हिस्सा वसीयत के मुताबिक़ उनके हिस्से से जुड़ा है और अगर वह शहर चलकर कोर्ट में अपना एफीडेविट पेश कर दें तो उनके साथ उसे भी हिस्सा मिल जायेगा. उन्होंने ना तो सवाल किया ना ही कोई टिप्पणी. वो दोनों ही ख़ामोशी से आस्ताने पर लौट आये. हज़रत ने एक ख़ादिम को अपने हुज्रे से सटे कमरे में इक़बाल का बिस्तर लगाने की हिदायत की और अपने कमरे में चले गये. इक़बाल भी उनके पीछे-पीछे हुज्रे में दाख़िल हो गया. वह टोपी और तसबीह तकिए के क़रीब रखकर खजूर की चटाई पर लेटे हुए थे. इक़बाल को देखकर उन्होंने मुस्कुराकर कहा, ''तुमको अपनी मसरूफ़ ज़िन्दगी का क़ीमती वक़्त इस वीराने में नहीं बर्बाद करना चाहिए. मुझे धन-दौलत से कोई दिलचस्पी नहीं है. अगर तुम अपना हिस्सा हासिल कर सको तो मैं अपना हिस्सा भी तुम्हें दे दूँगा. तुम चाहो तो अभी मुझसे दस्तख़त ले सकते हो.''

''मेरी आपसे दरख़्वास्त है कि आप सिर्फ़ दो रोज़ के लिए शहर तशरीफ़ ले चलिए. नानीजान और अम्मीजान आप को देखकर बेहद ख़ुश होंगी.''

''नहीं मियाँ, जब हमने घर को छोड़ा था तब तमाम रिश्तों और उनसे जुड़े सभी सम्बन्धों को भी छोड़ दिया था. अब ना तो हमें रिश्तों
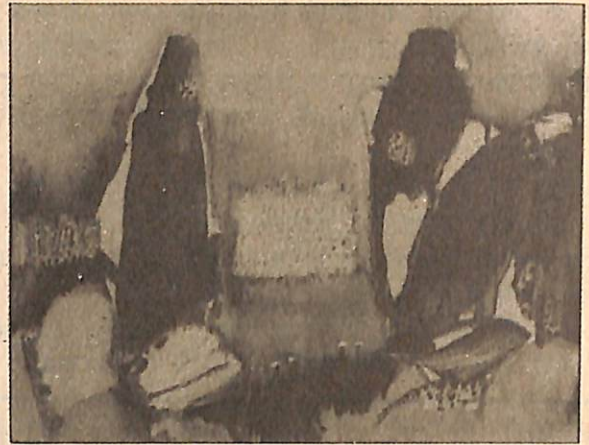
की ज़ंजीरें अपनी तरफ़ खींचती हैं और ना, दुनियावी ज़रूरतें और दुनियावी सुख अपनी तरफ़ आकर्षित करते हैं. रिश्ते भी दुनियावी लोभ का हिस्सा हैं. लोभ से छुटकारा ही दरवेशी है.'' उनका चेहरा उस व्यक्ति की तरह पुरसुकून था जो दुनिया की हर नेमत को हासिल कर चुका हो.

''लेकिन दरवेश तो लोगों के दुःखों के छुटकारे का साधन बनते हैं. लोगों की मुसीबतों को हल्का करते हैं. मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप उस दुनिया में लौट चलें जो आपके नज़दीक मोह का भंडार है. मैं तो अपने दुखों और मुसीबतों का इलाज चाहता हूँ. इसके लिए आपके दुआ की ज़रूरत है. क्योंकि मेरी मुसीबतें और मेरी खुशहाली आप ही के हाथ में हैं. आप मेरे लिए थोड़ी सी ज़हमत कर लेंगे तो मैं और मेरी माँ, जो आपकी बहन भी हैं, परेशानियों से छुटकारा पा जायेंगे. और अगर आप इनकार कर देंगे तो मुझे वह ख़ुशहाली नहीं मिलेगी जिसके लिए आप ज़रिया हैं.'' इक़बाल की आवाज़ में उदासी थी.

''दुनिया के त्याग के बाद सभी नाते टूट जाते हैं. जिस तरह माँ के पेट से पैदा होने वाले नवजात बच्चे का माँ की नाभ से नाता ख़त्म हो जाता है. अब हमारे लिए ना तो कोई माँ है, ना कोई बहन, ना भाई, ना दोस्त. हमारा दोस्त-सखा-सम्बन्धी सिर्फ़ वही है.'' कहते हुए उन्होंने आसमान की तरफ़ उँगली उठा दी.

''दुनिया का त्याग आपने किया मामूजान लेकिन आपकी ज़ात से जुड़े लोग जो ख़ुदा के रसूल की सुन्नत पर क़ायम हैं, उनके लिए आपका जो कर्तव्य है क्या दुनिया के त्याग के बाद आपके वह कर्तव्य भी ख़त्म हो गये हैं. मेरी माँ ने अपनी ज़िन्दगी का क़ीमती हिस्सा उम्मीदो-बीम (आशा-निराशा) में गुज़ार दिया. मैं नौजवान हूँ. मेरे सामने पूरी ज़िन्दगी पड़ी है. क्या मैं भी माँ और बीवी-बच्चों को छोड़कर आप ही की तरह दुनिया को छोड़ दूँ और अब सब कुछ ख़ुदा के हवाले करके ख़ुद के लिए छोड़ दूँ ? अगर अब्बाजान के गोदाम से मासिक किराया ना मिल रहा होता तो हम लोग....'' इक़बाल की आवाज़ रुँध गयी.

''लेकिन हम तो तुम्हारे साथ कोई बेईमानी नहीं कर रहे हैं.'' उन्होंने सीधे आँखों में आँखें डालते हुए कहा.

''लगता है आपने दुनिया से ही नहीं, रहम और दर्दमन्दी से भी किनारा कर लिया है.'' कहकर इक़बाल उठ खड़ा हुआ और टूटे हुए

क़दमों से हुजे के बाहर निकल गया. दरवाज़े से होकर आने वाली हल्की सी चाँदनी में उसका साया धीरे-धीरे घटने लगा था.

एक सौ चालीस बार दरूद शरीफ़ (मोहम्मद सा. और उनके वंश पर भेजी जानी वाली एक आयत) पढ़ने के बाद भी उनकी तबीयत बोझिल ही रही. करवटें बदलते जब बहुत देर हो गयी तो वह उठकर बाहर गलियारे में निकल आये. ठंडी चाँदनी सारे में छिटकी हुई थी. आसमान पर एक सफ़ेद कबूतर चाँद के एक रौशन दायरे के आसपास उड़ रहा था. दूर कहीं कुत्ते और लकड़बग्घे रो रहे थे. उनके क़दम अनजान रूप में बग़ल के कमरे की खिड़की के क़रीब जाकर रुक गये. खिड़की का एक पट खुला हुआ था. उन्होंने अन्दर झाँका. इक़बाल हाथ की बुनी हुई दरी पर गठरी बना सो रहा था. चादर उसके पैरों के क़रीब पड़ी हुई थी. सर्द हवा के ख़याल से उन्होंने झुरझुरी ली और दरवाज़े को धकेलकर देखा. वह खुला हुआ था. वह अन्दर दाख़िल हुए, उन्होंने चादर को उठाकर इक़बाल को ऐसे ही उढ़ा दिया जैसे अम्माँ अक़्सर उन्हें उढ़ा दिया करती थीं.

बाहर आकर वह अम्माँ का चेहरा याद करने की कोशिश करने लगे. कल्पना में जो चेहरा उभर रहा था वह जवान और स्वस्थ था. लेकिन यह तो वह अम्माँ थीं जिन्हें वह बीस-पचीस साल पहले छोड़कर चले आये थे. उन्हें अपना पुश्तैनी मकान याद आ गया, हर साल जिसकी सफ़ेदी की जाती थी और गर्मी की चिलचिलाती धूप में जिसे नज़र भर देखने से ही आँखें चौंधियाने लगती थीं. आँगन में हैंड पम्प लगा हुआ था जहाँ वह सुबह सवेरे नहाया करते थे. जाड़ों में फ़ज्र की नमाज़ से पहले वह पम्प चलाकर नहाने की बाल्टी में पानी निकालते तो पानी की धार के साथ भाप ऐसे उठती जैसे गर्म उबलता हुआ पानी हो लेकिन जब वह पहला लोटा कन्धे पर डालते तो पानी जहाँ-जहाँ से उतरता बदन का उतना हिस्सा सुन्न हो जाता. अम्मा पम्प चलाने की आवाज़ पर उठ जाया करती थीं और दरूद शरीफ़ पढ़ते हुए आँगन में आकर मुहब्बत भरी डाँट पिलातीं, "ख़ुदा ना करे पाला मार देगा अगर इसी तरह ठंडे पानी से नहाते रहे. ठहरो, अभी गर्म पानी किये देती हूँ."

"कहाँ ठंडक है अम्माँ" उनके मुँह से अपने आप निकल गया. अपनी ही आवाज़ पर चौंककर देखा तो खिड़की से रेंगकर आने वाली चाँदनी में उनका अपना साया दीवार पर ठहरकर उन्हें घूर रहा था. वर्षों बाद अम्मा की याद आयी थी. वह देर तक अम्मा के बारे में ही सोचते रहे कि आख़िर उन्होंने अपनी माँ को इतनी आसानी से कैसे भुला दिया था. वह क्यों कभी याद ना आयीं ? क्या ख़ुदा से कुर्बत का जुनून मुझ पर इतना छा गया था कि माँ की मुहब्बत भी उसमें धुल गयी थी ?

"अम्मां अब कैसी होंगी ?" यह सोचकर उन्हें एक अजीब सी बेचैनी होने लगी. उन्हें लगा कि वह इक़बाल को उठाकर अम्माँ की सेहत के बारे में पूछें. बाहर काबक (कबूतरों के रिहाइशीख़ाने) में कबूतरों के परों के फड़फड़ाने की आवाज़ पर उनका ध्यान टूट गया.

पिछली रात वह बिलकुल भी नहीं सो सके थे. शहर जाने वाली लक्ज़री बस के चलते ही उनकी आँख लग गयी थी. आठ-नौ घंटे के सफ़र के बाद वह शाम ढले शहर पहुँच गये थे. इक़बाल ने जब अपनी अटैची उठाने के बाद उनका एकमात्र सामान जो कपड़े का एक थैला था लेना चाहा तो उन्होंने मुस्कुराकर सिर के इशारे से मना कर दिया था.

ऑटो-रिक्शा विभिन्न छोटी-बड़ी घुमावदार गलियों से होता हुआ जब एक चौड़ी गली के दोरस्ते पर स्थित एक छोटी सी कोठी के सामने रुका तो उन्हें अपने आबाई मकान को पहचानने में थोड़ी सी भी कठिनाई नहीं हुई. मकान अब उतना ख़ूबसूरत नहीं रहा था या आसपास की बढ़ती आबादी ने उसकी बेमिस्ली को छिपा लिया था. इक़बाल के पीछे-पीछे वह किसी रोज़मर्रा की तरह मकान में दाख़िल हुए. इक़बाल ने सदर दरवाज़े से ही चीख़कर कहा, "नानीजान, अम्मीजान, देखो कौन आया है."

इक़बाल की आवाज़ के कुछ पल बाद ही ऐसी हलचल मची जैसे दरो-दीवार बड़बड़ाने लगे हों और हर ईंट आँख बनकर उन्हें उत्सुकता से घूरने लगी हो.

"बेटा !" एक कमज़ोर और बूढ़ी ज़नानी चीख़ पर उनके क़दम रुक गये. सामने बड़े दालान से एक कमर झुकी, कमज़ोर, बूढ़ी औरत उनकी तरफ़ दोनों हाथ फैलाये दौड़ी चली आ रही थी.

"अम्माँ सँभालिए." औरत के लड़खड़ाते ही उनके मुँह से अपने आप निकला और उन्होंने लपककर अम्माँ को अपने बाज़ुओं में सँभाल लिया. पच्चीस-तीस वर्ष के बाद अपने बेटे को फ़क़ीरों के लिबास में भी देखकर ख़ुशी और बेयक़ीनी ने उनके हवास जैसे छिन गये हों और वह बेटे के बाज़ुओं में ढह गयीं. दरवाज़ों में खड़ी औरतें, बच्चियाँ और लड़के एक-एक करके उनके पास दायरा बनाकर खड़े हो गये. कुछ की आँखें भीग गयी थीं तो कुछ सिसक रहीं थी. उनकी आँखें भर आयीं. यह पछतावे के आँसू थे या ख़ुशी के, इसका पता ख़ुद उन्हें भी न था. लेकिन आँखें इतने वर्षों बाद नम हुई थीं. उन्हें ख़ुद इस पर हैरत थी. इक़बाल की माँ, गुड़िया, अब गुड़िया कहाँ रह गयी थीं. बालों में चाँदी के इतने तार थे कि काले बालों को आसानी से गिना जा सकता था. वह भाई को देखकर रोये चली जा रही थी.

मर्दाने में जब खाना परोसा गया तो घर की औरतें कम वक़्त में जितने अच्छे पकवान बना सकती थीं वह सारे ही दस्तरख़्वान पर मौजूद थे. खाने की भूख जगाने वाली ख़ुशबू से इक़बाल की भूख भी ख़ूब चमक उठी थी.

"हम दाल और रोटी लेंगे" उनकी इस बात पर सबकी नज़रें उनकी तरफ़ उठ गयीं. ज़नाने में औरतें हैरत से एक दूसरे का मुँह देखने लगीं जो पर्दों की आड़ से उन्हें देख रही थीं.

सबने बड़ा इसरार किया लेकिन उन्होंने माश (उड़द) की दाल से रोटी खायी और फ्रिज के ठंडे पानी की जगह खड़ोंची (मिट्टी की घड़िया) का सादा पानी मँगाकर पिया.

रात में जब उनका बिस्तर उसी कमरे में लगाया गया जहाँ वह पढ़ाई के दौर में रात को पढ़ा करते थे तो उन्होंने फोम के गद्दों पर सोने से इनकार कर दिया. अम्माँ ने आकर डाँटने वाले अन्दाज़ में कहा—"इक़बाल ने तुम्हारे लिए ख़ुद लगाया है यह बिस्तर और तुम...."

"नहीं अम्माँजान, हम दरवेशों का बिस्तर तो नंगे फ़र्श पर खजूर की चटाई है. अल्लाह के प्यारे रसूल भी...." उन्होंने बड़ी नर्मी से माँ को समझाना चाहा.

"यह तुम्हारी ख़ानकाह नहीं." अम्माँ ने सख़्ती से बात काट दी,

लघुकथा

आदमी की कीमत

•

रतन सिंह

एक जुआरी पहले धन दौलत हारा. फिर मकान और फिर अपनी पत्नी और बच्चे भी हार गया.

उसे बिल्कुल खाली देखकर जीतने वाले जुआरी ने कहा, "अब जाओ यहाँ से."

"तुम्हारे पास अब दाँव पर लगाने के लिए बचा ही क्या है ?" जीतने वाले ने पूछा.

"मैं अब अपने आपको दाँव पर लगाऊँगा."

"तुम्हारी क़ीमत तो धन-दौलत, मकान और पत्नी के साथ थी. इनके न रहने पर तो तुम दो कौड़ी के भी नहीं हो." ◙

"तुम्हारी अम्माँ का घर है. जब तुम अपनी ख़ानकाह में जाना तो चाहे जो खा लेना, चाहे जैसे सो लेना, मैं देखने नहीं आऊँगी. लेकिन मेरा बच्चा जो बीस साल तीन महीने और दो सप्ताह के बाद घर आया है उसे मैं दुल्हे की सेज तो ना दे सकी लेकिन मुलायम बिस्तर ना दूँ यह कैसे हो सकता है ?" माँ की आँखें छलक आयीं और वह बड़ी उत्सुकता से अपने बचपन और जवानी की यादों को उनके चेहरे की एक-एक सिलवटों में खोजने लगे.

रात को फ़ोम के नर्म गर्म बिस्तर पर लेटे-लेटे उन्होंने सोचा—अगर ख़ुदा का वजूद भी किसी माँ की देन होता तो मज़हब की सभी किताबों में क़हर के बजाय रहम-ही-रहम होता और शायद नर्क का वजूद ही नहीं होता. भला कोई माँ अपने शरारती बच्चे को भी आग से थोड़े ही जलाती है. फिर ख़ुदा को अपने ख़ालिक (पैदा करने वाले) की बात मेरी तरह मान लेनी पड़ती.... वह इन्हीं ख़यालों में डूबते-उभरते रहे और फिर नर्म बिस्तर पर पच्चीस वर्षों की तपस्या से पत्थर हो जाने वाले शरीर की नस-नाड़ियों में बिस्तर की नर्मी ने ऐसा ख़ुमार भरा कि वह सुबह उस वक़्त उठे जब सूरज खिड़की से उन्हें झाँककर हैरत से देख रहा था. तुरन्त नहा करके उन्होंने चाश्त (सूर्य उदय होने के बाद की नमाज़) की नमाज़ पढ़ी. तहज्जुद (आधी रात की नमाज़) और फज्र की नमाज़ न पढ़ने का उन्हें बहुत अफसोस था.

तीन दिन कैसे गुज़र गये, कुछ पता ही नहीं चला. अम्माँ ने वह सारे पकवान बनाकर खिला डाले थे जो उन्हें पसन्द थे. वह चाहते थे कि अम्माँ को समझायें कि मुरग्गन (चिकनाई युक्त) भोजन नफ़्स (इन्द्रियों) को जगाता है और मुर्दा इच्छाओं को ज़िन्दा करता है. इसलिए दरवेश रूखी-सूखी खाकर आज़ाए रईसा (दिल, दिमाग़, जिगर) को सुखाते और नफ़्स को जलाते हैं. लेकिन अम्माँ की मुहब्बत और हठ के आगे वह मजबूर थे. इक़बाल हर वक़्त सेवा के लिए गुलामों की तरह मौजूद रहता था. दोनों भाइयों से एक दिन पहले मुलाक़ात हुई थी. बस रस्मी दुआ-सलाम और ख़ैर-ख़ैरियत तक मुलाक़ात सीमित रही. उसके बाद दोनों नज़र नहीं आये थे. पूछने पर अम्माँ ने बताया कि दोनों रात देर से घर आते हैं और सच तो यह है कि वह आने से ख़ुश नहीं हैं, और सुना है कि वकीलों से सलाह कर रहे हैं. कल से उन्हें खाँसी की शिकायत हो गयी थी. फ्रिज के पानी के वह आदी नहीं थे लेकिन यहाँ पानी माँगते तो भान्जे-भतीजे ठंडा शर्बत लेकर दौड़ते थे.

"इक़बाल मियाँ कल छुट्टी का दिन है ना", उन्होंने मुर्ग की टाँग को दाँतों से उधेड़ते हुए पूछा और फिर ख़ुद ही बोले, "कल चलकर कमाल भाई और अफ़ज़ाल भाई से तुम्हारे और मेरे हिस्से की ज़मीनों की बात कर ली जाये."

"आप जैसा मुनासिब समझें." इक़बाल ने बड़ी नम्रता से कहा जबकि वह उनके आने के दूसरे ही दिन उन्हें अपने दोनों मामुओं से हिस्से की बात करने के लिए कहने वाला था लेकिन उनकी दरवेशाना तबीयत को देखकर वह ख़ामोश था.

दूसरे दिन जब वे चारों भागीदार तयशुदा प्रोग्राम के तहत बैठे तो इक़बाल की उम्मीद के अनुरूप उनकी आशा के विपरीत दोनों भाइयों ने साफ़ शब्दों में कह दिया—"मामला कोर्ट में है और अब वहाँ जो भी फैसला होगा वे उसे स्वीकार कर लेंगे."

"लेकिन यह लड़का हमारा भांजा है. आप मेरे भाई हैं. आप हम दोनों का हिस्सा हड़प लेना चाहते हैं."

उन्हें एकदम से गुस्सा आ गया और वे इतने ज़ोर से बोले कि उनकी आवाज़ लगभग फट गयी और तैश में उनकी आँखें सुर्ख़ हो गयीं, "देखो भाई जलाल, तुमने तो दरवेशी के नाम पर सभी ज़िम्मेदारियों और कर्तव्यों से फ़रार अख़्तियार कर लिया था. लेकिन अब्बा जान की बीमारी और फिर मकान के पुराने मुक़द्दमे की पैरवी के साथ-साथ इतने बड़े ख़ानदान की देख-रेख तो हम दोनों ने ही की है. उस वक़्त जब हम मुक़द्दमों और कर्ज़ों में डूबे हुए थे तब तुमने पलटकर हाल तक ना पूछा." बड़े भाई ने कहा और अपनी छड़ी लेकर टहलते हुए मकान में ग़ायब हो गये.

मँझले भाई ने तिपाई पर से चश्मा उठाया और नाक पर जमा कर मकान से बाहर निकल गये. इक़बाल से ज़्यादा उन्हें ताव आ रहा था. उनका बस चलता तो वह छड़ी छीनकर दो टुकड़े कर डालते और चश्मे को अपने पैरों से रौंद कर चूर-चूर कर देते. इक़बाल अपने मामू का चेहरा तकता रह गया था.

वह रात भर ठीक तरह से सो नहीं सके थे. कभी-कभार किसी कबूतर के ग़राँटे की आवाज़ आती लेकिन उन्होंने उठकर न तो खिड़की से चाँद को देखा, न उसके रौशन हाले को और न ही उस कबूतर को जो रात के तीसरे पहर तक चाँद के आसपास उड़ता रहा था. तहज्जुद पढ़ने का ख़याल आया तो परेशान-ज़हन होने के कारण उन्होंने नमाज़ न पढ़ना ही बेहतर समझा. फ़ज्र की नमाज़ से कुछ पहले उनकी आँख लग गयी थी और फिर दोपहर दिन चढ़ने पर उठे थे. उनके सिरहाने अख़बार रखा हुआ था. जागते ही अख़बार पढ़ने की उनकी आदत लौट आयी थी. वह अख़बार में पता नहीं कब तक डूबे रहते अगर इक़बाल ने आकर उन्हें यह न बताया होता कि बाथरूम की सफ़ाई की जा चुकी है, वह चलकर नहा लें.

"एक प्याली ख़ूब तेज़ और गर्म चाय पीना चाहूँगा." उन्होंने अख़बार से सिर उठाकर इक़बाल की तरफ़ देखते हुए कहा, "शहर में पेट जल्दी ख़राब होता है ना, मुझे भी क़ब्ज़ की शिकायत हो गयी है."

चाय पीकर वह बाथयम गये थे. नहाने में भी उन्हें बहुत वक़्त लगा था. इक़बाल बेचैनी से सुबह की ज़रूरियात से निपटने का

इन्तज़ार कर रहा था क्योंकि आज उन्हें मुकद्दमों की वह कापी चाहिए थी जो इक़बाल ने मामुओं पर कर रखा था. नहाने और लिबास बदलकर घर से निकलने में ही दोपहर हो गयी. दोनों लंच से कुछ ही मिनट पहले कोर्ट पहुँचे थे. इक़बाल ने कोर्ट के कर्मचारी को कुछ रुपये देकर केस और मामू के पेश किये हलफ़नामों की नकलें हासिल कर ली थीं. दोनों एक होटल में चाय का ऑर्डर देकर कागज़ात में खो गये थे कि कमाल मामू की तरफ़ से दाख़िल किये हलफ़नामे को देखकर इक़बाल चौंक पड़ा और अपने जज़्बातों पर क़ाबू रखते हुए हलफ़नामा उनकी तरफ़ बढ़ा दिया. हलफ़नामा पढ़ते ही उन्हें ऐसा लगा जैसे किसी ने उनके गरेबान में जलते हुए कोयले डाल दिये हों. उनके दोनों भाइयों ने अदालत में हलफ़नामा दाख़िल किया था कि जो व्यक्ति जलालुद्दीन के नाम से जायदाद का दावेदार है वह उनका भाई नहीं है. अगर वह बार-बार दबाव डालता है तो गढ़ा हुआ जलालुद्दीन अपने होने का सबूत पेश करे कि पच्चीस वर्षों तक वह कहाँ रहा. वह अपना डोमेसाइल-सर्टीफिकेट और वह जहाँ भी था वहाँ का राशन कार्ड और वोटर-लिस्ट में अपने नाम का सुबूत पेश करे.

इक़बाल उनके चेहरे पर बदलते रंग को ख़ामोशी से देखता रहा था. उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अब उन्हें क्या करना चाहिए. "डोमेसाइल-सर्टीफिकेट, राशन कार्ड, वोटर लिस्ट में इन्दिराज का हमारे पास तो कोई सुबूत नहीं हैं." वह इक़बाल की तरफ़ देखकर बड़बड़ाये, "हमारे होने का सुबूत हमारा अपना ज़िन्दा वजूद नहीं है बल्कि कुछ बेजान सरकारी कागज़ात हैं. इसका मतलब तो यह है कि जिसके पास कागज़ी सुबूत नहीं हैं उसका अपना वजूद ही नहीं है ?"

चाय टेबल पर यूँ ही ठंडी हो गयी. इक़बाल ने कागज़ात को समेटकर होटल के काउंटर पर पैसे अदा किये और दोनों बाहर निकल आये. ऑटो रिक्शा से घर लौटते हुए इक़बाल यही सोच-सोचकर परेशान हो रहा था कि मामूजान को दो-तीन दिन का कहकर लाया था और आज पूरे पन्द्रह दिन हो चुके थे. अगर मामूजान ने मौजूदा हालात को देखते हुए लौट जाने का एलान कर दिया तो जायदाद में उसका अपना हिस्सा मारा जायेगा और मामूजान के जिस हिस्से को पाने की उसे आशा थी, वह भी हाथ से चला जायेगा.

घर पहुँचकर उन्होंने सारा हाल सुनाया तो उन्होंने वही किया जो कोई माँ अपनी नालायक सन्तान के साथ कर सकती है. ढेर सारी गालियाँ और कुछ हल्की-फुल्की बददुआएँ देकर वह जानमाज़ (वह चादर का टुकड़ा जिस पर नमाज़ पढ़ी जाती है) उठाकर अपने कमरे में चली गयीं.

"क्या सोच रहे हैं मामूजान."

"एक सादा इलायची वाला पान मँगवा दो. मुँह का मज़ा ख़राब हो रहा है." वह आसमान में घूरते हुए बोले.

इक़बाल अपनी माँ से पान बनवाकर ले आया. पान की गिलोरी मुँह से रखकर वह फिर ख़ला में घूरने लगे. इक़बाल का दिल किसी आशंका से ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा कि वह वापस जाने का इरादा तो नहीं कर रहे हैं. वह उठकर खिड़की में जाकर खड़े हो गये. मुंडेरों पर बहुत से कबूतर सुस्ता रहे थे.

"काफ़ी दिन हो गये इक़बाल मियाँ." कहकर वह देख तो कबूतरों को रहे थे लेकिन उनकी नज़र में कबूतरों के पीछे सिर उठाये खड़ी ऊँची इमारतों पर जमी हुई थीं—"काम अब तक नहीं हो सका

साजिश रशीद

जन्म : 11 मार्च 1955, सगडीहवा, ज़िला गोंडा, उत्तर प्रदेश
शिक्षा : अन्तर स्नातक कला
व्यवसाय : पत्रकारिता
कृतियाँ : 'रगों में जमी बर्फ़' (उपन्यास); 'रेत घड़ी', 'नख़लिस्तान में खुलने वाली खिड़की', 'ज़िन्दगीनामा' (अख़बारी कॉलम का संग्रह), 'एक छोटा-सा जहन्नुम' (कहानी संग्रह)
सम्मान तथा पुरस्कार : 'रेत घड़ी' और 'नख़लिस्तान में खुलने वाली खिड़की' पर महाराष्ट्र उर्दू अकादमी का पुरस्कार तथा उत्तम पत्रकार का इनाम और साहसपूर्ण पत्रकारिता के लिए 'ऊसामा तलहा' एवार्ड.
सम्पर्क : 36/38 आलू पारो बिल्डिंग, उमर खाड़ी क्रास लेन, मुम्बई- 400009

है. अब तो उन्होंने मेरे होने का अर्थात अपने सगे भाई के भाई होने से इनकार कर दिया है और वह भी हलफ़िया बयान दाख़िल कर...." उन्होंने पान के साथ दाँत को चबाते हुए कहा.

इक़बाल ने देखा उनका चेहरा अचानक तमतमा उठा है और फिर वह गुस्से और बेचैनी से टहलने लगे और उन्होंने पहली बार पूरी जायदाद और उसकी तफ़सील इक़बाल से मालूम की. चारों के बीच हिस्से में कितनी ज़मीन और कितनी दुकानें आती हैं, उसे एक कागज़ पर नोट किया.

"मेरे पास सब कुछ लिखा हुआ है मामूजान." इक़बाल ने उन्हें ध्यान से लिखते हुए देखकर कहा.

"ठीक है तुम्हारे पास है ना. हमारे पास भी तो कुछ लिखा हुआ होना चाहिए." उन्होंने कागज़ पर ही हिसाब जोड़ते हुए कहा. कोई छोटी-मोटी जायदाद होती तो वह हम यूँ माफ़ कर देते, लेकिन लाखों का मामला है और तुम्हारे दोनों मामू यूँ ही डकार जाना चाहते हैं."

"अब हम क्या करें मामूजान, आप ही बताइये." इक़बाल ने उनके चेहरे पर बदलते तेवर को देखकर सहमकर पूछा.

"हम कल अपने स्कूल जायेंगे जहाँ से हमने मैट्रिक किया था. वहाँ से अपना लिविंग सर्टीफिकेट हासिल करेंगे...."

"लेकिन वह तो तुरन्त नहीं मिल सकेगी. आपको तो पहले दरख़्वास्त देनी होगी, उसके बाद वह लगभग दस-बारह दिन बाद कापी बना कर देंगे क्योंकि इतने लम्बे समय के बाद...."

"ठीक है, तो कल हम दरख़्वास्त देंगे." उन्होंने इक़बाल की बात काटकर जल्दी से कहा, "उसके बाद हम अपनी निजी हैसियत में उन दोनों के ख़िलाफ़ मुकद्दमा करेंगे कि पच्चीस वर्षों से हमारी ज़मीन और दुकान दबाये बैठे हैं. उनसे इतने वर्षों का एक-एक पाई का हिसाब सूद के साथ वसूल कर लिया जायेगा." उन्होंने जेब में से एक सलाई निकालकर दाँतों में फँसे गोश्त के एक रेशे को कुरेदते हुए कहा.

कमरे में शाम की स्याही गुनाह की तरह फैल चुकी थी और वे दोनों अँधेरे कमरे में एक दूसरे की आँखों में भविष्य के मनसूबों को बनता हुआ देख रहे थे. मुंडेरों पर से कबूतरों का झुंड अचानक ऐसे उड़ा जैसे उन्हें अँधेरा हो जाने का ख़याल अभी-अभी आया हो....

◆ कहानी ◆

तितलियाँ ढूँढने वाली

ज़ाहिदा हिना

नर्गिस ने सफ़ेद सर वाली अम्माँ को देखा जो सलाख़दार दरवाज़े के दूसरी तरफ़ बैठी थीं, और जिनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी. भैया सर झुकाये हुए था. उसका चेहरा नर्गिस को नज़र नहीं आ रहा था.

मेंहदी ताली बजाकर ज़ोर से हँसा, फिर उसने सलाखों के बीच से अपने दोनों हाथ बाहर निकाल दिये, "मम्मा, मेरी टॉफ़ी !" वह चहका तब भैया ने अपना झुका हुआ सर उठाया और मेंहदी के दोनों हाथ थाम लिये. नमकीन पानी की बूँदें मेंहदी के धूल से अटे हाथों को धोने की नाकाम कोशिश करने लगीं.

नर्गिस ने दूसरे अच्छे और बुरे नज़ारों की तरह इस नज़ारे को भी अपने अन्दर रख लिया. उसके दिल को तसल्ली सी हुई. अम्मा नहीं रहेगी तब भी मेंहदी के सर पर हाथ रखने वाला तो रहेगा. भैया उसे जी जान से चाहता था. वह यक़ीनन मेंहदी को बहुत प्यार से रखेगा. भैया ने रहम की अपील पर दस्तखत करवाने के लिए उससे कैसी-कैसी मिन्नतें न की थीं; लेकिन नर्गिस के लिए बस यही मुमकिन न था. अपील का वक़्त गुज़र गया था और अब वह मौत के मुकाबिल थी.

अम्माँ उसका हाथ यूँ थामे हुए थीं जैसे तैरने वाले डूबने वालों का हाथ थामते हैं. इस स्पर्श में बेबसी थी, जुदाई थी और अथाह दुःख था.

यह स्पर्श, बाहर की दुनिया से उसका आख़िरी सम्पर्क था ! वो दुनिया जो हुस्न और बदसूरती से, अच्छों और बुरों से, मुहब्बत और नफ़रत से भरी हुई थी. मेंहदी खिलखिलता रहा. भैया से बातें करता रहा. कभी दो सलाख़ों के बीच से अपना नन्हा-सा चेहरा आगे निकालकर मम्मा का चेहरा चूमता रहा और कभी हाथ बढ़ाकर नन्ना के सफेद बालों से उलझता रहा.

"अम्माँ इसी बात पर खुश हो लीं कि मेंहदी अब आज़ाद हो जायेगा. उसने सलाखों, हथकड़ियों, जंजीरों और संगीनों के सिवा देखा भी क्या है. वह यहीं पैदा हुआ. यही बैरिकें उसका कुल संसार हैं ! अब वह स्कूल जायेगा, बाज़ार जायेगा, बाग़ में खेलेगा, भैया इसे झूले पर ज़रूर बिठाना."

"आपा तुम्हें ख़ुदा-रसूल का वास्ता, चुप रहो." भैया बिलखने लगा और वो ख़ामोश हो गयी. वह अम्माँ का और भैया का उत्पीड़न, उनका पाप समझती थी लेकिन उन्हें ये नहीं समझा सकती थी कि कभी इन्सान अपने लिए मौत चुना करता है कि दूसरे जिन्दा रहें. मौत के प्याले में जब तक ज़िन्दगी के सिक्के न डाले जायें आदर्श हाथ नहीं आते.

वह और हुसैन एक साथ ही गिरफ़्तार हुए थे ! फिर ख़बर आयी कि तफ़्तीश के दौरान हुसैन ने खुदकुशी कर ली. वह जानती थी कि हत्यारे हत्या को खुदकुशी ही कहते हैं. हुसैन पर से उसका ईमान एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुआ था. वो भी उसकी तरह ज़मीर का क़ैदी था और ज़मीर के कैदी खुदकुशी नहीं करते. रहम की दरख्वास्तें नहीं गुज़ारते.

आख़री मुलाक़ात का समय ख़त्म हुआ तो अम्माँ बेहोश हो गयीं. भैया सलाखों से चिमट गया. वह उसके हाथों को प्यार कर रहा था. उसके बालों को छू रहा था फिर वो लोग चले गये—नहीं वे लोग गये नहीं, ले जाये गये. नर्गिस का कैसा जी चाहा था कि एक बार आख़री बार भैया को सीने से लगा ले लेकिन ये सम्भव न था. जेल के उसूल इन्सानों ने बनाये थे. उनसे इन्सानी रिश्तों और जज़्बों का ख़याल लाहासिल था.

मम्मा चला गया तो मेंहदी बिलखने लगा. वह वहाँ जाना चाहता था जहाँ की कहानियाँ अम्मीं ने सुनायी थीं लेकिन अम्मीं तो उसे कहीं भी नहीं जाने देती थीं.

"कल चले जाना—मम्मा तुम्हें कल ले जायेंगे" नर्गिस मेंहदी के रुख़सार चूमने लगी.

वार्डन मरियम ने माँ और बेटे पर एक नज़र डाली और सर झुका लिया. ये कैसी औरत थी जिसने मौत की सज़ा के ख़िलाफ रहम की अपील नहीं की थी. जिसने फाँसीघर पहुँचकर एक आँसू नहीं बहाया था, चीखें नहीं मारी थीं, खुदा से लेकर जेलर तक किसी को भी गालियाँ नहीं दी थीं.

ये अजीब औरत थी कि जब उसे कुरआन दिया गया तो उसने उसे आँखों से लगाकर एक तरफ़ रख दिया और अपने बेटे को चूमती रही. मौलवी साहब ने आकर उसे नमाज़ पढ़ने की बारगाहे रब्बुल इज़्ज़त[1] में तौबा असतगफार[2] करने की हिदायत की तो वह मुसकराती रही. मौलवी साहब के जाने के बाद उसने जाएनमाज अपने तकिये के नीचे रख दी, फिर तकिये पर सर रखकर लेट गयी और अपने बेटे को कहानियाँ सुनाने लगी.

ज़नाना वार्ड कैसी-कैसी मुजरिम व मुलीज़म औरतों से भरा हुआ था. लेकिन नर्गिस उन सबको अपने आप में से नहीं लगती थी. गुज़रे हुए चार वर्षों में उन बुरी औरतों ने उसे बहुत अच्छी तरह रखा था. वो उनकी समझ से कहीं ज्यादा समझदार थी इसलिए वह उससे मुहब्बत करती थीं, उसका आदर करती थीं, उससे खौफ़ खाती थीं. उनकी समझ में नहीं आता था कि जब उसने किसी की नाक-चुटिया नहीं काटी, किसी के मवेशी नहीं चुराये, कच्ची शराब और चरस नहीं बेची, किसी की हत्या नहीं की तो फिर उसे किन पापों की इतनी बड़ी सज़ा मिली है.

"बीबी, तुम्हें डर नहीं लगता." फाँसीघाट की तरफ मुन्तक़ल[3] होने

1. उस खुदा के सामने जो बड़ा इज़्ज़त वाला है.
2. क्षमा याचना, मुक्ति
3. एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाया हुआ.

के चंद दिन बाद वार्डन मरियम ने उससे पूछा था.

"किस बात से डर ?" नर्गिस के लहज़े में सुकून था.

"मौत से".

"नहीं, मौत पर जब अपना अख़्तियार हो तो उससे डर नहीं लगता. फिर मेंहदी भी तो है. वो मेरे बाद रहेगा और मैं उसमें रहूँगी. फिर जब वो चला जायेगा तो मैं उसके बच्चों में ज़िन्दा रहूँगी."

मरियम ने उसके बाद नर्गिस से कोई प्रश्न नहीं किया था. हाँ, बैरक़ों में ये बात ज़रूर घूम गयी थी कि फाँसी-घर में जो बीबी बंद है वो बहुत पहुँची हुई है. उसे दैविक-ज्ञान हुआ है कि वह अपने बाद भी रहेगी. हाथी के कलेजे वाली है. नर्गिस ने अनुमान किया था कि उसके सामने पहुँचकर लेडी वार्डनों की निगाहें झुक जाती हैं. सुपरिन्टेंडेंट जेल को उसकी कोठरी से जाने की जल्दी होती है और सुबह व शाम जब वह अपनी कोठरी से बाहर निकाली जाती है तो हर तरफ़ सन्नाटा छा जाता है. लड़ती हुई और शोर मचाती हुई औरतें ख़ामोश हो जाती हैं. और सलाख़दार दरवाज़ों के पीछे से उसे यूँ देखती हैं जैसे कि वह उनमें से नहीं है कहीं और से आयी है.

वह खाना, वह आख़री खाना किस एहतिमाम (प्रबंध) से आया था. द लास्ट सपर.

उसे बड़े आर्टिस्टों की तस्वीरें याद आयीं. मेंहदी इस खाने को देखकर किस क़दर खुश हुआ था. "आज खाना बहुत मजे का है अम्मी." उसने माँ के गले में बाँहें डाल दी थीं.

"हाँ मेरी जान सच कहते हो," नर्गिस ने उसे निवाला बनाकर देते हुए निगाहें झुका ली थीं कि मेंहदी उन आँसुओं को न देख ले जो पलकों की ओट से लगे बैठे थे.

फिर रात हो गयी. मेंहदी ऊँघने लगा लेकिन नर्गिस उससे जी भरकर बातें करना चाहती थी. उसकी आवाज़ सुनना चाहती थी. वह उसे बहुत देर तक जगाना चाहती थी ताकि वे लोग पौ फटने से पहले जब उसे लेने आयें तो वह मीठी नींद सो रहा हो.

नर्गिस ने उसकी रौशन आँखों को देखा. उसके खूबसूरत माथे को देखा. यह हुसैन की आँखें थीं. ये हुसैन का माथा था. इस बदन से हुसैन की खुशबू फूटती थी. हुसैन की, जिन्दगी की, उम्मीद की खुशबू. हुसैन अब जबकि तुम कहीं नहीं हो तो क्या अब भी तुम कहीं रहते हो ? ज़मीन और आसमान के बीच ? उसके लहू में भँवर पड़ने लगे. उसने मेंहदी को अपने सीने में समेट लिया.

"बहुत ज़ोर की नींद आ रही है अम्मी." मेंहदी ने फ़रियाद की.

"मेरी जान, बस अभी कुछ देर में सो जाना. मुझसे थोड़ी-सी बातें और कर लो." नर्गिस की आवाज़ लरज़ने लगी, "कल सुबह तुम्हें मम्मा अपने घर ले जायेंगे. वो तुम्हें कहानियाँ सुनायेंगे, बाज़ार ले जायेंगे. जाओगे ना ?"

"सच अम्मी ? हमारे साथ आप भी बाज़ार चलेंगी ना ?" मेंहदी नींद को भूलकर उठ बैठा.

"मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी बेटे."

"तो क्या आप इसी घर में रहेंगी ?"

"नहीं बेटे, मैं तुम्हारे लिए तितलियाँ ढूँढ़ने जाऊँगी."

गलियारे में आहट हुई. नगिर्स ने सर उठाकर देखा.

वार्डन मरियम सलाखें थामे उन दोनों को देख रही थी.

लघुकथा

वक़्त

•

रतन सिंह

मैं भूखा भी था और पाँव से नंगा भी. इसलिए चलने में बड़ी दिक्कत हो रही थी. तन पर कपड़े भी फटे पुराने थे. इसलिए सर्दी से अलग ठिठुर रहा था. थकावट और कमज़ोरी के कारण मेरे लिए एक कदम भी उठाना दूभर हो रहा था.

इतने में मुझे कुछ फासले पर एक आदमी जाता हुआ दिखाई दिया. मेरे दिल में इससे कुछ मदद मिलने के लिए उम्मीद जागीं. मैंने हिम्मत बटोरी. अपने थके हुए कमज़ोर शरीर की सारी शक्ति इकट्ठी की, अपने कदमों में कुछ तेज़ी लाया और थोड़ी देर बाद मैं इस आदमी के बराबर पहुँच गया.

अभी मैं हैरान ही हो रहा था कि मेरे अन्दर इतनी शक्ति कहाँ से आ गयी कि तभी मुझे महसूस हुआ कि मैं अपने पाँव में बढ़िया जूता पहने हूँ, तन पर भी खूबसूरत कपड़े हैं. और मेरा पेट भी भरा हुआ है, मैं अपने शरीर में नई फुर्ती महसूस कर रहा था.

यह अपने आप कैसे हो गया ? मैं हैरान था.

अपने सवाल का जवाब उसी आदमी से लेने के लिए मैंने कहा, "मेरे लिए आपका साथ बड़ा मुबारक निकला." और फिर अभी अभी जो मेरे साथ हुआ था वह कह सुनाया.

"हाँ," वह बोला, "जो लोग मेरे साथ-साथ चलते हैं उनके मन की मुरादें पूरी हो जाती हैं."

"मैं आपका नाम जान सकता हूँ ?" मैंने कृतज्ञता भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए पूछा.

"वक़्त," उस का जवाब था. ▣

"अम्मी, कल तितलियाँ ढूँढ़ने जायेंगी." मेंहदी ने खुश होकर मरियम को बताया.

"हाँ राजा-अम्मी से खूब बातें कर लो, खूब प्यार लो." मरियम की आवाज़ टूटने लगी और वह जल्दी से मुड़ गयी.

"आप शाम तक तो आ जायेंगी न ?"

"नहीं मेंहदी, तितलियाँ बहुत तेज उड़ती हैं. मैं उन्हें ढूँढ़ने निकलूँगी तो बहुत दूर चली जाऊँगी."

"आप कौन-सी तितली ढूँढ़ेंगी."

नर्गिस एक क्षण के लिए रुकी. "आज़ादी की तितली मेरी जान." उसने बेटे के बाल चूम लिये.

"वह किस रंग की होती है ?"

"उसमें धनक के सातों रंग होते हैं."

"धनक कैसी होती है ?"

"इस बार जब मेह बरसे तो मम्मा से कहना वो तुम्हें धनक दिखा देंगे."

"फिर मैं भी धनक तितलियाँ ढूँढूँगा."

"नहीं मेरी जान, धनक तितलियाँ तुम्हारे पास आप-से-आप आ जायेंगी. हम इसीलिए तो उन्हें ढूँढ़ने निकले हैं कि तुम्हें हमारी तरह सफर न करना पड़े." नर्गिस का बदन लरज़ने लगा. वो पागलों की उसकी गर्दन को चूमने लगी. इस एक हफ्ते के बीच उसकी आँखों से पहली बार आँसू गिर रहे थे.

मेंहदी सो गया तो नर्गिस ने उसे उठाकर अपने सीने से लगा लिया जैसे कि मेंहदी के वजूद में उम्मीद का पौधा विकसित हो रहा था.

उसी उम्मीद ने उसके सीने में हाथी का कलेजा रख दिया था. उसे आनेवाले ज़मानों में ज़िन्दा रहने की भविष्यवाणी की थी.

आस पास की बैरकों से आयतें पढ़ने और कलमा दुहराने की आवाज़ें आने लगीं. कोई औरत दिल को छू लेने वाली आवाज़ से सुरत-ए-रहमान (कुरआन का एक अध्याय) का पाठ कर रही थी. सबको मालूम था कि आज बीबी विदा होने वाली है, और ये उसी की विदाई की तैयारियाँ थीं.

उसके सीने में किसी ने बरछी मारी. भैया सदर-दरवाज़े के सामने ख़ाक पर बैठा होगा. उसने जब स्टेटिस्टिक्स में एम. ए. किया था तो उसके अनुमान और ख़याल में भी न होगा कि कभी वो आपा की ज़िन्दगी की घड़ियों को गिनेगा और बिल्कुल तन्हा होगा.

चेहरे इसकी आँखों के सामने चकफेरियाँ खाने लगे. मेहरबान और ना-मेहरबान चेहरे, अजनबी और आशना आवाज़ें. नर्गिस को उन आवाज़ों पर अकस्मात् प्यार आया जो उसका आखिरी-सफ़र आसान करने के लिए अपनी नींदें क़ुर्बान कर रही थीं. एक हफ़्ता पहले तक वह इन आवाज़ों के साथ थीं लेकिन ये आवाज़ें उसे ज़रा भी तो नहीं समझती थीं. उसके बारे में कुछ भी तो नहीं जानती थीं.

जिस दिन रहम की अपील की मुद्दत खत्म हुई और इत्तला आयी कि सुप्रिटेंडेंट और डिप्टी सुप्रिंटेंडेंट जेल उसे बैरक से फाँसीघर ले जाने के लिए आ रहे हैं तो हर तरफ़ सन्नाटा था. वह और मेंहदी बैरक से विदा हुए तो उसने बहुत औरतों को चुपके-चुपके आँसू पोंछते और चेहरे झुकाते हुए देखा. ये वो औरतें थीं जो छोटी-छोटी बातों पर एक दूसरे को गलियाँ देती थीं, गिरेबान तार-तार करती थीं और जिन्हें अलग-अलग करने के लिए मेटरन और वार्डन को बैंतों का खुला इस्तेमाल करना पड़ता था.

नर्गिस को नींद का झोंका छूकर गुज़रा. उसका दिल ऐंठने लगा. मेंहदी का दिल उसके दिल के साथ धड़क रहा था. इस नन्हें से दिल का उसके दिल के साथ धड़कते रहना ही मौत के सामने उसकी सबसे बड़ी जीत थी. वो अपने बाद भी रहेगी लेकिन रूह क्या थी और अगर थी तो बदन से निकलकर कहाँ वास करती थी ? हुसैन कहाँ था ? कहीं भी नहीं. सब कुछ फ़ना हो गया था. फ़ना का मतलब क्या है शब्दकोश के मानी उसे मालूम थे लेकिन ज्ञानेन्द्रियों के बल पर बस अब मालूम होनेवाला था.

"बीबी." मरियम ने सलाख़ों के पास आकर धीरे से उसे आवाज़ दी.

"हाँ ?" उसने गर्दन उठाकर उस तरफ़ देखा.

"राजा को बिस्तर पर लिटा दो बीबी. वे लोग आ रहे हैं." मरियम की आवाज़ तड़खने लगी. एक पल के लिए नर्गिस को ज़मीन हिलती हुई महसूस हुई. फिर सम्भलकर उसने करवट ली और सीने से लिपटे हुए मेंहदी को बिस्तर पर लिटा दिया. इसे भला मेरी सूरत क्या याद रहेगी. इसके लिए तो मैं केवल एक नाम, एक ख़याल रहूँगी.

"सारी ग़लतियाँ माफ कर देना बीबी, हम रोटी इसी की खाते हैं. पेट बड़ा बदकार है बीबी." मरियम सलाखों से सर टिकाकर बिलखने लगी. नर्गिस ने चारपाई से उतरकर दोनों हाथ सलाखों से बाहर निकाले और मरियम का कन्धा थाम लिया. शब्द बेकार थे. भारी क़दमों की

आहट करीब आयी तो नर्गिस ने मरियम का बाजू थपथपाया. उसने सर उठाकर भरी-आँखों से नर्गिस को देखा. सफेद मलमल के दुपट्टे से अपनी आँखें साफ कीं और अटेंशन में खड़ी हो गयी. मरियम ने ताले में चाबी घुमायी और फिर जिस कदर धीरे से सम्भव था दरवाज़ा खोल दिया. लोहे के दरवाज़े को सुपरिनटेंडेंट जेल ने धक्का दिया तो दीवार से टकराकर आवाज़ हुई.

''साहब जी बच्चा सो रहा है, जग न जाय.'' वार्डन मरियम ने अति शिष्टाचार के साथ आने वालों को गिड़-गिड़ाकर याद दिलाया.

''अच्छा बक-बक मत करो, बड़ी आयी बच्चे की सगी.'' सुपरिनटेंडेंट ने उसको तेज आवाज में झिड़का.

''सर आइ रिक्वेस्ट यू नॉट टॉक लाउड्ली.'' नौजवान मजिस्ट्रेट ने एक नज़र सोये हुए मेंहदी पर डांली और माथे से पसीना पोंछते हुए कहा.

सुप्रिंटेंडेंट की त्यौरी पर बल पड़ गये. ये नये अफ़सर अपने आपको जाने क्या समझते हैं ! उसका मुँह कड़वा हो गया. फिर उसने अपने आप पर काबू पाते हुए कानूनी कार्रवाई शुरू कर दी. उसने पहले नर्गिस की पहचान की, फिर एक कागज़ खोलकर दफ्तरी-लहजे में बाआवाज़े बुलन्द पढ़ने लगा. ये कागज़ बिसमिल्लाह हिर्रहमान निर्रहीम से शुरू होकर इस आशय पर खत्म हुआ कि मुजरिमा के गले में फाँसी का फन्दा उस समय तक पड़ा रहे जब कि उसका दम न निकल जाय.

मैडिकल अफ़सर ने आगे बढ़कर नर्गिस की नब्ज़ देखी. दिल की धड़कन सुनी. धीरे से सर हिला दिया. डिप्टी सुप्रिंटेंडेंट ने उससे चन्द कागज़ों पर दस्तख़त कराये. नौजवान मजिस्ट्रेट ने उन हस्ताक्षरों की तस्दीक की. और सुप्रिंटेंडेंट कोठरी से बाहर निकल गया.

डिप्टी सुप्रिंटेंडेंट ने वार्डन मरियम को इशारा किया. वह अन्दर आयी. उसका चेहरा जैसे कांसे में ढल गया था. निगाहें झुकी हुई थीं. वह नर्गिस के दोनों हाथ थामकर पीठ पर ले गयी और उन्हें चमड़े के तस्मे से बाँधने लगी. नर्गिस ने उसकी उँगलियों की कँपकपाहट और नरमी को महसूस किया. वह तन्हा नहीं थी. बाहर बहुत से लोग थे. अन्दर भी बहुत से लोग थे. तमाम बैरकों पर इस समय रायफल बिरादरों का पहरा होगा. सदर दरवाज़े पर बारह वार्डनों की एक पलटन तैनात हो चुकी होगी. उन सबकी रायफलों में दस-दस गोलियाँ होंगी और उन्हीं के मुकाबिल धरती पर भैया बैठा होगा.

मेंहदी का चेहरा उसकी निगाहों के सामने था. वो उसे एकटक देख रही थी. मेटरन के इशारे पर मरियम ने उसका बाजू थामा, ''चलो बीबी.''

वह एक कदम बढ़ी. फिर पलटकर उसने मेंहदी को देखा. वो कुलबुला रहा था. सुब्कियाँ ले रहा था. शायद कोई डरावना सपना देख रहा है. नर्गिस का दिल किसी ने मुट्ठी में जकड़ लिया. आँखों की दहलीज़ तक आने वाले आँसुओं को उसने जबरन धकेला. वह उन लोगों के सामने थी जिन्होंने उसकी और उस जैसे दूसरों की रूह को पराजित करने की बहुत कोशिश की थी. लेकिन वह उनसे हारी नहीं थीं तो अब आख़री क्षणों से उन्हें फतहमन्दी के स्वाद से परिचित क्यों कराये.

नौजवान मजिस्ट्रेट की निगाहों ने उसकी निगाहों का पीछा किया, ''बच्चा कहाँ रहेगा ?''. उसने मेटरन से पूछा.

''बच्चे का मामूं बाहर इंतज़ार कर रहा है जी.''

नर्गिस के सीने पर घूँसा लगा—भैया को उसने किस इम्तिहान में डाल दिया था. मजिस्ट्रेट की पेशानी पर सिलवटे थीं.

उसने नर्गिस पर एक गहरी नज़र डाली फिर राहदारी में खड़ी हुई एक वार्डन को आवाज़ दी.

''जी साहब.'' वार्डन अन्दर आ गयी.

''बच्चे को गोद में उठा लो. ज़रा सावधानी से.''

''साहब जी, मैं उठा लूँ.'' मरियम की आवाज़ में सर से पाँव तक प्रार्थना थी.

''चलो तुम ही सही. इसे बीबी के साथ ले चलो.''

''लेकिन ये तो जेल मेनुअल के...''

डिप्टी सुपरिनटेंडेंट ने हस्तक्षेप करना चाहा, ''टू हैल विद योर जेल मेनुअल'' नौजवान मजिस्ट्रेट ने कहा और तेज़ क़दमों से बाहर निकल गया. मरियम ने आगे बढ़कर मेंहदी को उठाया और सीने से लगा लिया. वह फ़ौरन ही चुप हो गया.

डिप्टी सुप्रिंटेंडेंट के नेतृत्व में काफ़िला रवाना हुआ. दो सिपाही आगे चल रहे थे और दो पीछे, बीच में वह थी और उसके दायें बायें मरियम और दूसरी वार्डन चल रही थीं. चलते हुए भी नर्गिस की निगाहें मेंहदी पर जमी हुई थीं. बाहर मई के महीने की रात में पौ फटने से पहले की खुशगवार खुनकी रची हुई थी. डूबते हुए चाँद की रौशनी में उसने तख़्त-ए-दार (फांसी का तख्ता) को देखा. सीढ़ियाँ उसे नज़र आ रही थीं. मौत तो पाताल में उतरने का नाम है. इस पाताल में उतरने के लिए सीढ़ियाँ क्यों चढ़नी पड़ती हैं ? उसे जल्लाद नज़र आया. आज उसके बच्चे कितने खुश होंगे. बाप को आज फाँसी-भत्ता मिलेगा. दस रुपये. दस रुपये तो बहुत होते हैं. इन रुपयों से कई चीज़ें खरीदी जा सकती हैं. नर्गिस का मतिष्क भटक रहा था लेकिन उसके पैरों में कोई कम्पन नहीं था. अचानक वह रुक गयी, 'मरियम' उसकी आवाज सन्नाटे में बिजली की तरह चमकी.

''हुक्म दो बीबी.'' वार्डन मरियम की आवाज़ आँसुओं से भीगी हुई थी. जाने कौन हाकिम था और कौन महकूम उसने मरियम को क़रीब आने का इशारा किया. मरियम उसके सामने झुक गयी. पीठ पर बँधे हुए नर्गिस के दोनों हाथ मेंहदी को छूने के लिए फड़के. फिर अपनी जगह स्थिर हो गये. मेंहदी नींद में हँस रहा था. शायद परियों से खेल रहा था. नर्गिस ने धुँधलाई हुई आँखों से ज़िन्दगी को देखा. फिर धीरे से उसका माथा चूमा, रुख़सार चूमे. ज़िन्दगी से रुख़सत हो रही थी. वो सीढ़ियाँ चढ़ने लगी. तख़्त-ए-दार पर पहुँची तो सरकारी जल्लाद उसके क़दमों में झुका और तस्मे से पैर बाँधने लगा. नर्गिस ने ओझल होते हुए मंज़र पर एक नज़र डाली फिर उसे भी अपने अन्दर रख लिया. उसकी आँखें बन्द थीं और मंज़र उसके अन्दर था. वो जानती थी कि चाँद डूब रहा है. सुबह के सितारे का उदय हो गया है. मेंहदी परियों से खेल रहा है. सूरज उगने ही वाला है और अल्लाह के बाबरकत नाम से शुरू होने वाले हुक्मनामे पर अमल दरामद का समय आ पहुँचा है.

ज़ाहिदा हिना

जन्म : 5 अक्टूबर 1946, सासाराम (बिहार)
वर्तमान निवास : कराची (पाकिस्तान)
कृतियाँ : 'क़ैदी साँस लेता है', 'राह में अजल' (कहानी संग्रह)

◆ कहानी ◆

रास्ते और खिड़कियाँ

●

अनवर ख़ान

ऑफ़िस के एक साथी की मदद से कमरा मिल ही गया. मैं उनके साथ कमरे पर पहुँचा तो कमरे के मालिक शर्मा जी मौजूद नहीं थे. बहरहाल कमरे की चाभी मेरे साथी उनसे पहले ही ले चुके थे. बाहर बारिश हो रही थी. हमने यही मुनासिब समझा कि कमरे में बैठकर उनका इन्तज़ार करें. हमने कमरा खोल लिया. कमरा कुछ ज़्यादा बड़ा नहीं था लेकिन शर्मा जी का सामान भी कम ही था—एक तिपाई, दो कुर्सियाँ और छोटा कबर्ड. मैं बिस्तर और सूटकेस साथ लाया था. उन्हें एक तरफ़ मैंने रख दिया. और कुर्सियों पर बैठकर मैं और मेरे साथी उनका इंतज़ार करने लगे. मुझे शर्माजी के साथ रहना था. उसे भी मैंने ग़नीमत समझा. वरना कमरे की पगड़ी दस-पन्द्रह हज़ार रुपये अदा करने की मुझमें कुव्वत नहीं थी. मेरे दोस्त को कहीं जाना था. वह कुछ देर इन्तज़ार करने को बाद चला गया और मैं सोचने लगा कि इस कमरे को किस तरह अच्छा बनाया जा सकता है. दीवारों पर फिर से रंग-रोग़न किया जाना चाहिए. कहीं-कहीं से प्लास्टर उखड़ गया है, उसे दोबारा ठीक करना चाहिए. एक-दो अच्छी तस्वीरें इन ख़ाली दीवारों में लगानी होंगी ताकि कुछ एस्थेटिक टच पैदा हो सके. मैंने उठकर खिड़की से बाहर झाँका. मकान से लगा हुआ एक छोटा-सा अहाता था. फिर मकानों का सिलसिला ही सिलसिला था. कमरा सड़क की दिशा में नहीं था. इसलिए रास्ते का शोर नहीं पहुँचता था.

ऑफिस छूटने में पाँच मिनट बाक़ी थे. मैं उठकर हाथ-मुँह धोने चला गया. वहाँ और लोग भी थे. क़हक़हे उछल रहे थे. ये वे लोग थे, जिनके अपने घर थे, बीवी-बच्चे थे या माँ-बाप थे. दोस्त-अहबाब थे. दो-एक मुझसे मुख़ातिब हुए. लेकिन मैं वक़्तगुजारी की फ़िक्र में इतना खोया हुआ था कि किसी को कोई तसल्लीबख़्श जवाब नहीं दे सका.

"आप ही नये किरायेदार हैं ?"

कोई मुझसे पूछ रहा था. मैं पलटा. पुराना कोट पहने हुए, जो कई जगह से रफ़ू किया गया था, एक कमज़ोर बूढ़ा मुझसे मुखातिब था.

"जी हाँ, मैं ही यहाँ का नया किरायेदार हूँ. शायद आप इस कमरे के मालिक हैं ?" मैंने सवाल किया.

"जी हाँ, मुझे राजेश्वर शर्मा कहते हैं."

"नाचीज़ को मसऊद कहते हैं."

"बड़ी ख़ुशी हुई आपसे मिलकर." कहते हुए हम दोनों ने गर्मजोशी से हाथ मिलाये.

"मेरी सेहत तो ठीक है न ?" कुछ क्षण ख़ामोश रहकर उन्होंने कहा.

मैंने आश्चर्य से उनको देखा और फिर यूँ ही 'हाँ' कह दिया.

"देखो, दिन भर घर से बाहर नहीं निकला और अब आध-पौन घंटे के लिए बाहर निकला तो बारिश होने लगी." शर्मा जी ने फिर बात शुरू की, "भगवान को एक बूढ़े आदमी को इतनी तकलीफ़ नहीं देनी चाहिए."

मैं मुस्कुराकर ख़ामोश रहा.

"आप पढ़ रहे हैं अभी तक या नौकरी कर रहे हैं ?".

"जी, मैं नौकरी कर रहा हूँ." मैंने जवाब दिया.

"तुम्हारे माँ-बाप शायद वतन में हैं ?" उन्होंने फिर मुझसे पूछा.

"हाँ", मैंने छोटा-सा जवाब दिया.

"अब देखो, इस दुनिया में मेरा सिर्फ़ एक भाई है. वह मेरा ज़रा भी ख़याल नहीं रखता. अगर मैं मर जाऊँ तो वह और उसकी बीवी सोचेंगे, चलो एक बला टली." उन्होंने तल्ख़ी से कहा.

मुझे उन पर दया आने लगी.

"वह आपसे मिलने के लिए नहीं आते ?" मैंने पूछा.

"कभी महीने में एक-आध बार मिलने के लिए आ जाता है और गुज़ारे के लिए पैसे दे जाता है, लेकिन सिर्फ़ यही तो काफ़ी नहीं... मेरी सेहत तो ठीक है न ?"

"जी हाँ."

"मेरी उम्र के आदमी के लिए ज़िन्दगी अज़ाब हो जाती है." उन्होंने बात आगे बढ़ायी, "अब देखो होटल के बेयरे भी मुझसे सीधी तरह बात नहीं करते. अभी दोपहर में बेयरा जला हुआ टोस्ट लाया. मैंने उससे कहा—यह टोस्ट जला हुआ है तो कहने लगा—तुम बूढ़ा हमेशा यूँ ही खट खट करता है. अब तुम्हीं बताओ, यह बात करने का ढंग है ? फिर एक बेयरा इस तरह बात करे ! मैं बूढ़ा हूँ, इसलिए सब मुझको तकलीफ़ देते हैं. तुम तो हर चीज़ खाते होगे ?"

"जी हाँ !" मैंने कहा. अब मैं बोर होने लगा था.

"हाँ, तुम जवान हो. जब मैं जवान था, इतना खाया करता था कि तुम सोच भी नहीं सकते. लेकिन अब मैं बूढ़ा हो चुका हूँ, हाज़मा ठीक नहीं रहता."

बारिश रुक गयी थी. मैं शर्मा जी से इजाज़त लेकर चल दिया.

घर वालों से दूर रहने का यह पहला मौक़ा था. कोई दोस्त न होने के कारण इतना बड़ा शहर होने के बावजूद मेरा वक़्त काटे नहीं कटता था. ऑफ़िस में थोड़ी बहुत बातचीत, गपशप हो भी जाती थी। लेकिन ऑफ़िस के लोगों से मेलजोल इतना नहीं था कि ऑफिस के समय के अलावा उनसे मुलाक़ात होती. शुरू-शुरू में सोचा था चलो, शर्मा जी बूढ़े सही लेकिन कम से कम वक़्तगुज़ारी के लिए बुरे नहीं

हैं. लेकिन शर्मा जी को मेरी बड़ी चिन्ता थी. उनका बार-बार टोकना मुझे खलने लगा—"यह कमीज इस पतलून के साथ नहीं पहननी चाहिए. तुम्हारे जूतों पर पालिश क्यों नहीं है ? तुमको रात में घर जल्दी वापस आ जाना चाहिए." इस तरह के वाक्य सुन-सुनकर मैं ऊब गया. पहली बार घर वालों से दूर रहने का मौक़ा मिला था. इस बात की ख़ुशी थी कि यहाँ कोई बात-बात पर टोकने वाला नहीं कि शर्मा जी मेरे सरपरस्त बन बैठे. बार-बार अपनी सेहत और ख़याली शिकायतों का ज़िक्र कर-करके वह मुझे और भी बोर करते थे. कुछ ही दिनों में यह हालत हो गयी कि मैं रात में सिर्फ़ सोने के लिए आता और ज़्यादा से ज़्यादा वक़्त पार्कों व होटलों में और रास्ता नापने में गुज़ारता. फिर भी सुबह और रात को सोने से पहले शर्मा जी को बर्दाश्त करना ही पड़ता. वह रात में देर तक इन्तज़ार करते रहते. वैसे भी बूढ़े थे, नींद कम ही आती थी. तंग आकर मैं उनकी बातों को सुनकर अनसुनी करने लगा या मुख़्तसर जवाब देने लगा. इसका असर मेरे हक़ में हुआ. कुछ दिनों तक उन्होंने मेरे रवैये को बर्दाश्त किया. लेकिन एक दिन आख़िरकार फूट पड़े. मैं ऑफ़िस जाने के लिए कपड़े बदल रहा था कि शर्मा जी ने बात शुरू की :

"मसऊद साहब, मेरी तबीयत तो ठीक है न ?"

मैं ख़ामोश रहा.

"मैं ज़िन्दगी से तंग आ गया हूँ." उन्होंने बात आगे बढ़ायी, "मेरे भाई को देखो, उसे मेरी ज़रा भी फ़िक्र नहीं है. मैं चाहे मरूँ या जिऊँ ! एक सौ पचास रुपये क्या देता है, गोया एहसान कर दिया. कोई मेरा ख़याल रखने वाला नहीं. तुम्हारा क्या ख़याल है, मेरी सेहत तो ठीक है न ?"

मैं ख़ामोश रहा. शर्मा जी का चेहरा फीका पड़ता गया. कुछ देर तक ख़ामोश बैठे रहे. फिर झटके से उठे और जाने लगे. जाते-जाते वह रुके. मैंने उनकी तरफ़ देखा, वह कुछ कहना चाह रहे थे. लेकिन इन्तहाई दुःख की वजह से कुछ कह नहीं पा रहे थे. आख़िर जैसे अपनी तमाम कुव्वत को जमा करके बोले, "मसऊद साहब ! मैं समझता हूँ कि आप मेरी बातों से बोर होते हैं. लेकिन क्या करूँ, अकेला आदमी हूँ. जी घबराता है, इसलिए कुछ-न-कुछ बकवास करता रहता हूँ." इतना कहकर वह चले गये. मैं बहुत ही शर्मिन्दा हुआ. जी चाहा कि उन्हें रोककर अपने रवैये की माफ़ी माँग लूँ. लेकिन फिर यह सोचकर कि चलो, जो हुआ ठीक हुआ, रुक गया. इस रोज़-रोज़ की मुसीबत से तो जान छूटी.

हमारे रिश्ते बिगाड़ की आख़िरी हद पर थे. कुछ ही दिनों के बाद मिस्टर रत्नाकर की बढ़ोत्तरी हो गयी. उनके आने से तनाव कम हो गया. शर्मा जी ने उन्हें कमरे में रखने से पहले मुझसे कोई बात नहीं की थी. मैंने सोचा, इस बार उनकी ख़बर लूँ. लेकिन मुझे डर था कि शर्मा साहब कहीं मुझे ही दूसरी जगह बंदोबस्त करने को न कह दें. रत्नाकर साहब का सामान एक सूटकेस तक ही महदूद था और वह अपनी कोई चीज़, सिवाय तौलिये के बाहर नहीं रखते थे. मैं कमरे में कम ही ठहरता था. अक़सर रात में देर से आता. इसलिए कमरा छोटा होने के बावजूद मैंने एतराज़ करने की ज़रूरत नहीं समझी. रत्नाकर साहब भी काफ़ी बूढ़े और हँसमुख क़िस्म के आदमी थे. पेंशन पर गुज़ारा कर रहे थे. शर्मा जी से जो तल्ख़ तजुर्बा हुआ था, उसके कारण रत्नाकर साहब से मैंने मेलजोल बढ़ाने की कोशिश नहीं की.

शर्मा जी में और मुझमें अब सर्द ज़ंग चल रही थी. बहुत दिनों से हम दोनों में एक लफ़्ज़ का भी आदान-प्रदान नहीं हुआ था. लेकिन शर्मा जी में अब वह बुझा-बुझापन नहीं रहा था. रत्नाकर साहब के आने से उनको एक अच्छा साथी मिल गया था. अक़सर रात में आता तो दोनों बूढ़े घुल-मिलकर बातें कर रहे होते. उस वक़्त मैं अपने दिल में न जाने क्यों कुछ जलन सी महसूस करता लेकिन अब रिहाइश के बारे में मुझे बिलकुल इतमीनान हो गया था.

तनहाई मेरे लिए उलझन होती जा रही थी. सुबह को नाश्ता करके देर तक अख़बार पढ़ता रहता. यहाँ तक कि इश्तिहार वग़ैरह सब चाट जाता. लेकिन वक़्त जैसे रुक-सा गया था. शाम में देर तक पत्रिकाएँ पढ़ता रहता. फिर थककर, उकता कर, खिड़की के बाहर मकानों की कतारें या आसमान को फिजूल ताकता रहता. अक़सर जी चाहता कि किसी अपनी उम्र के व्यक्ति के साथ ख़ूब बातें करूँ. हँसी-मज़ाक़, धींगा-मस्ती हो ! घर की याद अब अक़सर आती और शायद मैं लौट ही जाता. लेकिन बड़ी मुसीबतों से नौकरी मिली थी. और घर वालों को मुझसे बड़ा सहारा था.

ऑफ़िस छूटने में अभी आधा घंटा बाक़ी था. दिन भर का काम ख़त्म करके बैठा सुस्ता रहा था. निराशाजनक हालात ने आ घेरा. मैं सोचने लगा, थोड़ी देर बाद मैं ऑफ़िस से बाहर होऊँगा और फिर वही चक्कर होगा. मैं न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरूँगा, क्यों न अपने कमरे पर चला जाऊँ. लेकिन कमरे में अकेला पड़ा रहना मुझे और भी ज़्यादा बेवक़ूफ़ी भरा लगा. ख़ासतौर से जब शर्मा जी कमरे में मौजूद हों. उससे तो भटकना ही अच्छा है.

ऑफ़िस छूटने में पाँच मिनट बाक़ी थे. मैं उठकर हाथ-मुँह धोने चला गया. वहाँ और लोग भी थे. क़हक़हे उछल रहे थे. ये वे लोग थे, जिनके अपने घर थे, बीवी-बच्चे थे या माँ-बाप थे. दोस्त-अहबाब थे. दो-एक मुझसे मुख़ातिब हुए. लेकिन मैं वक़्तगुज़ारी की फ़िक्र में इतना खोया हुआ था कि किसी को कोई तसल्लीबख़्श जवाब नहीं दे सका.

''बहुत गम्भीर नज़र आ रहे हो.'' किसी ने कहा, ''तबीयत तो ठीक है न ?''

''हाँ.'' मैंने मुख़्तसर-सा जवाब दिया.

''तो फिर किसी के ख़यालों में हो.'' किसी और ने चुटकी लेते हुए कहा, ''कहाँ अपार्टमेंट है मसऊद साहब ?''

मैं फ़िकरों से बचता-बचाता बाहर आ गया. ऑफ़िस से बाहर आकर सोचने लगा, अब कहाँ चला जाय. क्यों न समुद्र के किनारे चलूँ ! लेकिन ठंड ज़्यादा है और फिर वहाँ चाक-चौबंद चेहरे देखकर मेरी उदासी और न बढ़ जाय. मैंने यह ख़याल छोड़ दिया. फिर ख़याल आया, क्यों ना म्यूज़ियम या आर्ट गैलरी चला जाय. लेकिन तबीयत उस तरफ़ भी न झुकी. जब कुछ न तय कर सका तो ऐसे ही एक तरफ़ चल पड़ा. रास्ते में सिगरेट की चाहत महसूस हुई. सिगरेट केस ख़ाली था. सिगरेट की दुकान तलाश करने लगा. कुछ दूर चलने के बाद एक दुकान रास्ते में पड़ी. सिगरेट ख़रीदकर मैं चल पड़ा. पता नहीं, कब तक ऐसे ही बेकार चलता रहा. जिस सड़क पर मैं चल पड़ा था, उसके दोनों तरफ़ दुकानों की लाइन दूर तक चली गयी थी. रास्ते पर भी चीज़ें बेची जा रही थीं. विदेशी कपड़े से लेकर टेप रिकार्डर, ट्रांज़िस्टर—हर चीज़ रास्ते पर बिक रही थी. दुकानों की तुलना में यहाँ आदमी ज़्यादा थे. लोग घरों को लौट रहे थे. हर तरफ़ भीड़ ही भीड़ थी. इस भीड़ में शायद मैं ही अकेला बिना किसी मक़सद के भटक रहा था. पैर दुखने लगे थे. सोचा कहीं बैठा जाय, लेकिन मैं हूँ कहाँ ? इधर-उधर नज़र दौड़ायी. मैं रीगल सिनेमा के पास था. यहाँ दो होटल थे. एक होटल में रिकार्ड बज रहा था. मैंने सोचा, यहीं बैठा जाय. होटल में दाख़िल हुआ तो अचानक जैसे एक हंगामे में घिर गया. कुछ अजीब-सा लगा. एक कोने में ख़ाली कुर्सी देखकर वहीं बैठ गया. हर मेज़ पर दो-दो, तीन-तीन आदमी बातें कर रहे थे या बहस कर रहे थे, या झगड़ रहे थे. बैठे-बैठे मुझे महसूस हुआ, जैसे गीत और वहाँ मौजूद लोगों की आवाज़ों में एक-दूसरे पर छा जाने की कशमकश हो रही हो. मैंने गीत सुनने की कोशिश की. कभी-कभी आवाज़ें हल्की होने पर गीत का कोई टुकड़ा कानों से टकराता. धुन पश्चिमी थी और बोल उर्दू. टेबल वाला आया. उसे मैंने चाय लाने के लिए कहा. किसी टेबल से कुछ लोग उठे. बेयरा जो मेरे पास से हट ही रहा था, ज़ोर से चिल्लाया—''साहब लोग का तीन रुपया साठ पैसा.'' ज़ोरदार आवाज़ मेरे कानों के पर्दे फाड़ती हुई गुज़री. दिल चाहा, फ़ौरन उठ जाऊँ. लेकिन पैरों में थकान थी. टेबल वाला दो मिनट बाद चाय रख गया. मैंने चाय का एक घूँट गले से उतारा. कड़वाहट ने मुँह का मज़ा ख़राब कर दिया. कुछ देर तक कड़वाहट महसूस करता रहा. यहाँ तक कि कड़वाहट भली लगने लगी. एक दूसरा पश्चिमी धुन का हिन्दुस्तानी गीत शुरू हुआ. एक बार फिर लोगों की आवाज़ों और गीत की आवाज़ में कशमकश होने लगी. मैं सोचने लगा, किसमें कड़वाहट ज़्यादा है—गीत के शोर में, लोगों के शोर में या चाय में. सोचते-सोचते शायद सोचने का एहसास ख़त्म हो गया या उस शोर ने ख़त्म कर दिया. चाय ख़त्म हो चुकी थी, मैं उठा और पैसे अदा करके बाहर निकल आया. उस हंगामे से निकलकर ख़ुशी का एहसास हुआ. फिर यह ख़ुशी भी धीरे-धीरे ख़त्म हो गयी. बाहर की ठंडी हवा ने दिमाग़ को भी हल्का कर दिया. मुझे महसूस होने लगा कि अब मैं सोच सकता हूँ. लेकिन सोचने के लिए था ही क्या ! सड़कें सुनसान हो गयी थीं. दुकानें बन्द हो गयी थीं. रास्ते पर कहीं-कहीं कोई आदमी दिखायी दे जाता. मैं चलता रहा यहाँ तक कि पैर दुखने लगे. बल्बों की पंक्तियों की रौशनी में मैंने देखा, एक बस स्टॉप क़रीब ही था. मैंने सोचा, यहीं कुछ देर आराम किया जाय. एक बस आयी. नम्बर देखा तो ख़याल आया कि यह बस तो मेरे घर के क़रीब से जाती है. अपने कमरे पर चलना चाहिए. हो सकता है, यह आख़िरी बस हो. मैंने क़दम तेज़ कर दिये. बस के स्टैंड पर रुकने तक मैं पहुँच चुका था. बस पूरी ख़ाली थी. बस में बैठकर तस्कीन का एहसास हुआ. यह बस मेरे लिए चल रही है. ज़िन्दगी में ऐसे क्षण भी आते हैं.

अनवर ख़ान

जन्म : 1 मार्च 1942, मुम्बई
शिक्षा : एम. ए. (उर्दू और फ़ारसी)
सम्प्रति : मुम्बई पोर्ट ट्रस्ट में कार्यरत
कृतियाँ : 'रास्ते और खिड़कियाँ', 'फ़नकारी', 'याद बसेरे', (कहानी संग्रह); 'फूल जैसे लोग' (उपन्यास); 'अरब देशों की अवामी कहानियाँ' (बच्चों के लिए).
सम्पर्क : 17/311 सेजस नगर, रानॉल्ड रोड, वडाला, मुम्बई-400037

बस से उतरकर मैं अपनी पनाहगाह की तरफ़ चल पड़ा. सीढ़ियाँ चढ़ते हुए कुछ अजीब कैफ़ियत होने लगी. दिल न जाने क्यों, भर-भर आ रहा था. ज़बान में ललस होने लगी. जी चाहा, कुछ भी बकने लगूँ और कोई सुने. शर्मा जी का ख़याल आया. मैंने सोचा, दोनों बूढ़े बातें कर रहे होंगे. मेरा जी चाहा, शर्मा जी मुझसे कहें, ''मसऊद, इतनी रात गये क्यों आते हो ? तुमने अपने जूतों पर पॉलिश नहीं करवायी ? मसऊद, तुम्हें इतना लापरवाह नहीं होना चाहिए.'' अब मैं अपने कमरे के क़रीब था. अध-खुली किवाड़ों से मेरी नज़र चोरों की तरह कमरे में दाख़िल हुई. शर्मा जी और रत्नाकर साहब बातों में मसरूफ़ थे और किसी बात पर हँस रहे थे. मेरा जी चाहा, मैं भी उनमें शामिल हो जाऊँ. मैंने दरवाज़ा खोला. मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था. लेकिन मेरा मुँह खुला रह गया. दोनों बूढ़े मेरी तरफ़ देख रहे थे. उनकी आँखों में एक संगीन बेतकल्लुफ़ी थी—बर्फ़ की सिल की तरह. मेरा पूरा जिस्म सर्द होकर जैसे जम गया. मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मेरे सीने में कोई चीज़ टूटी और मैंने साफ़-साफ़ कुछ टूटने की आवाज़ सुनी. क़रीब में रखी कुर्सी पर मैं गिर गया. जूते उतारकर कपड़े बदले बिना बूढ़ों की तरफ़ पीठ किये मैं अपने बिस्तर पर लेट गया—आँसुओं को छिपाते, जो अपने-आप निकल पड़े थे और गालों से बहकर होंठों पर सीठे-सीठे लग रहे थे. ◙

◆ कहानी ◆

लाल टोपी वाला नायक

●

जाबिर हुसैन

एक पुरअसरार (रहस्यमय) दास्तान के नायक की तरह वह सीलन भरी कोठरी में दाखिल हुआ है. कोठरी में आते ही सबसे पहले उसने तिपाई पर रखी लालटेन बुझा दी है. कोठरी में अँधेरा छा गया है। एक किनारे, खाट पर दुबकी, सुबकी पड़ी औरत ने अपना जिस्म समेटते हुए आने वाले के लिए जगह बना दी है. आने वाले ने पास में गली के मोड़ की तरफ़ खुलने वाली खिड़की भिड़का देने की हिदायत दी है. मोड़ पर बिजली के खम्बे में आज फिर किसी ने एक नया बल्ब लगा दिया है. हालाँकि पिछला बल्ब टूटे अभी दो दिन भी नहीं हुए ! बिजली की रोशनी सामने वाले मकान की छत के आगे बेहिसाब उग आये पेड़ के पत्तों से छनकर उस सीलन भरी कोठरी में आ रही है.

कोठरी के बाहर, चबूतरे से दाहिने, मोड़ से ठीक पहले, खोंचेवाला बदस्तूर अपनी जगह खड़ा है. खोंचे का आधे से ज़्यादा सामान बिक गया है, और कायदे से उसे घर लौट जाना था. मगर ड्यूटी पर होने के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता. उसे कम से कम दो घंटे उस जगह और रुकना है. उसने खोंचा गली के एक किनारे लगाकर इतमीनान की एक जगह तलाश कर ली है. जहाँ से वह आसानी से उस सीलन भरी कोठरी पर अपनी निगाह टिकाये रख सकता है.

खोंचेवाला अपनी ईमानदारी के कारण अब तक उस ड्यूटी पर लगा है. काम के मामले में उसने अपनी तरफ़ से कभी कोई कोताही नहीं बरती है. पिछला आदमी खोटा साबित हुआ. काम पर आने के तीसरे ही दिन उसने कोठरी वाली औरत से दोहरा मेहनताना वसूलना चाहा था.

आने वालों की गिनती और पैसों के हिसाब भी वह ठीक-ठाक नहीं रख पाया. यही वजह है मालिक ने उसे फौरन हटा दिया. लेकिन राज़ खुल जाने के डर से उसे आज़ाद नहीं छोड़ा गया. छीन-झपट के मामले में पहले हवालात, फिर जेल भिजवा दिया गया. अभी भी वह जेल में बन्द है.

नये खोंचेवाले को ड्यूटी के साथ-साथ पुराने कारिन्दे का ठेला भी मुफ़्त मिल गया है. मालिक ने देहात से पकड़कर लाये गये उस नये मुलाज़िम को अच्छी तरह समझा दिया है—काम ठीक से करोगे तो मजदूरी बढ़ा दी जायेगी और हफ़्ते में एक बार दोहरा मेहनताना भी मिलेगा. नया मुलाज़िम सारी हिदायत ठीक-ठीक समझ गया है. उसे यह भी मालूम हो गया है कि हुक्म नहीं मानने का नतीज़ा हवालात में बन्द होना है, और हवालात में नाफ़रमानी करने वालों के लिए हमेशा काफ़ी जगह रहती है.

यही वजह है, उस रात भी खोंचेवाला ड्यूटी पर तैनात है. आने वाला मोटरसाइकिल पर आया है. आज उसके साथ मूँछों वाला, गठीले बदन का आदमी नहीं, कोई और है.

वह सीधे खोंचेवाले के पास आया. थोड़ी बातचीत की, फिर बिजली के उस खम्बे की तरफ़ इशारा करके कुछ बोला जहाँ इलाके के लोगों ने अपने पैसे से आज ही एक नया बल्ब लगा दिया है. नया आदमी मोटरसाइकिल लेकर चला गया है और जो रह गया है वह सीलन भरी कोठरी में दाखिल हो गया है.

मोटरसाइकिल वाला दोबारा लौटा है, अपने साथ खाने पीने का सामान लेकर. उसने बोतलें खोंचेवाले को थमा दी हैं. अब तक सीलन भरी कोठरी का अँधेरा दूर हो चुका है. लालटेन दोबारा जल गयी है. और पुरअसरार दास्तान के नायक की तरह आने वाला आदमी हाथ-मुँह धोकर खाने की तैयारी करने लगा है. खाना आ गया है. सबने खा लिया है. कुछ ने पिया भी है. बाद में आने वाला ख़ाली बोतलें और खाने के बरतन झोले में डालकर लौट गया है. उसके जाने के बाद आने वाले ने अपने कपड़े ढीले कर लिये हैं और आराम करने लेट गया है.

खाट के एक कोने पर दुबकी औरत उसी तरह चुपचाप बैठी है. थकान और नींद से उसकी आँखें बार-बार बन्द हो रही हैं. लालटेन से निकलने वाली हल्की गैस बन्द कमरे में चारों तरफ़ फैल रही है. औरत बैठी-बैठी, नींद में, एक ओर लुढ़क गयी है. आराम करने वाला नायक चौंककर बैठा है. उसने औरत की तरफ़ घूरकर देखा है. नशे में उसकी आँखें पूरी तरह बोझिल हो रही हैं.

चौंककर जागने वाले ने अपने हाथ फैला दिये हैं. आज का हिसाब. कोने में दुबकी औरत ने तकिये तले रखे नोट और रेज़गारी गिन दी है—"हिसाब ठीक है ना ? गडबड़ तो नहीं. गड़बड़ की तो इस बार केअर होम नहीं भेजकर ठिकाने लगा दूँगा." औरत सहम गयी है. केअर होम का नाम जैसे उसकी हड्डियों को छू गया है. वह नायक के पैरों पर गिर पड़ी है.

"ठीक है कोई बात नहीं. अभी साहब आयेंगे. मुँह माँगी रकम देंगे. मेरी अच्छी बनती है. उन्हीं के भरोसे तो मैं इतने बरसों से इसी जगह बना हूँ. थोड़े दिन और, फिर मेरी भी तरक़्क़ी होगी. लेकिन देखो, साहब की ख़िदमत ठीक से करना. अपने ही हैं."

गली के मोड़ पर मोटरसाइकिल वापस आ गयी है. पीछे बैठे आदमी ने हाथों की ओट से अपना चेहरा छुपा रखा है. पुर-असरार दास्तान का नायक अपने ढीले कपड़े दुरुस्त करके दरवाज़े की तरफ़ बढ़ चुका है. खाट के एक कोने पर दुबकी बैठी औरत खाट से नीचे उतर आयी है. उसने ताज़ा हवा के लिए खिड़की आधी खोल दी है.

रौशनी खाट के नजदीक रखी मेज पर पड़ रही है. जहाँ पर पुर असरार दास्तान के नायक की लाल टोपी रखी है. औरत उसे उठाकर हिफ़ाजत से दूसरी जगह रख रही है। कोने में तिपाई पर रखी लालटेन की लौ एक बार फिर धीमी पड़ गयी है. बाहर खोंचेवाला बदस्तूर ड्यूटी पर तैनात है.

सम्पर्क : उर्दू मरकज, 247
एम. आइ. जी. लोहिया नगर, पटना

◆ कहानी ◆
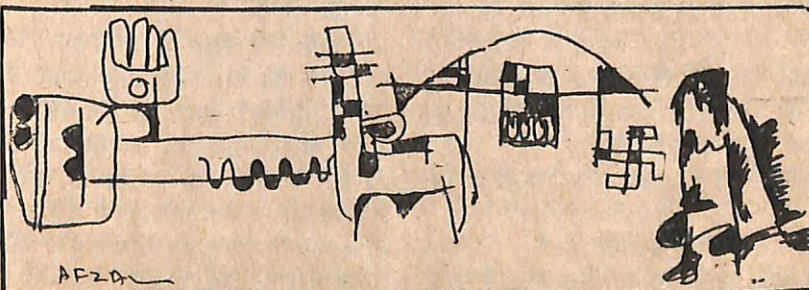
परस्पर

•

सलाम बिन रज़ाक

राबिआ को देखते ही कल्लू क़साई ने हाँक लगायी, "अरे राबिआ ! तू–आ जा–आ जा–" फिर उसके सीने तक उभरे हुए पेट की तरफ देखकर बोला, "मगर तू इस हाल में क्यों चली आयी. गुलाम कहाँ है ?"

"वह काम पर गये हैं."

"अरे चाली मोहल्ले में लड़के वाले मर गये हैं क्या ? किसी लौंडे को भेज देती."

"कोई दिखाई नहीं दिया."

"मगर तुझे इस हाल में ज़्यादा चलना-फिरना नहीं चाहिए."

"नहीं कल्लू भैया ! डॉक्टर ऐसे में ज़्यादा चलने-फिरने को बोलते हैं." उसने तनिक शरमाते हुए नज़रें झुका लीं.

"अ–च्छा, अच्छा, बोल क्या चाहिए."

"पाव किलो क़ीमा चाहिए."

"अच्छा उधर फलाट पर बैठ जा, अभी तौल देता हूँ."

"नहीं–मैं ठीक हूँ, तुम दे दो."

कल्लू के सामने किलो, डेढ़ किलो कूटा हुआ क़ीमा रखा था. उसने उसी में से मुट्ठी भर क़ीमा तराजू में डालकर पाव किलो क़ीमा तौल दिया. कुन्दे पर पड़े मांस के लोथड़े में से एक कुरकुरी हड्डी छाँटी और क़ीमे में डाल दी. फिर क़ीमा पोलिथिन की थैली में डालता हुआ बोला, "ले !"

राबिआ ने थैली ले ली और मुट्ठी में दबे हुए साढ़े बारह रुपये कल्लू की ओर बढ़ा दिये.

"रहने दे. मैं गुलाम से ले लूँगा."

"वही दे गये हैं."

"अच्छा ला."

कल्लू ने पैसे लेकर गल्ले में डाल दिये. राबिआ जाने के लिए मुड़ी तो बोला, "रुक जा–यह ले एक गुरदा रखा है–यह भी लेती जा."

उसने गुरदे के चार टुकड़े कर दिये.

"रहने दो कल्लू भैया–मैं इतने ही पैसे लायी थी."

"पैसे की बात कौन करता है ? ले हमारी तरफ़ से खा ले."

"नहीं–नहीं चाहिए."

"अरे, यह गुरदा हम तुझे थोड़ी दे रहे हैं. यह तो हमारे होने वाले भतीजे के लिए है. ले ले." कल्लू ने शरारत से मुस्कराते हुए उसके उभरे पेट की ओर एक उचटती दृष्टि डाली.

"तुम बहुत ख़राब हो कल्लू भैया !" राबिआ का चेहरा शर्म से सुर्ख़ हो गया.

"अब ख़राब क्या और अच्छे क्या–तेरे जेठ हैं."

राबिआ ने झिझकते हुए थैली आगे बढ़ायी और कल्लू ने गुरदा थैली में डाल दिया.

"अच्छा चलती हूँ." राबिआ जाने के लिए मुड़ी.

दुकान के एक कोने में हलाल किया हुआ बकरा टँगा था, जिसे एक छोकरा छील रहा था. बकरा पूरा छीला जा चुका था. छोकरे ने छूरी से बकरे का पेट चीर दिया. 'बक़' से एक बड़ी ओझड़ी बाहर निकल आयी. राबिआ ने एक झुरझुरी सी ली. फिर झट से मुँह फेर लिया और दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गयी. कल्लू क़साई उसे दरवाज़े से बाहर निकलते हुए देखता रहा. राबिआ धीरे-धीरे घिसटते हुए क़दम उठा रही थी. पेट के उभर जाने से जाने उसकी कमर पीठ की ओर दोहरी हो गयी थी और गरदन पीछे को तन गयी थी. स्पष्ट लगता था उसे चलने में काफ़ी दिक़्क़त हो रही है. उसका दुपट्टा सर से ढलककर गदरन में झूल रहा था, और चोटी किसी मरी हुई छछूँदरी की तरह पीठ पर लटक रही थी. उसने मैक्सी पहन रखी थी, इसलिए उसके डील-डौल का सही अन्दाज़ा लगाना मुश्किल था. लेकिन मैक्सी की आस्तीनों से झाँकती बाँहों से लगता था बस मध्यम दर्जे का स्वास्थ्य है उसका–न बहुत अच्छा न बहुत ख़राब. कल्लू उसे दरवाज़े से निकलकर सड़क पर पहुँचने तक देखता रहा. फिर एक ठंडा श्वास खींचकर बोला, "कैसी छोकरी थी कैसी हो गयी." उसके स्वर में खेद था.

"क्या बोले उस्ताद ?" बकरा छीलते छोकरे ने पलटकर शरारत से मुस्कराते हुए पूछा.

"कुछ नहीं बे ! तू अपना काम कर–"

"हमसे मत छुपाओ उस्ताद. किसी ज़माने में तुम इसके आशिक थे."

"अबे थे–मगर अब वह हमारे दोस्त की घरवाली है. उलटी-सीधी बात बोला साले तो बकरे की तरह छीलकर रख दूँगा."

"माफ करना उस्ताद ग़लती हो गयी." छोकरे ने कल्लू के तेवर देखकर पैंतरा बदला.

कल्लू जेब में बीड़ी टटालने लगा.

राबिआ बायें हाथ में पोलीथिन की थैली लटकाये धीरे-धीरे चली जा रही थी.

बारह-साढ़े बारह का समय था. जेठ का सूरज ठीक उसके सर पर चमक रहा था. उसने दुपट्टा अपने सर पर डाल लिया और दायें हाथ की हथेली से अपने चेहरे का पसीना पोंछा. उसे इस चिलचिलाती धूप में चलना भारी पड़ रहा था. वह दिल ही दिल में अपने आप को कोसने लगी. क्या ज़रूरत थी उसे इस भरी दोपहरी में बाहर निकलने की ? अगर आज क़ीमा नहीं खाती तो कौन-सी क़यामत आ जाती ? मगर उसे तुरन्त भीकन बुआ की बात याद आ गयी–'ऐसी स्थिति में अगर कोई चीज़ ख़ाने को जी करे तो मन को मारना नहीं

चाहिए. इससे बच्चे पर बुरा असर पड़ता है.'

बस इसी ख़याल से उसने गुलाम से कहा था कि उसका क़ीमा खाने को जी कर रहा है. गुलाम पहले तो लम्हे भर को सोच में पड़ गया क्योंकि महीने की सत्ताईस तारीख़ थी और अभी पगार मिलने में तीन-चार दिन बाक़ी थे. फिर भी उसने अपनी बीड़ी कांडी के लिए रखे हुए दस रुपये उसे दे दिये थे. राबिआ के पास पाँच-सात रुपये तो थे ही. गोश्त इस क़दर महँगा हो गया था कि बकरे का गोश्त खाना अब उनके बस का नहीं रहा था. बस दाल-रोटी चटनी-अचार पर गुज़ारा हो जाता था. महीने में
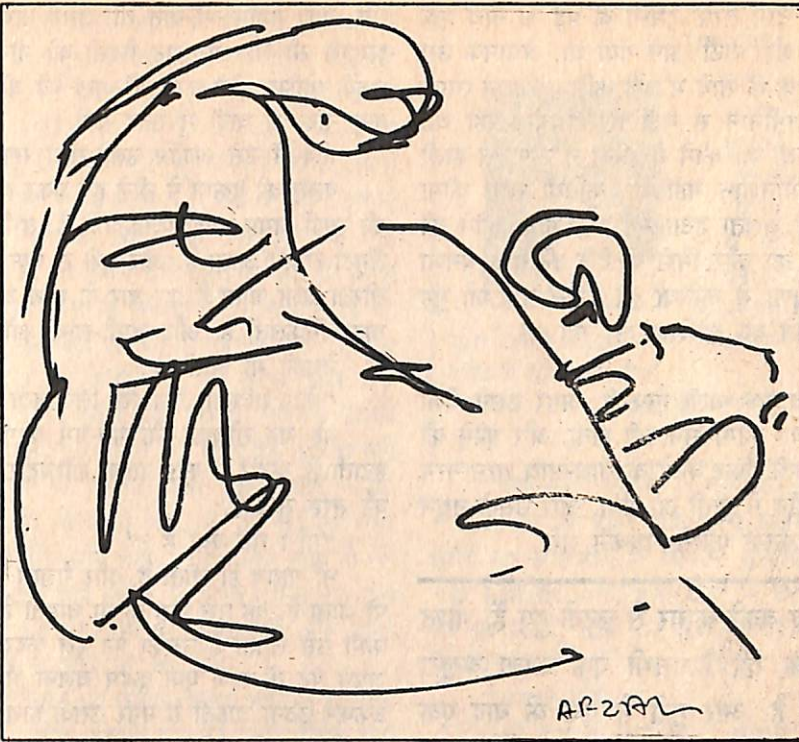
एक या दो बार ही वह लोग गोश्त ला पाते थे. मगर जबसे वह गर्भवती हुई थी गुलाम हर रविवार को उसके लिए आधा किलो गोश्त लाने लगा था. यह क़ीमा खाने की सनक तो बीच ही में जाग उठी थी.

इस वक़्त एक-एक क़दम उसे मन-मन भर का लग रहा था. मगर साथ ही यह इतमीनान भी था कि घर ज़्यादा दूर नहीं है. बस वह चौथे बिजली के खम्बे के बाद गली में मुड़ते ही रामबचन की चाली थी. चाली नम्बर तीन और खोली नम्बर पाँच.—बस यही उसका घर था. घर में दाखिल होते ही वह सबसे पहले मटके से कम से कम दो डोंगे पानी पियेगी. मुँह पर ठंडे पानी के छपाके मारेगी. फिर इतमीनान से बैठकर क़ीमा पकायेगी. आटा गुँधा हुआ रखा है. गरम-गरम दो पराठे डालेगी और खिड़की के पास बैठकर पिछवाड़े मैदान का नज़ारा करते हुए क़ीमा और पराठा खायेगी. उसके साथ आम का अचार भी तो होगा. अम्माँ ने कल ही लाकर दिया था. फिर उसे ख़याल आया कल्लू ने क़ीमे के साथ एक गुरदा भी तो दिया है. वाह ! क़ीमा-गुरदा वाक़ई मज़ा आ जायेगा. उसके जी में आया कि उड़कर अपनी खोली में पहुँच जाये. फिर अचानक उसे लगा, उसे वह मुफ़्त का गुरदा नहीं लेना चाहिए था. मगर वह क्या करती ! कल्लू का अनुरोध ऐसा था कि वह मना नहीं कर सकी. वह गुलाम का दोस्त था और शादी के बाद कई बार उनके घर भी आ चुका था, चाय पी चुका था. मगर उसने कभी ऐसी-वैसी बात नहीं की थी. अलबत्ता शादी से पहले ज़रूर उसने दो-चार बार तंग किया था. मगर शादी से पहले तो उसे कई लोगों ने तंग किया था. जब वह हाई स्कूल जाने के लिए हरे रंग का फ्रॉक, सफेद शलवार, ओढ़नी पहने, दो चोटियाँ डाले, लाल स्कार्फ बाँधे निकलती थी तो घर से लेकर स्कूल तक पता नहीं, कितने वाक्य, कितनी सीटियाँ उसका पीछा करती थीं. चाली के दो-चार छोकरे तो उसके पीछे-पीछे उसे स्कूल तक छोड़कर लौटते थे. कल्लू क़साई शादीशुदा था. एक बच्चे का बाप था. उसने वह गुरदा ज़रूर उसे अपना समझकर दिया था.—उसे अकारण उस पर शक़ नहीं करना चाहिए.

अब बिजली का बस एक खम्बा रह गया था. उसका चेहरा पसीने से तर हो गया था और उसे स्पष्ट लग रहा था पसीने की लकीरें मैक्सी के अन्दर उसकी गरदन से पीठ की ओर रेंग रही हैं. उसने दुपट्टे से अपना चेहरा पोंछा और तभी पता नहीं क्या हुआ कि उसके हाथ में लटकी हुई क़ीमे की थैली एक झटके के साथ उसकी उँगलियों में से निकल गयी. उसने घबराकर जो नज़र डाली तो देखा एक कुतिया थैली मुँह में दबाये एक तरफ भागी जा रही है. उसने सहसा दोनों हाथ हिला-हिलाकर मुँह से हुश्-हुश्—की आवाज़ निकाली. मगर कुतिया ने थैली मुँह से नहीं छोड़ी. उसने पहली नज़र में देख लिया था कि कुतिया का पेट भी फूला हुआ था. और वह भी तेज़ नहीं भाग पा रही थी. राबिआ को ऐसे लगा जैसे किसी ने उसके मुँह का निवाला छीन लिया हो. उसे कुतिया पर बड़ा गुस्सा आया. मगर वह क्या कर सकती थी ! कुतिया अब एक तरफ़ मुड़कर उसकी नज़रों से ओझल हो चुकी थी. राबिआ कुछ पल उसी तरह बेबसी की स्थिति में खड़ी दुपट्टे से अपने चेहरे का पसीना पोंछती रही. फिर ग्लानि से एक दृष्टि उस तरफ़ डाली जिधर कुतिया गयी थी. क़दम तो उसके पहले ही भारी थे मगर अब मन भी भारी हो गया था. उसे हर क़दम पर लगने लगा—बस वह धम् से वहीं कहीं ढेर हो जायेगी.

घर पहुँचकर उसने दरवाज़ा बन्द कर लिया और चारपाई पर जाकर पसर गयी. वह धीरे-धीरे हाँफ रही थी. वह थोड़ी देर तक उसी तरह लेटी रही. फिर चेहरे का पसीना पोंछकर उठी—मटके से एक डोंगा पानी निकाला और चारपाई की पट्टी से टिककर धीरे-धीरे पानी पीने लगी. पानी पीने के बाद उसे अपने भीतर फैली बेचैनी में कमी का एहसास हुआ. जैसे उड़ती हुई धूल पर पानी के छींटे पड़ गये हों. उसे भूख भी लग रही थी. उसे याद आया चंगेरी में दो रोटियाँ पड़ी हैं. सबेरे गुलाम को टिफ़िन बनाकर दिया था. रोटी और आलू की सब्ज़ी. आलू की बची हुई सब्ज़ी तो उसने नाश्ते में खा ली थी. मगर दो रोटियाँ बच गयी थीं. उसने कपड़े में लिपटी हुई रोटियाँ निकालीं. उन पर थोड़ा सा अचार रखा और गिलास से पानी लेकर खिड़की के पास आकर बैठ गयी. रोटी का निवाला बनाया और मुँह में डालकर धीरे-धीरे चबाने लगी. खिड़की के बाहर पिछवाड़े के खुले मैदान में

धूप की चादर बिछी हुई थी. दायें तरफ़ इमली के पेड़ के नीचे एक ट्रक खड़ा था. शायद ड्रायवर कहीं रोटी खाने गया था. अचानक उस की नज़र ट्रक के नीचे गयी. ट्रक के साये में वही कुतिया जिसने उसके क़ीमे की थैली झपटी थी इतमीनान से बैठी हड्डी चिचोड़ रही थी. शायद यह वही कुरकुरी हड्डी थी जो क़ीमे में कल्लू ने ऊपर से डाली थी. क़ीमे का अब कहीं नामोनिशान नहीं था. कुतिया सारा क़ीमा चटकर चुकी थी. राबिआ का चलता हुआ मुँह रुक गया. क़ीमे की याद आते ही उसे अपने मुँह का कौर मिट्टी के ढेले की तरह बेमज़ा लगने लगा. वह गुस्से और घृणा से कुतिया को देखने लगी जो मुँह टेढ़ा कर-करके हड्डी को चबाने की कोशिश कर रही थी.

''हरामज़ादी !''

राबिआ के होंठों से अचानक गाली निकली. अगर उसने थैली न छीनी होती तो इस वक़्त वह क़ीमा भून रही होती. और क़ीमे की ख़ुशबू से खोली महक़ रही होती. फिर क़ीमे के साथ-साथ गरम-गरम परांठों की कल्पना से उसके मुँह में पानी आ गया. और उसके नथुने क़ीमे की ख़ुशबू का ख़याल करके फुलने-पिचकने लगे.

कल्लू की दुकान में छीले हुए बकरे क़तार से लटके हुए हैं. गोश्त की सुर्ख़ी जगह-जगह झलक रही है. तभी एक काला कलूटा व्यक्ति लँगूटी लगाये आता है. और छुरी से एक के बाद एक बकरों का पेट चीरता चला जाता है. हर बार के साथ बकरे की ओजड़ी 'बक़ बक़' बाहर निकलती है. और लम्बी-लम्बी आँतें लटकने लगती है.

कुतिया शायद अब हड्डी भी हड़प कर चुकी थी. क्योंकि वह अपनी लपूलप् करती ज़बान से अपनी बाँछें चाटती हुई इधर-उधर देख रही थी. अगर राबिआ उसके क़रीब होती तो इस वक़्त कोई पत्थर उठाकर उस पर मार चुकी होती. मगर वह उसकी पहुँच से बाहर थी. उसने दोबारा धीरे-धीरे अपना मुँह चलाना शुरू किया. मगर अब सचमुच रोटी खाने में मज़ा नहीं आ रहा था. उसने बची हुई रोटी को रूमाल में लपेटकर रख दिया. पानी का गिलास उठाया और घूँट-घूँट पानी पीने लगी. उसकी नज़रें अब भी कुतिया पर जमी थीं. कुतिया अब टांगें पसारे लेट गयी थी. उसका फूला हुआ पेट अब स्पष्ट दिखाई दे रहा था. हल्के गुलाबी रंग के पेट पर उसकी छातियों के उभरे बोंडे दूर से नज़र आ रहे थे. कुतिया ने आँखें बन्द कर ली थीं. जैसे पेट भरने के बाद उसकी आत्मा तक तृप्त हो चुकी हो. राबिआ ने पानी पीकर गिलास नीचे रखा. अब उस पर भी कसलमन्दी (सुस्ती) छाने लगी थी. उसने वहीं बैठे-बैठे सिरहाने रखे तकिये को दुरुस्त किया और लेट गयी. सर पर बिजली का पंखा घरघरा रहा था. इसके बावजूद उसे गरमी का एहसास हुआ. उसने गले में पड़े दुपट्टे को एक तरफ डाल दिया. मैक्सी के ऊपर के दोनों बटन खोल दिये. थोड़ी हवा तो लगी मगर गरमी का एहसास कम नहीं हुआ. उसने अपनी मैक्सी को घुटनों तक चढ़ा लिया. नंगी पिंडलियों को हवा लगी तो उसे अच्छा लगा. उसने मैक्सी रानों तक चढ़ा ली और अच्छा लगा. उसने बन्द दरवाज़े पर एक दृष्टि डाली और मैक्सी को सीने तक खींच लिया. अब वह क़रीब-क़रीब नंगी थी. वह धीरे-धीरे अपने फूले पेट पर हाथ फेरने लगी. आठवाँ महीना चल रहा था. बस एक आध महीने की बात थी. उसने अचानक किसी ख़याल से एक झुरझुरी सी ली और झट मैक्सी को नीचे खींच लिया. अब उसकी पलकें बोझिल होने लगी थीं. पंखे की घों-घों के साथ पता नहीं वह कब नींद की वादी में उतर गयी.

नींद में उसे अजीब उलटे-सीधे सपने दिखायी देते रहे.

कल्लू की दुकान में छीले हुए बकरे क़तार से लटके हुए हैं. गोश्त की सुर्ख़ी जगह-जगह झलक रही है. तभी एक काला कलूटा व्यक्ति लँगूटी लगाये आता है. और छुरी से एक के बाद एक बकरों का पेट चीरता चला जाता है. हर बार के साथ बकरे की ओजड़ी 'बक़ बक़' बाहर निकलती है. और लम्बी-लम्बी आँतें लटकने लगती हैं.

उसकी माँ आती है.

''बेटा राबिआ, देख तेरे लिए क्या लायी हूँ.''

वह यह सोचकर कि गर्म-गर्म क़ीमा होगा. कटोरे का ढक्कन हटाती है. कटोरे में कोई पतला शोरबेदार सालन है, जिसका रंग ख़ून की तरह सुर्ख़ है.

''माँ ! यह क्या है ?''

माँ ग़ायब हो जाती है, और ग़ुलाम कटोरा उठाकर सारा शोरबा पी जाता है. वह उसे मना करना चाहती है. मगर मना नहीं कर पाती. कभी उसे लगता है उसका पेट इस क़दर फूल गया है कि अब उसे अपने पेट के साथ एक क़दम चलना भी कठिन है. वह दोनों हाथ टेककर उठना चाहती है मगर उसके हाथ कच्ची ज़मीन में धँस जाते हैं, और वह चित लेटी रह जाती है. उसकी नज़र छत पर पड़ती है. छत में एक छींका लटक रहा है. जिसमें एक मटकी है. मटकी में शायद दूध या दही है. मटकी चू रही है. और सफ़ेद-सफ़ेद दूध बूँद-बूँद उसके फूले पेट पर टपक रहा है. उसे अचानक ख़याल आता है अगर छींका टूट गया तो मटकी सीधे उसके पेट पर आकर गिरेगी. सहसा उसकी आँख खुल जाती है. एक दर्दनाक चीख़ उसके कानों से टकराती है. जैसे किसी के प्राण निकल रहे हों. साथ ही मोटर की घड़-घड़ की आवाज़. वह घबराकर उठ बैठती है. खिड़की में से बाहर नज़र डालती है. और जो दृश्य उसे दिखाई देता है उसे देखकर उसकी चीख़ निकल जाती है. कुतिया जिस ट्रक के नीचे सोयी थी वह मैदान से निकलकर सड़क पर पहुँच चुका है. और ट्रक के नीचे सोयी हुई कुतिया ख़ून में लथपथ छटपटा रही है. उसका उभरा हुआ पेट पिचक गया है और मांस के तीन-चार रक्तरंजित लोथड़े उसकी दुम से लटक रहे हैं. कुतिया की चीख़ अब टूटे हारमोनियम के सुर की तरह धीमी पड़ती जा रही है. यकायक उसने अपनी ही जगह एक घेरा लिया, जोर से तड़पी, और ठंडी हो गयी.

ट्रक दूर जा चुका था. माहौल में अब पहले की तरह सन्नाटा था. अलबत्ता रह-रहकर उन रक्तरंजित मांस के लोथड़ों में हल्का-सा कम्पन हो जाता था. ऐसा कम्पन जो देखने वाले के शरीर में झुरझुरी उत्पन्न कर दें.

राबिआ की फटी आँखें अब भी कुतिया की लाश पर जमी हुई थीं. और उसकी साँस तेज़ी से ऊपर नीचे हो रही थी. ऐसा भयंकर दृश्य उसने इससे पहले कभी नहीं देखा था. उसे महसूस हो रहा था जैसे उसके सीने में कोई चीज़ अटकी हुई है जो उसके पूरे वजूद को बेचैन किये हुए है. वह यदि बाहर निकल जाये तो उसे थोड़ी राहत मिले. उसे कुछ देर पहले कुतिया पर बेहद गुस्सा आया था. यदि वह उसके हाथ आती तो वह उसे दो-एक पत्थर भी मारती. एकाध डंडा भी लगाती. मगर जो हुआ था वैसा उसने हरगिज नहीं चाहा था. क़ीमे

के छिन जाने का उसे बेहद दुख हुआ था, मगर जो कुछ कुतिया के साथ हुआ यह उसके लिए बेहद दुख की बात थी. इस घटना ने उसके रोम-रोम में कँपकँपी भर दी थी. उसकी नसों से एक सनसनी उसके सीने की ओर रेंग रही थी. सहसा सीने से मुँह की ओर एक बगूला सा उठा. एक हिचकी आयी और वह फूट-फूटकर रोने लगी. आँखों से जैसे आँसुओं का झरना फूट पड़ा. वह क्यों रो रही थी स्वयं उसकी समझ में नहीं आ रहा था. जाने वह कितनी देर तक रोती रही. जब सीने का गुबार ज़रा कम हुआ तो उसने डरते-डरते कुतिया की लाश की तरफ़ देखा. दो कौए उन मांस के लोथड़ों पर ठोंगे मार रहे थे. दूर एक लड़का पाखाने के लिए बैठा उन कौओं को घूर रहा था. फिर उसने पास से एक कंकरी उठायी और कौओं की तरफ़ फेंकी. एक कौआ उड़कर दूर जा बैठा, मगर दूसरा बस ज़रा सा फुदका. उसकी चोंच में मुरदा कुतिया की एक लम्बी आँत थी, जिसे वह छोड़ना नहीं चाहता था. राबिआ को मतली का एहसास हुआ, उसे उबकाई आयी. वह उठकर मोरी में गयी और क़ै करने लगी. क़ै तो नहीं हुई मगर मुँह से कड़वा-कसैला पानी निकलने लगा. आँख और नाक से भी पानी बहने लगा. थोड़ी देर तक यही हालत रही. जब बेचैनी कुछ कम हुई तो उसने कुल्ला किया. मुँह पर पानी के छपाके दिये और आधा गिलास पानी पीकर दोबारा चारपाई पर आ बैठी.

अब खिड़की के बाहर देखने का उसका साहस नहीं हो रहा था. उसके खिड़की बन्द कर दी और चारपाई पर लेट गयी. दीवार घड़ी ने टन्-टन् चार बजाये. गुलाम के आने का समय हो गया था. वह पहली शिफ्ट में काम करता था और साढ़े तीन बजे कारख़ाने से छूटकर चार और साढ़े चार के बीच घर आ जाता था. उसने सोचा वह आज गुलाम को सब कुछ विस्तार से बता देगी.

सहसा उसे अपनी नाभ के नीचे एक कसक सी अनुभव हुई. वह चित लेटी थी. उसने धीरे-धीरे अपना पेट सहलाया. कसक ऊपर की ओर बढ़ती जा रही थी. जैसे नाभ के नीचे से कोई कनखजूरा सीने की ओर रेंग रहा हो. वह घबराकर उठ बैठी. झुककर अपने पेट को देखने लगी.

डॉक्टर के कहने के मुताबिक़ तो अभी एक महीना बाक़ी है. फिर–यह टीस ? यह कसक ? दर्द लगातार ऊपर की दिशा में रेंग रहा था. उसने निचला होंठ दाँतों में दबा लिया. उसके पूरे शरीर से धीरे-धीरे पसीना फूट रहा था. इतने में दरवाज़े पर दस्तक हुई. यह दस्तक ज़रूर गुलाम की थी. वह लड़खड़ाती हुई उठी, पलंग की पट्टी का सहारा लेकर सिटकनी खोल दी. सामने गुलाम खड़ा था. गुलाम ने उसका पसीने से तर चेहरा देखा.

"अरे ! क्या हुआ ?"

"दर्द हो रहा है. पेट में बहुत दर्द हो रहा है."

वह होंठ भींचकर पलंग पर बैठ गयी.

"मगर–इतनी जल्दी ?"

"पता नहीं–"

उसके हाँफते हुए कहा.

तभी उसकी नज़र खुले दरवाज़े की तरफ़ उठ गयी. वहाँ एक डरावना व्यक्ति खड़ा था जिसके शरीर पर सिर्फ़ एक लँगोटी थी और उसके हाथ में चम-चम करती लम्बी सी छुरी थी–

"वह–वह कौन है ?"

उसने बाहर की तरफ़ देखते हुए भयभीत स्वर में पूछा.

सलाम बिन रज़ाक

जन्म : 15 नवम्बर 1941, पानवल रायगढ़ महाराष्ट्र

कृतियाँ : 'नगी दोपहर का सिपाही' (कहानियाँ), 'मुअब्बिर', 'कामधेनु', (हिन्दी में), 'माहिम ची खाड़ी' (मराठी से उर्दू में अनुवाद).

इनके अतिरिक्त और भी प्रकाशित पुस्तक हैं. मराठी और उर्दू में साहित्य द्वारा एकता क़ायम करने के प्रशंसनीय कार्य पर महाराष्ट्र स्टेट उर्दू एकेडमी द्वारा सम्मानित.

सम्पर्क : 11/9 एल.आई.जी. कॉलोनी, विनोबा भावे नगर, कुर्ला (वेस्ट) मुम्बई

"कहाँ–?" गुलाम ने पलटकर देखा.

दरवाज़े के बाहर एक साधु खड़ा था जिसके गले में भिक्षा का झोला था और हाथ में चिमटा. उसकी पेशानी और शरीर पर भभूत मला हुआ था. और घनी दाढ़ी में चेहरा क़रीब-क़रीब छुप गया था. सर की जटाएँ साँपों की तरह कांधों पर पड़ी झूल रही थीं. साधु ने चिमटा बजाते हुए नारा लगाया.

"अलख निरंजन–"

"अरे वह तो साधु है." गुलाम बोला.

"साधु...!" उसने मुश्किल से दोहराया.

दर्द की एक तेज़ लहर बिजली के करंट की भाँति उसके शरीर में फैल गयी. उसके मुँह से एक चीख़ निकली, और वह मूर्छित होकर गिर पड़ी.

जब उसे होश आया तो वह अस्पताल में थी. गुलाम उसके सिरहाने परेशान सा बैठा था. उसने धीरे-धीरे आँखें खोलीं. उसका गला सूख रहा था. उसने बड़ी कमज़ोर आवाज़ में कहा, "पानी–"

गुलाम ने पास रखे कटोरे से चमचे में पानी लेकर दो-तीन चम्मच उसके मुँह में टपकाया.

"अब कैसी है तबीयत ?" गुलाम ने थके-थके स्वर में पूछा.

उसने उत्तर देने की बजाय अपने काँपते हाथ से अपना पेट टटोला. फिर घबराई नज़रों से पेट की तरफ़ देखा. पेट पिचक गया था.

"यह क्या हो गया ?"

उसने कुछ तलाश करते हुए अपने दायें-बायें नज़र दौड़ायी.

"घबराओ नहीं–सब ठीक हो जायेगा."

राबिआ की आँखों में आँसू आ गये. उसने छत की ओर देखा. दही की हाँडी में छेद हो गया था.

"दिल छोटा न करो. डॉक्टर ने रोने-धोने से मना किया है. तुम बच गयी बहुत है."

गुलाम ने उसकी पेशानी पर हाथ रखते हुए प्यार से कहा.

"क्या था ?" उसने कुछ लम्हों बाद भर्राई आवाज में पूछा.

"दो थे–जुड़वाँ–मगर दोनों मुरदा."

गुलाम का स्वर भी दर्दनाक हो गया.

राबिआ ने अपने होंठ भींच लिये और आँखें बन्द कर लीं. एक ट्रक घड़घड़ाता हुआ उसकी आँखों से ओझल होता जा रहा था. ◘

◆ कहानी ◆

कलर ब्लाइंड

अनवर क़मर

वह एक छोटा-सा हिल-स्टेशन था. सीज़न में टूरिस्ट जब वहाँ पहुँचते तो हमारी बेरंग ज़िन्दगी में थोड़ी-सी गुलाबी धुल जाती, बोझिल वातावरण ताज़ा और जवान हो जाता. वरना वहाँ की हर चीज़ काले-गीले कम्बल में लिपटी हुई उदास मूरत थी.

मैं उस क़स्बे में बसने वाला उन कमनसीबों में से था, जो बड़े शहर की चकराती हुई तेज़ रफ़्तार ज़िन्दगी से अपने आप को नहीं जोड़ पाये थे और अपनी लाचारी के कारण इस सुस्त रफ़्तार और कमआबाद क़स्बे में आकर बस गये थे.

मैं था और मेरे साथ जवान बहन थी. हम दोनों पोलियो से पीड़ित थे.

आसिफ़ मर्चेन्ट था, जो अपनी तपेदिक़ की मारी माँ के इलाज के सिलसिले में इस यक़ीन के साथ यहाँ आया था कि पहाड़ों पर तपेदिक़ का मरीज़ जल्द अच्छा हो जाता है. लेकिन उसे यहाँ आये हुए कई वर्ष हो चुके थे, उसकी माँ बदस्तूर बीमार थी. मर्ज़ घटने के बजाय बढ़ गया. मर्चेन्ट ने इस बीच अपने गुज़ारे के लिए क़स्बे के एक मात्र स्कूल में नौकरी कर ली थी. वह बच्चों को चित्रकला सिखाया करता था.

पोचा जी थे, जिन्होंने फ़िटर की हैसियत से किसी डिस्टिलरी में बड़ी उम्र गुज़ारी थी. वहाँ से रिटायर होकर उस क़स्बे में चले आये थे. डिस्टिलरी के बड़े-बड़े बॉयलरों के शोर से उनकी श्रवण शक्ति प्रभावित हो चुकी थी, वरना हम सभी में वह सबसे ज़्यादा तन्दुरुस्त थे. अपनी सेहत के तअल्लुक़ वह बड़ी सावधानी बरता करते थे, इसी सावधानी के मद्दे नज़र वह साल के बारह महीने गर्म मोज़े और गर्म दस्ताने पहना करते थे.

मिसेज़ जोशी थीं, जिनके पति का देहान्त हो चुका था. वह घर-घर जाकर अख़बार और पत्रिकाएँ बेचा करती थीं, और अपने ख़ाली समय में स्वेटर बुना करती थीं.

एक शाह साहब थे, जिन्हें शराबनोशी की लत ने बर्बाद कर दिया था. उनका जिगर ख़राब हो चुका था. वह कुछ वर्ष पहले अपने स्वास्थ्य सुधार के लिए यहाँ आये थे और इसी क़स्बे के हो रहे थे. उनका मासिक ख़र्च किसी शहर से उनकी बेटी उन्हें पाबन्दी से भेज दिया करती थी.

शाह साहब, पोचा जी, मिसेज़ जोशी, आसिफ़ मर्चेन्ट, मैं और मेरी बहन एक-दूसरे के दोस्त और राज़दार थे. एक-दूसरे के प्रिय और ग़म बाँटने वाले थे. इन सबके बाद भी कोई चीज़ हम में एक जैसी न थी, सिवाय एक चीज़ के ! कोई शौक़ एक जैसा न था, सिवाय एक शौक के ! और वह यह कि हम सभी को रंग बहुत प्रिय थे. हरे, पीले, ऊदे नारंगी, लाल, सफ़ेद और काला रंग.

हम जब कोई ख़ुश-रंग चीज़ देखते तो बड़ा राहत भरा एहसास पैदा होता हमारे दिलों में ! ऐसा एहसास कि जो हमारे ज़हनी बिखराव को ख़त्म कर देता और हमारी रूहों को तृप्त कर देता था. हमने एक कलर बैंक स्थापित कर रखा था, जिसमें अनेक रंगों की छोटी-छोटी चीज़ें, ऐसी चीज़ें कि जिनकी आम नज़रों में कोई हैसियत नहीं थी, यदा-कदा हम उस बैंक में जमा किया करते थे. जैसे ख़ुश रंग क़लम, ख़ुश रंग पेंसिलें, ख़ुश रंग बटन, ख़ुश रंग चूड़ियाँ, ख़ुश रंग दस्तियाँ, ख़ुश रंग स्टैम्प, ख़ुश रंग पोस्ट-कार्ड और चिड़ियों के ख़ुश रंग पर.

मैं अपने और अपनी बहन गुज़ारे की ख़ातिर इस क़स्बे में चश्मे की दुकान करता था. दुकान के ऊपरी हिस्से में हमारी रिहाइश थी. मुझे और मेरी बहन को नीचे से ऊपर पहुँचने में बड़ी कठिनाई होती थी. क्योंकि जब तक हम जाइन्ट बूट नहीं पहन लेते थे, तब तक चल फिर नहीं सकते थे. फिर जाइन्ट बूटों को पहनकर सीढ़ियों को नापना ? सचमुच आसान नहीं था. सीढ़ियाँ चढ़ते हुए खट-खट, खट-खट की भद्दी सी आवाज़ पैदा होती और यह आवाज़ अँधेरे में बस्ती वालों को बड़ी रहस्यमय मालूम होती.

दुकान के बराबर, लेकिन कुछ दूरी पर लकड़ी की बनी हुई एक भव्य इमारत थी. ऐसी इमारत कि जिसका नमूना हर बच्चे को उसके बुज़ुर्ग उसके बचपन में तोहफ़े में देते हैं. और हर बच्चा अपने बचपन से बुढ़ापे तक उस इमारत का गठन और निर्माण अपने ज़हन में करता रहता है. ठीक ऐसी ही इमारत थी वह !

उस इमारत की एक और विशेषता थी, और वह यह कि उसके दरवाज़ों, खिड़कियों, मेहराबों और किनारों पर रंग-बिरंगे काँच लगे थे. अनगिनत रंगीन काँच !

सूर्य की किरणें जब उन काँचों पर पड़तीं तो आँखों के सामने धनक सी खिल उठती, सारी दुनिया मानो गुलज़ार हो जाती ! यही सूरत चाँदनी रात में हुआ करती थी. देखने वाला उस इमारत को एक रंगीन सपने का नाम देता. ऐसा सपना कि जिसका हर दृश्य रंगारंग था.

इमारत का क्षेत्रफल काफ़ी बड़ा था. उसमें कई दीवानख़ाने होंगे, कई ज़नानख़ाने, अनेक दालान और अनेक ख़्वाबगाहें, गुलाम गर्दिशें भी कई होंगे और बरामदे भी कई होंगे. नौकरों की संख्या भी बहुत होगी. उन सभी नौकरों की बहाली किसी बड़े शहर में हुआ करती होगी और वह किसी खुफ़िया जरिये से उस इमारत में पहुँचाये जाते होंगे और उसी खुफ़िया प्रक्रिया से वापस ले जाये जाते होंगे. क्योंकि यह भी ताज्जुब भरा मामला था कि उनमें से कोई भूला-भटका नौकर हम से आकर कभी नहीं मिला था.

साल में एक-दो बार कोई ख़ातून उस इमारत में आकर ठहरा करती थीं. उनके आते ही क़स्बे में पुरखौफ़ ख़ामोशी छा जाती थी. ऐसी ख़ामोशी कि मुझे ऐनकों के काँच घिसने की मशीन चलाने में

डर सा महसूस होता था. इसी डर से उन दिनों हम अपने जाइन्ट बूटों पर टाट पर मोटा ख़ोल चढ़ा लेते थे ताकि सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने में खट, खट, खट की वह नागवार आवाज़ न हो. यह और बात है कि इस हालत में हम दोनों भाई-बहन का चलना-फिरना दूभर हो जाता था.

यूँ तो सप्ताह में दो-एक बार आसिफ़ मर्चेन्ट, पोचा जी, मिसेज़ जोशी और शाह साहब मेरी दुकान पर शाम के वक़्त ज़रूर आते और ढलते सूरज की पृष्ठभूमि में उस ख़ुशनुमा इमारत की खूबसूरती का मजा लेते थे. लेकिन जिन दिनों वह ख़ातून उस इमारत में आकर ठहरतीं, उन दिनों मेरे दोस्त हर शाम बिला-नाग़ा हाज़िरी देते थे.

मेरी बहन बड़ी बढ़िया और खुशगवार चाय बनाकर उन्हें पिलातीं. मैं कोई हल्का-फुल्का काम हाथ में ले लेता और उनकी गुफ़्तगू मे बाक़ायदा शामिल होता था.

मर्चेन्ट, पोचा जी, मिसेज़ जोशी और शाह साहब की इच्छा होती थी कि किसी भी तरह उस ख़ातून के दीदार कर लें. लेकिन यह मुमकिन ही नहीं था. उसके कई कारण थे.

पहला, मेरी दुकान और उस इमारत के बीच डेढ़ दो फ़र्लांग की दूरी थी.

दूसरा, इमारत के बाहर भारी पहरा था.

तीसरा, दाख़िले का पास हम में से किसी के पास नहीं था. अगर होता भी तो हम इमारत में दाख़िल नहीं हो सकते थे. क्योंकि उस इमारत के कायदे, उसकी व्यवस्था, उसकी सजावट और उसकी चौकसी उस ख़ातून की उपस्थिति में हमें बहुत ज़्यादा ख़ौफ़ज़दा कर दिया करती थी.

चाय की चुस्की लेते हुए मर्चेन्ट पूछता, "तुमने उसे देखा ?"

"नहीं." मैं जवाब देता.

"नहीं." मेरी बहन गर्दन हिलाकर कहती.

"नहीं." मिसेज़ जोशी का जवाब होता.

"हम में से किसी ने भी नहीं." शाह साहब कहते. पोचा जी ख़ामोश रहते.

"कहाँ से आती है ? कहाँ को जाती है ?" मर्चेन्ट दोनों सवाल इकट्ठे पूछता.

हम सब 'हमें नहीं मालूम' 'हमें नहीं मालूम' की रट लगाते.

पोचा जी राज़ की तरह ख़ामोश रहते. फिर वह अचानक बोल उठते, "एक-न-एक दिन उसका दीदार ज़रूर नसीब होगा, एक-न-एक-न-एक दिन उसका दीदार ज़रूर होगा."

हम सभी के मुँह से निकलता, "आमीन-आमीन" (ऐसी ही हो).

उस रात मैं बिस्तर पर बैठा अपने कमज़ोर पैरों को अपने हाथों से दबा रहा था कि मैंने देखा, चाँद बहते-बहते मेरी खिड़की में थम सा गया है और चाँदनी में वह इमारत उस ख़ुश-रंग पक्षियों के समान लग रही है जो दोनों पर खोले आसमानों की ओर गर्दन उठाये ख़ुदा की तारीफ़ कर रहा हो. मेरा जी चाहा कि उसे वहाँ से उठाकर अपने पहलू में ले आऊँ और उसके एक-एक हिस्सा पर हौले-हौले अपनी उँगलियाँ यूँ फेरूँ कि उसका जादू भरा हुस्न मेरे लम्स मैं महफूज हो जाये.
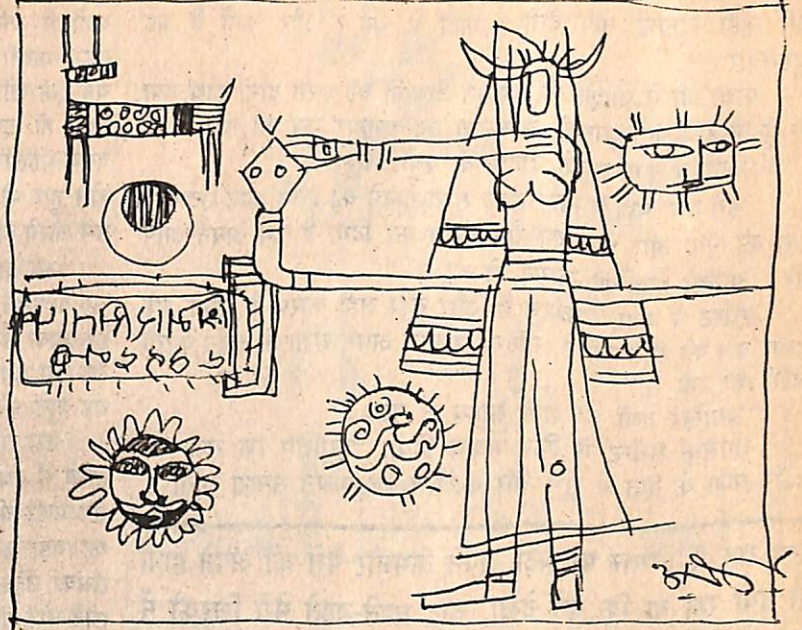
अभी मैं इसी ख़याल से ख़ुश हो रहा था कि मुझे इमारत के धुँधले रौशन बरामदे में एक साया सा नज़र आया. मैंने आँखें मलीं और उस नुक़्ते पर जहाँ वह साया नज़र आया था अपनी नज़र फोकस कर दी. इन थोड़े से पलों में चाँद पर काले बादल का पर्दा पड़ चुका था, जिसके नतीजे में वह साया नज़र से ओझल था. मैंने बिस्तर से उठकर सन्दूक में से दूरबीन निकाली और दूरबीन की मदद से उस साये को उस नीम-रौशन बरामदे में तलाश करने लगा. बादल हट चुका था. चाँदनी पहले जैसी ही इमारत पर पड़ रही थी. मैंने देखा ख़ूबसूरत और गम्भीर औरत बरामदे में टहल रही है. उसकी ज़ुल्फ़ें कन्धों पर बिखरी हुई हैं, और वह किसी गहरे सोच में डूबी हुई है.

अगले दिन मैंने रात की सारा तफ़सील अपने साथियों से बता दी. उन्होंने पूरी तवज्जो और हैरानी के साथ मेरी बातें सुनीं और शाम के बजाय रात को मेरे घर आने का प्रोग्राम बनाया. जब पोचा जी के कानों के क़रीब मुँह ले जाकर मर्चेन्ट ने उन्हें सारी कहानी सुनायी तो उन्होंने कहा, "आज सुबह सैर करते-करते अपने रोज़मर्रा के अनुसार जब मैं वेनिस प्वाइंट पहुँचा तो मेरे कानों में कोई अजनबी आवाज़ ऐसी पड़ी कि मानो टिड्डे फुदक रहे हों. मैंने इधर-उधर नज़र दौड़ायी तो क्या देखता हूँ एक औरत राइडिंग सूट पहने अमीराना शान से घोड़े पर सवार चली जा रही है, और उससे कुछ दूरी पर आठ दस घुड़सवार उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं."

हमने सोचा वह घुड़सवार औरत निश्चित रूप से वही खातून होंगी जिसके दीदार को हम तरस रहे हैं.

मेरी बहन ने पूछा, "उसका रुख़ किस तरफ़ को था ?"

पोचा जी बोले, "ख़ामोश वादी की तरफ़."

अगले दिन सुबह सवेरे हम सब सर्दी से ठिठुरते ख़ामोश वादी में पहुँच गये. पौ फट चुकी थी. आसमान की स्याही में लाली तेज़ी से फैलती जा रही थी. वातावरण में खारमिली गंध बसी हुई थी. और चारों तरफ़ एक न समझ में आने वाली दुख भरी ख़ामोशी छायी हुई थी. इन्तज़ार करते-करते जब बहुत वक़्त गुज़र चुका, यहाँ तक कि सूरज भी ऊँचा उठ आया, तो हमने पोचा जी से पूछा, "पोचा जी,

आप के कहने पर हम यहाँ चले आये, यहाँ, इस वीराने में ! वह औरत हमें कहीं दिखाई नहीं देती ? कहाँ है वह ? और कहाँ है वह घुड़सवार ?''

पोचा जी ने आशा के विपरीत दीवानों की तरह दोनों हाथ हवा में यूँ लहराये जैसे अपनी अज्ञानता का इज़हार कर रहे हों.

''आख़िर हम उसके दीदार के क्यों इच्छुक हैं ?''

''हमें क्या पड़ी है कि उसकी सूरत देखने को इतने कष्ट उठायें ? रात की नींद और दिन का चैन हराम कर दिया है हम अपने आप पर ! आख़िर कोई तो कारण हो ?''

मर्चेन्ट ने कहा, ''कारण है, और बड़ा सही कारण है. सुनो, यह हमारे देश की रीति रही है, सदियों से प्रजा अपने राजा के दर्शन करती चली आ रही है.''

''आख़िर क्यों ?'' शाह साहब ने पूछा.

आसिफ़ मर्चेन्ट ने फिर जवाब दिया, ''इसलिए कि राजा का दर्शन प्रजा के हित में शुभ और कल्याण का साधन समझा जाता है.

उस रात मैं बिस्तर पर बैठा अपने कमज़ोर पैरों को अपने हाथों से दबा रहा था कि मैंने देखा, चाँद बहते-बहते मेरी खिड़की में थम सा गया है और चाँदनी में वह इमारत उस ख़ुश-रंग पक्षियों के समान लग रही है जो दोनों पर खोले आसमानों की ओर गर्दन उठाये ख़ुदा की तारीफ़ कर रहा हो. मेरा जी चाहा कि उसे वहाँ से उठाकर अपने पहलू में ले आऊँ और उसके एक-एक हिस्सा पर हौले-हौले अपनी उँगलियाँ यूँ फेरूँ कि उसका जादू भरा हुस्न मेरे लम्स में महफूज हो जाये.

पुराने महलों में 'दर्शन झरोके' हुआ करते थे. सूरज उगने के बाद राजा उस झरोके से, दूर और पास से आयी हुई अपनी प्रजा को दर्शन दिया करता था. राजा के दर्शन लेने के बाद प्रजा जय-जय करती, ख़ुशी-ख़ुशी अपने खेतों, कारखानों और धन्धों पर चली जाया करती थी, उनकी आस्था थी कि राजा के दर्शन से उनका भाग्य जाग उठेगा, उनकी कठिनाइयाँ दूर होंगी और बिगड़े हालात ठीक हो जायेंगे.''

मिसेज़ जोशी बोलीं, ''लेकिन इस बात का हमसे क्या सम्बन्ध है ?''

''सम्बन्ध है, निश्चित है. हम सब एक बेहद धीमी-सी बल्कि बीमार सी ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं. सैकड़ों दिन और सैकड़ों रातें हमारी उम्र से कट चुकी हैं. हमारे जीवन में न तो कोई लहर उठती है और न ही कोई झोंका आता है, यहाँ तक कि रहमत भी नहीं बरसती, और न कोई ज़मीन लालाज़ार होती है. हम एक हैरतनाक निराशा और उदासी का बोझ लिये बूढ़े कोढ़ियों की तरह एक अंधी सुरंग से गुज़रे चले जा रहे हैं. ऐसे निराशा के माहौल में उस ख़ातून के दीदार की हसरत न सिर्फ़ मकसद भरी है बल्कि सार्थक भी है. सम्भव है उसका दर्शन हमारे लिए शुभ साबित हो और हमारी काया पलट जाय.'' यह कहकर आसिफ़ मर्चेन्ट ख़ामोश हो गया.

मुझे पल भर के लिए अपना जूता काफ़ी वज़नी और अपना वजूद मन-मन भर भारी महसूस होने लगा.

हम अपने घरों को लौट आये. वह हमारे लिए पहले जैसी एक पहेली बनी हुई थी. हम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे. वह कहाँ से आती थी ? वह कहाँ को जाती थी ? इस इमारत में क्यों ठहरा करती थी ? यह इमारत अपने आपमें भूल-भूलैया थी ! मानो यह एक खोज कोई गोरखधन्धा हो, जिसका छोर किसी मंत्र के अन्दर छिपा हो. इमारत की सुरक्षा, उसके हुस्न की सुरक्षा, एक चकरा देने वाली पहली थी. इसके कई पहलू गुप्त होते हुए भी ज़ाहिर थे, ज़ाहिर होते हुए भी गुप्त थे. वह हमारे लिए एक समस्या बनी हुई थी जिसे हम करने के लिए प्रयत्नशील थे.

उस शाम, आसिफ़ मर्चेन्ट, मिसेज़ जोशी, पोचा जी और शाह साहब पहले से ही दुकान पर मौजूद थे और हम सब मिलकर एक हैरतनाक मंजर देख रहे थे. वह मंज़र यह था कि एडवर्ड जोन्स का बैंड उस इमारत के सामने शोक से भरी हुई धुनें बिखेर रहा था, और यह धुनें धीरे-धीरे हमें सोगवार करती चली जा रही थीं.

उस रात हम सब एडवर्ड जोन्स के घर पहुँचे. एडवर्ड जोन्स उस क़स्बे में वर्षों से रह रहा था. उसका पीतल के बाजे बजाने वालों की बैंड पार्टी थी. वह अपनी रोज़ी-रोटी उसी पेशे से कमाता था. यूँ भी वह बड़ा दयावान और नेक दिल इंसान था. अपने धर्म का प्रचार उसका उद्देश्य और मश्ग़ला था. उसके प्रचार का ढंग निराला था. वह छोटे-छोटे गाँव में फेरी करता था और क्षेत्रीय भाषा में छपी हुई पवित्र बाइबल और अन्य धार्मिक किताबें बेचता या बाँट दिया करता था. मिशनरियों में वह एडवर्ड जोन्स दि ग्रेट कॉलपोरटियर के नाम से मशहूर था.

अभी रात के नौ बजे थे लेकिन एडवर्ड जोन्स अपनी सुबह सवेरे जागने की आदत के कारण सो चुका था. हमारे दरवाज़ा खटखटाने पर वह जागा. लालटेन जलायी. और फिर उसने दरवाज़ा खोल दिया. जब हम सब उसके थोड़े बड़े मकान में आराम से बैठ गये तो मैंने बात शुरू की,

''एडवर्ड जोन्स इस वक़्त आने पर हम शर्मिंदा हैं और तुम्हें तकलीफ़ देने पर पशेमान हैं, लेकिन हमारी मजबूरी इससे ज़्यादा है.''

जोन्स के चेहरे पर कोई नागवारी के असर की कोई लकीर पहले भी ना थी लेकिन मेरी बात सुनकर वह मुस्कुराया और बोला, ''ऐसी कोई बात नहीं. मुझे किसी क़िस्म की तकलीफ़ नहीं हुई, आप बेकार परेशान न हों. वह बात बिना संकोच के बतायें जिसके लिए आप पधारे हैं.''

''जोन्स, हम जानना चाहते हैं कि आज उस इमारत के सामने तुमने बैंड क्यों बजाया ?''

एडवर्ड जोन्स बोला, ''इस इमारत से मुझे एक दस्ती ख़त मिला, उसमें लिखा था—आज शाम मैं वहाँ पहुँचूँ और आधे घंटे तक प्लेंट कम्पोज़ीशन बजाऊँ. मुझे उस ख़त में यह हिदायत भी दी गयी थी कि मैं उस पत्रवाहक को अपनी फ़ीस बता दूँ ताकि वह फ़ीस शाम में मुझे अदा की जा सके.''

''तुमने कितनी बतायी.'' शाह साहब ने पूछा.

''मैंने उससे कहा फीस का कोई महत्त्व नहीं है मेरे नज़दीक. जो समझ में आये दे दें. मैं ख़ुशी से क़ुबूल कर लूँगा. वहाँ पहुँचा तो इमारत के सामने टेबल-कुर्सियाँ बिछी हुई थीं और सेंट्रल टेबल पर यह लिफ़ाफ़ा रखा हुआ था ! जोन्स ने किताबों के शेल्फ़ पर रखा हुआ एक लिफ़ाफ़ा उठाया और हमारी तरफ़ बढ़ा दिया. हम सभी ने उस लिफ़ाफ़े को खूब अच्छी तरह उलट-पुलट कर देखा. वह मोटे काग़ज़ का बना हुआ सफ़ेद रंग का लिफ़ाफ़ा था जो शहर के किसी भी

स्टेशनरी की दुकान से मिल सकता था. लिफ़ाफ़े के अन्दर सौ-सौ रुपये के दो करारे नोट रखे हुए थे.

"सिर्फ़ दो सौ ?" पोचा जी ने हैरत से यूँ पूछा जैसे यह रक़म उस इमारत में रहने वालों की तरफ़ से अदायगी के हिसाब से मुनासिब न थी.

"नहीं, उन्होंने एक हज़ार की रक़म दी थी. मैंने दो-दो सौ रुपये की रक़म अपने चार साथियों में बाँट दी."

मेरी बहन ने पूछा, "जोन्स, हमें बताओ कि तुमने किस तर्ज की धुनें वहाँ बजायीं ? साफ है उनका असर बड़ा सोगवार था."

जोन्स ने मेरी बहन के कमज़ोर पैरों पर नज़र डालीं और बोला, "जी हाँ ! वह मातमी धुनें थीं."

"जोन्स, हमें बताओ कि ऐसी धुनें तुम किस अवसर पर बजाते हो ?"

"जब किसी को नुक़सान पहुँचे, किसी का कुछ खो जाये, कुछ क्षति हो जाय."

"नुक़सान पहुँचने, क्षति हो जाने और कुछ खो जाने से हम क्या मतलब निकालें ?" पोचा जी, जो कान से हाथ लगाये हमारी बातें सुन रहे थे, बोले.

एडवर्ड जोन्स ने बेचैन होकर कहा, "मेरा मतलब है कि मौत."

मिसेज़ जोशी ने कहा, "जैसे मेरे पति की मौत, मिस्टर जोशी की ?"

"जी, सही है, बिलकुल सही."

"एडवर्ड जोन्स, मेरे पति की मौत पर तुमने मातमी धुनें क्यों नहीं बजायीं ? क्या तुम्हारे नज़दीक यह कोई लॉस नहीं था ?"

मेरी बहन ने अपनी साड़ी का सिरा अपनी टख़नों तक उठाया और बोली, "हम हाड़-मांस के बने हुए थे. हमारी क़िस्मत ने हमसे मज़ाक़ किया. उसने हमसे हाड़-मांस के पैर लिये और हमें सागवान की लकड़ी और भैंस के चमड़े के बने हुए पैर दिये. क्या यह हमारा नुक़सान नहीं ? एडवर्ड जोन्स तुमने इस सिलसिले में मातमी धुन क्यों नहीं बजायीं ?"

आसिफ़ मर्चेन्ट ने कहा, "मेरी माँ के सीने में फेफड़े नहीं रहे जोन्स ! अगर फेफड़े होते तो हवा फेंकते. अब तो उनकी ज़रा सी जुम्बिश से मेरी माँ के मुँह से ख़ून रिसने लगता है. एडवर्ड जोन्स ! क्या तुम्हारे नज़दीक यह दुख के योग्य बात नहीं है ? अगर है तो फिर तुमने क्यों हमारी और हमारे नुक़सान की उपेक्षा की ? कभी भूले भटके भी नहीं आये. हमारे बीच बैठे नहीं. हमारा हाल तक नहीं पूछा. हमारा दर्द भी नहीं बाँटा. तुम पर हमारा बहुत बड़ा कर्ज़ है एडवर्ड जोन्स !"

फिर वहाँ से हम चल दिये. कहीं दूर, किसी वीराने में कोई बुढ़िया धाड़ें मारकर रो रही थी और उसके रोने की आवाज़ हमारे पीछे-पीछे चली आ रही थी.

अगले रोज़ एक अजनबी मेरे यहाँ पहुँचा. उसके हाथ में ठीक उसी नमूने का लिफ़ाफ़ा था, जिस नमूने का लिफ़ाफ़ा हमने एडवर्ड जोन्स के यहाँ कल रात को देखा था. वह लिफ़ाफ़ा उस आदमी ने मेरी तरफ़ बढ़ा दिया. लिफ़ाफे पर अपना नाम लिखा हुआ देखकर एक ठंडी सी लहर दौड़ गयी मेरे जिस्म में ! काँपते हाथों से मैंने लिफ़ाफ़ा चाक किया. उसमें टाइप किया हुआ पत्र था जिसमें लिखा था : "चूँकि इस शहर में कोई नेत्र विशेषज्ञ नहीं है और हमें एक
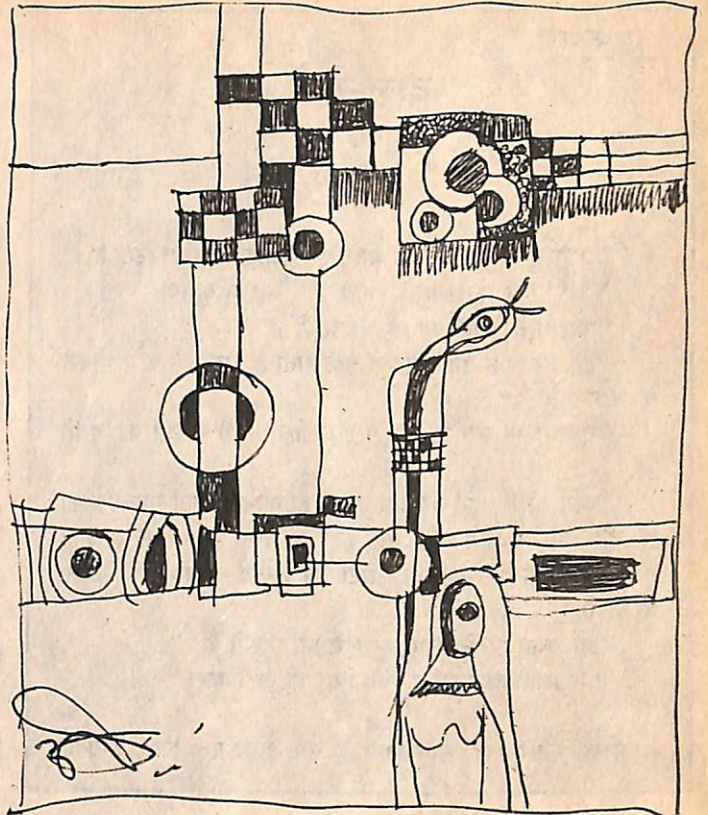
केस के सिलसिले में तुरन्त सलाह करना है इसलिए कृपा करके पहली फुर्सत में पधारिये."

जी में आया कह दूँ कि मुझे फुर्सत नहीं है. मैं आँख का डॉक्टर नहीं हूँ बल्कि ऑप्टिशियन हूँ. शहर पचास कोस की दूरी पर है. गाड़ी भेजकर किसी नेत्र विशेषज्ञ को बुला लें.

लेकिन चश्मा बनाने का फ़न सीखते-सीखते मैं आँखों की भीतरी और बाहरी बनावट, उनकी बीमारियाँ और उनका इलाज, उनका दोष और उनको दूर करने के तरीक़े, आँखों के सम्भावित ख़तरे और उन ख़तरों से बचने से उपायों, बढ़ती हुई उम्र के साथ-साथ आँखों में पैदा होने वाली कमज़ोरियाँ और उनकी सुरक्षा के उपाय से मैं वाकिफ़ था. मैं बिना किसी आले की मदद के बता सकता था कि मोतिया कब पकेगा ? आदमी शार्ट साइटेड है या लांग साइटेड. आँख आने के सिलसिले में कौन-सा नुस्ख़ा परखा हुआ है. कांटेक्ट लेंस आँखों की रौशनी को तेज़ करने में कितने सहायक हैं और पोलेरायड लेंस किस उसूल पर काम करते हैं. इन बातों से परे, इमारत के अन्दर का हाल जानने का हसरत मेरे दूसरे ख़यालों पर हावी रही. मैंने एक घंटे का वक़्त माँगा और दरख़्वास्त भिजवायी कि मेरे साथ मेरे साथी भी होंगे. उनकी मौजूदगी पर कृपया एतराज़ ना किया जाय. मेरी बहन ने मिसेज़ जोशी, पोचा जी, मर्चेन्ट और शाह साहब के घर जाकर मेरा संवाद पहुँचाया कि इमारत के भीतर जाने की राह निकल आयी. वे सब दुकान पर तुरन्त पहुँचें. आधे घंटे के अन्दर-अन्दर वह सब अच्छा लिबास पहनकर दुकान पर आ पहुँचे. उनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं ! जाँच के आले बटोरते हुए न जाने क्यों मेरे भी हाथ काँप रहे थे ! मैंने डूबी हुई आवाज़ में कहा, "चलिये." निढाल क़दमों से वे मेरे साथ इमारत की तरफ़ रवाना हुए. उस इमारत के पहरे पर तैनात अफ़सर हमारे आगमन से बाखबर था. नियमानुसार कार्रवाई

लघुकथा

दाल-रोटी

●

भगीरथ

"तो तुम कुत्तों से प्यार करते हो ! आदमी तुम्हें काटता है !"

"मुझे कुत्ते अच्छे लगते हैं." वह मुस्कुराया.

"क्या कुत्ते आदमियों से बेहतर हैं ?"

"हाँ, जब तक उनके मुँह में हड्डी होती है, तब तक वे न भौंकते हैं, न काटते हैं."

"तुम्हारा मतलब है, हम तुम्हारी फेंकी गयी हड्डियों को चूसते रहें."

"अरे, तो बिगड़ते क्यों हो ? हम ही कौन-सा मुर्ग़-मुसल्लम खा रहे हैं." मैनेजर धीमे और मीठे स्वर में बोला, फिर उसे समझाते हुए कहा, "लेकिन भाई, दाल-रोटी का जुगाड़ तो सभी को करना पड़ता है."

"तो क्या उसके लिए कुत्ता बनना ज़रूरी है ?"

"बौखलाते क्यों हो ? मैंने ऐसा तो नहीं कहा."

सम्पर्क : 1-7-147 कमला नगर, ई. सी. आइ. एल. पोस्ट, हैदराबाद

पूरी करने की ख़ातिर उसने वह पत्र हमसे ले लिया, रजिस्टर पर हमारे नाम लिखे, इसके बाद उसने अलग-अलग हमारे हस्ताक्षर लिये और प्रवेश के लिए दरवाज़ा खोल दिया.

इमारत के सामने लॉन था, जिसके किनारे पर पक्का रास्ता बना हुआ था. हम उस रास्ते से गुज़रते हुए इमारत के बरामदे में पहुँच गये. बरामदे को पार किया और फिर बहुत ही सजाये दालान में दाख़िल हो गये. दालान की दीवारों पर राजाओं, महाराजाओं से मिलती-जुलती दीवारगीर पोट्रेट लगे हुए थे. उनके चेहरों से रजवाड़ी रोब-दाब झलक रहा था. उस दालान से गुज़रकर हम दूसरे दालान में पहुँचे. वहाँ भी कोई मौजूद न था. हाँ उस दीवार पर जानवरों के सिर जड़े हुए थे. और दालान के दूसरे किनारे पर स्थित मेहराबदार दरवाज़े की दायें और बायें तरफ़ दो तस्वीरें लटकी हुई थीं.

एक तस्वीर उस सूरत से मिलती-जुलती थी जिसे मैंने उस रात दूरबीन की मदद से इस इमारत के बरामदे में टहलते हुए देखा था.

दूसरी तस्वीर पोचा जी के बयान की हुई घटना से मिलती-जुलती थी. ख़ामोश वादी को जाती हुई घुड़सवार औरत. कुछ दूरी पर उसके पीछे जाते हुए घुड़सवार. तस्वीरों को देखते ही हमारे दिल दहशत से काँप उठे. इस लम्बे-चौड़े कमरे की हर चीज़ रहस्यपूर्ण मालूम होने लगी.

हम उस कमरे से निकलकर एक दूसरे कमरे में दाखिल हुए. उसके बीच में बैठा एक आदमी अख़बार देख रहा था, उसके होंठों में हुक़्क़े की सुनहरी नै दबी हुई थी. उसके नथनों से निकलती हुई धुएँ की पतली-सी लकीर वातावरण में चक्कर मार रही थी. हमें देखते ही वह उठ खड़ा हुआ. मैंने अपना निजी परिचय देने के बाद अपने साथियों का परिचय कराया. वह हम सबसे ख़ुश-ख़ुश मिला. उसका स्वर कोमल और आवाज़ धीमी थी. उसकी आँखों से दुख झाँक रहा था. मैंने कहा , "जनाब आली ! न तो मैं चश्मों का माहिर हूँ और न ही कोई सर्जन, फिर भी अपने व्यवसाय के तीस साला तजुर्बे की रौशनी में आँखों के रोगों के सिलसिले में सलाह दे सकता हूँ. वैसे आप लांग साइटेड परसन हैं. किसी कारण आपने अपने लाइब्रेरी स्पेक्टस नहीं लगाये हैं. आपकी आँखें देर तक पढ़ नहीं सकतीं, वे थक जाती हैं."

इस बीच में नौकर तिपाई पर चाय रख गया था. उसने बड़े ढंग से मेरे साथियों को चाय पीने की दरख़्वास्त की और मुझे अपने साथ लेकर अगले कमरे में चला आया. इस कमरे में एक सात-आठ वर्षीय लड़का सोफ़े पर लेटा हुआ कोई मोटी सी किताब पढ़ रहा था, जिसकी आँखों पर चश्मा चढ़ा हुआ था. "यह मेरा इकलौता बेटा है." उसने बच्चे के सिर पर हाथ फेरकर कहा, "उसे दो रोज़ से पढ़ते हुए कठिनाई महसूस हो रही है."

बच्चे ने मुस्कुराकर गर्दन उठायी और हल्के से मुझे 'हैलो' कहा. फिर बोला, "आप पोलियो के रोगी हैं ?"

"जी. जी हाँ. साहबज़ादे." मैंने पता नहीं क्यों इतने आदर से उसे जवाब दिया.

"आपके माता-पिता कम पढ़े लिखे थे, पोलियो वैकसिन आपके भी बचपन में मुहैया थी." वह मेरी कमज़ोर टाँगों को देखने लगा.

"पिता जी, आप इन्हें स्टेट क्यों नहीं भिजवा देते, इनकी टाँगें वहाँ ठीक हो सकती हैं."

"बेटे यह हमारी प्राब्लम नहीं है. ज़रा इस कुर्सी पर बैठो. ये तुम्हारे आँखों की जाँच करने आये हैं."

"मेरी आँखों की ? मुझे तो कोई प्राब्लम नहीं."

मैंने उसे तसल्ली दी, "साहबज़ादे आप बहुत पढ़ते हैं ना ?"

उसने इस बात में गर्दन हिलायी.

"ज़्यादा पढ़ने-लिखने वालों को अपनी आँख की जाँच साल में दो-एक बार करवा लेनी चाहिए. यह आपका रूटीन चेक अप है. "मैं आलों की मदद से उसकी आँखों की जाँच करने लगा. आठ-दस मिनट में जाँच पूरी कर चुका तो चर्चा की ख़ातिर पूछ बैठा. "साहबज़ादे आपको कौन-कौन सा रंग पसन्द है."

"रंग ?" वह कुछ सोचता हुआ बोला.

"हाँ, रंग, नीले, पीले, ऊदे, लाल, हरा रंग."

"मुझे...मुझे रंगों से कोई दिलचस्पी नहीं."

"क्या कह रहे हैं आप, साहबज़ादे ! रंग तो संसार में प्रवाहित हैं. सारी दुनिया में बिखरे हुए हैं. उनके बिना तो किसी वस्तु की कल्पना सम्भव ही नहीं."

नौजवान के चेहरे पर थोड़ी-सी नाराज़गी के लक्षण प्रकट हुए, फिर समाप्त हो गये.

उसने ज़रा तेज़ स्वर मगर धीमी आवाज़ में कहा, "आप अपनी जाँच पूरी कर चुके हैं तो चलें, आपके साथी आपके इन्तज़ार में होंगे."

मैंने उसके स्वर का बदलाव तुरन्त महसूस किया. "जी" मैंने अपने आले बैग में डालते हुए कहा. "आपके बच्चे की आँख परफेक्ट आर्डर में हैं. आप थोड़ी भी चिन्ता न करें. हाँ, शहर जाकर किसी अच्छे आप्टिशियन से उनकी नयी ऐनक बनवा लें. उनका नम्बर बदल चुका है."

जब हम उस कमरे को लौटने लगे तो मैंने उस नौजवान से पूछा, "आप बुरा न मानें तो एक बात पूछूँ."

उसने थोड़े विलम्ब से कहा, "पूछिए."

"क्या आपको भी रंगों से कोई दिलचस्पी नहीं ?"

"मैं आपका मतलब नहीं समझा." उसने चिन्तित होकर पूछा.

"मेरा मतलब है कि आपके सोच-विचार पर, आपकी जीवन शैली पर, आपके कामों की प्रक्रिया पर, आपके आदर्श पर रंगों का कोई प्रभाव है भी या नहीं ?"

उसने अपनी चाल रोक दी, कुछ देर तक सोचता रहा फिर बोला, "पता नहीं आप रंगों को इतना महत्त्व क्यों दे रहे हैं ? आख़िर रंगों की हकीकत ही क्या है ! यह एक विशेष अनुभूति है जो किरणों के बिखराव से आँखों की पुतली पर पैदा होती है. पानी के एक क़तरे से सूरज की किरण गुज़रती है और धनक के रूप में सात रंग बिखेर देती है. लाल, नीला और पीला मूल और असली रंग हैं. बाकी के सभी रंग इन्हीं तीन रंगों को विभिन्न मात्रा में मिलाने से पैदा होते हैं. बतायें अब रंगों का क्या महत्त्व रह गया आपके नज़दीक ?"

मैंने उसकी जानकारी पर हैरत का इज़हार किया और बोला, "जनाब आली ! मैं आपकी बात काटने का साहस नहीं कर सकता. लेकिन आख़िरी सवाल पूछने की इजाज़त चाहता हूँ."

उसने उकताहट और बेज़ारगी से कहा, "फरमाइए."

"यह बताने का कष्ट करें कि जब आप को रंगों से बिलकुल दिलचस्पी नहीं तो रंगों के सिलसिले में इतनी जानकारी क्यों कर प्राप्त कर रखी हैं आपने ?"

उसने ज़रा झिझककर और सोचकर जवाब दिया, "यह स्कूली बातें हैं. अध्ययन का शौक़ मुझे भी है."

"जनाब आली ! एक आख़िरी सवाल."

"आपने तंग कर दिया मुझे." उसने कठोर स्वर में कहा.

"यह मेरे व्यवसाय से ताल्लुक रखने वाले सवाल हैं, हो सकता है, आप का जवाब मेरी ज़हनी गुत्थी को सुलझाने में मददगार हो." फिर उसके जवाब का इन्तज़ार किये बिना मैंने उसकी आँखों में आँखें डालकर पूछा, "क्या आप लाल और हरे रंगों में पहचान कर सकते हैं ?"

यह सुनते ही उसका रंग उतर गया. उसने नज़रें झुका लीं और भीतर के कमरे में चला गया.

उस कमरे से निकलकर हम उस दालान में आ गये जिसकी दीवार पर उस खातून की वह तस्वीरें टँगी थीं. मेरी नज़र अचानक पोर्ट्रेट पर जा पड़ी जैसे किसी चुम्बकी शक्ति ने उन्हें अपनी ओर खींच लिया हो. मेरे अन्दर बैठे हुए उस अनुभवी चश्मा शनास ने मुझे वाकिफ़ कराया कि यह ख़ातून भी इस रोग से ग्रसित थी जिस रोग में उस नौजवान का बेटा ! क्या रोग आनुवंशिक था ?

इमारत से निकलने से पहले उस अफ़सर ने एक लिफ़ाफ़ा मेरे हाथों में थमा दिया. लिफ़ाफ़े में सौ-सौ के बीस नोट रखे हुए थे और एक टाइप की हुई इबारत उनसे नत्थी थी.

"डॉक्टर अपने रोगी का सबसे बड़ा राज़दान होता है."

मैंने अपनी दुकान पर पहुँचकर अपने साथियों से सलाह की कि यह रक़म मुझे क़ुबूल करनी चाहिए या नहीं ?

"क्यों नहीं ! क़बूल करनी चाहिए यह तुम्हारी फ़ीस है."

"मेरी फ़ीस ?"

"हाँ तुम्हारी."

"मगर यह किस काम की ? मैंने क्या किया ?"

"तुमने...तुमने...हाँ तुमने हमें बताया ही नहीं कि तुमने अन्दर किसकी जाँच की, किसकी आँखों का निरीक्षण किया ?"

मुझे उस टाइप की हुई पर्ची का ख़याल आया, "डॉक्टर अपने रोगी का सबसे बड़ा राज़दान होता है."

मैंने अपने साथियों से सिर में दर्द का बहाना करके क्षमा माँगी फिर उनके जाने के बाद दुकान बन्द करके ऊपर की मंज़िल में चला आया.

उस रात बड़ी देर तक मुझे नींद नहीं आयी. मैं खिड़की में बैठा अपनी और अपनी बहन की, आसिफ़ मर्चेन्ट और पोचा जी की, मिसेज़ जोशी और शाह साहब के ज़िन्दगी के बारे में देर तक सोचता रहा.

हमारी ज़िन्दगी में कोई मूल्य समान न था सिवाय रंगों के, हम रंग देखकर ख़ुश हो जाने वाले लोग थे.

चाँद घट गया था. उसकी हल्की-हल्की रौशनी इमारत के काँच में से धनक की तरह फूटकर बिखर रही थी.

अगले रोज़ मैंने देखा, इमारत से वह सतरंगी काँच निकाले जा रहे हैं और उनकी जगह गत्ते के टुकड़े लगाये जा रहे हैं. उस शाम सभी ने चाय पीते हुए मेरी बहन से शिकायत की कि उसने आज तक इतनी बदमज़ा चाय उन्हें नहीं पिलायी थी !

पोचा जी बार-बार नाक सुड़क रहे थे और दायें-बायें गर्दन हिलाए जाते थे.

मिसेज़ जोशी और आसिफ़ मर्चेन्ट, शाह साहब और मेरी बहन किसी और जगह पर चले जाने की बात कर रहे थे, जहाँ ज़िन्दगी तेज़ रफ़्तार न हो, जहाँ वातावरण बोझिल न हो, जहाँ लकड़ी की कोई इमारत कि जिस पर रंग-बिरंगे शीशे चढ़े हों, अँधेरे में जिस पर चाँद साया डालता हो.

मैं एडवर्ड जोन्स को वह दो हज़ार रुपये दे आया था, प्रोग्राम के अनुसार उसे शाम के समय मेरे यहाँ पहुँचना था.

सूरज धीरे-धीरे ढलते हुए इमारत की पीठ पर आ गया. उसकी किरणें गत्ते के टुकड़ों पर पड़ीं फिर लौट गयीं. साये लम्बे हो गये. अँधेरे ने इमारत को अपनी गोद में ले लिया.

हम बिना लालटेन जलाये, अँधेरे ही में एक हलका बनाकर अपनी सुरक्षित की हुई चीज़ों के चारों तरफ़ बैठ गये और एक-एक चीज़ को...अंधों की तरह टटोलते हुए, उनसे सम्बन्धित रंगों को याद करने लगे.

हमारी आँखों से आँसू बह रहे थे...और एडवर्ड जोन्स मातमी धुन बजा रहा था.

अगले रोज़ उस इमारत से उखाड़े हुए रंगीन काँचों को हम सभी ने मलबे में से चुनकर अपने बैंक में सुरक्षित कर लिया. ◙

अनवर क़मर

मूल नाम : अनवर नादिर क़मर

जन्म : 5 फरवरी 1941

पहली कहानी : 'निरवान' (1971) में 'तहरीक' उर्दू मासिक दिल्ली में प्रकाशित हुई।

कृतियाँ : 'चाँदनी के सुपुर्द' , 'चौपाल में सुना हुआ क़िस्सा' (कहानी संग्रह).

सम्पर्क : 13-A गुल अपार्टमेंट्स, 244/B सेंट एन्ड्रीव्ज़ रोड, बान्द्रा, मुम्बई 400050

◆ कहानी ◆

पानी में घिरा हुआ पानी

•

मोहम्मद मंशा याद

चिकनी मिट्टी से घोड़े, बैल और बन्दर बनाते-बनाते उसने एक दिन आदमी बनाया और उसे सूखने के लिए धूप में रख दिया.

कड़ी दोपहर थी, चिलचिलाती धूप के शोले वीरान और कल्लरज़दा ज़मीन पर जगह-जगह नाच रहे थे, चारों ओर गहरा सन्नाटा था. चरिन्द-परिन्द पनाहगाहों में छुप गये थे. श्रेंह का बूढ़ा पेड़ चुपचाप खड़ा धूप में झुलस रहा था और ज़ैनां अब तक रोटी लेकर नहीं आयी थी.

उसने गाँव से आनेवाले रास्ते पर दूर-दूर तक देखा मगर चिलचिलाती धूप के सिवा उसे कुछ नहीं दिखा. उसने चिलम को टटोला. वह गर्म थी मगर उसने कश लिया तो उसके मुँह में जले हुए तम्बाकू की बू के सिवा कुछ नहीं आया. वह उठकर छाँह में आ गया और ज़ैनां की राह देखने लगा.

मुद्दत से उसकी ख्वाहिश थी कि वह एक ऐसा बावा बनाये जिसे कम-से-कम ज़ैनां देखकर ज़रूर दंग रह जाय और उसकी कारीगरी की तारीफ़ करे. उसके मन में जवानी के दिनों से ऐसे बहुत से लोगों की शक्लें और काठियाँ महफ़ूज़ थीं, जिनसे वह कभी-न-कभी मुतास्सिर हुआ था. वह चाहता था कि देखे हुए उन बहुत से चेहरों और जिस्मों को तोड़कर उनके ख़मीर से एक निहायत उम्दा क़दो-क़ामत और चेहरे-मोहरे वाला आदमी बनाये, जो हर तरह से मुकम्मल और अनोखा हो. उसने अपने ज़हन में उसे कई बार पूरा किया था मगर बार-बार उसकी शक्लो-सूरत, रंग-रूप और बनावट उसके ज़हन से उतर जातीं या धुँधला जातीं. वह उसे मुकम्मल यकसोई (पूरी एकाग्रता) और इतमीनान से बनाना चाहता था लेकिन इतमीनान नसीब नहीं होता था. उसे हर घड़ी ज़ैनां की ओर से धड़का लगा रहता था. कई बार उसने कोशिश भी की मगर फिर उसे अधूरा छोड़ दिया. कभी ऐसा होता कि उसे उस वक़्त याद आता, जब मिट्टी कम होती या अच्छी नहीं होती और कभी उस वक़्त, जब वह रात को खुले आसमाँ के नीचे चारपाई पर लेटकर हुक्का गुड़गुड़ा रहा होता. मगर आज घोड़े, बन्दर और बैल बनाते-बनाते अचानक उसके दिल में दर्द ज़ेह (प्रसव-पीड़ा) की-सी टीस उठी और उसने उसे बनाया और सूखने के लिए धूप में रख दिया.

बैठे-बैठे उसने श्रेंह की सूखी हुई फली लेकर मरोड़ी और बीज निकालकर गिनती करने लगा. उसे ख़याल आया कि बूढ़े श्रेंह के सूखने या टूट जाने से पहले दूसरा श्रेंह उगा देना चाहिए. फिर वह किसी अनजानी सोच से उदास हो गया. उसी वक़्त ज़ैनां रोटी लेकर आ गयी. उसने हमेशा की तरह इतमीनान की साँस ली, फिर घड़े से पानी का प्याला भरा और मुँह-हाथ धोने लगा. ज़ैनां उसके सामने बैठकर दुपट्टे के पल्लू से पंखा करने और नज़र नहीं आने वाली मक्खियाँ उड़ाने लगी; फिर बोली, ''तम्बाकू नहीं मिला, दुकानवाला पिछले पैसे माँग रहा था. तुम कहो तो रमजे से कुछ !''

''नहीं'', उसने छाछ का प्याला खाली करके रखते हुए कहा, ''मैं शाम को आकर खुद उससे बात कर लूँगा. अभी एक आध चिलम है—काम चल जायेगा.''

''मैं तो कहती हूँ'', ज़ैनां श्रेंह की डालियों से छन-छनकर आने वाली धूप को हथेली पर रोककर बोली, ''दोपहर को घर आ जाया करो. पेड़ बूढ़ा हो गया है और लोगों ने इसकी टहनियाँ काट-काट कर इसे और रुंड-मुंड कर दिया है.''

''यह बड़ा बरकत वाला है.'' उसने कहा, ''यह न होता तो बधाई माँगने वालों को घर तलाश करने में कठिनाई होती, पूरे गाँव में यही तो श्रेंह है.''

वह रोटी खा चुका तो वह बर्तन समेटने लगी. उसे अचानक कुछ याद आया. वह बेचैनी से बोला, ''ज़ैनां, मैंने आज एक कमाल की चीज़ बनायी है.''

''क्या ?''

''बूझो तो ?''

''मर्तबान'' वह बोली, ''तुमने अच्छा किया. जब भी लस्सी माँगने जाती हूँ, चौधरानी मर्तबान को ज़रूर पूछती है.''

''वह भी बना दूँगा, लेकिन यह एक दूसरी चीज़ है.''

''अच्छा-अच्छा'' वह हँस पड़ी, ''मुझे पता चल गया—झाँवाँ !''

वह भी हँस पड़ा और कहने लगा, '' 'झाँवाँ' तो नहीं पर एक लिहाज़ से झाँवाँ ही समझो क्योंकि उसमें अक्ल-तमीज़ नहीं है—मैंने बाबा बनाया है.''

''बावा ?''

''हाँ, ऐसा बनाया है कि बस जान डालने की कमी रह गयी है. तुम देखोगी तो हैरान रह जाओगी कि दुनिया में तुमसे ज़्यादा खूबसूरत चीज़ें भी बनायी जा सकती हैं.''

''अच्छा, चलो दिखाओ.'' वह उत्सुकता से बोली.

वह उसे लेकर वहाँ आया, जहाँ उसने सभी चीज़ें सूखने के लिए धूप में रखी थीं मगर वह यह देखकर बहुत परेशान हो गया कि घोड़े, बैल, बन्दर और सब चीज़ें ज्यों-की-त्यों पड़ी थीं मगर आदमी वहाँ नहीं था. उसने चारों ओर निगाह दौड़ायी. दूर-दूर तक चिलचिलाती धूप और चमकता हुआ कल्लर फैला हुआ था. कहीं आदमी न आदमज़ाद. परिन्दे तक घोंसले और दरख्तों की घनी शाखों की तलाश में निकल गये थे. वह परेशान हो गया.

''पता नहीं आदमी किधर गया ?''

''सौ बार कहा है'', ज़ैनां बोली, ''दोपहर के वक़्त आराम कर लिया करो. मगर तुम मानते ही नहीं. मुझे डर है, किसी रोज़ तुम सचमुच पागल हो जाओगे.''

"तुम्हें यकीन नहीं आ रहा" वह शिकायती लहजे में बोला, "खुदा की क़सम, मैंने तुम्हारे आने से ज़रा पहले उसे खुद अपने हाथों से बनाया. आँखों से बना हुआ देखा और यहाँ रखा था और अभी वह अच्छी तरह से सूखा भी नहीं था."

"कहीं चला गया होगा." ज़ैनां ने हँसते हुए कहा, "क्या पता तुम्हारे लिए तम्बाकू लेने गाँव चला गया हो !"

उसने नज़रें झुका लीं और निढाल-निढाल-सा श्रेंह के नीचे आ गया. ज़ैनां कुछ देर खामोश रही, फिर नाखूनों से पेड़ के तने की खाल खुरचते हुए बोली, "तो तुमने सचमुच बावा बनाया ?"

"और तो क्या, मैं तुम से झूठ बोल सकता हूँ ?"

"अगर ऐसा है तो मुझे डर लग रहा है." ज़ैनां बोली, "तुम घर चलो—देखो, यह वक़्त ठीक नहीं होता. वैसे भी यह सुनसान जगह मुझे 'पक्की' मालूम होती है. एक दिन मैं वापस जा रही थी तो बट्टे के पास मुझे ऐसा लगा, जैसे किसी ने मेरा नाम लेकर पुकारा हो—मैंने तुम्हें नहीं बताया था. कहीं तुम गलत न समझो—अल्लाह की मख़लूक़." वह कुछ कहते-कहते रुक गयी, फिर बोली, "पता है एक बार अब्बा गधे पर सवार कहीं जा रहा था. उसने देखा—उसके आगे-आगे एक और शख़्स गधे पर सवार जा रहा है. फिर दोनों ग़ायब हो गये. आदमी भी और गधा भी. अब्बा ने उतरकर देखा, वहाँ तक गधे के पाँवों के निशान थे, जहाँ से वह ग़ायब हुआ था."

"मैं ऐसी बातों को नहीं मानता", वह बोला, "और फिर उन्हें बावे का क्या करना था ?"

"अल्लाह जाने. मैं तो कहती हूँ घर चले चलो."

"नहीं ज़ैनां—मैं घर में छुपकर कब तक बैठ सकता हूँ और फिर तुम्हें पता है, मुझे गाँव में आकर वहशत होती है. पूरे गाँव में एक भी आदमी ऐसा नहीं है, जो मुझे आदमी समझता हो. ले-देकर एक रमजा है, वह भी तुम्हारी—"

"ऐसी बातें न किया कर दत्ते." वह उदास स्वर में बोली, "मुझे पता है कि तुम नफ़रत के सताये कई पुश्तों से प्यार के लिए तरसे हुए हो लेकिन मैं जो हूँ—मेरी तरफ़ देखो, मैं भी तो हूँ. तुम तो दिन भर खिलौनों से खेलते रहते हो."

"और तुमने जो इतने सारे घुघ्घू, घोड़े पड़छत्ती पर सजाकर रखे हुए हैं ?"

"हाँ, रखे तो हुए हैं, मगर क्या फ़ायदा ?"

"वैसे, ज़ैनां—मैं सोचता हूँ तुम्हें रब ने इतना हुस्न दिया है कि तुम सिर्फ़ शीशा देखकर भी वक़्त गुज़ार सकती हो."

ज़ैनां की समझ में नहीं आया कि वह लजाये, इतराये या चोट सहलाये. कुछ देर चुप रहकर बोली, "दत्ते तुम पानी में घिरे हुए पानी हो, तुम्हें क्या पता आग क्या होती है. तुम अवा में चीज़ें पकाते हो लेकिन तुमने खुद अवे में पककर कभी नहीं देखा, और मैं—!"

"मैं तो तुम्हें पहली ही औरत समझता हूँ."

"नाह उड़िया—मुझे ख़ाकी (मिट्टी का बना हुआ) ही रहने दे—मैं तो एक भैंस और एक गधी के बदले..."

"भैंस और गधी का ज़िक्र बार-बार न किया करो. अगर मेरे पास कारूँ का खज़ाना होता और तुम मुझे उसके बदले में मिल जातीं तो भी मैं अपनी खुशक़िस्मती समझता."

"ज़िक्र क्यों नहीं किया करूँ ! भैंस अब तीसरे चौथे सोए में होतीं और गधी..."

"तुम नहीं आतीं तो मेरा क्या बनता ? बिरादरी वालों ने तो ग़रीब समझकर साफ जवाब दे दिया हुआ था—मेरा जनाज़ा."

"हाँ, तुम्हारी रोटी कौन पकाता ? कपड़े कौन धोता और तुम्हारा जनाज़ा ?" वह उदास और परेशान हो गयी.

वह बोला, "अब तुम घर चली जाओ. मैं उसे तलाश करता हूँ."

"दूसरा बना लो ?" वह बर्तन उठाते हुए बोली, "आखिर एक बावा ही तो था."

"दूसरा तो मैं किसी वक़्त बना लूँगा", उसने जवाब दिया. "लेकिन वह पहला किधर गया ?"

"हाँ, तुम ठीक कहते हो, वह पहला वाला किधर गया !"

"अजीब बात है. पहले कभी ऐसा नहीं हुआ. कुछ समझ में नहीं आता !"

"काश, मैं तुम्हारी मदद कर सकती. लेकिन मेरी तो अपनी समझ में कुछ नहीं आ रहा, अल्लाह अपनी मेहरबानी करे—अच्छा मैं जाती हूँ."

वह उठकर चल दी. वह उसे जाते हुए देखता रहा. गुमसुम खड़ा रहा. जब वह टब्बे के पास पहुँच गयी तो उसने आवाज दी, "ज़ैनां, किसी से इसका ज़िक्र न करना."

मगर ज़ैनां ने मुड़कर नहीं देखा. वह उसकी आवाज की सरहद पार कर चुकी थी. उसे पशेमानी (पश्चाताप) होने लगी. उसने ज़ैनां को पहले क्यों ताकीद न कर दी कि वह किसी से इसका ज़िक्र न करे. लोग उसे पहले ही बेवकूफ़ और हिक्र समझते थे. नयी बात सुनकर और हँसी उड़ायेंगे और इसका जीना दूभर कर देंगे. फिर उसने चश्म-तसव्वुर से देखा, ज़ैनां गली के मोड़ पर किसी से बातें कर रही थी.

"रमजे, तेरे भाइये ने आज आदमी बनाया."

"आदमी बनाया ?"

"हाँ, और वह गायब हो गया."

"कौन भाईया ?"

"नहीं आदमी."

"भाइया भी तो आदमी है. कहो है कि नहीं ?"

"है—मगर उसने बावा बनाया था."

"देख, ज़ैनां बुझारतें न डाला कर—भाइये का बावा गुम हो गया तो तू उसे दूसरा बना दे. तू भी कुम्हारन है."

उसने कानों में उँगलियाँ ठूँस लीं, वरना ज़ैनां क्या कह देती. शाम को वह गाँव पहुँचा तो उसका शुबहा सही साबित हुआ, सारे गाँव में बावा के गुम हो जाने की ख़बर फैल चुकी थी.

तन्दूर, चौपाल, मस्जिद और बड़ी दुकान—हर जगह लोग उसकी सादगी और बेवकूफ़ी पर हँसते और वह जिधर से गुज़रता उसे छेड़ते. "सुना है, दित्ते—तेरा बन्दा गुम हो गया है ?"

"यार दित्ते, बड़ा अफ़सोस है तूने सारी उम्र में एक बावा बनाया था, वह भी चील उठाकर ले गयी."

मौलवी साहब ने लाहौल पढ़कर कहा, "जब शिर्क[1] के काम करोगे तो ऐसा ही होगा. कमबख़्त बुत बनाते हो, याद रखो, अल्लाह ऐसे लोगों की मत मार देता है."

उसे बेहद दुःख हुआ—ज़ैनां को ऐसा नहीं करना चाहिए था. उसे ज़ैनां पर बहुत गुस्सा आया मगर वह ज़ब्त कर गया. उसे पहले ही धड़का लगा रहता था कि वह उससे रूठ न जाय. उसके पास ज़ैनां को अपने पास रखने के लिए कुछ भी नहीं था. पता नहीं, काग़ज़ की यह नाव अब तक कैसे सलामत थी ! वह हर रोज़ घर आता और उसे घर में पाकर हैरान होता था—उसे दोपहर को अक़सर शुबह रहता था लेकिन आशा के विपरीत हर रोज़ रोटी लेकर आ जाती थी. बावे वाली बात पर उसने गाँव वालों की फ़ब्तियाँ, ताने और बातें सुनीं और बर्दाश्त कीं और बज़ाहिर ऐसा रवैया अख़्तियार कर लिया, जैसे वह ज़ैनां और गाँव वालों से ख़ुद मज़ाक़ कर रहा था. मगर अन्दर-ही-अन्दर उसके दिल में गिरह-सी पड़ गयी और उसे अजीब तरह की चिन्ता लग गयी, आख़िर वह किधर गया ? कौन ले गया ?

ज़ैनां को इस बात का यक़ीन आ गया और वह जल्द ही भूल गयी. लोग भी भूल गये मगर वह परेशान और उदास रहने लगा. उसकी समझ में नहीं आता था कि जब उसके और ज़ैनां के सिवा वहाँ कोई नहीं आया था तो वह किधर गया ! ज़ैनां उससे परेशानी और उदासी का कारण पूछती तो वह उसे इधर-उधर की बातों में टाल देता. वह घुग्घू, घोड़े बनाता और अवे में पकाता रहा और ज़ैनां सिर पर खारी रखे आसपास के देहातों में गली-गली घूमती और खिलौने बेचती रही....श्रेंह की टहनियाँ कट-कटकर गाँव के घरों के मुख़्तलिफ़ दरवाज़ों पर सजती रहीं. बहुत-सा वक़्त गुज़र गया मगर उसकी उलझन दूर न हुई.

इस दौरान उसने शहर जाकर ज्योतिषी से भी पूछा—साईं बहादुर शाह के मेले पर तोते से फ़ाल भी निकलवायी और पीर हिदायतुल्ला से ताबीज़ भी लिया मगर उसकी उलझन दूर न हुई; न उसके दिल से बावे का ख़याल मिटा. कई बार उसने सोचा कि वह फिर से बना ले—सामने बैठकर सुखाये और पकाये लेकिन यह सोचकर उसे ख़ौफ़ होता था कि अगर उसके देखते-देखते वह ग़ायब हो गया तो ?

उसने हर पूर में से अच्छे-अच्छे खिलौने निकालकर घर की पड़छत्ती पर महफ़ूज़ किये हुए थे. अगर बावा पड़छत्ती पर पड़ा-पड़ा ग़ायब हो गया. तो वह सचमुच पागल हो जायेगा और ज़ैनां को पता चला तो वह ख़ौफ और दहशत के मारे बेहोश हो जायेगी और घर के दरो-दीवार से ख़ौफ़ खाने लगेगी.

मोहम्मद मंशा याद

जन्म : 1937 शेख़पुरा (पाकिस्तान)

शिक्षा : सिविल इंजीनियर, एम. ए. उर्दू और पंजाबी

कृतियाँ : 'बन्द मुट्ठियों में जुगनू', 'मांस और मिट्टी', 'ख़ला अन्दर ख़ला', (कहानी संग्रह), 'वगधा पानी' (पंजाबी कहानी संग्रह) इसके अतिरिक्त कविताएं भी लिखी हैं, और रेडियो तथा टीवी के लिए फीचर्स भी.

सम्पर्क : 362 स्ट्रीट-75, जी-6/4, इस्लामाबाद (पाकिस्तान)

मौसम आते-जाते रहे. रुतें बदलती रहीं. बहार के मौसम में नयी कोंपलें फूटतीं और बरसात के दिनों में बादल उमड़-उमड़कर आते रहे. फिर एक बरसात के मौसम में इस तरह पानी बरसा कि जल-थल हो गया. सैलाब का पानी उतरा तो कल्लर ज़मीन पर जगह-जगह घास और तरह-तरह की बूटियाँ उग आयीं.

एक ऐसी सुबह को जब मुंडेरों पर कौए कल्लोल कर रहे थे और चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, दित्ते के घर से चिलम के लिए जलाये गये उपलों का धुआँ और ज़ैनां की चीखें एक साथ बुलंद हुईं जो थोड़ी देर बाद धुंधियाले कहकहों में बदल गयीं और उसे पता चला कि उसके घर-आँगन में एक नन्हा-सा श्रेंह उग आया है. पता नहीं, श्रेंह के बीज कब और कैसे घर में आये थे. क्या ख़बर, बीजों की कोई फली ज़ैनां की खारी-या जंगेर में आ गयी हो. कोई बीज उसके जूतों से चिपककर वहाँ पहुँच गया हो, फिर हवा के झोंके उसे उड़ा लाये हों.

"श्रेंह बरकत वाला पेड़ है." उसने सोचा, "और उसकी नस्ल गाँव में ख़त्म नहीं हुई."

बूढ़ा श्रेंह अभी खड़ा था और दूसरा उग आया.

घर की पड़छत्ती पर रखे हुए खिलौनों की गर्द साफ़ की गयी और घर के अन्दर सारे फ़र्श पर गोबर का लेप किया गया."

ज़ैनां ठीक हो गयी और कामकाज करने लगी तो वह भी एक सुबह काम पर रवाना हुआ. ज़ैनां ने कहा, "दोपहर को घर आ जाना, दित्ते—वहाँ रहना ठीक नहीं."

"क्यों ठीक नहीं ?"

"तुम्हें याद है वह बावा ?"

"बावा" वह चौंक पड़ा.

"हाँ वही बावा जिसके ग़म में तुम इतना समय उदास और परेशान रहे."

"तुम जानती हो ?"

"हाँ."

"और तुम्हें यक़ीन है, मैंने बनाया था ?"

"हाँ मुझे यक़ीन है कि पूरे गाँव में एक ही आदमी है, जो उन चीज़ों से भी मुहब्बत कर सकता है, जो उसने ना बनायी हो."

उसने फटी-फटी नज़रों से ज़ैनां की तरफ़ देखा और औज़ार उठाकर बाहर निकल गया. ◼

---

1. एक से ज़्यादा ख़ुदाओं को मानना (इस्लाम में मूर्ति बनाना भी शिर्क माना जाता है)

◆ कहानी ◆

आन-बान

●

तारिक़ छतारी

"क्या ? हरी सिंह की शादी हो रही है ? अरे किसी ने यूँ ही उड़ा दी होगी."

"अजी ना चौधरी साहब, बात सोलहो आना पक्की है." सुन्दर ने कहा.

"मगर भई ये हुआ कैसे ?"

"कान में उड़ती-उड़ती पड़ी है कि घटिया वाले नन्वा ने बात लगायी है." सुन्दर गरदन का मैल छुड़ाते हुए बोला.

"किसके यहाँ ?"

"रामनगर वाले ठाकुर नेक सिंह के यहाँ."

"मगर ये तो धोका है." चौधरी साहब ने फर्शी हुक्का अपनी तरफ़ खींचा जिसे सुन्दर अभी-अभी ताज़ा करके लाया था. शहज़ाद खाँ गलियारे से गुज़र रहे थे, चौधरी साहब को हुक़्क़ा पीते देखा तो वो भी चौपाल पर धूप में आन बैठे.

"सुना आपने, हरी सिंह की शादी हो रही है."

"हाँ चौधरी साहब सुना तो है. मालूम नहीं ठाकुर साहब ने क्या सोचा है. जब उसकी माँ मरी थी तो बेचारे की उम्र ही क्या थी. तभी से उसकी ये हालत हो गयी है, जहाँ झुलसती गर्मियाँ आयीं और लगे दौरे पड़ने."

शहज़ाद खाँ ने हुक्के की चिलम उठायी और कश लगाने लगे.

"मगर खाँ साहब इस हालत में शादी ? वह तो औरत को लाल जोड़े में देखकर बिल्कुल ही पागल...?"

शहज़ाद खाँ ने चिलम फिर नैचे पर जमा दी और बोले, "भई दिल में डर बैठ गया है लाल रंग से. शादी के बाद शायद निकल जाय."

चौधरी साहब ने हुक्के की नै को मुट्ठी में भरकर मुँह से लगा लिया. आज उन्हें तम्बाकू बहुत कड़वा महसूस हुआ. खाँसते हुए सुन्दर से बोले, "क्या शीरा कम डाला है ? धाँस बहुत है." सुन्दर ने जवाब तो दिया मगर चौधरी साहब कुछ न सुन पाये और खाँसते ही रहे. सुनते भी कैसे ठाकुर तेज बहादुर से उनका पुराना बैर था.

सूरज सर पर आ चुका था मगर अब भी उसकी किरणें सर्दी से काँप रही थीं. हरी सिंह के पिता ठाकुर तेज बहादुर मेहमानों से कह रहे थे, "शादी ब्याह का मज़ा तो सर्दियों में ही है." ये जानते हुए भी ठाकुर तेज बहादुर अपने बेटे की शादी सर्दियों में क्यों कर रहे हैं, हर आदमी अनजान बना हुआ था. हरी सिंह की बुआ ने उसे नहला-धुला कर दूल्हा बना दिया. मुहल्ले की औरतों ने खूँटी पर टँगी ढोलक को डरते-डरते उतारा, डोरियाँ कसीं और फिर ढोलक की थाप और गीतों की आवाज़ ने सभी के दिल से डर निकाल दिया. बरात चली गयी. पूरे टोले में रतजगा हुआ. मुहल्ले भर की औरतें नाचती गाती रहीं. गली के नुक्कड़ पर रात भर देसी घी के दो चराग़ जलते रहे और दूसरे दिन बहू घर में आ गयी. मुहल्ले की कुछ बड़ी बूढ़ियों का कहना है कि रात एक दिया बुझ गया था, चुपके से हरी सिंह की बुआ ने जला दिया. बुआ मारे ख़ुशी के बहू के पैरों में बिछी पड़ रही थीं और इतनी बार लज्जा की बलायें ली थीं कि अब उनकी उँगलियों ने चटख़ना बन्द कर दिया था. बुआ ने दूध से भरा धन्वा कुम्हार के यहाँ का बना मिट्टी का नक़्शीन प्याला बहू के होठों से लगा दिया और दूसरे हाथ से उसकी पीठ सहलाते हुए बोलीं. "पी ले बहू...बहुत थक गयी होगी."

चौबारे के सामने वाला अट्टा जिसमें प्याज़ पड़े-पड़े किल्ले देने लगी थी, झाड़-पोंछ कर साफ कर दिया गया. जब रात ऊँघने लगी तो हरी सिंह को ऊपर अट्टे में लज्जा के पास भेज दिया गया. लज्जा घुटनों में सर दिये लाल शनील की चादर ओढ़े मसहरी पर बैठी थी. हरी सिंह उसके पास आकर बैठ गया. उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे मगर इतना जानता था कि उसे कुछ कहना है. आख़िर बोल पड़ा. "वैद्य जी कह रहे थे अब मेरी तबीयत ख़राब नहीं होगी. गर्मियों में भी नहीं."

फिर थोड़ी देर रुककर बोला. "तुम वैद्य जी को नहीं जानतीं. वे पिता जी के मित्र हैं. जब मुझे दौरे पड़ने शुरू हुए तो पिता जी ने स्कूल से उठवा लिया मगर वैद्य जी ने पढ़ाना न छोड़ा. मैंने उनसे बहुत सी किताबें पढ़ीं हैं. वे मेरे गुरु हैं."

लज्जा ने घूँघट के अन्दर से झाँका और फिर गर्दन झुका ली, कुछ देर वह ख़ामोश बैठा रहा. समझ में नहीं आ रहा था कि किस तरह बात आगे बढ़ाये. फिर उसकी नज़रें उठीं और अट्टे के चारों कोनों में घूमती हुई लज्जा के घूँघट पर आकर ठहर गयीं.

सुर्ख़ कपड़ों में दहकती एक औरत. लज्जा. उसकी माँ, चिता और झुलसता हुआ उसका बदन, 'नहीं....' चीख उसके अन्दर घुटकर रह गयी. मुड़कर देखा तो परात में अंगारे दहक रहे थे. सर्दी बहुत थी. बुआ ने परात में अंगारे रख दिये थे. कोने में लालटेन जल रही थी. जलती हुई लालटेन, लज्जा के सुर्ख़ कपड़े, परात में दहकते अंगारे...उसे अपने जिस्म से चिंगारियाँ सी उठती महसूस हुईं, चिंगारियाँ आग की लपटें बन गयीं. ऊँची-ऊँची लपटों के दरमियान उसकी माँ का बदन झुलस रहा है. वह सबसे छुपकर बहुत आगे जा खड़ा हुआ है.

"माँ"

"आ जा हरी..."

माँ ने दोनों बाहें फैला दीं. हरी सिंह बाहों में जाकर झूल गया.

"अरे निगोड़े तनिक देख के. चूल्हे पर तवा चढ़ा है. चल उधर बैठ."

माँ ने उसके आगे बेसन के चिल्ले परोस दिये. उसने थाली एक तरफ़ को हटायी और हुमककर माँ के पास आ गया. माँ ने चूल्हे में एक लकड़ी और रख दी. आग भड़क उठी. माँ का बदन झुलसने लगा. चिता की लपटें तेज़ हो गयी थीं. "माँ." वह चीख़ा और चिता में जलती माँ की बाहों में जाकर झूल गया. सभी के मुँह खुले के खुले रह गये. भोला ने बढ़कर उसे खींचा मगर उसका दाहिना हाथ बिल्कुल झुलस
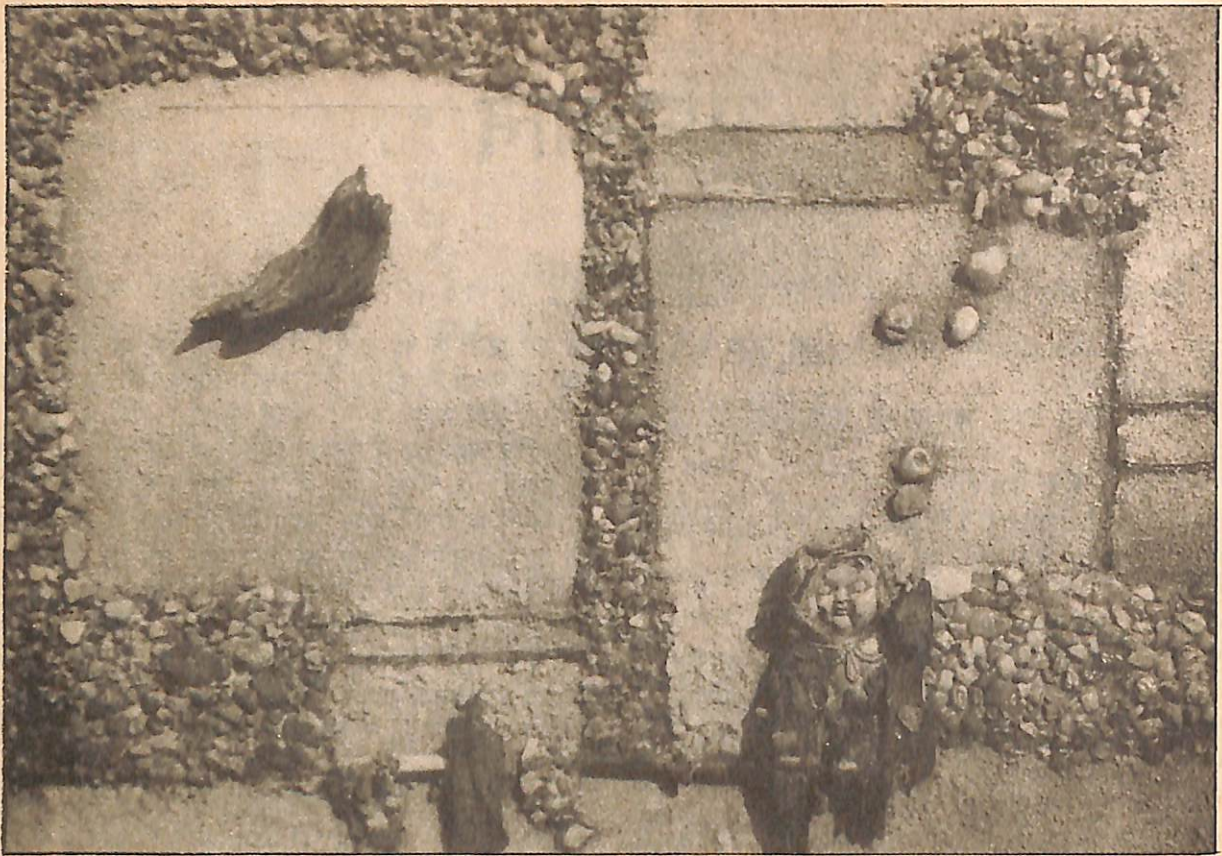
चुका था. कई दिन बेहोश रहा. जब होश आया तो एक ज़ोरदार चीख़ ठाकुर तेज बहादुर के आँगन में गूँजी.

"क्या हुआ ?" लज्जा उसकी चीख़ सुनकर घबरा गयी.

"कुछ नहीं. वैद्य जी कह रहे थे, अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ."

सुर्ख़ चादर का घूँघट लज्जा के सर से खिसककर कन्धों पर ढलक आया था और वो गुमसुम बैठी हरी सिंह को तके जा रही थी. हरी सिंह ने देखा कि उसके माथे की सुर्ख़ टिकिया फैलती जा रही है. कोने में जलती लालटेन, दहकते अंगारों से भरी परात. सुर्ख़ चादर और माँ की चिता, सब कुछ लज्जा की सुर्ख़ बिंदिया में सिमट आया था. वह आग के गोले में लज्जा को ढूँढ़ने के लिए हाथ-पाँव मारने लगा. पैरों में कँपकँपाहट हुई. लड़खड़ाया, गिरा, सँभला और फिर उसने ख़ुद को अट्टे के बाहर चौबारे के उस तरफ़ खुली और वीरान छत की मुँडेर पर अकेला बैठा पाया.

लज्जा रात गये तक इंतज़ार करती रही मगर जब हरी सिंह नहीं आया तो वह उठी, भिड़े हुए किवाड़ धीरे से खोले और बाहर झाँकने लगी. उसने देखा कि हरी सिंह दोनों हाथ बगलों में दबाये छज्जे पर पैर लटकाकर मुँडेर पर बैठा है. वह आहिस्ता-आहिस्ता नंगे पाँव चलती हुई उसके पीछे जाकर खड़ी हो गयी. थोड़ी देर खड़ी रही फिर चुपके से अपना हाथ उसके कन्धे पर रख दिया. हरी सिंह ने मुड़कर देखा और कुछ कहना चाहा मगर आवाज़ झुलसे हुए कागज़ की तरह भुरभुरा कर रह गयी और वह सिर्फ अट्टे की तरफ इशारा ही कर सका. लज्जा गर्दन झुकाये खड़ी रही. थोड़ी देर बाद हरी सिंह भी उठकर खड़ा हो गया. लज्जा उसी तरह खड़ी रही. हरी सिंह ने ढेंचे की लकड़ियों के गट्ठर से एक लकड़ी खींची और कच्ची छत की मिट्टी को कुरेदने लगा. थोड़ी देर तक मिट्टी को कुरेदा, कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींची, फिर लकड़ी को तोड़ा और बाहर गली में फेंक दिया. लज्जा ने बढ़कर हरी सिंह का बाजू पकड़ लिया. हरी सिंह ने उसकी तरफ देखा वह ख़ुश्क आँखों से उसे घूर रही थी. अब उसने लज्जा का हाथ अपने हाथ में दबा लिया था, लज्जा की आँखें नम होने लगी थीं और काजल रुखसारों पर उतर आया था. न हरी सिंह ने कुछ कहा और न ही लज्जा कुछ बोली. बस दोनों अट्टे में एक साथ दाख़िल हुए और हरी सिंह ने दरवाज़ा बन्द कर लिया. लज्जा सिमटकर मसहरी पर बैठ गयी. लालटेन उन्हें घूर रही थी. हरी सिंह ने उठकर लालटेन के मोहरे को घुमाया और जब बत्ती इतनी गिर गयी कि चिमनी के अहाते से बाहर निकलना रौशनी के बस में न रहा तो उसने लज्जा के बदन से फूटती रोशनी में पनाह ली. ये रोशनी सुर्ख़ नहीं थी, सब्ज़ भी नहीं थी, इसका कोई रंग नहीं था, या फिर इसमें सारे रंग मौजूद थे. ज़िन्दगी और मौत के सारे रंग. वह रात भरी इसी रौशनी की नर्म आग के एक नये एहसास को अपने वजूद में उतारता रहा. और ये आग पानी बनकर उस पर बरसती रही और फिर धीरे-धीरे उसके जिस्म की तमाम चिनगारियाँ बुझ गयीं.

सुबह हुई तो हरी सिंह की बुआ ने देखा कि लज्जा शरमायी-लजायी अट्टे से निकल रही है. वे फूले नहीं समायीं. ठाकुर साहब ने सुना तो सीधे वैद्य जी के यहाँ दौड़ पड़े, "वैद्य जी भगवान की दया हुई. लज्जा खुश है. ईश्वर आपका भला करे." फिर घर लौटे और कई वर्ष से बक्से में बन्द पड़ी बसन्ती पगड़ी को निकाला, सर पर सजाया और लठ हाथ में लेकर बाज़ार की तरफ चल पड़े. बुआ ने कई तरह के पकवान तैयार करने शुरू कर दिये. लज्जा के पिता ठाकुर नेक सिंह के आने का समय हो गया था.

लघुकथा

नरक से वापसी

●

रामलाल

उसे नींद में चल पड़ने की आदत थी, एक दिन उसी हालत में चलते-चलते वह नरक के फाटक पर जा पहुँचा, अन्दर जो आग जल रही थी उसके शोलों की ताप से अपने घर का सुख याद आया.

वह उलटे पैर घर लौट आया, उसके घर का दरवाज़ा अन्दर से बन्द था, उसने दरवाज़े पर दस्तक दी और अपनी पत्नी को पुकारा. कोई उत्तर न मिला.

उसने फिर दस्तक दी, बार-बार दस्तक दी और आवाज़ें दीं, "खोलो खोलो."

अचानक दरवाज़ा खोल दिया गया. उसके सामने उसकी पत्नी की जगह कोई दूसरी महिला खड़ी थी और एक दूसरा आदमी भी जो उस महिला के पीछे उसके दोनों कन्धों पर हाथ रखे हुए खड़ा था. दोनों उसकी ओर आश्चर्य से ताक रहे थे. वह उसे नहीं जानते थे. वह भी उन्हें नहीं जानता था.

वह समझ गया, उसके घर के गृहवासी बदल चुके हैं लेकिन उसे ये सोचकर बहुत आश्चर्य हुआ कि यहाँ से गये उसे कुछ ही मिनट हुए थे, पर ये संक्षिप्त पल सैकड़ों वर्षों में बदल चुका था.

"मैं इस घर का मालिक हूँ. मैं यहीं रहता हूँ."

जिन लोगों से वह सम्बोधित था, उनकी आँखों में भरी हुई हैरानी अभी तक थी, महिला ने अपने मर्द से पूछा, "कं कं कं कं कं कं."

उसके मर्द ने उसे बताया, "फ़ फ़ फ़ फ़ फ़ फ़ फ़." जिस भाषा में उन्होंने आपस में बातें कीं वह उसके पल्ले नहीं पड़ीं. उसने उनसे कहा, "यहाँ मैं अपनी पत्नी को छोड़कर बाहर गया था, वह कहाँ है ? मुझे अन्दर आने दो."

महिला बोली, "क क क क क क क."

मर्द ने कहा, "अ अ अ अ अ अ अ."

ये कहकर उन्होंने उसे बाहर धकेल दिया और दरवाज़ा फिर से बन्द कर दिया. ◙

हरी सिंह पोखर वाले मोड़ पर ठाकुर नेक सिंह की बस के इंतज़ार में सुबह से ही खड़ा था. बसें गुज़रती रहीं और शाम हो गयी. वह मायूस होकर लौटने ही वाला था कि एक बस आकर रुकी और उसमें से ठाकुर नेक सिंह उतरे. हरी सिंह बढ़कर उनके पैर छूने को झुका. ठाकुर नेक सिंह ने तअज्जुब से हरी सिंह को देखा और दो क़दम पीछे हट गये. हरी सिंह के हाथ दगड़े की धूल में जा धँसे, धूल उड़कर पता नहीं कैसे ठाकुर नेक सिंह की आँखों में भर गयी. हरी सिंह के सामने फ़ज़ा शफ्फ़ाफ़ थी और ठाकुर नेक सिंह के सामने गुबार आलूद.

जब हरी सिंह ठाकुर नेक सिंह को लेकर घर पहुँचा तो बुआ दरवाज़े के बाहर छप्पर के नीचे खड़ी उनका इंतज़ार कर रही थी, जल्दी से अन्दर गयी और दालान में खाट बिछाने लगीं. हरी सिंह भागता हुआ कोठे में गया और एक नयी दरी लाकर खाट पर बिछा दी. ठाकुर नेक सिंह बैठ गये और अपना साफा उतारकर सिरहाने रख दिया. लज्जा पीतल का बड़ा गिलास भरकर दूध ले आयी. ठाकुर नेक सिंह ने आहिस्ता से पूछा, "बेटा...राज़ी खुशी हो." और लज्जा ने शरमाकर गर्दन झुका ली.

ठाकुर तेज बहादुर बाज़ार में दिन मुँदे तक टहलते रहे. पूरे फड़ के कई चक्कर लगाये और जब घर लौटे तो उन्होंने देखा कि आसमान पर चाँद और खाट पर ठाकुर नेक सिंह विराजमान हैं. दोनों ने वहीं बैठकर खाना खाया. हरी सिंह ने पीतल की लुटिया में पानी भरकर उनके पास रख दिया. बुआ ने दरी का कोना हटाया और खाट की अदवाइन में दो गिलास उड़स दिये. ठाकुर नेक सिंह फटी-फटी आँखों से सब कुछ देखते रहे मगर जैसे ही वे हरी सिंह को देखने की कोशिश करते दगड़े की धूल उनकी आँखों के सामने अँधेरा बनकर छा जाती.

जब रात बोलने लगी तो हरी सिंह लज्जा के पिता की पाँइती आकर बैठ गया और अपने मज़बूत हाथ रज़ाई के अन्दर उनकी पिंडलियों पर रख दिये, "पिता जी, आप थक गये होंगे."

ठाकुर नेक सिंह जैसे उछल पड़े, फिर करवट ली, टाँगें समेटीं और बगैर कुछ कहे मुँह मोड़कर सो गये. हरी सिंह हैरत से देखता रह गया. दूसरे दिन लज्जा को ठाकुर नेक सिंह के साथ जाना था. वह चली गयी और हरी सिंह को लगा जैसे उसके जिस्म से कोई चीज़ निकाल ली गयी हो.

कई महीने बीत गये लज्जा वापस नहीं आयी. हरी सिंह ने दो चार चिट्ठियाँ लिखीं. मगर कोई जवाब नहीं. हरी सिंह के पिता बुलाने गये मगर अकेले ही लौट आये, पूछे जाने पर कुछ भी नहीं बताया. फिर अचानक एक दिन लज्जा की चिट्ठी मिली, बस इतना लिखा था. "पिता जी से कहो मुझे आकर ले जायें." जब हरी सिंह ने ठाकुर तेज बहादुर को चिट्ठी दिखायी तो वो आग बगूला हो गये. "मैं एक बार जाकर लौट आया हूँ. और फिर रीत तो ये है कि ठाकुर नेक सिंह ख़ुद बहू को यहाँ छोड़ने आयें."

ऐसी किसी रीत के बारे में हरी सिंह ने पहले कभी नहीं सुना था. उसे वैद्य जी की बात याद आयी, "हमारे अहंकार ही रीत-रिवाजों को जन्म देते हैं."

सर्दियाँ बीतीं, गर्मी की रुत आ गयी. वक़्त गुज़रता रहा और एक रोज़ ठाकुर तेज बहादुर ने देखा कि हरी सिंह दिन भर चिलचिलाती धूप में पोखर वाले मोड़ की पुलिया पर बैठे-बैठे बेहोश हो गया है और कई लोग उसे उठाकर ला रहे हैं. गर्मी बहुत थी, मुँह पर पानी के छींटे मारे, होश तो आ गया मगर फिर ऐसी चुप्पी साधी कि बोलने का नाम नहीं लिया. कई हफ्ते बाद वह चुपके से घर से निकला और दौड़ता हुआ वैद्य जी की बैठक के पास जा पहुँचा. शहज़ाद ख़ाँ वहाँ से गुज़र रहे थे. "क्या बात है हरी सिंह ? कहाँ भागे जा रहे हो ?"

हरी सिंह ने हाँफते हुए वैद्य जी के दरवाज़े की तरफ इशारा किया. वैद्य जी के दरवाज़े पर ताला लटका हुआ था. शहज़ाद ख़ाँ ने ताले पर

जमी धूल को देखा और ठंडी साँस भरकर उस तरफ़ बढ़ गये जिधर से ठाकुर तेज बहादुर घबराये हुए, हरी सिंह के पीछे-पीछे चले आ रहे थे. ठाकुर तेज बहादुर के क़रीब पहुँचकर रुके ठोढ़ी में हाथ डालकर उनकी गरदन ऊँची की और बोले, "ठाकुर साहब हरी सिंह...?"

"हाँ खाँ साहब...वैसे तो वो ठीक है, बस घर में बन्द रहता है." ठाकुर तेज बहादुर की आवाज़ उखड़ी-उखड़ी साँसों के सहारे निकली. "वैद्य जी के देहान्त की ख़बर सुनकर भी वह घर से नहीं निकला था, आज बहुत दिनों बाद अचानक...."

फिर उन दोनों ने देखा कि हरी सिंह ने गली से एक ईंट का अद्धा उठा लिया है. ठाकुर तेज बहादुर उसकी तरफ लपकने ही वाले थे कि ईंट का अद्धा वैद्य जी के बैठक के बन्द किवाड़ों से टकराकर चकना चूर हो गया. फिर उसने दूसरा अद्धा उठाया फिर तीसरा और बहुत देर तक वैद्य जी के दरवाज़े पर ईंटें बरसाता रहा.

वैद्य जी को गुज़रे महीनों हो गये हैं, उनके घर पर ताला पड़ा है. मगर हरी सिंह अकसर वहाँ जाता है, दरवाज़े पर दो-चार ईंटें मारता है और वापस चला आता है. यूँ तो वह ठीक है लेकिन घर में जब भी लज्जा की बात निकल आती है तो उससे रहा नहीं जाता और सीधा वैद्य जी के दरवाज़े पर पहुँचता है. ठाकुर तेज बहादुर ये तो नहीं समझ सके कि वो ऐसा क्यों करता है मगर उसकी ये हालत देखकर उन्होंने अपनी वसंती पगड़ी को फिर बक्से में रख दिया और सफ़ेद साफ़ा बाँधकर लज्जा के गाँव रामनगर जा पहुँचे.

दोनों ठाकुर एक दूसरे के सामने हाथ जोड़े खड़े थे. दोनों कुछ कहना चाहते थे मगर ख़ामोश थे. हरी सिंह के पिता की आवाज़ कँपकँपायी, "ठाकुर साहब क्या अनजाने में कोई भूल हो गयी हमसे."

"नहीं ठाकुर साहब भूल तो हमसे हुई है, अब हमें क्षमा करो."

हरी सिंह के पिता कुछ नहीं समझ सके और बोल पड़े, "लज्जा."

"लज्जा. ठाकुर साहब लज्जा की माँ उसे मेरी गोद में छोड़कर परलोक सिधार गयी थी. बहुत लाड़ से पाला है मैंने उसे, हिंडोला घर में होता था और झूला बाग में. मुझे क्या पता था कि एक दिन इन्हीं हाथों से नरक में झोंक दूँगा उसे."

"नरक में. ठाकुर साहब ये कैसी बातें..."

"और क्या उसे स्वर्ग कहूँ ? हमारे साथ धोखा हुआ है. उस पागल को हमारी बेटी के पल्ले बाँध दिया. वो तो भला हो सुन्दर और चौधरी साहब का कि दूसरे दिन ही यहाँ आकर सब बता गये और मैं चुपचाप उस नरक से उसे निकाल लाया वर्ना वह तो घुट-घुटकर मर जाती ?"

"मगर ठाकुर साहब वो तो बचपन की बात है. अब तो हरी सिंह ठीक है. बस लज्जा को..."

"ठीक है. और ब्याह के दूसरे दिन जब मैं लज्जा को लेने गया तो वह पागलों की तरह पूरे दिन पोखर वाली पुलिया पर बैठा रहा, उस पर कहते हो कि अब वह बिल्कुल ठीक है. और जब मैं बस से उतरा तो उसने पता है क्या किया ? मेरे पैर छुए. ठाकुर क्या तुम नहीं जानते कि ठाकुरों में दामाद नहीं, ससुर पैर छूते हैं दामाद के. किस तरह मेरे आगे-पीछे लगा घूम रहा था. कभी पानी ला कभी चिलम. कभी हाथ-पाँव धुलाने को लोटा लिये बिराजमान. और तो और रात में पाँव दबाने बैठ गया. यही ठाकुरों के रीत-रिवाज हैं क्या ? कहते हो ठीक हो गया है वह...यही ठीक हुआ है. चिट्ठी पर चिट्ठी लिखता है लज्जा को. गिड़गिड़ाता है मेहरारू के आगे. लिखता है मैं पागल हो जाऊँगा. ठाकुर कहते हैं अपने-आप को ठाकुर. आन है न बान. बहू को लेने आये हैं. ख़ुद आन पहुँचे नाक रगड़ते हुए."

लज्जा ओटे के पीछे खड़ी सब कुछ सुन रही थी. रहा नहीं गया, सिसकते हुए बोली, "पिता जी..." इतना ही कह पायी थी कि ठाकुर नेक सिंह दहाड़े, "तू जा अन्दर...ख़बरदार जो बाहर निकली. मुन्ना को छोड़े यहाँ खड़ी है. वह कोठरी में अकेला पड़ा है."

"मुन्ना ? आपने ख़बर नहीं दी."

"ठाकुर साहब जब आपसे कोई नाता ही नहीं रहा तो ख़बर कैसी. मैं नहीं चाहता कि मुन्ना पर उस पागल का साया भी पड़े."

"वह पागल नहीं है ठाकुर साहब...उसने जो कुछ किया, वो वैद्य जी के सिखाये हुए संस्कार थे. उन्हीं की संगत का असर है. उन्होंने ही अपने बड़ों की इज्ज़त करना और झूठी आन-बान से बचना सिखाया है."

"हूँ...बड़ों की इज्ज़त ? और अपनी इज़्ज़त...अपनी इज़्ज़त मिट्टी में मिलाना भी वैद्य जी ने ही सिखाया होगा. वैद्य जी के संस्कार सीख लिये और अपने संस्कार भूल गया. मैं कह चुका हूँ ठाकुर साहब आपसे हमारा अब कोई नाता नहीं." ठाकुर तेज बहादुर की कनपटी पर जैसे किसी ने ईंट का अद्धा दे मारा हो. ईंट का अद्धा वैद्य जी का बन्द दरवाज़ा. हरी सिंह एक के बाद एक ईंट के अद्धे चला रहा है. अब कुछ-कुछ ठाकुर तेज बहादुर की समझ में आ रहा था कि हरी सिंह वैद्य जी के दरवाज़े पर ईंटें क्यों मारता है. वे मुड़े और भारी-भारी क़दमों से रामनगर की सरहद पार करते हुए वापस अपने कस्बे की तरफ लौटने लगे.

लौटकर जब ठाकुर तेज बहादुर ने सारी बात हरी सिंह की बुआ को बतायी तो घर में कोहराम मच गया. हरी सिंह ने सुना तो भागकर कोठरी में बन्द हो गया. बहुत देर दरवाज़ा पीटने के बाद जब किवाड़ें खोलीं तो ठाकुर तेज बहादुर ने देखा कि हरी सिंह पाजामे का एक पाइंचा फाड़कर अपने गले में लपेटे हुए है. किवाड़ खुलते ही वह कोठरी से बाहर आ गया.

"बुआ लज्जा के पिता जी को पजामा पहना दो..." फिर चारों ओर देखते हुए बोला, "लज्जा कहाँ है ? अरे हाँ वह तो अपने पिताजी के साथ गंगा नहाने गयी है." फिर उसने एक छलाँग मारी और तेज़ी से गली में दौड़ पड़ा. अब वह सुबह से शाम तक पोखर वाले मोड़ की पुलिया पर बैठा रहता है और हर राहगीर से पूछता है, "भैय्या गंगा नहा के आ रहे हो ? लज्जा मिली थी ?"

जवाब न पाकर बड़बड़ाते हुए उस तरफ देखने लगता जहाँ से बस आती दिखायी पड़ती. बस आती और उसका मुँह चिढ़ाती हुई गुज़र जाती. अगर कोई बस रुकती और उसमें से कोई ज़नानी सवारी उतरती तो वह दौड़कर उससे लिपट जाता. "लज्जा." एक बार तो उसकी बहुत बुरी तरह पिटाई शुरू हो गयी. वो तो कहिये किसी भले मानस ने पहचान लिया, "अरे ये तो हरी सिंह है...पगला..."

ठाकुर तेज बहादुर कई बार रामनगर जाकर लौट आये थे मगर लज्जा को न ला सके, हाँ इतनी ख़बर ज़रूर ले आये कि लज्जा का बेटा मुन्ना अब पाठशाला जाने लगा है. दिन, महीने और बरस आते-जाते रहे. मौसम बदले मगर अब क्या गर्मियाँ और क्या सर्दियाँ हरी सिंह की हालत एक जैसी रहने लगी. मुन्ना...नहीं लज्जा...हाँ लज्जा अब एक छोटे से बच्चे की शक्ल इख़्तियार कर चुकी थी. उस बच्चे की शक्ल जिसे उसने कभी नहीं देखा था. उसे लगता कि वह उसके अँगने में इधर-उधर ठुमकती घूम रही है. वह नन्हीं सी बच्ची है या सलोना सा बच्चा...पता नहीं. मगर जब उसके क़रीब पहुँचता तो वह किसी कोने में दुबक जाती, बस अपना सर उसी कोने की भीत पर पटकने लगता

और निढाल होकर धरती पर चारों ख़ाने चित पड़ जाता. अबकी गर्मियों में किसी बच्चे का कच्छा उठा लाया था. रात भर चबूतरे पर बैठा बीड़ियाँ पीता रहा. कभी कच्छे को झाड़-पोंछकर तह कर के पाजामे की अंटी में उड़स लेता और कभी छुपाकर बनियान की जेब में रख लेता. रात भर यही करता रहा, सुबह को ठाकुर तेज बहादुर ने देखा कि वह चबूतरे पर नहीं है. वह गाँव भर में नहीं था. बुआ ने रो-रो कर घर भर दिया. बाप ने आस-पास के तमाम गाँव खंगाल डाले मगर उसका कहीं पता न चला. हफ्तों गुज़र गये. ठाकुर तेज बहादुर की उम्मीदें टूटने लगीं कि अचानक उन्हें रामनगर का ख़याल आया.

ठाकुर तेज बहादुर स्टेशन पर उतरकर खेतों को पार करते हुए रामनगर की तरफ जा रहे थे कि दो आदमी आते दिखायी पड़े, "भय्या क्या रामनगर से आ रहे हो ?"

"हाँ"

तेज बहादुर ने घबराकर पूछा, "रामनगर में हरी सिंह..मेरा मतलब है कोई पागल..."

"पागल...?" दोनों एक दूसरे का मुँह देखने लगे.

ठाकुर तेज बहादुर ने कहा, "तुम रामनगर वाले ठाकुर नेक सिंह को जानते हो ?"

एक शख़्स कुछ सोचते हुए अपने साथी से मुख़ातिब हुआ, "अरे ये उस बावले की बात कर रहे हैं जिसका दायाँ हाथ जला हुआ था."

"हाँ हाँ वही."

"अरे वो. पहले तो वह कई दिन तक गाँव की धर्मशाला में पड़ा रहा फिर कुछ बच्चे..." राहगीर बोलता रहा, ठाकुर तेज बहादुर बुत बने खड़े रहे. उनकी खुश्क आँखें खुली थीं और वे देख रहे थे कि हरी सिंह धर्मशाला में पड़ा है. उसके गिर्द बहुत से बच्चे जमा हैं. मुन्ना एक कोने में सहमा सिमटा खड़ा उसे तके जा रहा है, "मुन्ना...?" हाँ ये मुन्ना ही है. मैंने उसे कभी नहीं देखा तो क्या हुआ ?. क्या मैं हरी सिंह को नहीं पहचानता ? हरी सिंह को पहचानता हूँ तो मुन्ना को भी पहचान सकता हूँ. हरी सिंह रुक-रुककर कह रहा है 'सदा बड़ों का आदर करो. झूठी आन-बान और झूठे रीत-रिवाजों से बचना सीखो. हमारे अहंकार ही रीत-रिवाजों को जन्म देते हैं.' मुन्ना उसकी गोद में आन बैठा है सामने राहगीर खड़ा बोले जा रहा है. उसके शब्द ईंट के अद्धों की तरह उनकी कनपट्टियों पर पड़ रहे हैं.

"फिर कहाँ गया वो ?" ठाकुर तेज बहादुर के मुँह से निकला.

राहगीर ने ठंडी साँस ली. "वह बच्चों से उनकी माओं के नाम पूछता रहता था. और किसी वैद्य जी की कहानी सुनाया करता था. लगता ही नहीं था कि पागल है. मगर एक दिन तो उसने अनर्थ ही कर डाला. ठाकुर नेक सिंह की बिटिया..."

ठाकुर तेज बहादुर बोले, "लज्जा...?"

"नाम तो हमें पता नहीं...हम तो गाँव के स्कूल में पढ़ाने आते हैं." वह लम्हे भर के लिए रुका, लेकिन वो लम्हा ठाकुर तेज बहादुर को बहुत तवील होता महसूस हुआ और फिर जब उस लम्हे का बुलबुला फूटा तो उनके कानों में आवाज़ आयी. "वह बावला ठाकुर साहब के नाती को लेकर भाग निकला. वो तो कहो कुछ लोगों ने देख लिया. बड़ा हू-हल्ला हुआ मगर उसने बच्चे को न छोड़ा. लोगों ने पीछे से ईंटें और ढेले मारना शुरू किये. पीठ से खून निकलने लगा मगर रुकने का नाम ही न लेता था. भगवान का करना था उधर से सरपंच आ रहे थे. ये माजरा देखा तो घुमाकर लाठी उसके सर पर दे मारी तब जाकर गिरा."

तारिक़ छतारी

जन्म : 01-10-1954
शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी. (अलीगढ़)
कृतियाँ : 'जदीद अफसाना' (आलोचना) इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी ने पुरस्कार भी दिया है।
सम्प्रति : अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के उर्दू विभाग में रीडर के पद पर कार्यरत.
सम्पर्क : नाज़मा मन्ज़िल, अमीर निशा रोड, दोधपुर, अलीगढ़ (उ.प्र.) 202001.

ठाकुर तेज बहादुर ने आँखें मूँद लीं, और बन्द आँखों से देखा कि हरी सिंह के सर से खून बह रहा है, नाक से फव्वारा फूट पड़ा है और वह बच्चे को गोद में छुपाये ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा है.

ठाकुर तेज बहादुर के पैरों के नीचे ज़मीन काँपने लगी, आँखें खोलीं और घबराकर बोले, "तो क्या वह मर गया ?"

"हाँ वह तो वहीं मर गया था. अगर न मरता तो बच्चे का जाने क्या हाल करता. छोड़ने का नाम ही नहीं लेता था. बड़ी मुश्किल से लोगों ने उसके हाथ से बच्चे को छुड़ाया."

ठाकुर तेज बहादुर का दिल धक् से रहा गया जैसे वैद्य जी के दरवाज़े पर किसी ने ईंट का अद्धा दे मारा हो. उन्हें लगा कि वैद्य जी की बैठक का दरवाज़ा उखड़कर दूर जा गिरा है और अन्दर वैद्य जी की लाश पड़ी सड़ रही है. वह शख़्स बोले जा रहा था." उसका क्रिया-कर्म भी ठाकुर नेक सिंह ने ही किया था. बड़ी आन-बान के साथ किया या उसका अन्तिम संस्कार. बड़े ही नेक आदमी हैं बेचारे बेचारे."

दूसरा शख़्स जो देर से ख़ामोश था बोल पड़ा, "अरे भई वह पागल थोड़ी था वह तो जादूगर था. मरने के बाद भी उसका जादू चल रहा था."

ठाकुर तेज बहादुर ने उसके चेहरे पर नज़रें गड़ा दीं.

"पता है क्या हुआ ?"

"क्या.?" ठाकुर तेज बहादुर के मुँह से नहीं पूरे वजूद से आवाज़ निकली.

"ठाकुर जी का नाती उसकी जलती चिता..."

"जलती चिता में कूद पड़ा ?"

"नहीं कूदा तो नहीं मगर उसे जलता देखकर बिलख-बिलखकर रोने लगा और फिर बेहोश हो गया ?"

बेहोश हो गया ? हरी सिंह का बच्चा बेहोश हो गया ? मतलब हरी सिंह मरा नहीं, वह ज़िन्दा है. अजीब ! लोग हैं कहते हैं मर गया. वैद्य जी के बारे में भी यही कहते हैं कि मर गये.

ठाकुर तेज बहादुर की आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा. उन्हें महसूस हुआ कि वैद्य जी की बैठक का दरवाज़ा पूरी तरह सलामत है और उसका एक पट जिस पर अभी ईंट के अद्धे के सुर्ख़ निशान मौजूद हैं खुला हुआ है और हरी सिंह का बच्चा बैठक से बाहर निकलकर अपने नन्हे-मुन्ने हाथों से उन निशानों को मिटाने की कोशिश कर रहा है "बच्चा बेहोश हो गया मतलब वैद्य जी जिन्दा हैं." वे बड़बड़ा रहे थे. दोनों राहगीरों ने एक-दूसरे की तरफ देखा और कुछ समझे बगैर वहाँ से चल दिये.

"हरी सिंह ज़िन्दा है..." ठाकुर तेज बहादुर फिर बड़बड़ाये. उसके बाद उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी, उससे मुँह का पीसना पोंछकर इतमीनान की साँस ली और वापस स्टेशन की तरफ लौट पड़े. ◘

◆ कहानी ◆

सिंगारदान

●

शमोएल अहमद

दंगे में रंडियाँ भी लूटी गयी थीं...

बृजमोहन को नसीम जान का सिंगारदान हाथ लगा था. सिंगारदान का फ्रेम हाथी दाँत का था जिसमें आदमक़द आईना जड़ा हुआ था और बृजमोहन की लड़कियाँ बारी-बारी से शीशे में अपना अक्स देखा करती थीं. फ्रेम में जगह-जगह तेल, नाख़ून पालिश और लिपस्टिक के धब्बे थे जिससे उसका रंग मटमैला हो गया था और बृजमोहन हैरान था कि इन दिनों उसकी बेटियों के लच्छन...

ये लच्छन पहले नहीं थे. पहले भी वे बाल्कनी में खड़ी रहती थीं लेकिन अंदाज़ यह नहीं होता था...अब तो छोटी भी चेहरे पर उसी तरह पाउडर थोपती थी और होठों पर गाढ़ी लिपिस्टिक जमाकर बाल्कनी में बैठा करती थी.

आज भी तीनों की तीनों बाल्कनी में खड़ी आपस में उसी तरह चुहलें कर रही थीं और बृजमोहन चुपचाप सड़क पर खड़ा उनके हाव-भाव देख रहा था.

यकायक बड़ी ने एक भरपूर अंगड़ाई ली. उसके जोबन का उभार नुमाया हो गया. मँझली ने झाँककर नीचे देखा और हाथ पीछे करके पीठ खुजायी. पान की दुकान के निकट खड़े एक युवक ने मुस्कराकर बाल्कनी की तरफ देखा तो छोटी ने मँझली को कोहनी से ठोका दिया और फिर तीनों की तीनों हँसने लगीं... और बृजमोहन का दिल एक अनजाने डर से काँपने लगा.... आखिर वही हुआ जिस बात का डर था... आखिर वही हुआ—यह डर बृजमोहन के दिल में उसी दिन घर कर गया था जिस दिन उसने नसीम जान का सिंगारदान लूटा था. जब बलवाई रंडी-पाड़े में घुसे थे तो कोहराम मच गया था. बृजमोहन और उसके साथी दनदनाते हुए नसीम जान के कोठे पर चढ़ गये थे. नसीम जान खूब चीखी-चिल्लायी थी. बृजमोहन जब सिंगारदान लेकर उतरने लगा था तो उसके पाँव से लिपटकर गिड़गिड़ाने लगी थी, ''भैया, यह पुश्तैनी सिंगारदान है...इसको छोड़ दो...भैया...''
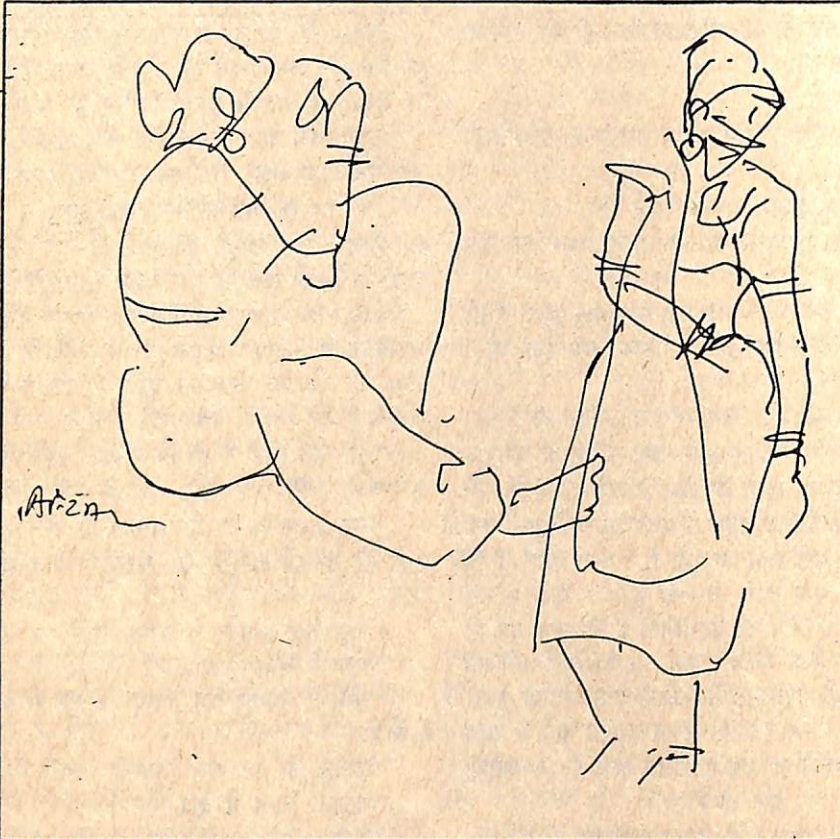
लेकिन बृजमोहन ने अपने पाँव को जोर से झटका दिया था, ''चल हट... रंडी...''

और वह चारों खाने चित गिरी थी. उसकी साड़ी कमर तक उठ गयी थी. लेकिन फिर उसने तुरन्त ही खुद को सम्भाला

> **बृजमोहन ने एक नजर शीशे की तरफ देखा. पत्नी के नंगे बदन का अक्स देखकर उसकी रगों में शोला-सा भड़क उठा. उसने यकायक खुद को एकदम निर्वस्त्र कर दिया, तब बृजमोहन की पत्नी उसके कानों में धीरे से फुसफुसायी, ''हाय राजा...लूट लो भरतपुर...''**
>
> **बृजमोहन ने अपनी पत्नी के मुँह से कभी 'उई दइया' और 'हाय राजा' जैसे शब्द नहीं सुने थे. उसको लगा ये शब्द नहीं सारंगी के सुर हैं जो नसीम जान के कोठे पर गूँज रहे हैं...और तब...**

और एक बार फिर बृजमोहन से लिपट गयी थी, "भैया यह मेरी नानी की निशानी है...भैया..."

इस बार बृजमोहन ने उसकी कमर पर जोर की लात मारी. नसीम जान जमीन पर दोहरी हो गयी. उसके ब्लाउज के बटन खुल गये. और छातियाँ झूलने लगीं. बृजमोहन ने छुरा चमकाया, "काट लूँगा..."

नसीम जान सहम गयी और दोनों हाथों से छातियों को ढकती हुई कोने में दुबक गयी. बृजमोहन सिंगारदान लिये नीचे उतर गया.

बृजमोहन जब सीढ़ियाँ उतर रहा था तो यह सोचकर उसको लज़्ज़त मिली कि सिंगारदान लूटकर उसने नसीमजान को गोया उसकी पुश्तैनी सम्पदा से महरूम कर दिया है. यक़ीनन यह पुश्तैनी सिंगारदान था जिसमें उसकी परनानी अपना अक्स देखती होगी फिर उसकी नानी और उसकी माँ भी इसी सिंगारदान के समाने बन-ठनकर ग्राहकों से आँखें लड़ाती होंगी. बृजमोहन यह सोचकर खुश होने लगा कि भले ही नसीम जान इससे अच्छा सिंगारदान खरीद ले लेकिन ये पुश्तैनी चीज़ तो इसको अब मिलने से रही. तब एक पल के लिए बृजमोहन को लगा कि आगजनी और लूटमार में लिप्त दूसरे दंगाई भी भावना की इस तरंग से गुज़र रहे होंगे कि एक समुदाय को उसकी विरासत से महरूम कर देने के षड्यन्त्र में वह पेश पेश है...

बृजमोहन जब घर पहुँचा तो उसकी पत्नी को सिंगारदान भा गया. शीशा उसको धुँधला मालूम हुआ तो वह भीगे हुए कपड़े से पोंछने लगी. शीशे में जगह-जगह तेल के गर्द आलूद धब्बे थे. साफ होने पर शीशा झलझल कर उठा और बृजमोहन की पत्नी खुश हो गयी. उसने घूम-घूमकर अपने को आईने में देखा. फिर लड़कियाँ भी बारी-बारी से अपना अक्स देखने लगीं.

बृजमोहन ने भी सिंगारदान में झाँका तो आदमकद शीशे में उसको अपना अक्स मुकम्मल और आकर्षक लगा. उसको लगा सिंगारदान में वाकई एक खास बात है. उसके जी में आया कुछ देर अपने आपको देखे लेकिन यकायक नसीम जान बिलखती नजर आयी, "भैया...सिंगारदान छोड़ दो..."

"चल हट रंडी..." बृजमोहन ने सिर को गुस्से में दो-तीन झटके दिये और सामने से हट गया.

बृजमोहन ने सिंगारदान अपने बेडरूम में रखा. अब कोई पुराने सिंगारदान को पूछता नहीं था. नया सिंगारदान जैसे सबका महबूब बन गया था. घर का हर व्यक्ति खामखां भी आईने के सामने खड़ा रहता. बृजमोहन अकसर सोचता कि रंडी के सिंगारदान में आखिर क्या भेद छुपा है कि देखने वाला आईने से चिपक-सा जाता है ? लड़कियाँ जल्दी हटने का नाम नहीं लेती हैं और पत्नी भी रह-रहकर खुद को हर कोण से घूरती रहती है...यहाँ तक कि खुद वह भी... लेकिन उसके लिए देर तक आईने का सामना करना मुश्किल होता ...तुरन्त ही नसीम जान रोने लगती थी और बृजमोहन के दिलो-दिमाग पर धुआँ-सा छाने लगता था.

बृजमोहन ने महसूस किया कि धीरे-धीरे घर में सबके रंग-ढंग बदलने लगे हैं. पत्नी अब कूल्हे मटकाकर चलती थी और दाँतों में मिस्सी भी लगाती थी. लड़कियाँ पाँव में पायल भी बाँधने लगी थीं और नित नये ढंग से बनाव-सिंगार में लगी रहती थीं. टीका, लिपस्टिक और काजल के साथ वह गालों पर तिल भी बनातीं. घर में एक पानदान भी आ गया था और हर शाम फूल और गजरे भी आने लगे थे. बृजमोहन की पत्नी शाम से ही पानदान खोलकर बैठ जाती छालियाँ कुतरती और सबके संग ठिठोलियाँ करती और बृजमोहन तमाशाई बना सब कुछ देखता रहता. उसको हैरत थी कि उसकी जुबान बन्द क्यों हो गयी है...वह कुछ बोलता क्यों नहीं... ? उन्हें फटकारता क्यों नहीं... ?

एक दिन बृजमोहन अपने कमरे में मौजूद था कि बड़ी सिंगारदान के सामने आकर खड़ी हो गयी. कुछ देर से अपने आपको दायें-बायें देखा और चोली के बन्द ढीले करने लगी. फिर बायां बाजू ऊपर उठाया और दूसरे हाथ की उंगलियों से बगल के बालों को छूकर देखा फिर सिंगारदान की दराज से लोशन निकालकर बगल में मलने लगी. बृजमोहन मानो सकते में था. वह चुपचाप बेटी की करतूत देख रहा था. इतने में मँझली भी आ गयी. और उसके पीछे-पीछे छोटी भी.

"दीदी ! लोशन मुझे भी दो..."

"क्या करेगी... ?" बड़ी इतरायी.

"दीदी ! यह बाथरूम में लगायेगी..." छोटी बोली.

"चल हट..." मँझली ने छोटी के गालों में चुटकी ली और तीनों की तीनों हँसने लगीं.

बृजमोहन का दिल आशंका से धड़कने लगा. इन लड़कियों के

स्याह हाशिए

मुनासिब कार्रवाई

•

सआदत हसन मंटो

जब हमला हुआ तो मुहल्ले में से अक़लियत के कुछ आदमी तो क़त्ल हो गये, जो बाक़ी थे जान बचाकर भाग निकले. एक आदमी और उसकी बीवी अलबत्ता अपने घर के तहखाने में छुप गये. दो दिन और दो रातें पनाहयाफ़्ता मियाँ-बीवी ने क़ातिलों की मुतक्क्क़ आमद[1] में गुज़ार दीं, मगर कोई न आया.

दो दिन और गुज़र गये. मौत का डर कम होने लगा. भूख और प्यास ने ज़्यादा सताना शुरू किया.

चार दिन और बीत गये. मियाँ-बीवी को ज़िन्दगी और मौत में कोई दिलचस्पी न रही. दोनों जा-ए-पनाह[2] से बाहर निकले. खाविन्द ने बड़ी नहीफ़[3] आवाज़ में लोगों को अपनी तरफ़ मुतवज्जेह[4] किया और कहा—"हम तीनों अपना आप तुम्हारे हवाले करते हैं, हमें मार डालो. धर्म में तो जीव हत्या पाप है !"

वे सब जैनी थे. लेकिन उन्होंने आपस में मशविरा किया और मियाँ-बीवी को मुनासिब-कार्रवाई के लिए दूसरे मुहल्ले के आदमियों के सुपुर्द कर दिया. ▪

1. आने की आशा में, 2. शरण का स्थान, 3. क्षीण, 4. ध्यानाकर्षित

तो शृंगार ही बदलने लगे हैं. इनको कमरे में अपने बाप की उपस्थिति का भी ध्यान नहीं है. तब बृजमोहन अपनी जगह से हटकर इस तरह खड़ा हुआ कि उसका अक्स सिंगारदान में दिखने लगा. लेकिन लड़कियों के रवैये में कोई फर्क नहीं आया. बड़ी उसी तरह लोशन मलने में व्यस्त रही और दोनों उसके अगल-बगल खड़ी दीदे मटकाती रहीं.

बृजमोहन को लगा अब घर में उसका वजूद नहीं है. तब अचानक नसीम जान शीशे में मुस्करायी—

"घर में अब मेरा वजूद है..."

और बृजमोहन हैरान रह गया. उसको लगा वाकई नसीम जान शीशे में बन्द होकर चली आयी है और एक दिन निकलेगी और घर के चप्पे-चप्पे में फैल जायेगी.

बृजमोहन ने कमरे से निकलना चाहा लेकिन उसके पाँव मानो जमीन में गड़ गये थे. वह अपनी जगह से हिल नहीं सका...वह खामोश सिंगारदान को तकता रहा और लड़कियाँ हँसती रहीं. सहसा बृजमोहन को महसूस हुआ कि इस तरह ठट्ठा करती लड़कियों के दरम्यान कमरे में इस वक्त उनका बाप नहीं एक...

बृजमोहन को अब सिंगारदान से खौफ मालूम होने लगा और नसीमजान अब शीशे में हँसने लगी. बड़ी चूड़ियाँ खनकाती तो वह हँसती. छोटी पायल बजाती तो वह हँसती और बृजमोहन को अब...

आज भी जब वे बाल्कनी में खड़ी हँस रही थीं तो वह तमाशाई बना सबकुछ देख रहा था और उसका दिल किसी अनजाने डर से धड़क रहा था.

बृजमोहन ने महसूस किया कि राहगीर भी रुक-रुककर बाल्कनी की तरफ देखने लगे हैं. यकायक पान की दुकान के निकट खड़े एक नवयुवक ने इशारा किया. जवाब में लड़कियों ने भी इशारे किये तो युवक मुस्कराने लगा.

बृजमोहन के मन में आया, युवक का नाम पूछे. वह दुकान की ओर बढ़ा, लेकिन नज़दीक पहुँचकर चुप रहा. सहसा उसने महसूस किया कि युवक में वह इसी तरह दिलचस्पी ले रहा है जिस तरह लड़कियाँ ले रही हैं. तब यह सोचकर उसको हैरत हुई कि वह उसका नाम क्यों पूछना चाह रहा है... ? आखिर उसके इरादे क्या हैं ? क्या वह उसको लड़कियों के बीच ले जायेगा ? बृजमोहन के होठों पर पल भर के लिए एक रहस्यमयी मुस्कान रेंग गयी. उसने पान का बीड़ा कल्ले में दबाया और जेब से कंघी निकालकर दुकान के शीशे में बाल सोंटने लगा. इस तरह बालों में कंघी करते हुए उसको एक तरह की राहत का एहसास हुआ. उसने एक बार कनखियों से युवक की ओर देखा. वह एक रिक्शा वाले से आहिस्ता-आहिस्ता बातें कर रहा था और बीच-बीच में बाल्कनी की तरफ देख रहा था. जेब में कंघी रखते हुए बृजमोहन ने महसूस किया कि वाकई उसकी युवक में किसी हद तक दिलचस्पी जरूर है....यानी खुद उसके संस्कार भी...उंह... संस्कार-वंस्कार से क्या होता है....? यह उसका कैसा संस्कार था कि उसने एक रंडी को लूटा...एक रंडी को...किस तरह रोती थी...भैया ...भैया मेरे...और फिर बृजमोहन के कानों में नसीम जान के रोने-बिलखने की आवाज़ें गूँजने लगीं...बृजमोहन ने गुस्से में दो-तीन झटके सिर को दिये. एक नज़र बाल्कनी की तरफ देखा, पान के पैसे अदा किये और सड़क पार करके घर में दाखिल हुआ.

अपने कमरे में आकर वह सिंगारदान के सामने खड़ा हो गया. उसको अपना रंग-रूप बदला हुआ नजर आया. चेहरे पर जगह-जगह झाइयाँ पड़ गयी थीं और आँखों में कासनी रंग घुला हुआ था. एक बार उसने धोती की गाँठ खोलकर बाँधी और चेहरे की झाइयों पर हाथ फेरने लगा. उसके जी में आया कि आँखों में सुरमा लगाये और गले में लाल रूमाल बाँध ले...कुछ देर तक वह अपने आपको इसी तरह घूरता रहा फिर उसकी पत्नी भी आ गयी. उसने अंगिया पर ही साड़ी लपेट रखी थी. सिंगारदान के सामने वह खड़ी हुई तो उसका आँचल ढलक गया. वह बड़ी अदा से मुस्करायी और आँख के इशारे से बृजमोहन को अंगिया के बन्द लगाने के लिए कहा.

बृजमोहन ने एक बार शीशे की तरफ देखा. अंगिया में फँसी हुई छातियों का बिम्ब उसको लुभावना लगा. बन्द लगाते हुए सहसा उसके हाथ छातियों की ओर रेंग गये.

"उई दइया..." बृजमोहन की पत्नी बल खा गयी और बृजमोहन की अजीब कैफियत हो गयी...उसने छातियों को जोर से दबा दिया.

"हाय राजा..." उसकी पत्नी कसमसायी और बृजमोहन की रगों में रक्तचाप बढ़ गया. उसने एक झटके में अंगिया नोचकर फेंक दी और उसको पलंग पर खींच लिया. वह उससे लिपटी हुई पलंग पर गिरी और हँसने लगी.

बृजमोहन ने एक नजर शीशे की तरफ देखा. पत्नी के नंगे बदन का अक्स देखकर उसकी रगों में शोला-सा भड़क उठा. उसने यकायक खुद को एकदम निर्वस्त्र कर दिया, तब बृजमोहन की पत्नी उसके कानों में धीरे से फुसफुसायी, "हाय राजा...लूट लो भरतपुर..."

बृजमोहन ने अपनी पत्नी के मुँह से कभी 'उई दइया' और 'हाय राजा' जैसे शब्द नहीं सुने थे. उसको लगा ये शब्द नहीं सारंगी के सुर हैं जो नसीम जान के कोठे पर गूँज रहे हैं...और तब...

और तब फिजा कासनी हो गयी थी. शीशा धुँधला गया था... और सारंगी के सुर गूँजने लगे थे...

बृजमोहन बिस्तर से उठा, सिंगारदान की दराज से सुरमेदानी निकाली, आँखों में सुरमा लगाया. कलाई पर गजरा लपेटा और गले में लाल रूमाल बाँधकर नीचे उतर गया और सीढ़ियों के करीब-दीवाल से लगकर बीड़ी के लम्बे-लम्बे कश लेने लगा... ◘

शमोएल अहमद

जन्म : 4-5-1950, भागलपुर (बिहार)
शिक्षा : बी. एस. सी. इन्जीनियरिंग
सम्प्रति : बिहार सरकार के लोक स्वास्थ्य अभियन्त्रण विभाग में अधीक्षण अभियन्ता.
कृतियाँ : हिन्दी एवं उर्दू में समान अधिकार से लेखन 'बगूले', 'सिंगारदान' (कहानी संग्रह), 'नदी (उपन्यास). फलित ज्योतिष में विशेष रुचि.
सम्पर्क : 301 ग्रैंड अपार्टमेन्ट, नई पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013

◆ कहानी ◆

आसेब

●

सलीम आग़ा क़ज़लबाश

रात भर ज़मीन पर पड़ने वाली उसकी लाठी की चोट, 'ख़बरदार हो' की वज़नी आवाज़, पिछवाड़े में आवारा कुत्तों की भों-भों, दूर कहीं से ठहर-ठहकर उठती और डूबती गीदड़ों की चीख़ पुकार सुनायी देती रहती, फिर जैसे-जैसे रात भीगती तारे और भी बेबाकी से अपना दर्शन कराने लगते और चौकीदार की आवाज़ में 'ख़बरदार हो' की गम्भीरता कुछ और गहरी हो जाती. वह कुछ देर ठहर-ठहरकर पूरे सात चक्कर गिनकर गाँव के चारों तरफ़ यूँ लगाता जैसे कोई पहुँचा हुआ ऋषि-मुनि किसी आफ़त के मारे के चारों ओर सात मंडल खींचकर उसको बलाओं से महफ़ूज़ कर रहा हो. हर चक्कर पूरा करने के बाद वह सीधा चौपाल में आता. सर्दी का मौसम होता तो अपने पाँव मोटे और सख़्त चमड़े से बनी मूँछों वाली जूतियों में से बारी-बारी से निकालता और चौपाल में शाम के समय सुलगायी गयी आग के बचे-खुचे अध-दहकते कोयलों पर तापने लगता. फिर अपने जूतों को उल्टा करके उनके अन्दर मन्द पड़ती गर्मी को समेटता, दम तोड़ते हुक़्क़े की नै को होंठों में दबाकर उसे एक बार फिर से ज़िन्दा करने की थोड़ी-सी कोशिश करता. हुक्का क्षण भर के लिए गुड़गुड़ाता मगर जल्द ही उसका दम टूट जाता. तब चौकीदार मुँह-ही-मुँह में किसी चीज़ का जाप करते हुए उठ खड़ा होता, खेस की बुक्कल को अच्छी तरह से अपने जिस्म के गिर्द जमाता, ज़मीन को लाठी से ठकोरता और अगले चक्कर को पूरा करने के लिए चल देता. गर्मियों के मौसम में सिर्फ़ तहमद उसके निचले धड़े से लिपटा रहता और बाक़ी जिस्म कपड़ों की क़ैद से आज़ाद होता. अलबत्ता एक मोटा-सा तावीज़ उसके बायें बाज़ू पर मज़बूती से हमेशा बँधा रहता जो उसके पीर ने यह कहते हुए दिया था—'जा बच्चा सदा सुखी रह.' और फिर जब सुबह सवेरे मुर्ग़े की कमज़ोर सी बाँग धुँधलके की छाती में कटार बनकर उतरती तो चौकीदार आसमान की तरफ़ उचटती हुई निगाह डालता, तारों के नींद से बोझल बार-बार खुलते बन्द होते पपोटों को देखकर वक़्त का कुछ अन्दाज़ा लगाने के लिए कोशिश करता और फिर रात के ज़हर को ज़मीन पर थूककर कुएँ और मस्जिद के बीचों-बने अपने कच्चे घरौंदे की तरफ़ मुड़ जाता और सुबह तड़के तक लम्बी तानकर सोता रहता. उसके बाद सरकार की ओर से मिली कुछ ज़मीन में अपने तीनों बेटों के साथ जुता रहता, अपने बैलों की जोड़ी के लिए चारा काट कर लाता, ढोर-डंगरों को नहर पर पानी पिलाने और नहलाने के लिए ख़ुद ले जाता और शाम को तोतों के झुंड के झुंड कुएँ के पास वाले बरगद के पेड़ पर आकर गिर रहे होते और रात बिताने के लिए अपनी-अपनी जगह के चुनाव के लिए एक दूसरे से टें टें करके ख़ूब ज़ोर-शोर से लड़-झगड़ रहे होते तो चौकीदार अपने मवेशियों को हुँकारता, अपने चहेते बैल की गर्दन थपथपाता हुआ घर में दाख़िल होता. मवेशियों को उनके थान पर बाँधकर अपनी बीवी को आवाज़ लगाता जिसे सब गाँव वाले 'माई चौकीदारनी' के नाम से पुकारते थे. इत्तफ़ाक़ से वह उम्र में चौकीदार से कुछ वर्ष बड़ी थी, इसीलिए जिस दिन से वह ब्याह कर आयी थी, छेड़ने के लिए उसके नाम के साथ 'माई' का दुमछल्ला लगा दिया गया था. अब वह सचमुच माई बन चुकी थी और चौकीदार के साथ-साथ बुढ़ापे के दरवाज़े पर कई बरस से लगातार दस्तकें दे रही थी. तब चौकीदार अपनी बीवी से मुख़ातिब होकर कहता 'लाडो दी माँ, दूध का बर्तन कहाँ है ?' लाडो चौकीदार की सबसे छोटी बेटी थी जो पूरे घर की लाडली और चौकीदार की आँखों का तारा थी. पिछले से पिछले सावन में उसके हाथ पीले कर दिये गये थे और वह हँसी- ख़ुशी अपने ससुराल में रह रही थी. मगर रोज़ाना शाम को भूरे रंग वाली गाय का दूध दूहने से पहले जब चौकीदार अपनी बीवी को 'लाडो दी माँ' कहकर मुख़ातिब होता तो उसे तसल्ली हो जाती कि लाडो घर में मौजूद तो है. दूध से भरी बाल्टी चूल्हे के पास रखकर चौकीदार अपनी पगड़ी को खोल-कर दुबारा अच्छी तरह से अपने सिर पर जमाता, हुक़्क़े को ताज़ा करके हाथ में थामता और बग़ल में लाठी, दाबकर चौपाल की ओर चल देता.

चलते वक़्त चौकीदार को बोलते रहने की बीमारी सी थी. किसी ने उसे कभी एक जगह चुपचाप सिर झुकाये ख़ामोश बैठे नहीं देखा था. कभी वह किसी नौजवान को अपनी जवानी के वाक़यात सुना रहा होता, कभी किसी हमउम्र के साथ बैठा अपनी और उसकी साझा यादों को कुरेद रहा होता,—कभी किसी किसान से बुनाई-कटाई पर बहस करता

दिखता, किसी समय किसी बीबी को उसके बीमार बच्चे के सिलसिले में कोई मुफ़ीद नुस्खा आज़माने का मश्विरा देता हुआ दिखाई दे जाता. किसी का कोई ढोर-डंगर बीमार होता तो अपने तजुरबों से फायदा पहुँचा रहा होता. इसके अलावा उसकी आवाज़ में एक ख़ास तरह का सोज़ (जलन) भी थी. अक़सर शाम को चौपाल में जमने वाली बैठक के ख़त्म होने से पहले चौकीदार से हीर, वारिस शाह के कुछ छन्द ज़रूर सुने जाते और इस प्रकार आत्माओं को गरमाया जाता. चौकीदार को तरह-तरह के किस्से—कहानियाँ, लतीफ़े, चुटकुले, कहावतें और टप्पे सैकड़ों की तादाद में मुँहज़बानी याद थे. इसीलिए बच्चों की नटखट टोली चौकीदार को चाचा-चाचा कहती हुई कभी चौराहे पर घेर लेती फिर ज़ोरदार माँग करती कि वह उसे कोई मज़ेदार-सी कहानी सुनाये और ख़ासतौर से उस काले चोर का किस्सा सुनाये जिसने आसपास के गाँवों में अपनी दिलेराना चोरी-चकारी से तहलक़ा मचा रखा था और जिसे आख़िरकार चौकीदार ने एक काली- अँधेरी रात में गाँव के चौधरी के घर सेंध लगाते हुए रँगे हाथों पकड़ लिया था. जबकि यह दास्तान गाँव के लगभग हर छोटे-बड़े को याद थी, मगर जो मज़ा और चटखारा चौकीदार के बयान में थी उसकी बात ही कुछ और थी. इसलिए बच्चों की टोली की फ़रमाइश पर चौकीदार हँसते हुए पहले तो उन्हें हल्की-फुल्की गालियाँ देता फिर बीच चौराहे पर आलती-पालती मारकर बैठ जाता. बच्चे चारों तरफ़ से उसको घेरकर खड़े हो जाते, तब वह हुक्के के दो-तीन गहरे कश लेता, खाँसता, खँखारकर गला साफ़ करता और शुरू हो जाता.

"ओस रातें, जदों मैं पिंड दे चार चौफेरे चक्कर प्या लान्दाँ साँ ते मैं की देखीया के..." (उस रात जब मैं गाँव के चारों ओर चक्कर लगा रहा था तो मैंने क्या देखा कि...)

चौकीदार का रोज़ाना का यही दस्तूर था. उससे बिन चले तो बैठा ही नहीं जाता था, हर वक्त बातें, हर वक्त काम ! उसकी ज़िन्दगी की इस बेपनाह हलचल का एहसास हर किसी को था. ऐसा लगता कि उसके जिस्म में सैकड़ों आदमियों की ताकत जमा हो गयी थी. रात भर चौकीदारी करता और दिनभर खेती ! गाँव में आने वाले मेहमानों और सरकारी कारिन्दों की देखभाल भी उसी के सुपुर्द थी. चौपाल में किसी की आवभगत करना भी उसी की जिम्मेदारी में शामिल था. उसका रिश्ता गाँव वालों के साथ रखवाले के रूप में तो सदा का बरक़रार था. दुख-सुख में शिरकत का एक और नाता भी अपने-आप क़ायम हो गया था और वह निकाह, जन्म और मौत के लेखा रजिस्टर की वजह था जो सरकारी चौकीदार होने के कारण उसके पास रहता था. लिहाजा गाँव के हर घर के सुख-दुख के मौक़े पर चौकीदार वहाँ मौजूद होता और देखते-ही-देखते तमाम व्यवस्था अपने-आप उसके हाथों में चली आती. गाँव के किसी घर में बीमारी का आगमन होता तो वह सबसे पहले वहाँ पहुँचता और मरीज की तीमारदारी में जुट जाता. वह पारे की तरह बेचैन और हवा की तरह 'न थकने वाला' था, उसके लिए आराम से कहीं बैठना सम्भव ही नहीं था. वह सारा दिन चलता रहता और सारी रात भी ! लोग कहते चौकीदार नहीं जिन्न है जिसके लिए नींद, सुकून और आराम कोई मानी नहीं रखते. लेकिन यह बड़ी बात थी कि वह सारे काम किसी को ख़ुश करने या किसी के कहने पर नहीं, अपने अन्दर की किसी आग की वज़ह से करता था जो उसे आराम से बैठने नहीं देती थी. मगर एक दिन उसकी तेज़ रफ़्तारी में पहली बार एक जानलेवा रुकावट आ गयी. उसका छोटा भाई जो उसे जी-जान से प्यारा था अपनी बीवी की बातों में आकर गाँव छोड़ने को तैयार हो गया. चौकीदार ने उसके आगे हाथ जोड़े, विनती की कि औरतों की आपस की लड़ाई भिड़ाई बेमानी होती हैं. उससे ख़ून के रिश्ते तो ख़त्म नहीं हो जाया करते. वह यूँ सब नाते तोड़कर उसे अकेला छोड़कर नहीं जाये. मगर वह टस से मस नहीं हुआ. बैलगाड़ी पर अपना सामान लादकर चल दिया. उस दिन पहली बार चौकीदार का दिल किसी काम में नहीं लगा. सारा दिन वह डेरे पर आँखें बन्द किये चारपाई पर बेचैनी से करवटें बदलता रहा. ना चारा काटा, ना मवेशियों को पानी पिलाने ले गया, ना कुछ खाया ना पिया और ना किसी से बातचीत की. और फिर, शाम को जिस वक्त तोतों की टें टें अपनी चरम सीमा पर थीं, तो चार आदमी हाँफते-काँपते एक चारपाई को अपने कन्धे पर उठाये गाँव में दाख़िल हुए. आज चौकीदार अपने पैरों पर चलकर नहीं बल्कि उन चारों के पैरों पर चलकर घर में दाख़िल हुआ था. साथ वाले क़स्बे में हकीम को बुलाने के लिए आदमी को दौड़ा दिया गया. चौकीदार की हालत की ख़बर सुनते ही पूरे का पूरा गाँव उसके आँगन में उमड़ पड़ा. औरतों की कानाफूसी, मर्दों की एक-दूसरे से पूछ-गछ में गड्ड-मड्ड होती चली गयी. ख़ुदा-ख़ुदा करके हकीम साहब छड़ी टेकते हुए तशरीफ़ लाये. उन्हें घर के अन्दर ले जाया गया. बहुत इन्तज़ार के बाद पता चला कि फ़ालिज के हमले ने चौकीदार की जान तो बख़्श दी मगर जाते-जाते उसे बोलने की ताक़त और चलने-फिरने की सामर्थ्य से सदा के लिए महरूम कर दिया. सारा गाँव इस ख़बर को सुनकर सन्नाटे में आ गया और फिर लोग सिर झुकाये अपनी-अपनी गुफाओं को लौट गये. वह रात चौकीदार के लिए बड़ी दुखदायी थी. एक-एक लम्हा उसके लिए युगों पर भारी था जो काटे नहीं कट रहा था. यों भी वह रात साधारण से कुछ ज़्यादा ही भयानक थी. हर तरफ़ हू का आलम था. सिर्फ़ एक दो बार उल्लू की तेज़ चीख़ पेड़ों के किसी गुमनाम झुंड से बुलन्द हुई थी. फिर आधी रात के लगभग कुएँ के नज़दीक एक कुत्ता दर्दनाक लय में भौंका था जिसे सुनकर कहीं दूर गीदड़ क्षण भर के लिए बेहंगम आवाज़ों में चिल्लाये थे. फिर पूरी शान्ति छा गयी थी. यह चौकीदार की पहली रात थी जो अपने चारपाई पर ऐसे लाचारी-से काटी थी जैसे किसी कहानी के राजकुमार को सामरी जादूगर ने अपने जादू के ज़ोर से पत्थर बना दिया हो. तब रहट चलने की आवाज़ ने सुबह के आने की ख़बर दी और ज़िन्दगी, जिसे फ़ालिज-सा हो गया था, एक झुरझरी लेकर जाग उठी. मगर चौकीदार, जो एक गुज़रे हुए लम्हे की तरह था, अपनी जगह पर स्थिर पड़ा रह गया और ज़िन्दगी की गाड़ी अपने सारे क्षणों के साथ आगे बढ़ गयी.

लोग दस साल से यह कहते चले आ रहे हैं कि अब उसकी ज़िन्दगी के गिने-चुने दिन बाक़ी रह गये हैं. हालाँकि मर तो वह उसी शाम गया था जब बोलने और चलने की ताक़त उससे छिन गयी थी, मगर उसकी आँखों में पायी जाने वाली बेचैनी उस पर नाम मात्र की ज़िन्दगी का दोष बराबर लगाती चली आ रही थी. मगर उसे उस दिन तो बहरहाल, ज़रूर मर जाना ही चाहिए था जब अचानक एक बहुत ही दुखदायी ख़बर उस पर बम की तरह आकर गिरी थी. घुड़सवार यह जानलेवा ख़बर उस तक पहुँचाकर उन्हीं क़दमों वापस लौट गया था. चौकीदार देर तक सोचता रहा कि यह घुड़सवार ऐसी ख़बरें पहुँचाकर उन्हीं क़दमों से क्यों लौट जाते हैं. यह उसकी लाडो की ख़बर थी जो एक बच्ची को छोड़कर और एक मुर्दा बच्ची को जन्म देकर चल बसी थी. यह पहला जनाज़ा था जो उसके सामने उठाया गया था ! जब उसे ले जाने लगे तो चौकीदार ने दिल-ही-दिल में पुकारा भी था—'बेटी रुक जा, अभी न जा.' ज़िन्दगी में शायद पहली बार लाडो ने आगे से कोई जवाब नहीं दिया था. लेकिन कमबख़्त मौत थी कि अपनी सुर्ख़ ज़बान लटकाये, बाल बिखराये हर

वक़्त चौकीदार के पाँयती से सिर जोड़े उसे भूखी निगाहों से लगातार घूरती रहती. मगर मालूम नहीं यह कैसा इन्तक़ाम था जो मौत उससे लेना चाहती थी मगर ले नहीं पा रही थी; या वह ख़ुद उस चुड़ैल से बदला ले रहा था. दोनों तरफ़ इन्तज़ार था, सिर्फ़ इन्तज़ार ! फिर एक और चरका लगा. चौकीदार की बड़ी बेटी का शौहर टी. बी. के लम्बे रोग के हाथों चल बसा. यह दूसरा जनाज़ा था जो उसके सामने उठाया गया था और जिसे वह गुमसुम दरवाज़े की दहलीज़ पार करते देखता रहा. पिछले साल की तरह इस साल भी चौकीदार को बुख़ार हर वक़्त घेरे रहता. और जब से सर्दी का मौसम शुरू हुआ था उसकी हालत और भी बिगड़ती जा रही थी. सब गाँव वालों का ख़याल था कि इस जाड़े में उसका बचना मुहाल होगा. इसलिए गाँव के हर घर का कोई-न-कोई सदस्य हर दिन ज़रूर उसकी हालचाल पूछने चला आता. इस उम्मीद पर कि शायद वह ही ऐसा ख़ुशक़िस्मत हो उसे मरते लम्हे आख़िरी मर्तबा देखने का पुण्य हासिल कर सके और यों यह बात गर्व के साथ दूसरों को बता सके कि चौकीदार की जान उसके सामने निकली थी. देखने वालों की यह निर्मम इच्छा शायद कभी नहीं मर सकती, लेकिन इस बार भी तमाम के तमाम अंदाज़े धरे रह गये. इस बार चौकीदार तो साँस लेता रहा. उसका बड़ा बेटा आँतों के कैंसर की वजह से अस्पताल में दम तोड़ गया. यह तीसरा जनाज़ा था जो उसके घर से उठा और वह ख़ाली-ख़ाली नज़रों से उसे भी जाता हुआ देखता रहा. यह शायद ज़िन्दा रहने का मुआवज़ा था जो उसे अपने दिल के टुकड़ों को मौत के रूप में अदा करना पड़ रहा था. वह अगर बोलने की ताक़त से महरूम होने के साथ-साथ बहरा और अन्धा भी हो जाता तो किसी का क्या बिगड़ता मगर उसे तो यह सब देखने के लिए मजबूर कर दिया गया था. पिघला-पिघला कर मौत उसे पी रही थी लेकिन वह था कि ख़त्म ही नहीं हो रहा था. फिर उसके बाकी दोनों बेटों का आपस में जमीन के बँटवारे पर झगड़ा शुरू हो गया और देखत-ही-देखते वह एक-दूसरे के जानी-दुश्मन बन गये. जिस दिन रेडियो से ढाका के अलग होने की खबर प्रसारित हुई थी, यह उस शाम की घटना है कि उन दोनों की आपस में तू-तू मैं-मैं शुरू हो गयी और बात बढ़ते-बढ़ते गाली-गलौच तक आ पहुँची. चौकीदार न तो बोल सकता था और ना ही हरकत कर सकता था. हाँ, मगर, देख सकता था और वह देखता रहा. चन्द लम्हों के बाद कुल्हाड़ी के फल और टोके के ताबड़-तोड़ वारों ने हर-तरफ लहू के छींटे उड़ा दिये और उसके सामने एक बेटा दूसरे के हाथों कट मरा. यह चौथा जनाजा था जिसे वह चुपचाप, पलक झपकाये बिना, जाते हुए देखता रहा. फिर पुलिस आयी और दूसरे को हथकड़ियाँ लगाकर ले गयी. मुक़दमा चला और उसे फाँसी की सज़ा हो गयी.

तब एक सुबह उसकी लाश आँगन में पहुँच गयी. यह पाँचवाँ जनाजा था जो चौकीदार के सामने उठाया गया. मगर चौकीदार के आँखों में आँसू की नमी तक नहीं थी. गाँव वालों के सामने एक अजीब मंज़र उभर आया था. वे देख रहे थे कि बरगद के पेड़ के नीचे चारपाई पर एक मैले-कुचैले तकिये से टेक लगाकर हड्डियों का ढाँचा बैठा था. उसकी दोनों टाँगें मफ़लूज (फालिज की मारी हुई) हो चुकी हैं और ज़बान गुंगी. जनाज़े एक के बाद एक घर से निकलते हैं और उसके सामने से गुज़रते हुए ग़ायब हो जाते हैं. मगर उसका चेहरा पत्थर की सिल की तरह सपाट है जिस पर किसी जज़्बे की कोई रमक़, कोई निशान तक मौजूद नहीं. अलबत्ता, चेहरे की सिल पर ख़ुदी दो खिड़कियों में से उभरी हुई पुतलियाँ दीवानों की तरह चारों तरफ़ घूम रही थीं. ऐसा लगता जैसे उसकी टांगों की पूरी ताक़त और ज़बान, सारी कुव्वत गोयाई (वाक शक्ति) इन पुतलियों में समा गयी हैं. वे चारों तरफ़ बेतहाशा कुछ खोजने की कोशिश में लीन हैं मगर उन्हें कुछ नजर नहीं आ रहा. जैसे वह कोई आसेब (भूत-प्रेत) हो जिसे किसी ने चारपाई पर जकड़ दिया है. वह ना हिल सकता है ना बोल सकता है. बस टुकर-टुकर देख सकता है.

चौकीदार अब पूरे दिन बरगद के पेड़ के नीचे बेजान-सा पड़ा रहता है. वह उसकी टहनियों को घूरता रहता और सुबह से शाम तक जितने पक्षी आ-आकर उसकी टहनियों पर बैठते हैं उनको गिनता और सोचता— काश, सुबह दोबारा कभी ना हो. मगर सुबह सदा चौकीदारनी के नल चलाने की आवाज़ के साथ अंगड़ाई लेकर उठ बैठती. फिर वह चुल्हा जलाते हुए खाँसती, अपनी बहू-बेटियों का नाम ले-लेकर उन्हें जगाती. अपने पोते-पोतियों, नवासे-नवासियों को मुँह-हाथ धोने को कहती और उन सबके लिए तवे पर रोटियाँ पकाती जाती. उस दिन सुबह-ही-सुबह चौकीदार के बड़े पोते ने आकर खबर दी कि उनका बूढ़ा बैल थान पर बेसुध लेटा है और गहरी-गहरी साँस ले रहा है. जब पता लगा कि बचने की कोई उम्मीद नहीं हैं तो गाँव के कसाई को जल्दी से बुलाया गया. चौकीदार की आँखों के सामने उसके चहेते बैल की गर्दन पर छुरी चला दी गयी. लाल गाढ़ा ख़ून बहता हुआ ज़मीन में जज़्ब होने लगा. बैल का जिस्म केवल एक बार ज़ोर से थरथराया और बिलकुल ठंडा पड़ गया. तब अचानक टोके का लहूलुहान फल हवा में बार-बार बुलंद होने लगा और बैल के हिस्से बखरे होते चले गये. चौकीदार यह मंज़र चुपचाप दम साधे एकटक यों देखता चला गया जैसे बैल को नहीं, उसकी पूरी ज़िन्दगी को टुकड़ा-टुकड़ा किया जा रहा है. न जाने कितना वक्त बीत गया फिर कहीं जाकर टोके की खट-खट खत्म हुई. कसाई ने ख़ून भरे हाथों को अपने तहमद से अच्छी तरह पोंछा. बैल के कटे सिर को एक हाथ में उठाया. खाल को अपने कन्धे पर रखा और ख़ून से रँगे टोके को दूसरे हाथ में थाम कर चौकीदार की तरफ़ भेदभरी नज़रों से देखता हुआ चल दिया. चौकीदार अपने बैल के कटे सिर को देखता ही रह गया. दोपहर को जिस वक़्त शोरबे में डूबी हुई पाँच मोटी-मोटी बोटियाँ थाली में डालकर चौकीदार के सामने रखी गयीं तो उसकी अँगुलियों ने जैसे ही पहली बोटी को छुआ तो उसका हाथ तड़प कर पीछे हट गया, जैसे उसके बूढ़े वजूद को काटकर अनगिनत बोटियों में तकसीम कर दिया गया था और अब उन बोटियों को सारा परिवार बड़े मजे के साथ खाने में मसरूफ़ था. फिर मालूम नहीं किस जज़्बे के तहत हिम्मत करके चौकीदार ने काँपते हाथों से थाली में से एक बोटी उठायी और उसे चबाना शुरू कर दिया. आँसू पहली बार उसकी पलकों के बाँध तोड़कर बेअख़्तियार बहने लगे और बोटी नमकीन-से-नमकीन होती चली गयी. तब वह एकदम दहाड़े मार-मारकर रोने लगा और साथ ही बोटी चबाता चला गया मगर निगलने की हिम्मत अब उसमें बाकी नहीं रही थी............!

सलीम आग़ा क़ज़लबाश

जन्म : 1956 लाहौर (पाकिस्तान)
शिक्षा : एम. ए., पी-एच.डी. (उर्दू)
कृतियाँ : 'अंगूर की बेल', 'सुबह होने तक', (कहानी संग्रह); 'सरगोशियाँ' (इंशाइये)
सम्पर्क : रेलवे रोड, सरगोधा (पाकिस्तान)

ख़तना

ग़ज़नफ़र

जो तक़रीब (उत्सव) टलती आ रही थी, तय पा गयी थी. तारीख़ भी ऐसी कि सभी को सूट करती थी. पाकिस्तान वाले ख़ालू भी आ गये थे और अरब वाले मामू मुमानी भी. मेहमानों से घर भर गया था.

भरा हुआ घर जगमग-जगमग कर रहा था. दरो-दीवार पर नया रंगो-रोग़न रोशन था. छतें चमकीले कागज़ के फूल पत्तों से गुलशन बन गयी थीं. कमरों के फ़र्श दर्पण हो गये थे. आँगन में चमचमाती हुई चाँदनी तन गयी थी. चाँदनी के नीचे साफ़-सुथरी जाज़िम बिछ चुकी थी.

बाहर के बड़े बरामदे में बड़ी-बड़ी देगें चढ़ चुकी थी. बासमती चावलों की बिरयानी से खुशबुएँ निकल रही थीं. क़ोरमे की देगों से गरम मसालों की लपटें हवाओं से लिपटकर दूर-दूर तक फैल रही थीं. तरह-तरह के मेवों से भरी ज़र्दे की सेनियाँ दूर से ही लोगों की निगाहों को अपनी तरफ खींच रही थीं.

धीरे-धीरे मुहल्ले पड़ोस की औरतें भी आँगन में जमा हो गयीं. बच्चों की रेलपेल बढ़ गयी.

रंग-बिरंग के लिबास फ़ज़ा में रंग घोलने लगे. सोने, चाँदी के गहने खन-खन छन-छन बोलने लगे. परफ्यूम के ज़ोरदार झोंके चलने लगे. दिलो-दिमाग़ में खुशबुएँ बसने लगीं. मेकअप जलवा दिखाने लगा. चेहरों से रंगीन किरनें फूटने लगीं. अबरक़ से सजी आँखों की झिलमिलाहटें झिलमिल-झिलमिल करने लगीं. सुर्ख़-सुर्ख़ होंठों की मुस्कुराहटें खिलखिला पड़ीं. दाँतों के मोती दमकने लगे. माहौल में रंग रोशनी खुशबू रच बस गये. जगमगाता हुआ घर और जगमगा उठा.

अब्बू अम्मी बेहद ख़ुश थे कि ख़ुशियाँ सिमटकर उनके क़दमों में आ पड़ी थीं. दिलों में बेपनाह जोशो-ख़रोश था कि जोशे ईमानी पर और आबो-ताब चढ़ने वाली थी. आँखें पुरनूर थीं कि नूरे नज़र (बेटा) सुन्नते-इब्राहीमी (ख़तना का रिवाज जिसकी बुनियाद पैगम्बर इब्राहीम ने डाली थी.) से सरफराज़ (सर बुलन्द) होने जा रहा था. चेहरे पर चमक थी कि लख़्ते जिगर की मुसलमानी को ताक़तो-तवानाई (शक्ति) मिलने वाली थी. साँसें मुश्कबार (सुगन्धित) थीं कि तमन्नाओं के चमन में बहार आ गयी थी.

मेहमान बरामदों और कमरों से निकलकर आँगन में आ गये. चाँदनी के नीचे बैठे हुए लोग खड़े हो गये. फ़र्श के बीचोंबीच ओखली रख दी गयी. ओखली के ऊपर फूलदार चादर बिछ गयी. थाल ताज़ा फूलों के सेहरों से सज गया. मलमल का कढ़ा हुआ कुर्ता पैकेट से बाहर निकल पड़ा. बुज़ुर्ग नाई ने अपनी बुग़ची खोल ली, उस्तरा बाहर आ गया. कमानी तन गयी. राख की पुड़िया खुल गयी.

ख़ालिद को पुकारा गया मगर ख़ालिद मौजूद न था. बच्चों से पूछताछ की गयी. सबने इनकार में सर हिला दिया. अब्बू अम्मी की तशवीश बढ़ गयी. तलाश शुरू हुई. अब्बू और मैं उसे ढूँढ़ते हुए कबाड़ वाली अँधेरी कोठरी में पहुँचे. टार्च की रौशनी में देखा तो ख़ालिद एक कोने में देर तक दौड़ाये गये मुर्गे की तरह दुबका पड़ा था.

"ख़ालिद बेटे तुम यहाँ पड़े हो और सारे लोग उधर तुम्हारे इन्तज़ार में खड़े हैं. आओ चलो तुम्हारी मम्मी परेशान हो रही हैं."

"नहीं अब्बू, मैं ख़तना नहीं कराऊँगा." ख़ालिद मुँह बिसोरते हुए बोला.

ख़ालिद से ख़तना की बात छुपायी गयी थी मगर शायद कुछ देर पहले किसी ने उसे बता दी थी.

"ठीक है मत कराना मगर बाहर तो आ जाओ." अब्बू ने बड़े प्यार से यक़ीन दिलाया. मगर ख़ालिद दीवार से इस तरह चिमटकर बैठा था जैसे दीवार ने किसी ताक़तवर चुम्बक की तरह उसे जकड़ लिया हो. हमने उसका एक हाथ पकड़कर बाहर खींचने की कोशिश की मगर उसका दूसरा हाथ दीवार से इस मज़बूती के साथ चिपका रहा जैसे उस हाथ को दीवार में सिमेंट और किसी मज़बूत मसाले से चुन दिया गया हो. न जाने उस छोटे से बच्चे में कहाँ से इतनी ताक़त आ गयी थी. बड़ी ज़ोर ज़बरदस्ती के बाद उसे कोठरी के बाहर लाया गया.

"अम्मी-अम्मी मैं ख़तना नहीं कराऊँगा." उसकी आँखों में आँसू आ गये थे.

"अच्छी बात है, न कराना, लेकिन ये नया कुर्ता तो पहन लो. देखो तो ये सारे बच्चे नये-नये कपड़े पहने हुए हैं. और ये देखो ये सेहरा कितना अच्छा है. तुम्हारे सर पर बहुत सजेगा. लो इसे बाँधकर दूल्हा बन जाओ. ये सब लोग तुम्हें दूल्हा बनाने आये हैं. तुम्हारी शादी भी तो होगी ना."

"अम्मी आप झूठ बोल रही हैं. मैं सब जानता हूँ. मैं कुर्ता नहीं पहनूँगा. मैं सेहरा नहीं बाँधूगा."

"ये देखो तुम्हारे लिए कितने सारे रुपये लाया हूँ." अब्बू ने कड़कड़ाते हुए ढेर सारे नोट ख़ालिद के आगे बिछा दिये.

आसपास खड़े बच्चों की आँखें चमक उठीं.

"अच्छा ! ये देखो. तुम्हारे लिए मैं क्या लाया हूँ." पाकिस्तान वाले ख़ालू ने इम्पोर्टेड टॉफियों का डिब्बा खोल दिया.

बच्चों की ज़बानें होंठों पर फिरने लगीं. अरब वाले मामूँ आगे बढ़कर बोले, "देखो ख़ालिद ! ये कार तुम्हारे लिए है, बग़ैर चाबी के चलती है यूँ..."

बच्चों की नज़रें कार का पीछा करने लगीं.

मगर ख़ालिद की आँखें किसी सय्याद दीदा-जानवर (जिस जानवर पर शिकारी की नज़र हो) की तरह कुछ न देख सकी. उसकी नज़रें पुतली में सहमी हुई साकित पड़ी रहीं.

अब्बू, अम्मी, ख़ालू, मामू, प्यार, पैसा, टॉफी, कार सब कुछ देकर थक गये. ख़ालिद टस से मस न हुआ.

झुँझलाकर अब्बू ज़ोर-ज़बरदस्ती पर उतर आये. ख़ालिद की पैंट खोलकर नीचे खिसकाने लगे. मगर ख़ालिद ने खुली हुई पैंट के सिरों को दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया. आँखों से आँसुओं के साथ होंठों से रोने की आवाज़ें भी निकलने लगीं. ख़ालिद के आँसुओं ने अम्मी की आँखों में पानी भर दिया.

"मत रोओ मेरे लाल, मत रोओ. तुम नहीं चाहते तो हम ज़बरदस्ती नहीं करेंगे. तुम्हारी ख़तना नहीं करायेंगे." अम्मी ने रुँधी हुई आवाज़ में ख़ालिद को दिलासा दिया और अपने आँचल में उसके आँसू जज़्ब कर लिए. कुछ देर तक अम्मी ख़ामोश रहीं. फिर ख़ालिद के सर पर हाथ फेरते हुए बोलीं, "पिछले साल तो फूफी के घर कामरान की ख़तना के वक़्त तुम ख़ुद ज़िद करते रहे कि अम्मी मेरी भी ख़तना करा दीजिए. मगर आज तुम्हें क्या हो गया है ? तुम इतने डरपोक क्यों बन गये. तुम तो बड़े बहादुर बच्चे हो. तुमने अपने ज़ख़्म का आपरेशन भी हँसते-हँसते करा लिया था. इसमें तो ज़्यादा तकलीफ़ भी नहीं होती."

ग़ज़नफ़र

मूलनाम : गज़नफ़र अली

जन्म : 1 मार्च 1953 चौराँवा, जिला—गोपालगंज, बिहार

शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी. (उर्दू) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

सम्प्रति : सह प्राचार्य उर्दू विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

कृतियाँ : 'पानी', 'कहानी अंकल', 'मम' (उपन्यास); 'कोयले से हीरा' (नाटक) इसके अतिरिक्त एक सौ से अधिक कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और शायरी भी करते हैं. बिहार और उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी द्वारा पुरस्कृत.

सम्पर्क : उर्दू विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, उ.प्र.

"अम्मी मैं ख़तना कराने से नहीं डरता."

"फिर किस बात का डर है तुम्हें बेटे." अब्बू ने चौंककर बड़ी नरमी हो पूछा.

"अब्बू आपने ही तो एक दिन बताया था कि ख़तना वालों को बदमाशों ने जान से मार दिया."

ख़ालिद का जुमला अब्बू के साथ-साथ सबके सरों पर फालिज़ की तरह गिर पड़ा. सबकी ज़बानें ऐंठ गयीं. चहकता हुआ माहौल चुप हो गया. ज़गमगाहटें बुझ गयीं. मुस्कराहटें मुरझा गयीं. बच्चों की उँगलियाँ अपने पज़ामों में पहुँच गयीं. बड़ों की आँखें एक दूसरे की आँखों को तकने लगीं.

तलाशियों का घिनावना मंज़र उभर गया. जिस्म नंगे होने लगे. चाकू सीने में उतरने लगे. ख़ून का फव्वारा छूटने लगा.

माहौल का रंग उड़ गया. नूर पर धुँध का गुबार चढ़ गया. ख़ुशबू बिखर गयी. नाई का उस्तरा भी कुंद पड़ गया. राख पर पानी फिर गया.

पाकिस्तान वाले ख़ालू ने माहौल के बोझिलपन को तोड़ते हुए ख़ालिद को मुख़ातिब किया—"ख़ालिद बेटे अगर तुम ख़तना नहीं कराओगे तो जानते हो क्या होगा. तुम्हें बेख़तना देखकर ख़तना वाले बदमाश मार डालेंगे ?"

"सच अब्बू ?" ख़ालिद सर से पैर तक काँप उठा.

"हाँ बेटे. तुम्हारे ख़ालू सच कह रहे हैं."

"तो ठीक है." ख़ालिद के हाथों से खुली हुई पैंट के सिरे छूट गये. पैंट कूल्हे से नीचे सरक गयी.

ख़ालिद ख़तना के लिए तैयार था. मगर उसकी रज़ामंदी के बावजूद किसी ने भी उसके सर पर सेहरा नहीं बाँधा. कोई भी हाथ कुर्ता पहनाने आगे नहीं बढ़ा.

करुणा से भरा हुआ सन्नाटा जब नाक़ाबिले बरदाश्त हो गया तो पाकिस्तान वाले ख़ालू ने आगे बढ़कर ख़ालिद को उसी हुलिए में ओखली के ऊपर बिठा दिया.

तक़रीब का आगाज़ हो गया. मगर नाई के थाल में पैसे नहीं गिरे. नाई ने मुतालबा माँग भी नहीं किया.

ख़ामोशी से उसने मुसलमानी में राख भरी. कमानी फिट की. चिमटे में चमड़े को कसा और उस पर लरज़ता हुआ उस्तरा रख दिया. जैसे ख़तना नहीं, गर्दन काटने जा रहा हो. ◙

◆ कहानी ◆

नींव की ईंट

हुसैन उल हक़

सलामतुल्लाह ने ऑफिस जाते हुए देखा था फिर दफ़्तरी कामों की भीड़ में बात दिमाग़ से निकल गयी.

मगर शाम को जब वह अपने घर के पास पहुँचा तो भीड़ वैसी की वैसी ही नज़र आयी. सुबह में तो ऑफिस जाने की जल्दी भी थी और एक ख़याल यह भी आया था कि होगा कोई फ़ंक्शन...बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनके तिलक या छेका वगैरह का फ़ंक्शन भी क्या कम भीड़ इकट्ठी करता है....मगर शाम को भी भीड़ वैसी ही नज़र आयी तो उसको चिन्ता हुई,...क्या कोई बीमार है ? अब ऑफिस की जल्दी तो थी नहीं. उसने साइकिल अपने दरवाज़े पर लगायी और दो घर छोड़कर तीसरे घर की तरफ़ बढ़ गया.

"क्या बात है भाई ? शिवपूजन भाई कहाँ हैं ?" एक आदमी से इतना ही पूछ पाया था कि शिवपूजन नज़र आ गये.

"आदाब शिवपूजन भाई, बड़ी भीड़ है ? सुबह भी देखा, सब कुशल है ना ?"

"अरे आप नहीं जानते ? शिवपूजन जी तो..."

एक आदमी बहुत लहककर कुछ बताने के मूड में था कि अचानक शिवपूजन ने उसे हाथ से हटाते हुए सलामतुल्लाह के कन्धे पर हाथ रखकर अपने क़दम घर के बाहर लगे मंडप से आगे बढ़ाने प्रारम्भ कर दिये. सलामतुल्लाह भी शिवपूजन के साथ आगे बढ़ने पर मजबूर था. उस आदमी के बोलने, शिवपूजन के उस आदमी को एक तरफ़ करने, सलामतुल्लाह के कन्धे पर हाथ रखने और मंडप से आगे की ओर क़दम बढ़ाने में शायद दो सैकंड का समय गुज़रा होगा. इस बीच शिवपूजन चुप रहे फिर बोले, "नहीं कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं ...हम तनिक बाहर गये थे..."

शिवपूजन की इस वार्तालाप के बीच ही एक और आवाज़ सुनाई दी, जो आदमी सलामतुल्लाह को शिवपूजन के बारे में कुछ बताने जा रहा था उसको कोई और दूसरा आदमी शायद बता रहा था, "साला मतुल्ला है."

यह वाक्य सलामतुल्लाह ने भी सुना और शिवपूजन ने भी...दोनों के बीच यह वाक्य पहुँचते ही शिवपूजन जोर से हँसे.... "और सुनाइये क्या समाचार है ? सब कुछ सकुशल है ना ?" सलामतुल्लाह को अचानक अनुभव हुआ कि वह तो नंगा है. बिल्कुल ही वस्त्रहीन. वह और शिवपूजन दोनों गेट तक आ चुके थे. "अच्छा शिवपूजन जी, आदाब" वह समझ नहीं पाया कि उसके और शिवपूजन के बीच अब और कौन-सा शब्द शेष बचा था !

"नमस्ते." शिवपूजन ने दोनों हाथ जोड़ दिये. सलामतुल्लाह तेज़ी से अपने घर की ओर बढ़ गया.

संध्या—वह भी दिसम्बर की. चारों ओर अँधेरा झुक आया था. बिजली फेल थी अतः हर घर में लैम्प, लालटेन जल चुकी थी, अचानक उसे अपना गाँव याद आ गया. साँझ होते ही वहाँ भी हर घर में मिट्टी के दीपक और लालटेन जल उठती थी, पूस और माघ के जाड़े में घर की बैठक में सब जमा होते, रहीम चाचा, सिबते मामू, रामेश्वर चाचा, मंगरू काका. उसने अपने घर के दरवाज़े पर खड़े होकर एक नज़र शिवपूजन के घर पर डाली और अपने घर में आ गया.

घर में दाख़िल हो रहा था तो बच्चों के खेलने की आवाज़ सुनायी दी, "जय कन्हैया राम की..."

बच्चे माँ के कमरे में लूडो खेल रहे थे. बड़ा लड़का टेबल पर पढ़ रहा था. पत्नी रसोईघर में थी. देखते ही अजब अन्दाज़ में बोली, "आप आ गये."

"क्यों क्या बात है ?" उसे कुछ हैरत सी हुई. वह रोज़ ही आता है और पत्नी बिना कुछ कहे बस हल्की सी मुस्कान से उसका स्वागत करती है...फिर यह ?

"नहीं अँधेरा हो रहा था इसलिए जी लगा हुआ था."

"क्या अटपटी सी बात कर रही है ? अँधेरा क्या आज ही हुआ है ?"

"अच्छा-अच्छा मुँह हाथ धो लीजिये, चाय तैयार है." उसे लगा वह बात की दिशा बदल रही है.

"अब्बू-अब्बू ! शिवपूजन चाचा के यहाँ ईंट आयी है." उसकी बेटी उसकी आवाज़ सुनते ही दौड़ी आयी.

वह शायद आदत के अनुसार दिन भर के मुख्य समाचार सुनाने के मूड में थी.

"चलो जाकर पढ़ो. लाइट आ गयी है." पत्नी के झपटकर उसका हाथ पकड़ा और कमरे की तरफ़ धकेल दिया.

"पागल हो गयी हो ? इस तरह क्यों डाँटती हो ? और यह शिवपूजन के यहाँ ईंट कैसी ?"

"चुप रहिए." उसने मुँह पर हाथ रख दिया और धीरे से बोली, "आवाज़ दूसरे घरों में भी जाती है. पहले मुँह-हाथ धोकर कुछ खा लीजिये." सलामतुल्लाह कुछ न बोला, वह थकावट अनुभव कर रहा था ? और भूख भी लगी थी. टिफ़िन के समय का खाया कितनी देर तक पेट में रहता ? आज तो कोई आसामी भी नहीं फँसा था कि नाश्ता पानी करा देता. मगर शिवपूजन...उसे फिर बाहर की भीड़ याद आयी...

फिर बेटी का वाक्य, "ईंट आयी है" और अचानक शिवपूजन का वाक्य गूँजा, "तनिक बाहर चले गये थे।"

"सुनो." अचानक उसकी छठी इन्द्री जाग उठी और उसने धीरे से बीवी को पुकारा.

"क्या है ?"

"यह शिवपूजन...अयोध्या...गया था क्या ?"

"जी, बाहर इसी की भीड़ है." पत्नी हल्के से बोली और थके क़दमों फिर रसोई में चली गयी.

बिजली फिर गुम हो गयी थी और पूरे घर में अजीब-सा सन्नाटा रेंग रहा था. आस-पास के घरों से लालटेन की फीकी लौ इस प्रकार थरथराती और रेंगती उसकी खिड़कियों और रौशनदानों से घर के अन्दर चली आ रही थी कि उसे लगा कि साँप की केंचुली चमक रही है. अँधेरा कुछ और गहरा हो गया था. गली में बच्चे खेल रहे थे... जय कन्हैया राम की."

"सुनो." उसने पत्नी को फिर पुकारा.

"जी."

"तुम्हारे अब्बा के दो तीन ख़त आ चुके हैं न ? अब तो बड़े दिन की छुट्टी भी होने वाली है. अपने मायके हो आओ."

"अच्छा चली जाऊँगी. लीजिये कुछ खा लीजिये." वह धीरे से बोली. उसका ढंग मन रखने वाला था.

उसने थोड़ा सा खाया. वह लगभग पाँच घंटों का भूखा था. मगर अब भूख ही नहीं लग रही थी. चाय पीकर उसने सिगरेट सुलगायी और सोफे पर ही लेटकर एक कश लिया. और एक अजीब असमंजस की स्थिति में विचार आया. मकान मिलता कहाँ है....मुस्लिम इलाक़ों में तो किराया आसमान छूता है. मकान मालिक समझता है वह भगवान है. मकान नहीं दे रहा है, किरायेदार की उम्र बढ़ा रहा है ...मगर किरायेदार भी तो पत्नी और बच्चों के लिए...लेकिन यहाँ तो आमदनी सीमित है. घूस के नाम पर चाय पानी या कभी भाग्य ने साथ दिया तो दस-बीस रुपये...आमदनी वाला टेबल उसे आज तक मिला ही नहीं.

ऐसे में वह सरकारी क्वाटर छोड़कर और कहाँ जाता ? और क्वाटर भी क्या ? एल. आई. जी. फ्लैट. मगर एक क्लर्क को एल. आई. जी. नहीं मिलता तो और क्या मिलता !

"जय श्री राम" अचानक एक ज़ोरदार नारा गूँजा और वह उछलकर खड़ा हो गया.

"बैठिये-बैठिये." पत्नी शीघ्र ही पास आयी और धीरे से बोली, "घबराने की बात नहीं सुबह से ही चल रहा है. देखने वालों का फिर कोई नया जत्था आया होगा."

वह बैठ गया मगर दिल की धड़कन तो बढ़ ही गयी थी. उसने अनुभव किया, इस सर्दी में भी माथे पर पसीना आ गया था.

गई रात तक भीड़ का अनुभव होता रहा. रह-रह कर नारे सुनाई देते रहे और तन्हाई का बैताल सलामत के कन्धे पर चढ़ा चपड़-चपड़ उसकी खोपड़ी खाता रहा.

"मायके जाने की बात आपने क्यों की ?" रात में जब बच्चे सो गये तो पत्नी ने पूछा.

"क्यों, नारे नहीं सुन रही हो ?"

"नारे तो अक़ीदे (श्रद्धा) के तौर पर लगाये जा रहे हैं."

"अक़ीदे को नफ़रत बनते किनती देर लगती है ?"

पत्नी चुप हो गयी. रात धीरे-धीरे गहरी और अँधेरी होती जा रही थी. वह बहुत देर तक जागता रहा. अपनी आदत के विपरीत जागता रहा. अन्यथा वह तो दिन भर का थका-हारा बिस्तर पर इस तरह गिरता था कि उसे इसका पता भी न चलता था कि पत्नी किस समय आकर उसके पास लेटी. मगर आज वह जाग रहा था. आज क्यों जाग रहा है शिवपूजन ? मगर उसके व्यवहार में तो कोई
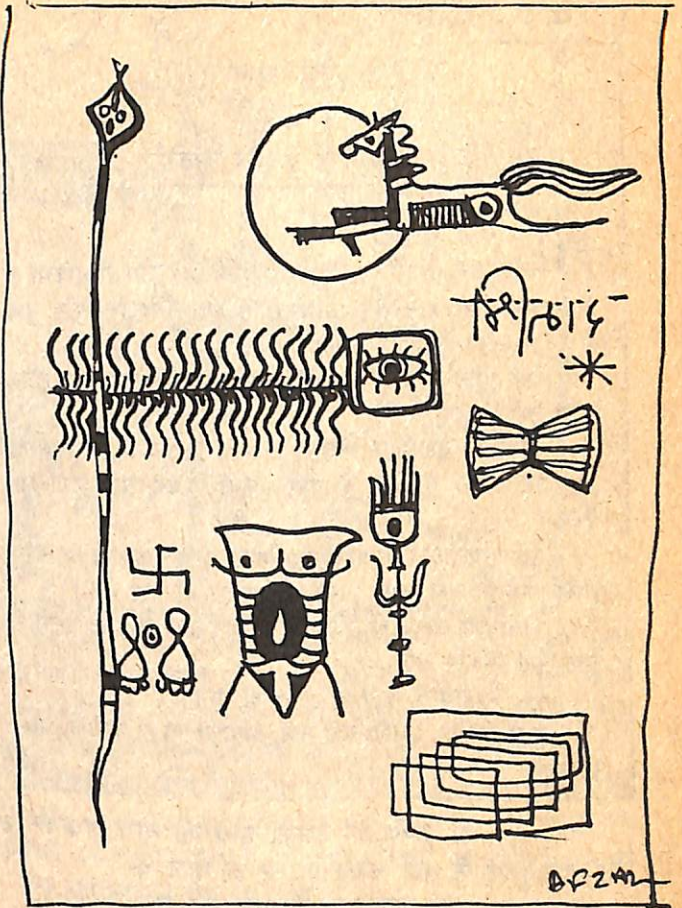
महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी. ईंट ? नहीं जब 6 दिसम्बर गुजर ही गया तो...तो फिर ? अचानक वाक्य गूँजा है. उसे लगा किसी ने उसके कानों में अँगारे डाल दिये हों. यही वह शब्द है जो सात घंटों से उसकी आँतें काट रहा है. पन्द्रह वर्ष के जीवन में पहली बार था. कल तक वह केवल सलामत भाई था.

अचानक उसे अपने रिश्तेदार याद आ गये. अपना भाई बरकतउल्लाह, चाचा इज्जतउल्लाह, मामूं अब्दुलसतार...ये सब लोग अब कराची में थे. एक बार शादी में वह भी कराची गया था. मगर वह गया और चला गया. उस समय उसे कोई ख़ास बात महसूस नहीं हुई.

बल्कि उसे याद आया, उसके मामूं ने जब कहा—सलामत तुम भी यहीं आ जाओ तो वह झुँझलाकर बोला था, 'क्यों ? क्या मैं यहाँ भूखा मर रहा हूँ ?'

'नहीं यह बात नहीं है'—मामूं ने उसे समझाना चाहा. 'वहाँ इतने अधिक दंगे होते हैं कि बराबर चिन्ता लगी रहती है.'

'मामूं 1971 के बाद आप लोग तो कम से कम दंगों का हवाला न दीजिये.' शायद उसकी अभिव्यक्ति में कटुता अधिक थी.

मामूं तो एकदम चुप हो गये और अन्य लोगों ने भी जब तक वह वहाँ रहा, फिर उस हवाले से कोई बात न की.

'क्या मामूं सही कह रहे थे ?' अचानक उसके मन में एक विषैला नाग फन काढ़कर खड़ा हो गया. वह हाँ नहीं के भ्रम में चकराता रहा. फिर सर झुका दिया—नानसेन्स, जो कुछ मेरे चारों तरफ़ है वही मेरा है.

स्याह हाशिए

सफाई पसन्द

सआदत हसन मंटो

गाड़ी रुकी हुई थी.

तीन बन्दूकधारी एक डब्बे के पास आये और खिड़कियों में से अन्दर झाँककर उन्होंने मुसाफिरों से पूछा, "जनाब, कोई मुर्गा है ?"

एक मुसाफिर कुछ कहते-कहते रुक गया, शेष ने उत्तर दिया, "जी नहीं."

थोड़ी देर बाद चार भालाधारी आये, खिड़कियों में से अन्दर झाँककर उन्होंने मुसाफिर से पूछा, "क्यों जनाब, कोई मुर्गा-बुर्गा है."

उस मुसाफिर ने जो पहले कुछ कहते-कहते रुक गया था, उत्तर दिया "मालूम नहीं, आप अन्दर के सन्डास में देख लें."

भालाधारी अन्दर दाखिल हुए, सन्डास तोड़ा गया तो उसमें से एक मुर्गा निकल आया.

एक भालाधारी ने कहा, "कर दो हलाल."

दूसरे ने कहा, "नहीं, यहाँ नहीं, डब्बा खराब हो जायेगा. बाहर ले चलो."

"हरे राम, हरे कृष्णा..." उसकी सोच की धारा अचानक रुक गयी. शिवपूजन के यहाँ भजन प्रारम्भ हो चुका था.

"यह ?" इसका जवाब उसके पास नहीं था.

'यह तो एक झाँकी है. मथुरा काशी बाकी है.' उसे नगर की दीवार पर लिखा एक नारा याद आ गया.

दूर से एक गाड़ी की आवाज़ वातावरण की छाती चीरती उस तक पहुँची. ठंड कुछ और बढ़ गयी थी. बाहर हवाओं का ज़ोर अपनी सीमा पर था. पत्नी और बच्चे रज़ाई में घुसे सो रहे थे. उसने रज़ाई से ज़रा-सा सर निकालकर दीवार घड़ी देखी. दो बज रहे थे. फिर दृष्टि स्वयं ही कैलेंडर की तरफ़ चली गयी.

20 दिसम्बर....अचानक एक अजीब अटपटी सी बात उसके मस्तिष्क में आयी. 'क्या 6 दिसम्बर गुज़र गया ?' फिर उससे लगे-लगे एक और धुन्ध में खोया प्रश्न...6 दिसम्बर क्यों आता है ?

फिर एक और डर... क्या 6 दिसम्बर फिर आयेगा ? ऐसे ही अटपटे विचारों में मग्न उसे नींद लग गयी.

सुबह सवेरे भजन की आवाज़ से उसकी नींद टूटी, बच्चे स्कूल, कॉलेज की तैयारी में व्यस्त थे. उसने खिड़की खोलकर देखा. शिवपूजन के यहाँ बड़ी भीड़ थी. शायद बहुत सारे लोग रात में यहीं रुक गये थे. नल के नीचे मुँह धोने और नहाने का सिलसिला जारी था. नौकर पूरे घर में झाड़ू लगा रहा था. शायद अतिथियों के स्वागत की तैयारी थी.

"आज बच्चों को न जाने दो और तुम भी तैयार हो जाओ. मैं तुम लोगों को हयात भाई के यहाँ छोड़ दूँगा तब ऑफिस जाऊँगा. सलामत ने पत्नी से कहा.

"क्यों ?"

"तुम लोगों को अकेला छोड़कर ऑफिस में जी नहीं लगेगा."

पत्नी ने एक मिनट सोचा फिर बोली, "कालोनी में अज़ीज़ भाई, इनाम साहब और फ़ज़ल अहमद भी तो हैं. ज़रा उन लोगों से भी बात कर लीजिये."

सलामतुल्लाह को यह बात पसन्द आयी. वह घर से निकला और सीधे नज़र झुकाये इन तीनों से मिलने चला गया. वह तीनों भी इस नयी परिस्थिति से डरे हुए थे. मगर चूँकि शिवपूजन का घर इनकी लाइन में नहीं था. इसलिए इतना अधिक प्रभाव नहीं था. वैसे फ़ज़ल अहमद की बात इसके जी को भी लगी कि आज दिन भर देख लिया जाय. फिर इनाम-उल-हक कहने लगे, "मेरी छुट्टियाँ बाक़ी हैं. तुम लोग निश्चिंत होकर जाओ. मैं आज छुट्टी ले लेता हूँ."

मगर ऑफिस में भी चैन कहाँ ! शिवपूजन भी उसी ऑफिस में थे जिसमें सलामतुल्लाह था. और शिवपूजन के लौट आने की ख़बर सबको मिल चुकी थी. बल्कि ऐसा अनुभव हुआ जैसे ऑफिस वालों में कई लोग कल हो भी आये क्योंकि बातचीत घूम-फिर कर शिवपजून तक पहुँच रही थी. और हालाँकि सलामतुल्लाह अपने टेबल पर था मगर दूसरे टेबलों पर होने वाली बातचीत से अपने कान कैसे बन्द कर लेता ?

"मगर भाई निकालने वाले भी बड़े गुणी थे. ऐसा निकाला है कहीं से टूटी नहीं है.

"अरे तो है भी तो पाँच छ सौ वर्ष पुरानी. तब मेटेरियल में भी तो कोई मिलावट नहीं होती थी."

"शिवपूजन की तो पाँचों उँगलियाँ घी में और सर कड़ाही में है."

"क्यों न हो ? इसको '47 जैसा संघर्ष तो मान ही लिया गया. तो कल को शिवपूजन स्वतन्त्रता सेनानी की पेन्शन भी लेगा. जो दर्शन करता है वह दक्षिणा भी देता है. और फिर धर्म संघर्ष का एक अंग बनकर शिवपूजन रातोंरात धार्मिक भी बन ही गया."

"सलामत का घर तो शिवपूजन के घर के पास ही है. उसका क्या हाल है ?" एक धीमी सी आवाज़ गूँजी.

"वही होगा जो इन लोगों का सारे देश में है."

सलामतुल्लाह अचानक चौंक उठा. तो इस सारे रगड़े-झगड़े में वह भी एक पार्टी है ? अचानक जैसे पूरा दृश्य ही बदल गया.

अब तक वह केवल अपने बच्चों, अपने घर और अपनी कॉलोनी के हवाले से सोच रहा था. मगर उसे अचानक अनुभव हुआ कि पराजित सेना का एक सिपाही वह भी है. वह एक ऐसे युद्ध में हारा है जिसमें उसने भाग ही नहीं लिया. उसे अपने आप पर हँसी भी आयी और तरस भी आया. मगर इनका क्या करूँ ? उसे अपने सहयोगी याद आ गये. उनमें एक शिवपूजन तो है ही जो एक ऐसे युद्ध का विजयेता है जिसमें उसका मुक़ाबला करने वाला कोई नहीं था. और फिर शेष बचे यह मेरे मित्र जो एक ऐसी जीत पर ख़ुश हैं जिसमें इनकी कोई भागीदारी नहीं. मगर तब उसी क्षण मौलाना अब्दुल्लाह बुख़ारी का एक भाषण याद आया, 'इन्हीं की तरह हमने भी मादरे वतन को खूबसूरत बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी. ग्रांड ट्रंक रोड, ताजमहल, लाल किला हमने बनवाया.'

सलामतुल्लाह ने अचानक ही अपने आपको एक तीव्र घृणा और ऊब के घेरे में घिरता अनुभव किया....ऊब तो हालात से मगर घृणा किनसे ? सहयोगी मित्रों से या मौलाना अब्दुल्लाह बुख़ारी से ? उसे इस सवाल का कोई सही उत्तर नहीं मिल सका. बेख़याली में उसने मेज़ की दराज़ खोली और उसमें पड़ी नयी साप्ताहिकी निकाली जो उसने कुछ दिन पूर्व खरीदी थी. उसी बेख़याली में वह उसके पृष्ठ

उलटने लगा. उलटते-उलटते वह एक पृष्ठ पर रुक गया. पूरे पन्ने पर एक रंगीन चित्र था. ढेर सारे लोग गुम्बद पर चढ़कर उसको तोड़ने का प्रयास कर रहे थे....

पीड़ा की एक तीव्र लहर उठी और भँवर या बगूले की तरह उसके अन्दर-अन्दर सर से पैर तक दौड़ती रही. उसने अनुभव किया कि इस पीड़ा में दुख के साथ शर्मिन्दगी भी शामिल थी. उसका जी चाहा वह चीखकर रोये. उसका जी चाहा कोई उसे पुरसा दे. दिलासा के दो झूठे बोल ही सही. उसे बेटी का वाक्य याद आ गया. "शिवपजून चाचा के यहाँ ईंट आयी है !" उस एक ईंट पर चित्र उभरने लगे. सूरत में मादरज़ाद नंगी भागती स्त्री की छाया. मुम्बई में लहुलुहान लाशें. उसे गुलज़ार याद आ गये. यह ज़िन्दा बूँद है बेटी दहेज़ माँगेगी. फिर ख़ुसरो की जैसे चीख सुनायी दी—अरे लक्खी बाबुल मोरे...साप्ताहिकी से निकलकर वह चित्र उसके सामने आ खड़ी हुई और छाती पीटने लगी !

"ज़ालिमो मेरे मोहर न छीनो !" उसे कहीं बहुत दूर से आती एक आवाज़ सुनायी दी और वह चौंक पड़ा. उसका कलीग फ़ज़्ले अहमद उसके कन्धे पर हाथ रखे उसे पुकार रहा था.

उसने चौंककर अपने आप को देखा. साप्ताहिकी खुली पड़ी थी. उसकी आँखें भीगी हुई थीं और ऑफिस के सभी लोग उसे देख रहे
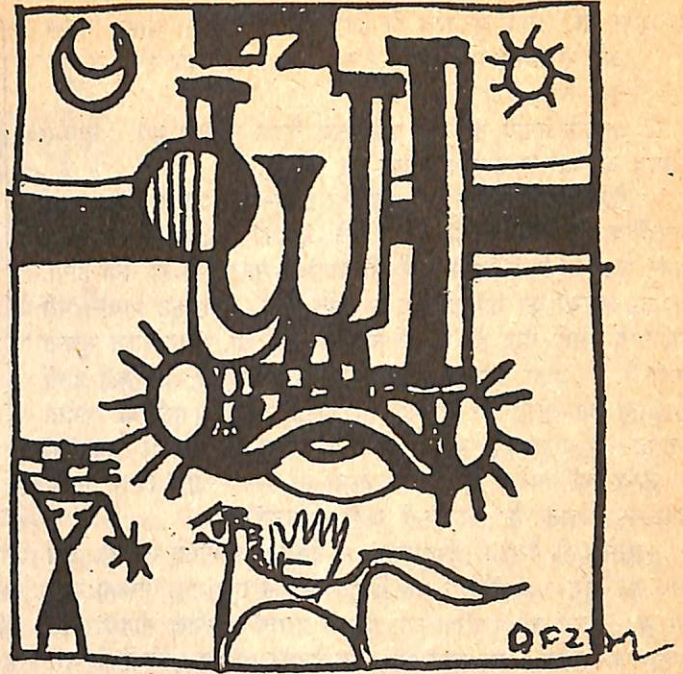
मगर वह चित्र उसे बार-बार याद आता रहा. उसके भीतर फिर एक हलचल सी मची, काश वह वहाँ होता तो कम से कम अपनी जान तो दे ही देता. दिल्ली में बैठे कई लोगों के लिए बड़ी भद्दी-भद्दी गालियाँ उसे याद आयीं. इन सभों को तो गोली मार देना चाहिये. सुरक्षा का नारा बुलन्द कर रहे थे. धोखेबाज़ कहीं के ! कम से कम वह वहाँ होता...

थे. वह हड़ाबड़ाकर बाथरूम की ओर दौड़ा. बाथरूम में हाथ-मुँह धोकर निकला तो उसकी तबियत बिल्कुल उचट चुकी थी. इसी स्थिति में वह बॉस के कमरे में चला गया.

"सर, मैं घर जाना चाहता हूँ."

"घर ?" बॉस ने घड़ी देखी सिर्फ़ दो बजे थे.

"जी सर, मैं बहुत थकावट अनुभव कर रहा हूँ."

"अच्छा जाओ." बॉस ने न जाने क्या सोचकर आज्ञा दे दी.

"सलामत." जब वह चैम्बर से निकलने के लिए मुड़ा तो बॉस ने पुकारा.

"जी सर ?"

"कभी-कभी कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके होने या न होने पर अपना कोई अधिकार नहीं रहता. ऐसे में आदमी को थोड़ा धीरज से काम लेना चाहिए. हर फेज़ टेम्पॉरेरी होता है."

बॉस जो कुछ कहना चाह रहे थे. शायद सलामत ने वह सुन लिया और धीरे से ऑफिस से बाहर आ गया.

मगर वह चित्र उसे बार-बार याद आता रहा. उसके भीतर फिर एक हलचल सी मची, काश वह वहाँ होता तो कम से कम अपनी जान तो दे ही देता. दिल्ली में बैठे कई लोगों के लिए बड़ी भद्दी-भद्दी गालियाँ उसे याद आयीं. इन सभी को तो गोली मार देना चाहिए. सुरक्षा का नारा बुलन्द कर रहे थे. धोखेबाज़ कहीं के ! कम से कम वह वहाँ होता...

फिर उसने अपने को युद्धस्थल में बड़े जोरों का युद्ध लड़ते देखा. उसके चारों ओर शत्रुओं का एक समूह ढाल, तलवार, तीरों, भालों से लैस और वह अकेला, बिना ज़ीन कसे हुए घोड़े पर एक टूटी तलवार लिये हुए...उसने देखा कि वह टूटी तलवार के सहारे लड़ रहा है, दायें-बायें ऊपर नीचे से उस पर हमले हो रहे हैं. वह सबका सामना करते हुए, मारता काटता गुम्बद पर चढ़ जाता है. और उनसे एक धुआँधार जंग लड़ने लगता है, जो गुम्बद गिराने की कोशिश कर रहे थे. इसी उधेड़बुन में घर आ गया.

घर में घुसते ही जैसे पत्नी ने बम पटक दिया, "कई बार शिवपूजन जी आपको तलाश करते हुए आये."

"शिवपूजन ? मुझे खोज रहे थे ?"

"जी हाँ."

"क्यों ? मुझे क्यों ?"

"पता नहीं—लेकिन कई बार आ चुके हैं, जाकर मिल लीजिये."

"मैं क्या करूँगा मिलकर ? फिर कोई पागल कुछ न कुछ कह देगा."

अचानक उसे वाक्य याद आ गया, 'साला मतुल्ला है.'

"क्यों किसी ने कुछ कहा क्या ?"

"नहीं...मतलब नारा-वारा," अब वह पत्नी से इतना बखान कहाँ करता.

"नारा ? कोई ज़रूरी है कि आप ही को सुनाने के लिए हो. वैसे बहुत देर से कोई नारा भी सुनाई नहीं दिया. और फिर एक दो दिन का मामला नहीं. हमें भी तो यहीं रहना है. जाकर मिल लीजिए. दरिया में रहकर..."

वह एक दुविधा की स्थिति में घर से निकला और शिवपूजन के घर की ओर बढ़ गया.

"अरे" उसकी आँखें अचरज से फटी की फटी रह गयीं. ऑफिस से वापसी पर वह अपने ही ख़यालों में ऐसा गुम रहा कि शिवपूजन के घर की ओर ध्यान ही नहीं गया. वहाँ तो परिदृश्य ही दूसरा था. मंडप हट चुका था. भीड़ लगभग समाप्त हो चुकी थी. भजन भी बंद

हो चुका था. उसके पुकारते ही शिवपूजन हड़बड़ाकर बाहर निकले.

"अरे, सलामत भाई, आप ? मैं आपको कई बार खोज चुका."

"क्या बात है ?"

"आइये-आइये न" वह उसे लिये बैठक में चले गये. "'बुधना ...चाय ले आरे." उन्होंने नौकर को आवाज़ दी.

"देखिये ऐसा है कि..." थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करके वह वास्तविक मद्दे पर आ ही गये. "मैंने आपको बताया ही था कि मैं बाहर गया था फिर ऑफिस में भी आपको मालूम हो ही गया होगा. यह तो आस्था का मामला था. सलामत भाई. आप कुछ ख़याल मत कीजियेगा आप देख ही रहे थे कितनी भीड़ थी. मगर आज सूचना मिली है..." थोड़ा ठहरकर बोले, "असल में दिल्ली और यहाँ दोनों जगह तो हम लोगों की विरोधी पार्टियाँ हैं. तो अब इसी को बहाना बनाकर धड़-पकड़ हो रही है. थाने से दरोग़ा जी ख़बर भिजवाये हैं कि ऊपर का आदेश है...पालन करना ही होगा, आज किसी समय छापा पड़ सकता है....अब इसे कहाँ ले जाऊँ ?"

उसने बड़ी हैरत से शिवपूजन को देखा...स्वतन्त्रता सेनानी...धर्म संघर्ष का अंग ? धार्मिक ? वह शिवपूजन को एक टक ताकता रहा. और वह बोलते रहे, "रमेश जी, हज़ारी प्रसाद अग्रवाल साहब सबने इनकार कर दिया. और बात भी ठीक है मेरे बाद इन लोगों के घरों की भी तलाशी हो सकती है. ऐसे में अब ले देकर आप ही बच जाते हैं, जहाँ तलाशी का चान्स नहीं. कृपा करके इसको आप अपने यहाँ रख लीजिए. मैंने सोचा मगर इधर-उधर फेंकने की हिम्मत नहीं हुई. श्री नारायण बता रहे थे कि सी. आई डी. वाले घूम रहे हैं." और फिर इतना कहकर वह रुके, सलामतुल्लाह को देखा और धीरे से बोले, "यह तो आपके लिए भी उनती ही महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी है."

सलामतुल्लाह को हँसी आ गयी. इस नॉनसेन्स में अब क्या सेन्स तलाश किया जाये.

मगर फिर अचानक गुलज़ार याद आ गये—यह ज़िन्दा बूँद है बेटी, दहेज़ माँगेगी...उसे लगा दहेज़ देने का समय आ गया. एक बार फिर पत्रिका से चित्र निकलकर उसके सामने आ खड़ा हुआ. उसका पूरा अपना आप आग में झुलस रहा था—और शोले साँप की जीभ की तरह लपलपा रहे थे. लाखों में एक बेकस-ो दिलगीर हाय-हाय उसे लगा वह पुकार रही है...'सलामतुल्लाह...सलामतुल्लाह...' अच्छा यह तो बताइए यह किस भाग की है ?" अचानक सलामतुल्लाह ने एक बहुत ही महत्त्वहीन प्रश्न कर डाला.

"यह ? यह नींव की है. ऊपर का तो अधिकांश भाग बरबाद ही हो चुका." शिवपूजन ने बिना झिझके बड़ी सफाई से जवाब दिया. मगर जब वह उसे लिये हुए अपने घर पहुँचा तो पत्नी बिल्कुल बिदक गयी और सिंहनी की तरह जैसे उस पर झपट पड़ी. आपकी अक्ल मारी गयी है क्या ? कल से इसी को लेकर इतना परेशान थे और आज इसी को घर उठा लाये ?"

"यह बहरहाल अपनी चीज़ है." सलामतुल्लाह ने समझाना चाहा.

"अपनी चीज़ ?" बीवी गुस्से में नाच-नाच गयी. "किसी को नासूर या फोड़ा हो जाये तो वह भी उसकी अपनी चीज़ होती है. तो क्या वह उसे सेंत-सेंत कर अपने पास रखे रहता है ?"

"लाहौल वलाक़ुवत" सलामतुल्लाह बिगड़ उठा, "क्या बेहूदा बातें करती हो ? कहाँ नासूर ? कहाँ यह ! अरे इसकी हिफाज़त करना और इसे बचाना हमारा फ़र्ज़ है."

"अच्छा अब्बा एक बात बताइए." अचानक कॉलेज में पढ़ने वाला बेटा बोल पड़ा. आप ही ने बताया था कि वाजिद अली शाह के वक़्त से यह हमारे लिए मसला बनी हुई है, जो फिर एक ऐसी चीज़ जो हर वक़्त में हर आदमी के लिए मसला बनी रही, हद यह है कि अब शिवपूजन चाचा के लिए भी समस्या बन गयी, उसे अपने सर मढ़ लेना कहाँ की अक्लमन्दी है ? सलामतुल्लाह ने आँखें फाड़कर सामने देखा...वहाँ उसका बेटा ही था मगर धुन्ध गहरी थी इसलिए पहचानना कठिन हो रहा था.

फिर पत्नी की आवाज़ सुनायी दी, "कोर्ट, कचहरी, थाना...इनका कोई ठिकाना ! कहीं यह शिवपूजन के घर जाते जाते हमारी तरफ़ मुड़ गये तो ? ना बाबा ना...पत्नी बिल्कुल मरने-मारने पर तुली हुई थी.

"देखो तुम लोग समझने की कोशिश करो." सलामतुल्लाह को लगा कि अब वह अपने घर में भी एक हारी हुई जंग लड़ रहा है. "अरे जाइए-जाइए" पत्नी गुस्से में हाथ नचाते हुए बोली, "किसी और को जाकर समझाइए और इससे पहले खुद समझने की कोशिश कीजिये. दिल्ली में बैठे सूरमा तो इस आग में घबराकर भाग खड़े हुए. हम लाचार लोग किस गिनती में हैं ?"

यह बात सलामतुल्लाह के जी को भी लग गयी. सचमुच जब आग लगी तो दिल्ली में बैठे सूरमा भी तो केवल दूर-दूर ही से आग-आग का शोर मचाते रहे. मगर भाग्य का लिखा कौन टाल सकता है. जब वह बाहर आया तो देखा कि शिवपूजन के घरवाले कहीं जा रहे हैं.

"कहाँ जा रहे हो ?" उसने शिवपूजन के लड़के से पूछा जो घर में ताला लगा रहा था.

"जी हम लोग मौसी के यहाँ काशी जा रहे हैं."

"और शिवपूजन जी ?"

वह पहले ही स्टेशन जा चुके. इतना कहते हुए लड़का भी रिक्शे पर बैठ गया.

शायद पिता के निर्देशानुसार वह भी अधिक बात नहीं करना चाह रहा था. शिवपूजन की कार्य विधि सलामतुल्लाह की समझ में आ गयी. बाल-बच्चों वाला आदमी डर के भाग नहीं तो और क्या करे.

मगर असल समस्या यह नहीं है. शिवपूजन तो गया से निकलता है और काशी चला जाता है. और चाहेगा तो काशी से अपने मामा के घर मथुरा चला जायेगा लेकिन सलामतुल्लाह क्या करे जिसको शिवपूजन ने जबरदस्ती नींव की ईंट सौंप दी है. ◙

हुसैन उल हक़

जन्म : 1 दिसम्बर 1949

शिक्षा : एम. ए., पी-एच. डी.

सम्प्रति : मगध विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत

पहली कहानी : 'पसन्द' (1965) उर्दू मासिक 'जमीला' (दिल्ली) में प्रकाशित हुई.

कृतियाँ : 'पसे पर्दा-ए-शब', 'सूरते-हाल', 'घने जंगलों में', 'मतला', 'सूई की नोक पर रूका लम्हा' (कहानी-संग्रह); 'बोलो मत चुप रहो', 'फुरात' (उपन्यास) इनके अतिरिक्त साहित्यिक समस्याओं पर सौ आलोचनात्मक लेख छप चुके हैं. कई पुस्तकों पर उर्दू एकेडमियों से पुरस्कार.

सम्पर्क : सर सय्यद कॉलोनी, न्यू करीम गंज, गया (विहार)

◆ कहानी ◆

खुजली

●

आसिफ़ फ़र्रुख़ी

जिन लोगों के हाथ पाँव टूटे हुए हैं उनको ग़ौर से देखना और उनके शारीरिक-दोष की तफ़सीलात ज़हन में बिठा लेना उसकी ख़ास आदत बन चुकी थी.

टुंडे, लुंजे, लूले, लँगड़े. अब तो उसने ऐबदार लोगों का अच्छा ख़ासा भंडार जमा कर लिया था.

अक़सर वह उनको लेकर बैठता था. रात गये या शाम पड़े, दिन के इन ख़ाली, उकताए और बे-मसरफ़ हुए लम्हों में शदीद मसरूफ़ियत से चुराये हुए बेशक़ीमती और इन्तिहाई ज़ाती लम्हों में जो यूँ ढेर हो जाते थे जैसे भुनाये हुए नोट से बच जाने वाली रेज़गारी. वह लकड़ी की मसहरी से टेक लगाकर बैठता और उन्हें सामने फैला लेता. यानी उन दिनों जब वह ऐसे काम करने के क़ाबिल था और एक-एक करके देखता जाता. आँखों के सामने लाता खुदो-खाल और नक़्श (मुखाकृति) की तफ़सीलात को, बार-बार देखे जाने वाले नक़्शे की तरह दुहराता. फिर वापस रख देता जैसे अलबम के ख़ाली पन्नों पर फोटोग्राफ़ रख दी जाती हैं. एक साफ़ और सफ़ेद हाशिये के अन्दर और कितने ढेर सारे थे वे जो उसने गलियों मुहल्लों, शहर की सड़कों से चुन-चुनकर मुँहताजी के इस मरक चित्रावली में रख लिये थे. सारे पन्ने और शामें भरी हुई थीं अपाहिजों से.

और जैसे उसका ज़हन खुले पन्नों वाला अलबम था कि पिछले पन्ने भर जाने पर रिंग बाइंडर खुल जाता और नये पन्ने लगा दिये जाते. नये और ख़ाली पन्ने फिर इन पन्नों के लिए तलाश, पहले से न देखे हुए लोग जिनके हाथ या पैर में कोई दोष हो या पिछलों के शारीरिक दोषों की कोई नयी तफ़सील या अन्दाज़ जो ज़हन में सुरक्षित होने से रह गया हो. फिर किसी अगली शाम को उसे लेकर बैठता और उसके शारीरिक दोष को जिसे उँगलियों से नहीं तो आँखों से छूकर देखना और अपने ऊपर तारी करना कि उसकी होनी कैसी होगी. हाथ-पाँव टूटे की होनी !

मजबूर, समझौते की मारी और लाचार होनी खुजलाती हुई और हाथों से पाँवों का काम लेने वाली होनी और करनी !

शाम होगी और दिल के मेहमान आयेंगे इसकी तैयारी पूरी रहती. उचक-उचककर चलते हुए एक टाँग के बल या घिसटते हुए क़मीज़ की एक ख़ाली आस्तीन को पीठ के पीछे घूमाते हुए, मैले और ठुकराये हुए कटे-फटे बदन, शर्मिंदा और उजाड़ आत्माएँ. वह जैसे उन सबके लिए ठिया-ठिकाना था. जिसका जी चाहे बैसाखी से खट-खट करता, बहुत दिन पहले से नहाये हुए और पसीने की खट्टी बू देते हुए शरीर को खुजाता हुआ चला आये.

उन्हें आने में हिचकिचाहट होती थी, मगर वह तो ख़ुद बुलाता था. जिसकी तफ़सील ज़हन में मिटने लगती और तलब करने पर पूरी वज़ाहत (स्पष्टता) के साथ न आती, तो वह उसको जाकर ढूँढ़ता, एक बार फिर उसके ऐब के बारे में जानकारियाँ हासिल करता और उसका नक़्श लेकर घर लौट आता.

फिर किसी लँगड़ी लूली शाम को उन्हें बुलाता.

लँगड़ों में लँगड़े हैं यह. जिसकी एक टांग छोटी उसका भी बड़ा काम है, वह उनकी याद को अलबम के पन्ने की तरह सामने खोले हुए सन्तुष्ट होकर गुनगुनाने लगता. जो लंगड़ा उसे सबसे अच्छी तरह याद था उसे रीगल चौक पर देखा था. वह रुकने वाली गाड़ियों से भीख माँगा करता था. यह उस वक़्त की बात है जब वहाँ ख़रीदारी, घूमने-फिरने वालों की भीड़ रहती या अब वह भीड़ छट गयी कि जो रीगल चौक पर राजनैतिक प्रदर्शन आये दिन होने लगे हैं. ख़रीदार भी छट गये और उनसे भीख माँगने वाले भी. ख़ुदा जाने वह लँगड़ा फ़कीर कहाँ गया. अब भी अच्छी तरह याद था कि उसकी एक टांग कटी हुई थी और वह एक लाठी के सहारे यूँ चलता था कि जो टांग ठीक थी उसका पाँव उठाकर लाठी पर आधा झूल जाता, तब दूसरा क़दम उठाता. उसका रंग जी भर के काला था और कई-कई दिन दाढ़ी बढ़ी रहने के कारण मटमैली खूँटियाँ उसकी शक्ल का स्थायी हिस्सा मालूम होती थी. टीन का प्याला उसके हाथ में रहता था लेकिन वह आवाज़ नहीं लगाता था.

उसकी जो टांग कटी हुई थी उसका कटा हुआ ठूँठ फड़फड़ाते हुए पाँयचे में से झलकता था कि रान के बीच में से घुटने से बालिश्त भर ऊपर से ग़ायब है.

"यही टांग कटाकर आये थे," उसने चाय की एक प्याली को तश्तरी में उँडेलकर पी लेने और सिगरेट की दो डिब्बियों को नेफ़े में उड़सने के बाद ज़बान खोली थी. "हिन्दुस्तान पाकिस्तान हो रहा था. हम यहाँ आ रहे थे, रेल पर हमला हुआ. घर वाले कट मरे या ख़ुदा जाने क्या हुआ. मैं लड़का ही था, पटरी पर गिर गया. वे टांग से पकड़कर घसीटने लगे. मारने वाले का हाथ ओछा पड़ा. जान बच गयी, टांग कट गयी. होश आया तो अस्पताल में पड़ा था. लाहौर से रेलों में भीख माँगता हुआ कराची आ गया."

उसने बहुत सँभल के, जिस तरह काँच के बर्तन को उठाते हैं, उस लँगड़े को उठाया और रीगल चौक पर वापस रख दिया.

उस लँगड़े के बाद आज और कौन है, उसने आज जायज़ा लिया. थोड़ी देर के लिए वह उस कोढ़ी पर ठिठका जिसे जिन्नाह अस्पताल के चमड़ी वार्ड के ओ. पी. डी. में देखा था. खुजली पर लगाने के लिए लोशन लेने गया था. उस वक़्त खुजली क़ाबिले इलाज मालूम होती थी. उसके दोनों हाथों की उँगलियाँ गलकर झड़ चुकी थीं और बैठकर, सीधे पाँव के अँगूठे और पहली उँगली में निवाला फँसाकर खाता और अँगूठे को टेढ़ा करके, प्याली का कुंडा उसमें अटकाकर चाय की प्याली मुँह तक ले जाता, "मैं दवा भी इस तरह खा लेता हूँ. प्रैक्टिस कर ली है," उसने बताया था एक विचित्र व्यंग्यात्मक हँसी के अन्दाज़ में उसके दाँत निकल पड़े थे. इसी कारण से आज उसको पुकारते-पुकारते छोड़ दिया. एक हूक सी उठी फ़ौज के उस सिपाही के लिए जिसके एक हाथ की उँगलियाँ नहीं थीं और जिसे रिटायर

लोगों के पेंशन वसूल करने के दफ़्तर में लाइन लगाये हुए अपनी बारी आने के इन्तज़ार में खड़े हुए देखा था. उसका चेहरा ताज़ा था और कपड़े साफ़-सुथरे थे. क़मीज़ में से झलकने वाले हाथ का रंग गोरा था और नर्म, काले बालों से ढका हुआ था. उसका शारीरिक दोष नज़रों से बिलकुल चूक जाता अगर उसे उल्टे हाथ से हस्ताक्षर करते हुए न देख लिया होता. उसे उल्टे हाथ से काम करते हुए निस्सन्देह कई वर्ष हो गये थे. मगर उसका तौर अब भी अप्राकृतिक मालूम होता था.

"यह बारूद से उड़ा है", उसको बातों में लगाना इतना आसान नहीं था. और इस तरह के लोगों की सहानुभूति न होती तो वह उस सिपाही से शायद न मनवा सकता कि यह 1971 के युद्ध की घटना है. "मैंने उसे खेत में पड़े हुए देखा था, मिट्टी में धँसा हुआ, और छुआ ही था कि हथगोला फट गया. घरेलू बनाया हुआ था. इसलिए पूरी ताक़त से नहीं फट सका अन्यथा मेरे ही टुकड़े हो जाते. उँगलियाँ उसी खेत में जाकर गिरीं."

उसकी पीठ में सनसनाहट होने लगी. क्या उन उँगलियों को खेत में ढूँढ़ा जा सकता है ? भक से उड़ जाने के बाद किसे कष्ट हुआ होगा ! कटी हुई उँगलियों को या हाथ को या दोनों को अपनी-अपनी जगह ? उसके ध्यान में अपनी उँगलियाँ आ गयीं. सीधे हाथ की पहली उँगली के अन्दरूनी हिस्से और उससे मिली हुई दूसरी उँगली पर छाले निकले हुए थे. उनमें से पतला-पतला पानी रिस रहा था और लगातार खुजली हुए जा रही थी. दूसरे हाथ से खुजाया तो वहाँ से मुर्दा खाल का सफ़ेद बक्कल उतरने लगा. खुजाने के दौरान वह सिपाही वहाँ से जा चुका था. दफ़्तर के क्लर्क ने उसके घर का पता बताने से इनकार कर दिया और हथेली खुजाता रह गया.

बहुत ढूँढ़ा मगर वह सिपाही दुबारा दिखाई नहीं दिया, उसकी उँगलियों के हथेली की तरफ़ वाले अन्दरूनी हिस्से पर लाल-लाल चित्तियाँ पड़ने लगीं.

वह सिपाही अपने चेहरे की ताज़गी के कारण याद रह गया. शारीरिक दोष के कारण नहीं. उस अचानक एहसास ने सुन्न कर दिया. बहुत तेज़ नफ़रत का एहसास दिल की गहराइयों से उठता हुआ महसूस हुआ. थक चुका है वह उनकी हाथ-पाँव गली हुई ज़िन्दगियों से. ज़िन्दगी का सारा रस उसके अन्दर सुखा डाला है इन टुंड-मुंड शरीरों ने. मैं कोई आज़ादी का तराशा हुआ बुत हूँ जो उनके लिए मशाल उठाये खड़ा रहूँ कि अपने थके-हारे और टूटे-फूटे वजूद मेरे हवाले कर दो और ख़ुद खड़े-खड़े पथरा जाऊँ. जितने चेहरे उसके दामन में थे उन सबके लिए नफ़रत से भर गया वह.

आज नया चेहरा चाहिए मुझे, उसने तय किया.

और इस तलाश में निकल खड़ा हुआ वह. कोई तरो-ताज़ा चेहरा, स्वस्थ बदन जिससे आँखों को तरावट और दिल को राहत मिले.

यूँ ही चक्कर काटता रहा. बहुत देर तक वह हैदरी नर्सरी, तारिक़ रोड अलफिंस्टन स्ट्रीट, फिर तीन तलवारों की चौरंगी से गुज़रकर क्लिफ़टन चला गया कि शहर के उजले-उजले चेहरे यहाँ आँखें सेंकने को मिलेंगे.

दिन भर की घुटन के बाद वह शाम हुई थी और समन्दर के रूख़ से भीगी हुई, ठंडी हवा चलने लगी थी. दुकानों में बत्तियाँ अभी जली नहीं थीं. बड़ी सड़क के पास सर्विस लेन्ज़ में पार्क की हुई गाड़ियों की संख्या बढ़ती जा रही थी. एक चैन व सुकून से सरशार भीड़ थी जो दुकानों में सजे हुए सामान के सामने से गुज़र रही थी. फ़ास्ट-फ़ूड की कुर्सी-मेज़ों पर रुक रही थी. वे सब उसे कितने नौजवान और जोश से भरे दिखायी दे रहे थे और ठीक-ठाक दिखाई दे रहे थे. और पूरे के पूरे अपने बदन में पूरे हाथ-पाँव के पूरे...!

इसी भीड़ में वह लड़की भी नज़र आयी थी. उसका चेहरा भड़कदार तो न था. मगर तरो-ताज़ा था. एक दुकान से निकलकर दूसरी दुकान में जाती हुई नज़र आयी. माथे पर गिरने वाले खुले बालों को उल्टे हाथ से उसने पीछे किया तो तलाश करते हुए क़दम जैसे वहीं जम गये, फिर उस लड़की के पीछे चल दिये. उसका रंग न ज़्यादा साफ़ था न गहरा. नौजवानी की कच्ची-कच्ची ताज़गी फूटे पड़ रही थी. हल्की-हल्की मुस्कुराहट होंठों पर खेल रही थी. आँखों में एक धीमी-सी मुस्कुराती हुई रौशनी थी. उसके साथ और भी लड़कियाँ थीं जो आइसक्रीम की दुकान के सामने रुक गयीं. दुकान वाले ने तुरन्त कोन मशीन के सामने कर दिया और मशीन के मुँह से गाढ़े दूध ऐसी लहरियेदार आइसक्रीम निकलने लगी. लड़की ने बारीक झिल्ली जैसी नेपकिन में लपेटकर बड़ी कोमलता से आइसक्रीम को सँभाला और होंठ हल्के से खोलकर खाने लगी. वह अपनी निगाहें वहाँ से हटा न सका. हल्की-सी उलझन भी हुई कि आइसक्रीम हाथ में क्यों पकड़े हुए है, मगर वह उस पर नज़र जमाये रहा कि क्रीम की सफ़ेद तह उसके होंठों पर जम जाती और वह नन्ही सी ज़बान निकालकर उसे साफ़ कर डालती. शायद अपने ऊपर जमी हुई भूखी आँखों का एहसास होने लगा था उसे, जो वह बार-बार उधर देख रही थी. अपने साथ वाली लड़कियों से कुछ कह रही थी और पर्स उठाकर चलने लगी तो आइसक्रीम को ठेस लगी और सफ़ेद कोन बिखरने ही वाला था कि लड़की ने दूसरे हाथ से उसे सँभाल लिया. एक पल में उसने देख लिया कि लड़की उल्टे हाथ से सारे काम क्यों कर रही है और उस हाथ को पीछे क्यों रखा हुआ है. आइसक्रीम उल्टे हाथ में लेकर लड़की ने सीधा हाथ पीछे कर लिया और वहाँ से चल पड़ी. मगर वह खड़े का खड़ा रहा. यह नहीं कि उस लड़की का हाथ नहीं था या उसके हाथ में किसी हिस्से की कमी थी. बनावट के अनुसार वह हाथ पूरा था.

मगर छोटा था. ऐसा हाथ जो जन्म से पूरा नहीं बढ़ पाता. उसके पूरे शरीर के हिसाब से छोटा रह गया था वह हाथ, और कुछ शर्मिन्दा-शर्मिन्दा सा लटका हुआ था उसके कन्धे से वह निकम्मा और लटका हुआ हाथ.

दुपट्टा कन्धे से लटकाकर लड़की ने हाथ को यूँ अपने साथ रखा हुआ था कि उसका दोष तुरन्त नज़र नहीं आता था. एक बेकार हाथ और तरो-ताज़ा बदन वाली लड़की को भीड़ में गुम होते देखता रहा वह.

क्या इस हाथ में छुअन का एहसास होता होगा ! क्या उसने अपने को आदी बना लिया होगा कि दोनों हाथों की पहुँच बराबर नहीं है ? उसके बाक़ी शरीर की तुलना में उसके हाथ की बनावट की क्या उम्र होगी ? उम्र की किस मंज़िल पर पहुँचकर उसकी बढ़त रुक गयी होगी और क्यों ? वह इन सारे सवालों से चौंका तो एहसास हुआ कि उसके हाथ में खुजली हुए जा रही है.

उसने दूसरे हाथ के नाखूनों से खुजाया और खुजली वाले हाथ का रंग लाल होते देखता रहा. खुजाते-खुजाते मिर्चें जो लग रही थीं, वहाँ से ख़ून निकल आया, मगर खुजली में कमी नहीं हुई.

हथेली की तरफ़, उँगलियों का अन्दरूनी हिस्सा, जहाँ से वह पाँचों टहनी की तरह जुड़ी हुई थीं, वहाँ से खाल मोटी पड़ गयी जैसे बार-बार छिल चुकी हो. उसमें से पानी निकलने लगता और पेड़ की कच्ची छाल जैसे सफ़ेद पपड़ी उतरने लगती, अन्दर से कच्ची और लाल-लाल, अधबुनी सी खाल निकल आती जिसमें मिर्चें लगतीं और खुजली हुए जाती, तेज़ खुजली ...न रुकने वाली खुजली. एक हाथ दूसरे हाथ को खुजा-खुजाकर शिल हो जाता. उँगलियाँ निढाल हुए जातीं मगर खाल की टपकती हुई बेचैनी कम न होती जैसे उनके अन्दर आग भड़क रही हो.

दवाएँ बहुत इस्तेमाल कर करके देख ली. "एक्ज़ीमा की एक क़िस्म है यह", डॉक्टर ने उसे बताया था. "यह ट्यूब वाला मरहम लगाते रहिए, आराम आ जायेगा." पहले दो-चार दिन तो ज़रा देर मरहम लगाने से रुकी रही लेकिन फिर लौट आयी यह खुजली, और खाल के अन्दर आग सी लगाये रहती, नोच-नोचकर वह दीवाना हुआ जा रहा था और नाखूनों की ख़राश से ज़ख़्म पड़ रहे थे उँगलियों पर.

ख़राशें डालते-डालते शाम हो गयी, खुजली की शाम ? आज वह मेहमानों की आव-भगत करने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था. दिल का दरवाज़ा बन्द था और आँखों पर ताला लटक रहा था. फिर भी न जाने कहाँ से आ गयी वह. दुपट्टे में लपेटकर छोटा हाथ छिपाये हुए और दूसरे हाथ से माथे पर गिरने वाले बाल को सँभालती हुई बारीक, सफ़ेद नेपकिन से अपने होंठ पोंछती हुई, लहराती हुई उसके सामने आन खड़ी हो गयी. उसने ज़बान से एक शब्द न कहा, न उसके चेहरे पर तकती हुई नज़रों को नीचे किया बल्कि ठीक उसके सामने पहुँचकर बाज़ू पर लिपटी हुई दुपट्टे को खोलने लगी जैसे किसी पार्टी में पहुँचकर मेहमान को दिया हुआ तोहफा खोला जाता है. यह उसका वही हाथ था जो बढ़ने से रह गया था. वह हाथ ज़िन्दा और साँस लेता हुआ वजूद था. कोहनी के सामने वाले हिस्से में गढ़ा सा था जिसमें नीली रगें उभरी हुई थीं. ऊपर वाला हिस्सा बराबर था, बालों से वंचित और कहीं-कहीं से उभरी हुई रगों की शृंखला. हथेली प्याला सा बनी हुई थी और उँगलियाँ पूरी थीं. प्लास्टिक की गुड़िया के हाथ की तरह एक ख़ास अन्दाज़ में ठहरी हुई थी. वह उँगलियाँ जैसे कुछ पकड़ने के लिए खुली हों.

दुपट्टे में लिपटा वह हाथ अब उसके सामने रखा हुआ था.

तब उसकी समझ में आ गया था कि वह उँगलियाँ क्या पकड़ने के लिए उठी हुई हैं. वह हाथ पूरा होते हुए भी क्यों छोटा रह गया. उसकी खुजली का इलाज क्या है.

आसिफ़ फर्रुख़ी

जन्म : 1959, कराची (पाकिस्तान)
कृतियाँ : 'इन्टरव्यूज़', 'हर्फ़े मनो-तू', 'हर्फ़े नागुफ़्ता', 'मैं शाख़ से क्यूँ टूटा', 'बातिना' (कहानी संग्रह)

अपनी होनी और करनी उसकी समझ में आ गयी.

उसने चाकू उठाया और खुजलाने वाली उँगलियों को काटकर रख दिया.

जहाँ-जहाँ से खुजली नहीं थमती थी वहाँ से ख़ून बहने लगा. कच्ची सब्ज़ी की तरह कट जाने वाली उँगलियाँ उसने अपने दूसरे हाथ से समेटकर उस छोटे हाथ की प्याला बनी हुई हथेली पर रख दीं. "यह उँगलियाँ यूसुफ (एक पैग़म्बर, जो बेहद सुन्दर थे, इतने सुन्दर कि कुछ औरतों ने उन्हें देखकर हैरत से अपनी उँगलियाँ काट लीं, और उन्हें एहसास भी ना हुआ.) वालियाँ हैं." उसने नफ़रत से होंठ सिकोड़कर कहा और दूसरे हाथ से दीवार का सहारा लेने लगा, मगर दीवार हाथ की पकड़ से फिसल गयी और वह फ़र्श पर ढेर हो गया.

उसके बाद उसके साथ क्या गुज़री, यह उसे मालूम नहीं. आँख खुली तो देखा अनजानी दीवारें चारों तरफ़ हैं. वह बिस्तर पर पड़ा हुआ है, उसके कपड़े उतरवाकर धारीदार और ढीला लिबास पहना दिया गया है, पलंग लोहे का है और उसके बराबर उसी तरह की छोटी अलमारी है जिस पर दवाओं की शीशियाँ रखी हुई हैं. उसे किसी ने अस्पताल पहुँचा दिया होगा. घर में तो उस वक़्त शायद कोई और नहीं था, यहाँ लाने वाला कौन हो सकता है ? कहीं वही लड़की तो नहीं जिसका हाथ...और फिर वही बहुत जानी-पहचानी और सहमा देने वाली आग...फिर वही खुजली !

उसने घबराकर उँगलियों की तरफ़ देखा. जहाँ से उसने उसे काट दिया था. वहाँ टूटी हुई टहनियों जैसी उँगलियों पर सफ़ेद पट्टियाँ बँधी हुई थीं.

सभी उँगलियों को लपेटती हुई एक बड़ी सी पट्टी हाथ तक बँधी हुई थी. हाथ एक जगह ठहरा था और उसका इतना बोझ था कि उसे हिलाना भी मुश्किल था. जिस जगह उँगलियाँ सिरे से रह ही नहीं गयीं, वहाँ हरकत का एहसास क्यों हो रहा है ? उसने सफ़ेद कोट पहने हुए डॉक्टर से पूछा, जो लोहे के उस पलंग के पायेंती खड़ा हुआ था.

"ऐसा हो जाता है." डॉक्टर ने उसे तसल्ली देनी चाही. "इसे फंटम रिफ़्लेक्स कहते हैं. कटे हुए हिस्से की जगह शरीर में एक एहसास कुछ समय तक बाक़ी रहता है. असल में, आप एम्पटेशन के सदमे से गुज़र रहे हैं, उसकी वजह से..."

डॉक्टर की आवाज़ खोखली पड़ने लगी. बँधा हुआ और भारी हाथ उस तक पहुँचने योग्य नहीं था और वहाँ बेतहाशा खुजली हुए जा रही थी. ऐसा लग रहा था कि अब उन्हें खुजाया तो खाल फट पड़ेगी.

"जब मेरी उँगलियाँ कट चुकी हैं तो इनमें खुजली क्यों हुए जा रही है ?" उसने चीखकर कहा. डॉक्टर उसके बिस्तर के सामने, सफ़ेद कोट की जेबों में हाथ डाले चुपचाप खड़ा था. डॉक्टर की तरफ़ से कोई जवाब नहीं आया, तो उसने तकिए में मुँह छिपा लिया और फूट-फूटकर रोने लगा. ◼

◆ कहानी ◆

डूंगरवाड़ी के गिद्ध

अली इमाम नक़वी

इस अनहोनी पर दोनों ही हैरान रह गये. ग़ैर-इरादी तौर पर उन्होंने स्ट्रेचर जमीन पर रखा. हैरत से लाश को देखा, फिर एक-दूसरे को. आँखों ही आँखों में एक दूसरे से बहुत से सवालात किये. काफी देर तक उनकी आँखों के ढेले घूमते रहे और जब वे थमे तो अनजाने ही दोनों के कन्धे उचके. अचानक दोनों ने गले की रगों पर ज़ोर देकर जबड़ों को दायें-बायें खींचा और फिर उनकी नज़रों ने डूंगरवाड़ी (पारसी श्मशान) के घने दरख़्तों की परिक्रमा की.

दूर-दूर तक एक भी गिद्ध का पता नहीं था—और यह बिलकुल पहली बार हुआ था. दो घंटे पहले इत्तिलाई घंटी बजी थी. पन्द्रह मिनट बाद ही डूंगर बगली (मैयत को नहलाने-कफ़नाने की जगह) नम्बर दो के खुद्दाम (सेवादार) लाश उन दोनों के सुपुर्द कर रहे थे. लाश को बावली की हद में लेने के बाद दोनों ने किवाड़ बंद किये थे फिर दरवाज़े की खिड़की खोलकर आने वालों से मरने वालों के सगे-सम्बन्धियों की बाबत मालूम करने के बाद फ़िरोज़ भाटीना ने पूछा था, "साब लोग बख़्शीश आप्या... ?"

जवाब में खुद्दाम ने मुस्कुराते हुए दस-दस के दो नोट भाटीना की तरफ बढ़ा दिये थे. उसने एक नोट डगले की जेब में डाला और दूसरा अपने साथी हुर्मुज़ की तरफ बढ़ाते हुए खिड़की बन्द कर दी.

"ए खुदा..." हुर्मुज़ ने सर उठाकर ऊँचे-ऊँचे दरख़्तों की घनी शाखों से झाँकते आसमान की तरफ देखा फिर आँखों से भाटीना को इशारा किया. दोनों झुके, स्ट्रेचर उठाया और बावली की तरफ़ चल पड़े.

"फिरोज़" चलते-चलते हुर्मुज़ अपने साथी से मुखातिब हुआ.

"बोल !"

"अपन कब तलक....ये काम करेंगा ?"

"चल-चल, मगज ना दही कर, चल-चल."

"यार, अपन का वास्ते यही काम रह गयेला है ?"

"सूँ विचार छे ?" (क्या विचार है ?)

"कुछ पन नथी. हूँ खाली पूछूँ छयूँ." (कुछ नहीं. मैं सिर्फ पूछ रहा हूँ)

"आनेस्ट ?"

"कसम ज़रतुश्त की." उसने आसमान की तरफ़ सर उठाकर कसम खायी. दो पल दोनों ख़ामोश रहे. फिर भाटीना बोला, "देख हुर्मुज़, पारसी पंचायत अपुन को पाला. आपरो नसीब सालो खोटो हतो. (अपना नसीब साला खोटा था.) समझा क्या...अभी तू बता."

"एकच स्टोरी छे बप्पा...कुछ जास्ती फ़र्क़ नहीं. पर सच्ची बोलूँ—अभी अपुन कंटाल गया. एकदम साला कंटाल गया."

और फिर उनकी बातों का सिलसिला अधूरा रह गया था. बावली आ गयी थी. हुर्मुज़ के पैर की एक ही ठोकर से बावली का दरवाज़ा खुल गया था और दूसरे ही पल दोनों लाश के सिरहाने और पाँयती

खड़े थे. दही में लिपा लाश का चेहरा बिलकुल सफ़ेद था. हुर्मुज़ ने लाश का सिरहाना ज़रा-सा ऊँचा किया. भाटीना ने कफ़न खींच लिया. फिर बारी-बारी दोनों ने लाश के पैर छुए, हाथों को आँखों और सीने से लगाया और खड़े हो गये. गुप्तांगों को छिपाने के लिए बस एक रूमाल कस्ती से लाश की कमर पर बाँध दिया गया था, जिसे उन्होंने ज्यों का त्यों रहने दिया. और फिर वे दोनों लौट गये थे. अपने कमरे में पहुँचकर दोनों मेज के आसपास पड़ी कुर्सियों पर बैठ गये थे. थोड़ी देर बाद हुर्मुज़ ने शराब की बोतल मेज पर रख ली थी और दोनों अपना-अपना गिलास भर रहे थे. चकली का एक टुकड़ा मुँह में रखने के बाद फिरोज़ भाटीना बोला, "हुर्मुज़."

"बोल."

"सूँ लाइफ."

"केम थया ?" (क्या हुआ ?)

"बगली...एक...दो...तीन...चार...बेल...साला...और..."

"और ?"

"हाँ और."

"और क्या ?"

"और मय्यतो...मय्यतो... (और मौत...मौत...)

"हूँ समझ्यूँ नथी." (मैं समझा नहीं.)

"जो तो, पारसी ना लाइफ." (देख तो, पारसी की जिन्दगी.)

"लाइफ ?"

"आस्तो." (हाँ.)

"क्या हुआ ?"

"ऐनी जवानी सुपरफास्ट, अने बुढ़ापो मालगाड़ी माफ़िक चले."

"खरद बोले बप्पा, खरद बोले."

"सच्ची, एकदम खरा."

फिर वे दोनों काफी देर तक 'खरद-खरद' की तक़रार करते रहे, पीते रहे; और कुछ देर बाद सुबक रहे थे. कोई घंटे भर बाद फिर घंटी बजी. अब बगली नम्बर चार से लाश आने वाली थी.

"वाह खुदा-ए-ज़रतुश्तन, दारू ना बंदोबस्त केदा." (वाह ज़रतुश्त के खुदा ने शराब का इंतजाम किया.)

"हादड़ी चल, चल."

दोनों बावली के सदर दरवाज़े की तरफ़ बढ़े थे. एक मर्तबा फिर दरवाज़ा खुला था. खाली स्ट्रेचर बाहर रख दिया गया था और कुछ देर बाद बगली नम्बर चार की लाश उनकी सुपुर्दगी में थी. आने वाले खुद्दाम में से एक ने फिर एक मर्तबा दस-दस के दो नोट उनकी तरफ़ बढ़ा दिये थे, जिन्हें इस मर्तबा हुर्मुज़ ने आगे बढ़कर वसूल किया. दरवाज़ा बंद किया गया. स्ट्रेचर उठाया गया और दोनों बाड़ी की तरफ बढ़ने लगे.

"हुर्मुज़."

"बोल."

"एक दिवस आपरो भी एमिच जावनी न." (एक दिन हम भी इसी तरह जायेंगे न.)

चलते-चलते हुर्मुज़ रुक गया. गरदन घुमाकर उसने फिरोज़ भाटीना को देखा, फिर किसी क़दर दुरुस्त लहजे में उससे पूछा, "आ स्वां तमे केम केदा ?" (ये सवाल तुमने क्यों किया ?)

"मरदा तो सब ना पड़शे." (मरना तो सबको पड़ेगा.)

"खराच बोले. पन मारा विचार अमना मरवाना नथी." (सच कहा. लेकिन मेरा विचार अभी मरने का नहीं.)

"विचार ? सूँ कहे बप्पा."

"चुप कर साला. हम लोग एटला लाइफ मा जोया सूँ ? लाश, लाश, लाश, अने पक्षी. जास्ती और जास्ती, वह साला सतारा रोड ना दारू ! नौसादरवाला दारू. दस-दस रुपये का नोट. हूँ पूछूँ...लाइफ ऐनो नाम छे ?" (चुप कर साला. हम लोगों ने इतनी ज़िन्दगी में क्या देखा—लाश, लाश, लाश और गिद्ध. ज्यादा से ज्यादा वह साली सतारा रोड वाली दारू, नौसादर वाली. दस-दस रुपये के नोट. मैं पूछता हूँ—ज़िन्दगी इसी का नाम है ?)

जवाब में फ़िरोज़ कुछ न बोला. वो तो बस हुर्मुज़ को देख रहा था.

"बोल बप्पा, आच छे जीवन ?" (बोल भाई, यही है ज़िन्दगी ?)

"सूँ कहूँ, हूँ तो एटला जानूँ—आवे तो जावा पड़शे. हूँ जाऊँ तो मारा ठिकाना बीजू कोई आवे, तू जाये तो..." (क्या कहूँ, मैं तो इतना जानता हूँ—आयेगी तो जाना पड़ेगा. मैं जाऊँगा तो मेरी जगह कोई और आ जायेगा, तू जायेगा तो...)

"चुप साला भैन...हरामी...डुक्कर." हुर्मुज़ चीख पड़ा था.

"बोम न मार बप्पा, जीवन न बात छोड़. मय्यत हाथ मा छे."

लघुकथा

पाँचवीं दिशा

●

अंजुम उसमानी

एक-एक से पूछते-पूछते जब वह थक गया और कोई जवाब न मिला तो आबादी के बाहर घने और पुराने पीपल के नीचे गिरकर बेहोश हो गया.

वह जब से आया था आबादी के हर आदमी से पूछता फिरता था कि "मैं किस दिशा से आया था ?" पर आबादी के सारे लोग शायद गूँगे थे जबकि उसे यक़ीन था कि बहुत से लोग वह दिशा जानते हैं, लेकिन बताना नहीं चाहते, वह रास्ते पर सिर्फ़ अपना हक़ समझते हैं और अपनी जानकारी के ख़जाने पर अनभिज्ञता के नाग बैठाये हुए हैं.

आख़िर जब वह ख़ामोश मुस्कुराहटों के व्यंग्य से चूर-चूर हो गया तो आबादी से बाहर खड़े घने और पुराने पीपल के तले गिरकर बेहोश हो गया.

बेहोशी के एक दीर्घ काल के बाद उसने आँखें खोलीं तो आबादी का हर आदमी उसके आगे घुटनों के बल झुककर उससे अपनी-अपनी वापसी की दिशा पूछ रहे थे लेकिन उसके होठों पर मुस्कुराहट के काँटे उग आये थे. ■

(चीख ना भाई, ज़िन्दगी की बात छोड़ कि मय्यत हाथ में है.)

और फिर दोनों खामोशी से बावली तक पहुँचे थे. और जब बावली का दरवाज़ा खुला तो.....

इस अनहोनी पर दोनों ही हैरान रह गये. ग़ैर-इरादी तौर पर उन्होंने स्ट्रेचर ज़मीन पर रखा. हैरत से लाश को देखा, फिर एक-दूसरे को. आँखों ही आँखों में दोनों ने एक-दूसरे से सवालात किये. काफी देर तक उनकी आँखों के ढेले घूमते रहे. और जब वो थमे तो अनजाने ही दोनों के कंधे उचके....और फिर उनकी नज़रों ने डूंगरवाड़ी के घने दरख़्तों की परिक्रमा शुरू की. दूर-दूर तक एक भी गिद्ध का पता न था.

और ये बिलकुल पहली मर्तबा हुआ था. गिद्ध ग़ायब थे और लाशें मौजूद. वरना होता तो ये आया था कि लाश पहुँची, हुर्मुज़ और फिरोज़ बावली से लौटे, बीस-पच्चीस मिनटों में लाश गिद्धों के मेदों में मुंतकि़ल हुई. उन्होंने गिद्धों को लौटते देखा तो बावली पर पहुँचकर एसिड से ढाँचे पर छिड़काव किया और ढाँचा पाउडर बनकर बावली की गहराइयों में उतरता चला गया. नीचे, बहुत नीचे–जाने कहाँ. कभी यों भी होता–कोई लाश ही न आती. उस रोज़ गिद्धों की खातिर पंचायत बकरा खरीदकर हुर्मुज़ और भाटीना के सुपुर्द कर देती. कहीं. ऐसा न हो कि गिद्ध मजबूर होकर उड़ जायें. लेकिन ये तो बिलकुल ही अनहोनी बात थी. दोनों फटी-फटी आँखों से एक-दूसरे को देखते रहे. काफी देर इसी आलम में खड़े रहने के बाद उन्होंने दूसरी लाश भी बावली के जाल पर रख दी. फिर एक-दूसरे की तरफ़ सवालिया नज़रों से देखा.

"सूँ विचार छे–कैक़बाद ने कही आऊँ." (क्या ख़याल है–कैक़बाद से कह आऊँ.)

"हाँ, जा."

उसने अपने कमरे में पहुँचकर हंगामी-घंटी के स्विच पर उँगली रख दी. डूंगरवाड़ी के दफ़्तर में दीवार पर लगा हुआ सुर्ख बल्ब जलने-बुझने लगा. क्लर्क हैरान होकर दफ़्तर से निकले. और बल्ब तो बगलियों के भी जलने लगे थे. दस्तूरों ने तिलावत (पाठ) रोक दी. बगलियों में घूमते हुए कुत्ते सहमकर इधर-उधर दुबक गये. नये आने वाली लाशों के रिश्तेदार, सोगवार बेचैन होकर बगलियों से निकल आये. हर तरफ़ एक सवाल था–क्या हुआ ? कैक़बाद दौड़ा-दौड़ा गया और फिर आसमान की तरफ़ देखता हुआ पलटा. सबने उसे घेर लिया. "सूं थ्यां" का शोर बुलन्द हुआ. जवाब में कैक़बाद ने ऐलान किया–"गिद्ध चले गये !"

"गिद्ध चले गये ?"

"गिद्ध चले गये ?"

"मगर काए को ?"

"कुछ तो पन होयेगा !"

"मगर क्या होयेंगा ?"

पारसी पंचायत के सेक्रेटरी ने कैक़बाद का फोन रिसीव किया था और उसकी पेशानी पर सलवटों का जाल उभर आया था. सारी बात सुनकर उसने रिसीवर क्रेडिल पर रखने के बाद इंटरकॉम पर डायरेक्टर को इत्तला दी. फौरन ही अर्जेंट-मीटिंग कॉल की गयी. बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के सामने मसला पेश हुआ. लेकिन सवाल तो अपनी जगह क़ायम था–गिद्ध कहाँ गये ?

"क्या कहा–गिद्ध चले गये ?" पुलिस-कमिश्नर के लहजे में हल्के-से विस्मय की मिलावट थी.

अली इमाम नक़वी

जन्म : 9 नवम्बर 1945, बम्बई

कृतियाँ : 'नए मकान की दीमक', 'मबाहला', 'घटते बढ़ते साए', 'मौसम अज़ाबों का' (सभी कहानी संग्रह)'; 'बिसात', 'तीनपत्ती के रामा' (उपन्यास).

सम्पर्क : नूह अपार्टमेंट 103/54 नयानगर कॉपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी, मीरा रोड थाने (महा.)

"हाँ, हमारे गिद्ध चले गये. पारसी पंचायत के चेयरमैन ने एक-एक लफ़्ज पर ज़ोर देते हुए तसदीक की. फिर बड़ी तवज्जो से पुलिस-कमिश्नर की बात सुनता रहा. उसके चेहरे पर एक रंग आ रहा था, एक जा रहा था. काफी देर तक वह बात सुनता रहा, फिर दूसरी तरफ़ से सिलसिला टूट जाने पर उसने भी रिसीवर क्रेडिल पर रख दिया. दूसरे तमाम डायरेक्टर्स उसकी तरफ़ सवालिया नज़रों से देख रहे थे. उसने अपनी और पुलिस-कमिश्नर की गुफ़्तगू का खुलासा बयान किया. हर शख़्स थोड़ा-थोड़ा इतमीनान और ख़ासी परेशानियाँ समेटकर मीटिंग-हॉल से वापस आया. सेक्रेटरी ने डूंगरवाड़ी फोन किया. कैक़बाद ने तमाम मोहतरम दस्तूरों तक और हाज़रीन तक चेयरमैन और पुलिस-कमिश्नर तक की गुफ़्तगू का खुलासा किया. दस्तूरों से बात बगली के ख़ुद्दाम के ज़रिये फिरोज़ भाटीना और हुर्मुज़ तक पहुँची. भाटीना ने तमाम बात ग़ौर से सुनी, फिर आसमान की तरफ़ देखने लगा. घने दरख़्तों की खिड़कियों से आसमान साफ़ नज़र आ रहा था. न कौवे थे, न चीलें और न ही गिद्ध.

और फिर वे दोनों ही चौंक पड़े थे. इत्तलाई घंटी बज रही थी. बगली नम्बर तीन से लाश आ रही थी. एक मर्तबा फिर वे दरवाज़े पर खड़े थे. लाश आयी. इस बार ख़ुद्दाम ने पचास-पचास के दो नोट भाटीना की तरफ़ बढ़ा दिये. लाश अन्दर कर लेने के बाद भाटीना ने मुँह बनाते हुए हुर्मुज़ को मुखातिब किया, "हुर्मुज़."

"बोल बप्पा."

"सब पारसी आजिच क्यों मरता ?"

हुर्मुज़ ने उसके सवाल का कोई जवाब न दिया. वह आसमान की तरफ़ देख रहा था.

"एक तो पक्षी नथी. अने लाश ऊपर लाश आवे." (एक तो गिद्ध नहीं. फिर लाश पर लाश आ रही है.)

"पन पक्षी गया किधर ?"

पुलिस-कमिश्नर बोला, "बद्दा पक्षी, खड़की, रवीवार पेठ अने सोमवार पेठ मा छे."

"सा माटे ?" (किसलिए)

"अरे वो साला हिन्दू-मुसलमान भिड़ी गयो. उधर राइट हुआ. साला वो लोग पुलिस बैन जला दिया. एंबूलेंस को अंगार लगाया. रस्ता ऊपर लाशिच लाश छे और अपना गिद्ध उधर मज़ा मारता. और वह, पुलिस-कमिश्नर बोलता...साला रस्ता साफ होयेंगा तो गिद्ध आपो-आप वापस आयेंगा."

"रस्ता साफ भी होयेंगा तो क्या...गिद्ध वापस आयेंगा...यह इंडिया... साला इधर तो रोज़ राइट होता. रोज़ अंगार लगता. रोज़ मानस मरता. फिर...फिर क्या साला...गिद्ध वापस आयेंगा ?" ◘

मूल उर्दू से अनुवाद : बलराम अग्रवाल

◆ कहानी ◆

गुलामबख़्श

●

मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी

वह गुलाम मुल्क में पैदा हुआ था, इसलिए बाप ने उसका नाम ही गुलामबख़्श रख दिया.

मुझे यक़ीन है, मरने से पहले वह मुझसे कुछ कहना चाहता था. कुछ बताना चाहता था, लेकिन इससे पहले ही वह मर गया. वह बूढ़ा था, क़ब्र में पैर लटकाये बैठा था, इसलिए उसे मरना था और मर गया—सम्भव है इसके मरने का यही अन्दाज़ा लगाया जाय, और एक बेहद मामूली-सा आदमी जिसके आगे-पीछे कोई नहीं है, इसके बारे में ज़्यादा सोचने या ग़ौर करने की चिन्ता ही किसे है...वह जिये या मरे, क्या फर्क़ पड़ता है. वह जिया भी तो बेकार और मरा भी तो बस मर गया.

हद तो यह है कि जहाँ वह काम करता था वहाँ भी इसके बारे में यही राय थी. और इसलिए जब मैंने किताबों के सेक्शन के इन्चार्ज श्रीवास्तव जी को कुरेदा तो फ़ाइल बन्द करके मेज़ पर एक तरफ़ रखकर वे ग़ौर से मेरी तरफ़ देखने लगे.

''हाँ, भाई हाँ, वह मर गया लेकिन वह ज़िन्दा कब था.''

मुझे लगता है, मैंने कहानी ग़लत जगह से शुरू कर दी लेकिन इतना तय है कि अपने आख़िरी वक़्त में वह कुछ दिखाना या बताना चाहता था. और चूँकि वह मुझे कुछ दिखाना या बताना चाहता था इसलिए उसकी मौत मेरे लिए अर्थ रखती है. ऐसा कैसे हो सकता है कि अपने वजूद में वर्षों की भेद भरी खामोशी रखकर चुपचाप ख़ुद से बातें करने वाला गुलामबख़्श कुछ कहने के लिए मुँह खोले और कुछ बताने से पहले ही हमेशा की नींद सो जाय. इसके भीतर यह बहुत कुछ भरा न होता तो सच कहूँ तो मुझे भी उसके मरने का इतना ग़म न होता.

इस मशीनी युग में आँखें खोली हैं तो इतना तो उन पर होना ही चाहिए. क़दम-क़दम पर हादसे, मौत, कब कैसे निकलकर अचानक सामने आकर किसी को दबोच लेगी, कौन कह सकता है ! अचानक किसी पल आकर चौंका देगी ! लो आ गयी. अब बोलो मरने की घटनाएँ और हादसे के आक्रमण ने इम्मून कर दिया है ! लेकिन इसके बावजूद गुलामबख़्श की मौत को मेरा दिल आम घटना या हादसा मानने को बिलकुल तैयार नहीं ! जी हाँ साहब, आप मानें चाहे न मानें, वह सचमुच बहुत अहम था मेरे लिए, और यक़ीन जानिए, वह 'टोबा टेकसिंह', से ज़्यादा भेद भरा व्यक्ति था, फर्क़ सिर्फ़ इतना था कि टोबा टेकसिंह चूँकि पागल और भावुक था इसलिए वह बोल-बोलकर चीख़-चीख़कर अपनी हरकतों से अपनी बात कह डालता था ! और यह बूढ़ा भावुक, इसे तो दुनिया से कोई मतलब ही नहीं था. हमेशा ख़ुद से बातें करने वाला, बड़बड़ करने वाला, कभी मन ही मन में हँसने लगता. कोई आता तो गेट खोल देता. उसकी तरफ़ देखता लेकिन ख़ुद से बातें करना जारी रहता. ऐसा भी होता कि गेट से भीतर आने वाले अजनबी ने इससे कुछ पूछा होता लेकिन जवाब देने की प्रक्रिया में उसकी वही बड़बड़ाहट जारी रहती. अजनबी की खिसियाहट, दायीं ओर कुर्सी पर बैठने वाले श्रीवास्तवजी दूर करते.

''इधर आ जाइए, वह कभी नहीं बता सकेगा.'' इस तेज़ वाक्य पर भी यह नहीं होता कि गुलामबख़्श चौंककर श्रीवास्तवजी या अजनबी की तरफ़ देखता. जी, बिलकुल नहीं. वह अपनी दुनिया में मग्न रहता है, मन ही मन बड़बड़ाता हुआ पहली बार लगा था, जैसे इसके भीतर किस्से-कहानियों का अजीबो-ग़रीब संसार हो, ऐसा संसार जिसे तुरन्त मुझे लपक लेना चाहिए, उचक लेना चाहिए. सच कहूँ तो पहली बार में ही मैं गुलामबख़्श की ओर आकर्षित हुआ था तो फिर आप यक़ीन मानें, मैं केवल इसीलिए आता रहा, बार-बार हर दो-चार दिन के बाद. चाहे काम हो या न हो. श्रीवास्तवजी के सामने वाली कुर्सी पर बैठ जाता और उसकी हरकतों को देखता रहता था. गर्मियों के मौसम में उसे मक्खियाँ भी तंग करतीं, मगर उसे कुछ परवाह नहीं. वह कहाँ बैठती हैं कहाँ तंग करती हैं. वह तो अपनी दास्तानों में इतना उलझा और खोया रहता था कि उसे इन बेकार की बातों के लिए समय ही नहीं था जैसे उसके पास.

ठहरिये. अभी तो बहुत सी बातें ऐसी रह गयी हैं जो ज़रूरी हैं और मैंने अभी तक तफ़सील से ब्योरा नहीं दिया है और तफ़सील से ब्योरा किये बग़ैर बूढ़े गुलामबख़्श को समझना आसान नहीं है. यहाँ यह बात ज़रूरी है कि बूढ़े गुलामबख़्श से अपनी हमदर्दी या स्वार्थ का वर्णन करता चलूँ तो इस लम्बी भूमिका के लिए माफ़ी. अब मैं सही घटना पर आता हूँ पर इससे पहले अपना परिचय भी कराना ज़रूरी है. मैं, यानी, अज़हर बाईजान, एक मामूली सा लेखक हूँ. यह बाईजान कहाँ है मुझे ख़ुद नहीं पता, मगर जब भविष्य को गोली मारकर लिखने, और वह भी उर्दू में लिखने का जुनून सवार हुआ तो अपने अच्छे भले नाम अजहरकलीम के कलीम़ को अलग करके बाईजान जोड़ दिया, हालाँकि इसके मायने कुछ नहीं लेकिन चौंकाने के लिए काफ़ी है. और इससे अनोखेपन का भी गुमान होता है. लेकिन यहाँ मैं अपने अनोखेपन की तफ़सील सुनाने नहीं बैठा हूँ, जैसा कि आपको मालूम हो गया, मैं लिखता हूँ और मुझे लिखने का जुनून की हद तक शौक़ है. यहाँ एक छोटी सी बात और बताता चलूँ कि हर नयी चीज़, हर नयी बात को अनोखे अन्दाज़ में लिखने में मुझे बड़ा मज़ा मिलता है. लेकिन आप बेहतर जानते हैं कि केवल लिखने से, वह भी उर्दू में लिखने से भविष्य के गेसू नहीं सँवारे जा सकते और यहाँ तो धुन थी कि बस लिखने को ही रोजी-रोटी का ज़रिया बनाना है तो मैं अज़हर बाईजान, यानी एक छोटे शहर का रहने वाला छलाँग लगाकर, राजधानी की चौड़ी-चकली सड़कों पर आकर एकदम से भूत बन गया.

जी हाँ, भूत.

भूतों की अलग दुनिया है. पता नहीं, आपका वास्ता पड़ा है या नहीं लेकिन ज़िन्दगी के कई मामलों में हम हकीक़त छुपाते हुए भूत बन जाते हैं. और ऐसे में भूत बने रहना ही अच्छा लगता है. जैसे इच्छा हाती है कोई आपको पहचाने नहीं, जाने नहीं. और ख़ासकर साहित्य में, रोज़ी-रोटी के लिए आपको कल्पित नामों से लिखना पड़ता है और सचमुच का भूत बन जाना पड़ता है तो ऐसा ही भूत बन गया. दिल्ली की चौड़ी चकली सड़कों ने आवारा निढाल क़दमों को रास्ता भी दिखाया तो रॉयल प्रकाशन का जो किताबों का बड़ा नामी प्रकाशन था और जहाँ कल्पित नामों से लिखने वालों का एक पूरा टेबुल मौजूद था. जब राजधानी में गिने-चुने प्रेस हुआ करते थे, यह तब का है. वक़्त के साथ इस पब्लिशिंग हाउस ने अपने नये मालिक ने नाम को ओढ़ लिया था यानी अब नवीन पब्लिशिंग हाउस था और इसके मालिक थे मिस्टर नवीन जिनकी उम्र ज़्यादा-से-ज़्यादा चालीस साल होगी लेकिन जो देखने में इससे कहीं ज़्यादा कम और ख़ूबसूरत लगते थे. और पहले ही दिन मुझे कहने लगे फ्रस्ट्रेशन की अपनी एक अलग कड़वी दुनिया होती है जब दुनिया की कल्पना मुद्रा और किसी चिड़चिड़ी चुड़ैल बुढ़िया के सपनों की तरह बेरौनक़ और बदमज़ा होती है. इसी पतझड़ के मौसम की किसी तपती दोपहर में मैंने फ़ैसला किया था कि मैं भूत बन जाऊँगा. और मेरे क़दम ख़ुद ब ख़ुद नवीन पब्लिशिंग हाउस का बोर्ड देखकर रुक गये थे. छोटी-छोटी कई सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद आटोमेटिक दरवाज़ा आता है. दरवाज़े के अन्दर दाख़िल होते ही पहली मुलाक़ात गुलामबख़्श से होती है जो स्टूल पर बैठा आदमी तो नज़र उठाकर अपनी दुनिया की बड़बड़ाहट में गुम हो गया था. मैंने उसका जायज़ा लिया. गहराया साँवला रंग जिस पर झुर्रियों का जाल बिछने लगा था, आँखों के पास गाल पर बड़ा सा मस्सा, आँखें छोटी मगर उसमें बच्चे जैसी चमक, बाल छोटे-छोटे मगर उलझे से, उजले रंग की पैंट-शर्ट जो गन्दी हो गयी थी, जो शायद इसका यूनिफार्म भी था, तोंद बाहर निकली हुई. पूरे चेहरे, पर एक ही आँख ऐसी थी तो उसके अस्तित्व को छोटे से नन्हे-मुन्ने बच्चे में परिवर्तित कर रही थी—मैंने गुलामबख़्श की बातों पर कान लगाया, मगर अड़म, धड़म नमः नुः जो ज़्यादातर इसकी साँसों की तकरार थी. कुछ समझ न सका.

स्टूल से आगे बढ़ने के बाद दायीं तरफ़ श्रीवास्तवजी का कमरा है, जो पब्लिशिंग हाउस में एक इन्चार्ज हैं. इनके पड़ोस में रज़िया बैन की मेज़ है. रज़िया को कोई रज़िया बहन नहीं कहता. सब रज़िया बैन ही कहते हैं. धीरे-धीरे जब मैं अज़हर बाईजान वहाँ का स्थायी घोस्ट रायटर बन गया और यहाँ के लोगों से सम्बन्ध के दायरे बढ़ने लगे, तब गुलामबख़्श के बारे में कई अनोखी कहानियाँ मालूम हुई. मालूम हुआ कि स्टूल पर बैठे उस बूढ़े भूत के बारे में जानने की जिज्ञासा सिर्फ़ मुझे ही नहीं बल्कि सबको थी. लेकिन गुलामबख़्श की ज़िन्दगी का सबसे भिन्न पहलू वह था जिसकी दास्तान मुझे यहाँ के मालिक मिस्टर नवीन ने सुनायी.

लेकिन साहबान—ज़रा ठहरिये. इस दास्तान को शुरू करने से पहले मैं एक छोटा-सा क़िस्सा बयान कर दूँ. हुआ यूँ कि जैसा मैंने शुरू में बताया कि जब भी मैं नवीन पब्लिशिंग हाउस जाता, कोशिश करता कि नज़रें बचाकर ज़्यादा से ज़्यादा गुलामबख़्श का जायज़ा लेता रहूँ. जैसे मैंने जाना कि इस बूढ़े भूत को खाने-पीने से कोई ज़्यादा मतलब नहीं है. भूख लगी तो बाहर से कुछ भी लाकर खा लिया.

बादाम, भुंजा गोल-गप्पे. ज़्यादातर ऐसी ही चीज़ें इसे पसन्द हैं. ख़ुद मैंने जब भी देखा एक छोटा सा ठोंगा लेकर कुछ इसी तरह की चीज़ें चबाते या खाते देखा. हाँ पैसे नहीं होते तो चुपचाप नवीन साहब समझ जाते कि भूख लगी है. वह कुछ पैसे हाथ में थमा देते. वह चुपचाप बाहर निकलता. खाने-पीने की कोई चीज़ लेता, फिर स्टूल पर आकर किसी आज्ञाकारी बच्चे की तरह बैठ जाता. जैसे स्कूल के बच्चे को स्कूल और घर का रास्ता मालूम होता है, वही हाल गुलामबख़्श का, दफ़्तर में था. वह कहाँ रहता है, यह तो बाद में बताऊँगा लेकिन उसे मालूम था कि इतने बजे दफ़्तर पहुँचना है. दरवाज़ा खोलना है. और स्टूल निकाल कर बैठ जाना है. दरवाज़ा खोलने के आधे घंटे बाद ही स्वीपर आता है. हाँ शुरू में मुझे इसका अहसास ज़रूर था कि इस आदमी को भला नवीन साहब ने—क्यूँ कर रखा है मगर इसका अन्दाज़ा मुझे बाद में हुआ. हाँ, तो क़िस्सा यूँ था कि हमेशा की तरह एक दिन गेट खोलकर अन्दर दाख़िल होते ही मैं गुलामबख़्श के पास ठहरा तो आज उसकी त्यौरियाँ कुछ चढ़ी हुई थीं मगर इसकी बड़बड़ाहट जारी थी और ध्यान देने पर बहुत कोशिश के बावजूद, इसके आधे-अधूरे शब्दों में मुझे एक मुल्क का नाम सुनायी दिया और मैं एकदम से चौंक पड़ा. पा...किस...तान.

मैंने फिर ग़ौर किया. मेरी तरफ़ उचटती नज़र डालकर वह फिर अपनी बड़बड़ाहट में व्यस्त था.

मैंने जब श्रीवास्तवजी को अपनी इस नयी खोज का ब्योरा दिया तो वह चौंका नहीं. बल्कि मज़ाक़ उड़ाता हुआ बोला, "बाईजान साहब, आपने कोई तीर नहीं मारा. साला पाकिस्तान से मुहब्बत करता है ग़द्दार है कौन नहीं जानता." फिर उसने बताया, "यह पागल दिखता है, कुछ पूछिये तो अजब-अजब बातें करता रहेगा जैसे कुछ

जानता ही नहीं, किसी से कोई मतलब नहीं, लेकिन ज़रा इससे पाकिस्तान का नाम तो लेकर देखिए. कैसे सुन लेता है और खुश होता है." अच्छा, यह मेरे लिए हैरानी की बात है. और इससे पहले कि मैं नवीन साहब वाला क़िस्सा ब्यान करूँ मैं आपको बता दूँ कि श्रीवास्तवजी की बात मानकर मैंने यह तजुर्बा भी किया है और यक़ीन जानिये बच्चे जैसी इसकी आँखों में पहली बार चमक और ख़ुशी का रंग नज़र आया. पाकिस्तान...

"तुम पाकिस्तान में रहते हो ?"

"तुम्हारा पाकिस्तान में कोई रहता था ?"

"पाकिस्तान जाना चाहते हो, तुम्हें पसन्द है ?"

वह ख़ुद से अड़म-बड़म करता मेरी तरफ़ देखकर बच्चों की तरह मुस्कराये जा रहा था. कोई जवाब नहीं. उसकी बड़बड़ाहट जारी थी और इससे पहले मैं अपने तौर पर गुलामबख़्श के बारे में कोई राय क़ायम करूँ नवीन साहब ने मुझे एक बिलकुल नयी दुनिया में पहुँचा दिया था.

तब आज़ादी नहीं मिली थी. नौजवानों में गाँधीजी और आज़ादी का जोश ज़रूरत से कुछ ज़्यादा ही था. चरखा कातने वाले गाँधीजी की तस्वीर गुलामबख़्श के अन्दर ही अन्दर बस गयी थी. स्वदेशी

मैंने जब श्रीवास्तवजी को अपनी इस नयी खोज का ब्यौरा दिया तो वह चौंका नहीं. बल्कि मज़ाक उड़ाता हुआ बोला, "बाईजान साहब, आपने कोई तीर नहीं मारा. साला पाकिस्तान से मुहब्बत करता है गृद्दार है कौन नहीं जानता. फिर उसने बताया, "यह पागल दिखता है, कुछ पूछिये तो अजब-अजब बातें करता रहेगा जैसे कुछ जानता ही नहीं, किसी से कोई मतलब नहीं, लेकिन ज़रा इससे पाकिस्तान का नाम तो लेकर देखिए. कैसे सुन लेता है और खुश होता है अच्छा, यह मेरे लिए हैरानी की बात है.

आन्दोलन का नारा हो, या अंग्रेज़ो भारत छोड़ो, गुलामबख़्श जैसे जवानों के हाथ भी फिरंगियों के ख़िलाफ़ उठ गये. यह पढ़ाई की उम्र थी. गुलामबख़्श का बाप करीमबख़्श था जो मौला हवेली ताजबख़्श के पास रहता था. यह जगह पुरानी दिल्ली के इलाके में थी. आज यह जगह चितली क़ब्र और बल्लीमारान की नयी-नयी दुकानों और इमारतों के बीच कहाँ गुम हो गयी, इसे खोजना इतिहासकार का काम है. करीमबख़्श कुछ ज़्यादा पढ़े-लिखे तो नहीं थे, हाँ थोड़ी-बहुत अरबी-फ़ारसी आती थी. उर्दू के उस्ताद थे. बच्चों को पढ़ाकर गुज़ारा करते थे. और मौला हवेली ताजबख़्श मुहल्ले में तीन कमरों का छोटा-सा मकान था, जो बाप-दादा-परदादा के समय से चला आ रहा था. करीमबख़्श के तीन लड़के थे. मँझला था गुलामबख़्श, बड़ा मौला-बख़्श, और छोटा ज़हूरबख़्श. उस वक़्त तक पाकिस्तान नहीं बना था और क़ायदे आज़म का बहुत शोर था. करीमबख़्श की उस वक़्त के ज़्यादातर मुसलमानों की तरह मुस्लिम लीग के अहम मेम्बर थे. और क़ायदे आज़म के हक़ में थे और चाहते थे कि मुसलमानों का अपना एक अलग मुल्क हो. गुलामबख़्श तब नौजवान था. उम्र उन्नीस- बीस होगी. पता नहीं क्यों इसे अब्बा की बात सही नहीं लगती थी. गाँधीजी की बात तो समझ में आयी थी कि सब मिल-जुल कर रहो.

मुल्क का बँटवारा हो जाय, हिन्दू मुस्लिम दो हिस्सों में बँट जायें इसे कब गवारा था. करीमबख़्श ने, लेकर रहेंगे पकिस्तान, का नारा तो लगाया लेकिन पाकिस्तान बनते हुए नहीं देख सके. कहते हैं एक बार वह किसी जुलूस के लिए नारे लगाते जा रहे थे कि अंग्रेज़ सरकार ने गोली चलवा दी. मरने वालों में गुलामबख़्श का बाप भी शामिल था.

अंग्रेज़ी हुकूमत से गुलामबख़्श की नफ़रत भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी. एक बार उसे मालूम हुआ कि क़रीबी गेस्ट हाउस में वायसराय की सवारी रुकती है. उस वक़्त बहुत से हिन्दू-मुसलमान बम बनाना जान चुके थे. गुलामबख़्श ने ख़ुद अपने हाथों से बम बनाया और एक बम वायसराय के कमरे में जो उछाला तो बम पुलिस में जाकर दम लिया. अँधेरे का वक़्त था. शहर फिरंगी जूतों की दहशत से घिरा था. यह जगह रेलवे क्रॉसिंग के पास थी, जहाँ बड़े-बड़े बेहया के पेड़ थे और चारों तरफ़ पाख़ाने की तेज़ बदबू. फिरंगी गोली के डर से गुलामबख़्श हफ़्तों इस गन्दगी में पड़ा रहा. इसे यह भी डर था कि पुलिस इसकी तलाश में होगी और सुबह इस जगह पाख़ाना करने वालों की टोली आ जायेगी. जैसे-तैसे वह पूरे एक हफ़्ते तक इस बम को छुपाता रहा. यह उसी ज़माने की बात है जब अंग्रेज़ों ने कारतूस में गाय के गोश्त की चर्बी भरे जाने की अफ़वाह उड़ाकर हिन्दू-मुसलमान को आपस में भिड़ा दिया था और मुल्क में चारों तरफ़ हिन्दू-मुसलमान कट-कटकर गिरने-मरने लगे थे. फिर जब पाकिस्तान बना तो सुरक्षा के अहसास से दो-चार मुसलमानों ने पाकिस्तान जाने में ही भलाई समझी. उस वक़्त मौला हवेली ताजबख़्श वाला इलाका भी दहशत की लपेट में था. पाकिस्तान चलने का ऐलान हुआ तो बड़े भाई मौलाबख़्श ने गुलामबख़्श को भी चलने को कहा. गुलामबख़्श राज़ी नहीं हुआ तो उसने समझाया मकान का मोह छोड़ो. पुरानी दिल्ली की हालत भी बुरी होने को है. वहाँ चलकर किसी अच्छे से मकान में ताला लगा लेंगे. गुलामबख़्श फिर भी राज़ी न हुआ. पर बड़े भाई ने बड़ी मुश्किल से दोनों भाइयों को तैयार किया. उस वक़्त तक मौलाबख़्श की बीवी आ चुकी थी. एक बच्चा भी था. लाहौर आ तो गये पर मकान अब भी नहीं मिला था ! मकान तलाशा भी तो बड़ी दौड़-भाग से एक बेहतर सा मकान नज़र आया गुलामबख़्श को. इसने भाइयों को ख़बर की. भाई आये ख़ुश हुए. क़ायदे से इस मकान पर तो गुलामबख़्श का ही हक़ होना था मगर मौलाबख़्श की बीवी ने ऐसा होने नहीं दिया. मकान बड़ा ज़रूर था, मगर वह चाहती थी कि यह मकान उसके हिस्से में रहे इसलिए उसने अपने मियाँ को पढ़ाना शुरू कर दिया कि यह भाई अगर ज़्यादा दिन यहाँ रहे तो यहाँ भी बँटवारे जैसी सूरत पैदा हो जायेगी और जो यहाँ भी मकान के तीन हिस्से लग गये तो सोचो बचेगा क्या ? दोनों भाई तो कुँवारे हैं. इनका तो कुछ नहीं लेकिन इसकी तो घर गृहस्थी है इसलिए सोचना भी इसी का काम है. मौलाबख़्श ने दिमाग लगाया तो बीवी की बात उसे सही लगी. भाभी की नीयत से तो गुलामबख़्श वाक़िफ़ हो ही चला था लेकिन जब भाई ने सीधे तौर पर उसे निकल जाने को कहा तो इसे भी ताव आ गया. गुस्से में बोला—"जाओ नहीं निकलता, मेरा मकान है. पहले मैंने देखा था, दख़ल मेरा है." कहते हैं यही वक़्त था जब पागलपन का हल्का-हल्का दौरा गुलामबख़्श को पड़ा था. भाई के अनबन हो जाने के बाद वह बैठा-बैठा बड़बड़ाता रहता !

लेके रहेंगे पाकिस्तान...

पाकिस्तान में एक मकान, एक मकान में एक दुकान.

कोई पूछता. क्यों मियाँ, पाकिस्तान तो मिल गया, अब वहाँ

मकान कब ले रहे हो, और मकान में दुकान कब बनवा रहे हो ? गुलामबख़्श गन्दी सी गाली बकता, उसी भड़वे ने हथिया ली. वरना देखा तो मैंने था.

"लेकिन यह सब बातें", मैंने नवीन साहब की तरफ़ देखा, "आप कैसे जानते हैं ?" नवीन साहब ने मेरी तरफ़ देखकर ठंडी साँस भरीं.

"भाई, उस वक़्त विभाजन का असर सबके दिलो-दिमाग़ पर था. हिन्दू-मुस्लिम दंगों ने थोड़ा-बहुत नुक़सान सबको ही पहुँचाया था. और दिल्ली तो दिल खोलकर लुटी बरबाद हुई थी. इसलिए जब यह वक़्त का मारा रोज़ी-रोटी को तरसता पापा के पास पहुँचा और पापा ने इसकी कहानी सुनी तो फ़ौरन रख लिया. अब तो मुद्दत गुजर गयी. मरने से पहले मुझसे भी कहा था, गुलामबख़्श को निकालना मत. यह सीधा सादा इन्सान बाहर स्टूल पर बैठा चौकीदारी ही तो करता रहता है. किसी से लड़ता झगड़ता नहीं. इसलिए मैंने भी इसे रहने दिया." नवीन भाई ने मेरी आँखों में झाँका, "दरअसल इसकी बड़बड़ाहट तो इधर पाँच बरसों में शुरू हुई है. मकान नहीं मिला तो खोजते-खोजते इसकी मुलाकात रहमान दर्ज़ी से हुई, जिनकी आँखों की रौशनी कमज़ोर पड़ चुकी थी और जो कपड़े सीने के लायक़ नहीं रह गये थे. गुलामबख़्श इन्हें रहमान चाचा कहता था. रहमान के पास टूटा-फूटा सा मकान था. रहमान करीम बख़्श के पक्के दोस्तों में था और एक नम्बर का मुस्लिम लीगी, इसलिए रहमान ने इसे अपने पास रख लिया था. कुछ दिनों बाद ही रहमान मर गया और यह मकान भी एक तरह से गुलामबख़्श का ही हो गया. अब तो इस मकान की क़ीमत भी काफ़ी हो गयी होगी. पापा बराबर कहते रहे मकान बेच दो. अच्छे पैसे मिल जायेंगे. मगर गुलामबख़्श को पैसे-कौड़ी से कुछ मतलब ही नहीं था."

मुझे माफ़ कीजिए जहाँ से चला था वहीं लौट रहा हूँ आख़िर इस पुरानी हो चुकी दास्तान में ऐसा क्या है, जिसे मैं लिखने की ज़रूरत महसूस कर रहा हूँ. तक़सीम, हिज़रत, फसाद कुछ कहानियाँ तो वक़्त की क़ब्र में दफ़न हो गयी हैं. फिर इस पुरानी पड़ गयी राख को कुरेदने से क्या फायदा ? लेकिन राख के उसी ढेर को कुरेदा जाता है जहाँ से कुछ मिलने की उम्मीद होती है.

नवीन भाई ने आगे बताया—उन दिनों हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की जंग छिड़ी हुई थी. हर तरफ़ जंग की ही बातें होती थीं. उस वक़्त तक पापा दफ़्तर में ही बैठते थे. कहते हैं, अचानक स्टूल पर बैठे-बैठे गुलामबख़्श पापा के पास आया. पहले तो वह समझे कि पैसों के लिए ही आया होगा. जेब में हाथ डाला ही होगा कि गुलामबख़्श ने रोक दिया—"नहीं जी, पैसे नहीं चाहिए."

"फिर—"

"मैं क्या करूँ जी ?"

पापा ने उसकी तरफ़ हैरत से देखा ! गुलामबख़्श ने आँखों से पापा की आँखों में झाँका, "यह जंग हो रही है जी. मुझे क्या करना चाहिए ? मेरा मकान तो हिन्दुस्तान में भी छिन गया. पाकिस्तान में भी. यह ऑफ़िस वाले छेड़ते हैं जी कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान पर बम गिरायेगा अच्छा गिरायेगा जी. मान लिया. फिर मुझे क्या करना चाहिए."

पापा ने ज़ोर से डाँटा, "तुम जाकर चुपचाप अपने स्टूल पर बैठे रहो. और किसी की मत सुनो !"

"अच्छा जी"—वह स्टूल पर जाकर बैठ गया.

लघुकथा

हितैषी

•

इफ़्तिख़ार एली

उसकी माँ बीमार थी, पर वह बेरोजगार था और सुबह से भूखा भी. आज भी उसने 'दाता दरबार' के लंगर से खाना खाया और फिर मज़ार पर हाज़री दी. अभी वह अपने रोजगार और माँ के स्वास्थ्य के लिए दुआ माँग ही रहा था कि ज़ोरदार धमाका हुआ. वह बाहर निकला, लोग ये कहते हुए दौड़ रहे थे कि भाटो में बम फटा है. वह भी साथ हो लिया. महाप्रलय का दृश्य. लाशों और आहतों की हालत देखकर उसकी आँखें भीग गयीं. लाशें उठाते और आहतों को एम्बुलेन्स गाड़ियों तक पहुँचाते हुए उसने एक लाश की जेब से पर्स निकालकर अपनी जेब में डाल लिया.

वापसी पर उसने अपनी माँ के लिए एक सप्ताह की दवाएँ और खाने का ढेरों सामान खरीदा और माँ की अनुमति से आहतों के लिए ख़ून का दान देने अस्पताल चला गया. ▣

मैं धीरे से मुस्कराया. दरअसल वह तय नहीं कर पा रहा था कि उसे कहाँ के लिए ईमानदार होना चाहिए और यही उसकी जिन्दगी का सबसे अहम पहलू है. नवीन भाई हँसे. फिर तो पाकिस्तान के नाम पर दफ़्तर वालों का मज़ाक बन गया. कोई पाकिस्तानी कहता, कोई कहता पहले तो सिर्फ मकान ही छिना था इस बार जाओगे तो खदेड़ दिये जाओगे. हिन्द-ओ-पाक के बीच क्रिकेट का मैच चलता तो वह खिसकता हुआ रेडियो के क़रीब आ जाता. फिर पूछता पाकिस्तान के कितने रन हुए जी पाकिस्तान जीतेगा न जी ? ऐसा बावला हो गया था.

नवीन भाई ने ठहरकर कहा, "श्रीवास्तवजी की मेज़ के पास तुमने नजमा बैन को देखा होगा. पता नहीं क्या बात थी, नजमा को बहुत मानता था जब शुरू-शुरू में आयी थी, तब से. जो भी खाने की चीज़ ख़रीदता, नजमा के पास लेकर पहुँच जाता. जब ऑफ़िस वालों ने नजमा को चिढ़ाना शुरू किया, तब एक बार नजमा ने ठोंगा फेंक दिया था. तब से ऐसा नाराज़ हुआ कि नजमा को देखता भी नहीं."

नवीन भाई ने मेरी तरफ़ देखा. बस जो मालूम हुआ था बता दिया. हाँ, एक छोटी-सी बात और रह गयी. आख़िरी वक़्त में इसने पापा को बहुत तंग किया. जब-तब कहता—पाकिस्तान भेज दो. जब पापा की अर्थी उठी तब भी वह आँगन में एक तरफ़ बैठकर वही पुराना गीत अलाप रहा था—'लेके रहेंगे पाकिस्तान.'

पाकिस्तान में एक मकान. मकान में एक दुकान.

मैं ख़ुद उसे पकड़कर किनारे ले गया और समझाया चुप हो जाओ, गुलामबख़्श पाकिस्तान में एक मकान बनाने वाला नहीं रहा. पापा मर गये. फिर यूँ हुआ कि वह फूट-फूटकर रोने लगा. बिलख-बिलखकर पहली बार और आख़िरी बार. फिर मैंने उसे कभी रोते हुए नहीं देखा. पता नहीं कमबख़्त के अन्दर कितनी दास्तानें भरी हैं ! स्टूल पर बैठा-बैठा बड़बड़ाता रहता है.

गुलामबख़्श की कहानी इतनी ही थी जितनी मैं सुना चुका हूँ, बीच के क़िस्से में कुछ नहीं. हाँ अब जो मैं बताना चाहता हूँ वह अहम है. जैसा यह कि मरने के कुछ दिन पहले वह ठीक हो गया था और यह मानने को कोई तैयार नहीं कि वह खूसट गुलामबख़्श जो पहले

ही मर चुका था, मुझे कुछ बताना चाहता होगा और सच कहूँ तो उसके अचानक मरने से मुझे दुख हुआ था और वह जिन हालात में मरा, मुझे यकीन है वह अपने ज़िन्दा होने की कोई तो शहादत पेश करना चाह रहा होगा. और इसलिए शायद वह मुझे कुछ बताना चाहता था. जैसे एक टायर में बहुत ज़्यादा हवा भर दी जाये तो वह फट सकता है. लेकिन थोड़ी सी हवा भी निकाल दी जाय तो इसके फटने का ख़ौफ़ नहीं रहता. गुलामबख़्श अपने अन्दर थोड़ी भी दास्तान निकाल देता तो वह बच जाता. और मेरा ज़ोर इसी बात पर है कि वह अपनी दास्तान बाहर निकालने को तैयार था.

"तुम्हें यक़ीन है कि वह तुम्हें कुछ बताना चाहता था." नवीन भाई चौंककर बोले.

"हाँ उसने मुझे घर चलने को कहा था."

"तुम उसके घर भी गये थे ?"

मैंने नवीन भाई को ग़ौर से देखा. फिर कहा, "अब जो बताने जा रहा हूँ सम्भव है आप विश्वास न करें. तो सुन लीजिए मरने से पहले मैं सचमुच उसके घर गया था." मैं एक पल को ठहरा—"आपके पापा ठीक कहते थे वह मकान जिस जगह है अब अच्छे दामों पर बिकेगा लेकिन अब उस जगह पर रहमान दर्ज़ी के भाई-भतीजों का कब्ज़ा हो गया है. दरअसल मुझे जिज्ञासा उसके सामान की थी. कमबख़्त के पास यादगार के तौर पर कुछ तो होगा."

"फिर क्या मिला ?"

"आपको ताज्जुब होगा गुलामबख़्श मुझे अपने उस घर में नहीं मिला." मैंने ठहरकर पूछा, "अच्छा यह बताइये मरने के सात दिन पहले क्या वह दफ़्तर आ रहा था."

"नहीं."

"आपने तलाश किया !"

"हाँ हमने चपरासी भेजा था, लेकिन वह नहीं मिला !"

"गुलामबख़्श जैसा आदमी वहाँ नहीं मिला, क्या यह चिन्ता की बात नहीं थी."

"थी लेकिन क्या करता !"

"अब मुझसे सुनिये—वह वहाँ मिलता भी कैसे. वह तो अपने पुराने घर गया था. जी हाँ, उसी घर में जो मौला हवेली ताजबख़्श में, किसी ज़माने में था और आज जहाँ दूसरे का कब्ज़ा है !"

नवीन भाई मुझे हैरत से देख रहे थे, "तुम वहाँ तक कैसे पहुँचे ?"

मैंने एक बोझिल सी साँस ली, "मुझे मालूम था वह वहीं मिल सकता है ! जगह तलाश करने में ज़्यादा परेशानी नहीं हुई. अब वहाँ बिलकुल नयी इमारत है. इमारत के रहने वालों ने बताया कि एक पागल आदमी आया था जो घर के कमरों की ओर इशारा करके पता नहीं क्या-क्या कह रहा था लेकिन किसी की समझ में नहीं आया. उन लोगों ने इसे निकालने की बहुत कोशिश की लेकिन वह गया नहीं. धूनी रमाकर बाहर ही जम गया. डराने-धमकाने पर भी नहीं गया. बाहर बरामदे में ही सो गया. जानते हैं ऐसा क्यों हुआ ?" मैंने नवीन साहब की आँखों में आँखें डाली, "सम्भव है अचानक उसे ख़याल आया हो क्या इतने बरस गुज़र जाने के बाद भी वह अपने मकान को मकान नहीं कह सकता. बस इतन लम्बी दुश्मनी की आख़री जंग लड़ने वह अपने मकान में गया था."

"उसके पास से कुछ मिला था ?"

"वही बताने जा रहा हूँ" मैंने ठंडी साँस छोड़ी. "उसके पास था ही क्या जो मिलता ? ज़िन्दगी भर की कमाई एक थैला—कुछ पुराने काग़ज़ पत्तर जिनकी लिखाई इतनी धुँधली पड़ गयी थी कि कोई माहिर ही पढ़ सकता था. हाँ, कुछ चूड़ियाँ थीं. इन चूड़ियों से याद आया, नजमा बहन से इनकी अटूट मुहब्बत के पीछे कोई जज़्बा कहानी की शक्ल में ज़रूर रही होगी जो उसकी मौत के साथ ही एक राज़ रह गया. ख़ैर अब मैं जिस चीज़ की तरफ़ आ रहा हूँ यह यकीनन आपको भी चौंका देगी."

नवीन भाई ने कुर्सी पर करवट बदली.

मैंने उसकी बेचैनी का ज़्यादा इम्तिहान लिये बगैर कहा, "वह चीज़ थी वीज़ा, पाकिस्तान जाने का वीज़ा जिस पर हाल की तारीख़ पड़ी थी. आप कहते हैं वह होशो-हवाश खो चुका था. मुद्दतों से वह मरने से पहले ही मर चुका था. क्या मरने से पहले वह पाकिस्तान जाने का ख़्वाहिशमन्द था ? क्यों ?"

"दरअसल...."

नवीन भाई व्यंग्य से हँसे, "हो सकता है वह आधी मौत यहाँ मर चुका था, आधी मौत के लिए !" नहीं मेरा लहज़ा अचानक थोड़ा सख़्त हो गया था, "यहीं पर आकर चोट खा गये थे नवीन भाई और यही गुलामबख़्श की सबसे सनसनीख़ेज़ और आख़िरी कड़ी है. और अब जो मैं बताने जा रहा हूँ वह बहुत मामूली मगर बहुत अहम है."

मैंने उसकी आँखों में झाँका, "याद रखिये, इस कहानी का सबसे अहम हिस्सा गुलामबख़्श के आख़िरी दिनों में आख़िरी वक़्त में ही यह अहसास इसके अन्दर पैदा हुआ कि यह मकान इतने बरसों बाद भी उसका नहीं है. उसने अपने घर के लिए कोशिश की, ज़ाहिर है घर नहीं मिल सका तो उसने पाकिस्तान का इरादा कर लिया. वीज़ा तक बनवा लिया—हकीक़त यही है. उसने अहमियत अपने मकान को दी ! वह पाकिस्तान गया नहीं क्योंकि यह हकीक़त उसे मालूम हो गयी थी कि अब यही उसका घर है. इसी घर के लिए कोशिश करनी चाहिए. और !"

मैं, अज़हर बाईजान, मैंने घूमकर नवीन साहब की तरफ़ देखा जो सकते के आलम में मेरी तरफ़ देख रहे थे और मेरी हर बात के साथ उनके चेहरे पर बल भी पड़ने लगे थे. मैं धीरे से मुस्कुराया और यही सबसे मामूली और सबसे अहम बात थी, इस प्रकार मरते वक़्त उसने अपने होने की आख़िरी कील ठोंक दी.

मैं धीरे से मुस्कुराया, "मरा भी तो कमबख़्त अपने उसी बाप-दादा वाले पुराने घर में." मैंने ग़ौर किया—नवीन भाई के चेहरे का मांस ज़रा सा खिंच गया था. ◙

मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी

जन्म : 24 मार्च, 1962 आरा, बिहार. **पुस्तकें :** 'मुसलमान', 'नीलाम घर', 'बयान', 'शहर चुप है', 'ज़िबह', 'सब साज़िंदे' (उपन्यास); 'भूखा इथोपिया', 'फरिश्ते भी मरते हैं', 'गुलामबख़्श', 'मंडी' (कहानी संकलन); 'सुर्ख़बस्ती', (सं.).

सम्प्रति : दूरदर्शन के लिए फ्रीलांसिंग. धारावाहिकों एवं टेलीफिल्म के निर्माण में व्यस्त.

सम्पर्क : आर-101, ताज एन्क्लेव, लिंक रोड, गीता कॉलोनी, दिल्ली

◆ संगोष्ठी ◆

समकालीन उर्दू कहानी : एक परिचर्चा

उर्दू विभाग (दिल्ली विश्वविद्यालय) में 'इन्शा' के विशेषांक 'आलमी उर्दू कहानी' के लिए समकालीन उर्दू कहानी के विषय पर एक परिचर्चा का आयोजन किया गया था. इस परिचर्चा में जोगिन्दर पाल, प्रो. क़मर रईस, डॉ. अतीकुल्लाह, डॉ. शारिब रुदौलवी, डॉ. शमीम निकहत, डॉ. निकहत रेहाना खान, डॉ. खालिद अशरफ़, डॉ. अली जावेद और डॉ. इर्तेज़ा करीम ने शिरकत की. परिचर्चा का विषय समकालीन उर्दू कहानी था. मगर समकालीन परिभाषा निश्चित करना विषय-वस्तु की तरह यहाँ भी एक समस्या बन गया. **क़मर रईस** ने सबसे पहले 'समकालीन' के नीति निर्धारण की बात की. ताकि बाद में वाद-विवाद उत्पन्न न हो. उन्होंने कहा : समकालीन से क्या अभिप्राय है ? पिछले दो-चार साल का अफ़साना ? गत दशक का अफ़साना या गत एक चौथाई सदी का अफ़साना ? मेरी राय में अगर आसानी से हम गत दशक के आरम्भ से अब तक की कहानियों को अपनी दृष्टि में रखें तो उचित होगा. फिर भी, अगर कोई इससे पूर्व के अफ़साने के हवाले से बात करना चाहता है तो करे लेकिन फोकस इसी काल पर हो. इस काल में भी कई पीढ़ियों के अफ़साना निगार लिखते रहे हैं. वह भी जो आज़ादी के पहले से लिख रहे थे. उदाहरणस्वरूप हयातुल्लाह अंसारी, इस्मत चुग़ताई, उपेन्द्र नाथ अश्क, मुमताज़ मुफ़्ती, गुलाम अब्बास, अहमद नदीम कासमी और हाजरा मसरूर आदि. फिर वे कथाकार हैं जिन्होंने आज़ादी के आसपास लिखना शुरू किया. इनमें कुर्रतुल ऐन हैदर, शौकत सिद्दीकी, रामलाल, जोगिन्दर पाल, इक़बाल मतीन, शकीला अख्तर, इन्तज़ार हुसैन और जीलानी बानो आदि हैं. और इस पीढ़ी के तुरन्त बाद एक और पीढ़ी उभरती है जिसकी चेतना नयी थी और जो भाषा शैली के नये प्रयोग करना चाहती थी. इस पीढ़ी में क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार, इक़बाल मजीद, अनवर सज्जाद, सुरेन्द्र प्रकाश, बलराज मैनरा, रशीद अमजद, गयास अहमद गद्दी, वाजिदा तबस्सुम (प्रथम काल की) और क़ैसर तमकीन वगैरह शामिल हैं. इसका कतई यह मतलब नहीं कि यह तमाम अफ़साना निगार केवल किसी एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं. इनमें अनवर सज्जाद, सुरेन्द्र प्रकाश और गद्दी ने जहाँ अस्पष्ट अफ़साने लिखे थे वहीं उन कहानियों की भी कमी नहीं जो स्पष्ट और वास्तव में कथा वृत्तान्त की सूचक हैं. जैसे कि क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार ने भी इस काल के आम प्रयोगवादी धारणा को मद्दे नज़र रखते हुए चन्द सांकेतिक अफ़साने लिखे जो उनकी विशेष शैली से बिलकुल भिन्न हैं. उनके बाद जो लोग आये या जो सन् 1970 के बाद उभरे उस नस्ल के पहले दौर के अधिकतर अफ़सानों में फैशन का प्रक्रोप व्याप्त है. बाद में उनके यहाँ ठहराव की कैफियत उत्पन्न हुई. इसके कारणों पर आप भी विचार करें और मैं यह भी चाहूँगा कि हम सिर्फ़ और सिर्फ़ समसामयिक अफ़साने की शैलियों और उसके विषय-वस्तु का पता लगाने की कोशिश करें जो एक ही समय विधा, विषय और तकनीक के संयोग से रची जाती हैं. मेरी मुराद सिर्फ़ और सिर्फ़ विषय, चिन्तन या जीवन के रवैये से भी नहीं और न स्पष्टतः किसी विशेष आयडीयोलौजी (सिद्धान्त) की तरफ़ मेरा इशारा है. बात सिर्फ़ इतनी सी है कि हम बिलकुल तटस्थ होकर अफ़साने की समकालीन रचनात्मक धारणाओं पर वार्तालाप करें और यह भी देखें कि इनमें से यह कौन से रवैये हैं जिन्हें ऊपर से लादा गया है और जो आत्मा की तड़प से पैदा नहीं हुए हैं. अफ़साना (कहानी) न तो भाषिक प्रयोग का नाम है और न सिर्फ़ विषय को सूचना के तौर पर पेश करने का नाम. इस तरह हम आसानी के साथ उन अफ़सानों को अलग कर सकेंगे जो सिर्फ़ तजुर्बे के लिए लिखे गये हैं.

जोगिन्दर पाल : यहाँ तुम्हारी मुराद एक्सपेरिमेन्ट (प्रयोग) से है या एक्सपीरियन्स (अनुभव) से. अगर एक्सपीरियन्स से है तो...?

क़मर रईस : नहीं पाल साहब. मैं शायद अपनी बात मुकम्मल नहीं कर सका. प्रयोग जो भाषा की सतह पर किया जाय, चूँकि इसमें करने की एक जानी-बूझी कोशिश का दखल है, इसलिए ग़लत है और अगर वह हमारे अन्दर की अर्ज़ है और आप मजबूर हो गये बात की यूँ नहीं यूँ अदा करने के लिए, तो इस प्रकार का प्रयोग हर दृष्टिकोण से सराहनीय है.

अतीक़ुल्लाह : यह सही है कि हमें सिर्फ़ उन्हीं अफ़सानानिगारों और उनकी कला को अपने वाद-विवाद का विषय बनाना उचित होगा जिनमें सामाजिक अर्थपूर्णता के साथ-साथ रचना की सतह पर कोई नया रवैया भी मिलता हो.

अली जावेद : मगर इसी काल में जिसे आप समकालीन कह रहे हैं कई ऐसे क़ाबिले-ज़िक्र अफ़सानानिगार भी हैं जो बीस-तीस बरस पहले भी बड़ी अच्छी कहानियाँ लिख रहे थे और आज भी उनके यहाँ बड़ी ताज़गी है जैसे ख़ुद जोगिन्दर पाल साहब जो स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, क्या उन्हें आप इस परिचर्चा से अलग कर देंगे ?

जोगिन्दर पाल : हर काल का अफ़साना जिसे आप समकालीन कहते हैं अपने खारिज (वाह्य) व बातिन (आन्तरिक) के दृष्टिकोण से एक तरह उसी काल की रचना होती है. गोया उसे उसी परिवेश में रचा जाना था. आप उसमें कभी साफ़ और कभी धुन्ध में अटी हुई हक़ीक़तों को महसूस करते हैं. कभी एक कम-उम्र या नयी पीढ़ी का रचनाकार उसे महसूस करते हुए भी पूरी रचनात्मकता या रचना विधा के तनाव के साथ उसे कथा का रूप नहीं दे पाता और अगर देता है तो उसमें कच्चापन साफ़ दिखाई देता है और इसी कैफियत या हक़ीक़त (यथार्थ) कभी एक निपुण कथाकार बड़ी आसानी के साथ पूरी रचना-विधा की कुशलता के साथ अदा कर देता है जैसे साठ से ज़्यादा होने के बावजूद सादिक़ हुसैन का अफ़साना 'पुल के नीचे' मेरी स्मृति में सुरक्षित होकर रह गया है.

क़मर रईस : यह तो ईडियम पर गुफ़्तगू की बात है. नये अफ़सानानिगारों में से, जो एकदम प्रयोगधर्मी या अमूर्त अफ़साने लिखने लगे थे, इनमें वास्तविक अनुभव की कमी थी. न तो उन्हें कथा की परम्परा का अनुभव था और न ही भाषा-शैली में वो निपुण थे. इसलिए उनकी कला में नयापन तो अवश्य था और वह एक सतह पर चौंकाता भी था, मगर स्थायी रूप से उसके विद्यमान रहने की ऊर्जा उसमें नहीं थी. आप देखेंगे कि हमारे

बहुत से आलोचकों ने भी हमारे उन नौजवान अफ़साना लिखने वालों को गुमराह किया. दूसरी सूरत आपके सामने है जो पहले से यथार्थवादी अफ़साना लिखते आ रहे थे, जब सूरतेहाल में तब्दीली पैदा हुई और संकेत और अस्पष्ट या अव्यावहारिक जैसी शैलियों पर वार्तालाप आम होने लगा तो उसका असर उन बुजुर्गों ने भी कबूल किया और उन्होंने कई बड़ी अच्छी प्रयोगधर्मी और अमूर्त कहानियाँ लिखीं.

इर्तेज़ा करीम : डॉ. साहब आपने एक बड़े पते की बात कही थी कि हमारे नौजवान अफ़सानानिगारों को बाज़ आलोचकों ने भी गुमराह कर दिया था. इसका मतलब यह हुआ कि नये अफ़साने को हवा देने वाले महज़ आलोचक थे. क्या हमारे अफ़साने की तारीख के अनुक्रम में हम इसे ऊपर से लादा हुआ अफ़साना कहेंगे ?

जोगिन्दर पाल : बड़ा खतरनाक़ होगा अगर क़मर रईस इसे स्वीकार कर लेगा. मैं समझता हूँ क़मर तुम्हारा यह मतलब नहीं है.

क़मर रईस : नहीं हम तो स्वीकार करते हैं कि यथार्थवाद की बुनियाद पर अलामती (सांकेतिक) अफ़साने भी लिख जाने चाहिए. सिर्फ प्रेमचन्द को दुहराने का अर्थ अफ़साने से नहीं है मगर अफ़साने में ख्वाह वह किसी तकनीक में लिखा जाय. अगर सामाजिक महत्त्व, जीवन का वर्णन या यथार्थ का वर्णन नहीं है तो ज़्यादा समय तक अपने प्रभाव को क़ायम नहीं रख सकता. आप देखिए अलामती दृष्टान्त कथा के समवर्ती यथार्थवादी कथा वृत्तान्त की परम्परा भी ज़िन्दा रही. लेकिन इस तरह कि इसमें रमज़ीयत (सांकेतिकता) खुदकलामी आत्मालाप तलाजाम-ए-ख़याल और ऐसे दूसरे तत्त्व दाखिल किये गये कि उसे प्रेमचन्द के वृत्तान्त से अलग पहचाना जाता है. गुलाम अब्बास, अहमद नदीम क़ासमी, इक़बाल मतीन, इक़बाल मजीद और आग़ा सोहैल जैसे अदीबों की कहानियाँ मुझे याद आ रही हैं. मैं समझता हूँ कि इस काल में इस प्रवृत्ति ने ताकत हासिल की है. अगर ऐसा हुआ है तो इसके कारणों और सम्भावनाओं पर ध्यान देना चाहिए.

अतीक़ुल्लाह : आपका मतलब है कि आपने जिसे हक़ीक़त पसन्दाना बयानियाँ (यथार्थवादी वृत्तान्त वाले अफ़साने का) नाम दिया वही रुझान सबसे ताकतवर था. इसलिए वह अलामती अफ़सानों की भीड़ में भी अपने तौर पर ज़िन्दा था और जिसे हम अलामती अमूर्त शैली का अफ़साना कहते हैं, पतन की ओर अग्रसर है. इसके प्रभाव की लय धीमी पड़ती जा रही है.

क़मर रईस : मैं तो यह भी कहता हूँ कि इस प्रकार के अफ़सानों को रिवाज देने में माहनामा 'शबखून' इलाहाबाद का बड़ा हाथ है. शबखून के सम्पादक फारुक़ी साहब ने एक सोची-समझी योजना के तहत यह आन्दोलन छेड़ा था. इसका सबसे बड़ा मकसद यथार्थवाद और प्रगतिशील विचारधारा की परम्परा का विनाश था.

अतीक़ुल्लाह : लेकिन अमूर्त और प्रयोगवादी शैली के वह अफ़साने जिनमें बाक़ायदा कथानक का लिहाज़ नहीं रखा गया था, शबखून से बहुत पहले से लिखे जा रहे थे. मुहम्मद हसन असकरी के मनोवैज्ञानिक और अलामती अफ़साने. अज़ीज़ अहमद के दास्तानी शैली के अफ़साने, इन्तज़ार हुसैन के दृष्टान्त शैली के अफ़साने या मुमताज़ शीरीं के पौराणिक शैली के अफ़साने पाँचवें और छठे दशक की मिसालें हैं. जैसे कि क़ुर्रतुल ऐन हैदर के 'सितारों से आगे' के अफ़साने जो बेहद कच्चे और कोरे हैं, भी हमारे वृत्तान्त की परम्परा की अवहेलना की ओर संकेत करते हैं. क्या यह एक पूरी सिलसिलेवार प्रक्रिया नहीं है.

क़मर रईस : इसके बेशुमार प्रमाण हैं कि 'शबखून' के सम्पादक ने अच्छे यथार्थवादी अफ़साने भी यह कहकर वापस कर दिये थे कि अमूर्त या अलामती अफ़साना भेजिये, छप जायेगा. दस-बारह साल इस तहरीक (आन्दोलन) की बड़ी धूम रही लेकिन अली हैदर मलिक के कथानुसार, फ़ारुक़ी ने 'शबखून' के जरिये जिन अफ़सानानिगारों को बड़े तुमतराक़ से आगे बढ़ाने की कोशिश की थी वो जेनुइन नहीं थे और अगर जेनुइन थे तो फ़ारुक़ी के प्रभाव में आकर गुमराही के शिकार हो गये. देखना चाहिए कि इस आन्दोलन का पतन क्यों कर हुआ और इसके क्या परिणाम सामने आये.

अतीक़ुल्लाह : इसमें कोई शक नहीं कि गुजिश्ता (पूर्व) और नयी नस्ल के समकालीन अफ़सानानिगारों के यहाँ अब स्पष्ट रूप में एक बड़ी तब्दीली दिखाई दे रही है. मैं यह तो नहीं कहता कि अमूर्त या सांकेतिक, प्रारूपीय शैली से यह अफ़साने खाली हैं बल्कि अलामत और प्रयोग का बरताव अब लेख रूपी या दर्शन शैली की तरह भ्रामक नहीं रहा. जो बार-बार हमारे चिन्तन के लिए चैलेन्ज साबित होता है. क़मर साहब ने यह सही कहा है कि बाज़ जेनुइन कलाकार भी इस गुमराही के शिकार हुए हैं."

जोगिन्दर पाल : अरे भाई, इस क़िस्म के घपले तो हर काल की आलोचना ने किये हैं. दोष तो उन फनकारों का ही है जो आँख बन्द करके आलोचकों के जादू में बन्द हो जाते हैं. मैं आलोचक को भी कसूरवार ठहराऊँगा. दरअसल, रचनाकार भी एकदम रातोंरात बालिग़ नहीं हो जाता. इसमें धीरे-धीरे परिपक्वता पैदा होती है. वह बराबर एक के बाद एक अनुसन्धान की प्रक्रिया से गुज़रता है. वह कहाँ सही या कहाँ गलत.

अली जावेद : क़मर साहब यही तो कह रहे हैं कि अब इस नस्ल को ही नहीं उस पुरानी नस्ल को भी अपनी ग़लतियों का एहसास हुआ कि दरअसल हमने बहुत कुछ खो दिया. अक़सर साहित्यकारों के यहाँ रचनात्मक उपज का एक ख़ास दौर होता है जिसमें वह ख़ूब-ख़ूब लिखते हैं और बाद में एक अन्तराल के लिए चुप साध लेते हैं.

इर्तेज़ा करीम : आप इसे सिद्धान्त नहीं बना सकते. हयातुल्लाह अंसारी, अब्दुल्ला हुसैन और क़ुर्रतुल ऐन हैदर ही नहीं ख़ुद जोगिन्दर पाल लगातार लिख रहे हैं और आपके लफ़्जों (शब्दों) में ख़ूब-ख़ूब लिख रहे हैं. फिर आप हदबन्दियाँ कैसे स्थापित करेंगे.

अली जावेद : इर्तेजा साहब ! अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है. मैंने शुरू में ही ज़्यादातर अदीबों की बात कही. सबके लिए नहीं. मैं भी वही कह रहा हूँ जो आपके अवचेतन में है कि हमारे बाज़ नौजवान अफ़सानानिगारों ने आलोचना और वह भी नाकारात्मक आलोचना के प्रभाव के तहत अपनी महत्त्वपूर्ण आयु के एक बड़े हिस्से को खो दिया. वह अपनी सम्भावनाओं को पूरी तरह क्रियान्वित नहीं कर सके.

शारिब रुदौलवी : आप सिर्फ़ आलोचना ही को न देखें. यह भी देखें कि उनमें यानी उन नये अफ़सानानिगारों में रचनात्मक योग्यता कितनी थी. अगर वास्तव में फनकार भरपूर रचनात्मक क्षमता रखता है, उसका अपना एक दृष्टिकोण है तो फिर मुश्किल ही से गुमराह होता है. अगर नये अफ़सानानिगार गुमराह हुए तो उसका साफ़ मतलब यह है कि वह जेनुइन नहीं थे.

जोगिन्दर पाल : हाँ, जेनुइन फनकार को अपना विश्लेषण भी रखना है. मैंने कहानियाँ इसलिए लिखीं कि प्रगतिशील साज़िशों में

पड़कर असाहित्यिक हवालों से कहानी को बेजान कर रहे थे. कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो के जरिए हमें आगे बढ़कर आगे लिखने वालों के नाकाफ़ीपन का एहसास होता है.

अली जावेद : सिर्फ़ पेशेरवों (पूर्व कथाकारों) के नाकाफ़ीपन का एहसास ?

जोगिन्दर पाल : यह बात नहीं है. स्पष्ट रूप से आधुनिकतावादियों को अपनी त्रुटि का एहसास है. ये लोग एक ही क़िस्म की तकनीकों, अलामतों और तनहाई और उत्पीड़न वगैरह ओढ़े हुए थे. बाद में इस डिसइलूजन का एहसास हुआ. यहाँ भी नाकाफ़ीपन का एहसास होता है. अब जाकर अदब और ग़ैर अदब (साहित्य और असाहित्य) में फ़र्क़ महसूस हुआ.

शमीम निकहत : क्या यह प्रभाव बिलकुल उसी तरह का है जैसा कि आपने अपने पेशेरवों (पूर्व लेखकों) के बारे में बताया है ?

जोगिन्दर पाल : अपनी-अपनी धारणाओं में फ़र्क़ होता है. प्रगतिशील अफ़साना में जहाँ केवल तकरार है और एक ही प्रकार की समस्याओं के बगैर किसी रचनात्मक तनाव के बार-बार दुहराया गया है. वह भी उतना ही ग़लत था जितना आधुनिक कथाकारों ने कथा में संकेत, दृष्टान्त या दास्तानी तकनीकों ही को प्रथम और अन्तिम सच्चाई मान लिया था. उन्होंने कहा था जीवन ही में अस्पष्टता है. अब यह पाठक का काम है कि वह अर्थ की गुत्थियों को पहले सुलझाये. फिर कोई अच्छा, बुरा, कड़वा या कोमल प्रभाव का आभास करे. क्या यह सब बेहद रचनात्मकता पर कुठाराघात नहीं था ?

क़मर रईस : हमारी बहस इधर-उधर न निकल जाय. मैं फिर वहाँ से इस बहस को जोड़ना चाहूँगा जहाँ हमने इसे छोड़ दिया था. अतीक़ुल्लाह ने अभी कहा कि बाज़ तकनीकों और शैलियों को बार-बार दुहराने की वजह से उनका आकर्षण भी जाता रहा. एक तरफ तो यह हुआ, दूसरी तरफ प्रेमचन्द से लेकर कृश्न चन्दर और कृश्न चन्दर से लेकर जोगिन्दर पाल, इक़बाल मतीन और सलाम बिन रज्ज़ाक और साजिद रशीद तक एक निम्न रेखा जो बड़ी ताकतवर है, जारी रही और वह है वृत्तान्त के बहाव (रवानी) की निरन्तरता. समकालीन अफ़साना जीवन की समस्याओं से आँखें चार किये हुए हैं. हमारे रौशन ख़याल साहित्यकार बेशक किसी ख़ास दृष्टिकोण या विचारधारा से सम्बन्ध न रखते हों लेकिन वह मानव-मैत्री के असीम आदर्श को सीने से लगाये हैं. वह अत्याचार और शोषण के विरुद्ध खुलकर विद्रोह करते हैं. उनके यहाँ अमूर्त शैली भी है और कभी-कभी अस्पष्ट रचनात्मक भाषा भी मिलती है मगर वह कहानी से कहानीपन को अलग करने के पक्ष में नहीं हैं. विषय और समस्याओं की विविधता उससे पहले कम ही दिखाई देती है क्योंकि उन्होंने विषय के सिलसिले में हदबन्दियाँ स्थापित नहीं की हैं.

निकहत रेहाना खान : अगर यह बात है तो आधुनिक अफ़साने ने औरत और उसकी समस्या को चिन्ता योग्य क्यों नहीं समझा ! क्या यह आवश्यक है कि औरत ही औरत की समस्याओं पर लिखे. प्रेमचन्द ने औरत के केवल एक चेहरे को देखा और उसी को समस्या बना दिया. वाजेदा तबस्सुम ने भी जागीरदाराना समाज से चुन-चुनकर मर्द की सर्वभौमिकता (हाकमियत) जैसे विषय को बरता. इसमें भी उनका मकसद कोई समस्या प्रस्तुत करना नहीं था बल्कि (लज्जत आफिरीनी) अश्लीलता थी.

जोगिन्दर पाल : इस तरह तो कहानी लिखी ही नहीं जा सकती. औरत कोई भिन्न प्राणी नहीं है और आज के दौर में वह दया भी नहीं चाहती. अगर विषय के तअल्लुक से हम खानाबन्दियाँ करने लगेंगे तो औरत, मर्द, जानवर आदि पर लिखने वालों के खाने बन जायेंगे. अच्छा तो यह होगा कि अगर यह मसअला वाक़ई महत्त्वपूर्ण है तो इसका सामाजिक अध्ययन होना चाहिए. अफ़साने में तो जो बात है वह रचनात्मक परिवेश में चुस्त और सुडौल है तो ठीक, तब ही अफ़साना भी बनेगा. फनकार तो 'सेक्सलेस' (लिंगहीन) होता है. औरत में मर्द और मर्द में औरत होती है.

निकहत रेहाना खान : लेकिन ऐसा क्यों है कि पाकिस्तान में महिला कथाकारों के यहाँ पूरा सोसोलॉजिकल कान्टेक्ट (सामाजिक परिवेश) है और उसमें औरत का कटा-कटा सा (लख़्त-लख़्त) पात्र उभरता है.

जोगिन्दर पाल : वहाँ यानी पाकिस्तान में औरत को बराबर का दर्जा नहीं मिला है. यहाँ जम्हूरियत और आज़ादी है. वहाँ इस जब्र (यातनाओं) से बग़ावत के साथ-साथ बेबाकी पैदा हुई है. औरत घर की मालयात में सर्विस करके आंशिक सहायता तो दे रही है मगर मर्द किचन तक नहीं आया.

शमीम निकहत : यह सही है कि पाकिस्तान और दूसरे देशों में उर्दू महिला कथाकारों का परिवेश बड़ा विस्तृत है. फिर्दोश हैदर, सायरा हाशमी, ज़ाहिदा हिना और हमारे यहाँ जीलानी बानो वगैरह के अफ़सानों में फेमिनिज्म के आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है.

क़मर रईस : आपने क़ुर्रतुल ऐन हैदर को भुला दिया. यूरोप में इन दिनों जो महिला साहित्य लिखा जा रहा है उसका तो उन पर कोई असर नहीं है और न उन्होंने कोई अफ़साना भी इसके विरोध में लिखा है. यानी यह कि उसका लक्ष्य विरोध हुआ. उनकी अपनी एक शैली और तकनीक है. इसमें विरोध की मनोवृत्ति सशक्त रूप से आधार भी नहीं बनती. फिर भी 'हसब नसब' जैसी कहानी में वह काफी ब्लंट (धाराहीन) हो गयी हैं. हालाँकि कहानी जिस शिखर पर उन्होंने खत्म की है मैं उससे सहमत नहीं हूँ. लेकिन बकिया अफ़साने में उन्होंने अपनी आदत के ख़िलाफ़ नशतरज़नी की है. मुझे उनका एक खत भी याद आ रहा है. आप लोगों ने भी पढ़ा होगा. उसमें उन्होंने कृष्ण को अपना हीरो माना है और उनके अनुसार अतीत में कृष्ण पर लिखित कविताएँ बड़ी शायरी का दर्जा रखती हैं. कृष्ण प्रेमिका है और औरत प्रेमी. अर्जुन उसकी बहन से प्रेम करता है तो वह ख़ुद अर्जुन को अपनी बहन को भगाकर ले जाने पर राज़ी करता है.

अतीक़ुल्लाह : यह तो हुआ एक पहलू. काश ! इसी उदाहरण को सामने रखकर क़ुर्रतुल ऐन हैदर कुछ अफ़साने भी लिखे देतीं. किश्वर नाहीद ने जब 'सम वन दी ब्वार' की हंगामाखेज पुस्तक का अनुवाद किया तो उस पर पाबन्दी किसने लगा दी ? उसी समाज ने जो स्त्री को चौथे दर्जे का शहरी और प्राणी समझता है. मैं तो समझता हूँ मसअला (समस्या) न औरत की आज़ादी का है और न उसे रोज़गार देने का, मसअला उसे 'इन्सान', एक अपने तौर पर सोचने और बसर करने वाला इन्सान, समझाने का है. जबकि उस पर फ़ेमिनिज्म (स्त्रीत्व) के नाम पर फिर रहम किया जा रहा है. इस सिलसिले में जीलानी बानो का अफ़साना 'आजायब घर' जो हाल ही में कहीं प्रकाशित हुआ है देखें, बड़ा प्रोवोकिंग (उत्तेजक) है.

क़मर रईस : आप सही कह रहे हैं इसलिए मैं पाल साहब की इस बात को भी तसलीम करता हूँ कि विषयों का वर्गीकरण या खानाबन्दियाँ नहीं होनी चाहिए. और न हमें इस वक़्त इस एक समस्या पर इतना

फोकस होना चाहिए. और भी दूसरी समस्याएँ हैं जिन पर वार्तालाप शेष है और समय भी बहुत हो गया है. मैं समझता हूँ हमने अधिकांशतः पिछले स्थापित अफ़सानानिगारों के रचनात्मक रवैये पर ही बहस की है. वह नस्ल जिसने 1975-76 ई. के बाद अपनी पहचान बनायी, वही आज सही अर्थ में समकालीन है. किसी ने एक या दो अच्छी या काबिले-ज़िक्र कहानी लिख दी है तो उससे उनकी पहचान या व्यक्तित्व स्थापित नहीं होता. हमें उन (हमअसर) समकालीन कथाकारों की रचनात्मक क्रियाकलाप और उन सर्वलौकिक गुणों और तत्त्वों को ढूँढ़ना होगा जो एक प्रधान प्रवृत्ति के रूप में उनके यहाँ अग्रसर हैं. और उन गुणों का भी पता लगाना होगा जो उन्हें एक दूसरे से प्रभावित करते हैं. इसी से उनका व्यक्तित्व और पहचान कायम होती है.

शारिब रूदोलवी : आपने 75-76 ई. का जो रेखांकन किया है ऐसा ही क्यों ? हम 1947 ई. के बाद अफ़सानों की प्रवृत्तियों पर बहस कर रहे थे और कहीं-कहीं आकस्मिक नये अफ़सानानिगारों के कला और चिन्तन पर भी गुफ़्तगू हो रही थी. इस तरह एक ऐतिहासिक क्रम कायम रह सकता था. मेरा तो यही ख़याल है, आगे आप की मर्जी.

अतीक़ुल्लाह : सीमा रेखा के निर्धारण के लिए कोई हदबन्दी तो क़ायम करनी होगी और फिर हमारा विषय ही समकालीन अफसाना है यानी वह अफसाना जो मौजूद हालात में लिखा जा रहा है. ख़्वाह वह लिखने वाले उम्र के किसी भी हिस्से में हों. जैसे खौफ़ और आतंक वह वातावरण है जो आज हमारे समाज के लिए हमारे स्वयं यानी वजूद पर व्याप्त है. उसे इन अफ़सानों में बड़ी कुव्वत के साथ उभारा गया है. जो फसादात पर लिखे गये हैं. पिछली पीढ़ी के अफ़सानानिगारों में से सुरेन्द्र प्रकाश का अफ़साना 'हम सिर्फ़ जंगल से गुज़र रहे थे', पर किसी ने ध्यान नहीं दिया. शायद इसीलिए कि इसमें पात्रों की पहचान स्पष्ट नहीं है. सुरेन्द्र प्रकाश ने वास्तव में फसाद को हिन्दू-मुस्लिम जैसे सम्प्रदायों के परिवेश में नहीं देखा और ना ही सारे झगड़ों की जड़ें अर्थशास्त्र में देखी हैं.

क़ैसर तमकीन ने भी इस विषय को स्थूलता के साथ लिया और हमदर्दाना समझ से मानव समुदाय के पतन के रूप में इस समस्या को देखा तो 'तन्नूर' जैसी कहानी की रचना हुई. इस धारणा को और फैलायें तो आग़ा सोहेल की 'गाँठ' और 'कारवां दिल का', सलाम बिन रज्जाक की कहानी 'सवी' और इक़बाल मजीद की कहानी 'हिकायत एक नेज़े की' का जिक्र सदैव होगा. यह मंज़रनामा बदल जाता है मगर असुरक्षा, भय, आतंक और इन्सानी रिश्तों की पामाली (दुर्दशा) और बेयकीनी (अविश्वास) की दशाओं ने जिस वातावरण की रचना की है वह हमारा आज का इतिहास है.

निकहत रेहाना : जदीद (नवीन) या आपके शब्दों में समकालीन अफ़साने के विषयों में अधिकतर हमारे काल से सम्बन्धित हैं. भले ही, उन्हें किसी भी रचनात्मक शैली में अदा किया गया हो. यह अफ़साने राजनीति, धर्म, मिथ्याधर्म, साम्प्रदायिकता, हिंसा, फसाद और सामान्य अपराध से सम्बन्धित है. जैसे इक़बाल मजीद के अफ़साने 'पोशाक' और 'मोहाफेअत', सलाम बिन रज्ज़ाक की कहानी 'मोअब्बिर', अनवर क़मर की 'काबुली वाले की वापसी', शौकत हयात की 'मज़बूरी', मुशताक़ मोमिन की 'रतजग्गों का ज़ेवाल' आदि उल्लेखनीय हैं. इन कहानियों में शैली वैविध्य है और तकनीकों का भी नयापन है. सबसे अहम बात यह है कि इनके विषयों या वातावरण में खौफ़ और आतंक का पहलू अधिक उन्नमुख है. मगर उनका प्रभाव सामान्य नहीं है क्योंकि हर कहानीकार के सोचने और कहानी को बयान करने का ढंग अलग है. यही चीज़ इस अफ़साने को निकट भूतकाल के अफ़सानों से अलहदा करती है.

क़मर रईस : अभी कुछ वर्ष पहले तक एहसास-ए-तनहाई, बेगानगी, बेचेहरगी, मूल्यों की पराजय या पतन और बिखराव आदि समस्याओं को विशुद्ध अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से देखा जा रहा था और सारा ज़ोर इस बात पर था कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी में जो तीव्रगति से तरक़्क़ी हुई है वह मानवीय संवेदना से वंचित है. इनसान अपने व्यक्तित्व से निराश होता चला जा रहा है. असल में हम यह भूल रहे थे कि इन तरक़्क़ियों के बदले में हमें सामाजिक न्याय और सामाजिक समानता उपलब्ध होगी. मगर इनसान के विध्वंसता के जूनून में और बढ़ोत्तरी हुई है.

हमारे लिखने वालों ने केवल आन्तरिक विश्लेषण किये और कहानी को ख़ूबसूरत रचनाओं में बदल दिया. चूँकि वास्तविक समस्याओं से कहानी नहीं उभरी थी, इसलिए बहुत जल्द वह बेमज़ा हो गयी. कहानी अब अपने केन्द्र की तरफ़ लौटी है जो न सिर्फ़ अपनी पहचान बना रही है बल्कि यह भी बता रही है कि सारी इन्सानियत का रुख किस ओर है. हमारे मुल्क में जो हिंसा की लहर आयी है उसके पीछे धार्मिक जुनून और अपनी सीमित आकांक्षाओं की प्राप्ति की प्रवृत्ति है. इसे हमारे अफ़सानानिगारों ही ने नहीं, उन अफ़सानानिगारों ने भी तीव्रता से महसूस किया है जो बाहर के देशों में आबाद हैं और जिन्हें अपना पुश्तैनी वतन बार-बार हॉन्ट करता है. डॉ. खालिद सोहेल, जिनके अफ़सानों का संग्रह 'जिन्दगी का ख़ला' के नाम से प्रकाशित हुआ था, के ताज़ा अफ़साने उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि और ज़िन्दगी को फैले हुए परिवेश में देखने और समझने की बेहद कामयाब मिसालें हैं. खालिद सोहेल के अफ़साने नयी विश्व संस्कृति के परिवेश और मूल्यों की कशमकश का आईना हैं. उनके यहाँ विरोध की दशा दूसरों की निसबत (तुलना में) ज़्यादा स्पष्ट है. हरचरण चावला जिन्होंने अपने आपको देश के त्याग करने वालों के ठोस और जज़्बाती समस्याओं तक सीमित कर लिया था अब अपने दायरे को विस्तृत कर रहे हैं. अजनबीयत और सांस्कृतिक पहचान का मसअला तक़रीबन तमाम अफ़सानानिगारों के यहाँ किसी न किसी तौर पर मौजूद है. मगर क़ैसर तमकीन और अब्दुल्ला हुसैन की कहानी-कला में अधिक तटस्थता के साथ उन्मुख हआ है. आबिद जाफरी, जितेन्द्र बल्लू, मोहसिन शमसी, मुस्तफ़ा करीम और सईद अंजुम आदि के यहाँ यथार्थवादी और वर्णनात्मक शैली की नवीन सम्भावनाएँ रौशन हुई हैं. पाकिस्तान में अनवर सज्जाद, मोहम्मद मंशा याद, मिर्ज़ा हामिद बेग, ज़ाहिदा हिना और सायरा हाशमी के अफ़सानों में इज़हार व बयां (भाषा शैली) के नये प्रयोगों के साथ कहानीपन की परम्परा पूरी शक्ति के साथ जारी है. ये लोग अपने ढंग से प्रारूपों और संकेतों का प्रयोग कर रहे हैं. जीवन की गहरी सच्चाइयों से जुड़े हुए हैं और अपनी रचनात्मक ऊर्जा पर उन्हें पूरा विश्वास है.

शारिब रुदौलवी : डॉ. सोहेल के अफ़सानों में जो ज़ेहनी और मनोवैज्ञानिक समावेश है वह बिलकुल नवीन है. वह ख़ुद भी पेशे के अनुसार से डॉक्टर हैं जैसे कि पाकिस्तान में अनवर सज्जाद हैं. इन दोनों के यहाँ जिस्म से रूह तक का सफ़र बड़ा जटिल और अर्थपूर्ण है. सोहेल अनवर के मुक़ाबले में ज़्यादा प्रवोक करते हैं क्योंकि वह ज़्यादा आउट स्पोकन और भय रहित हैं. विदेशों में

लिखने वालों में उनका व्यक्तित्व एकदम स्पष्ट है.

अतीक़ुल्लाह : इसमें कोई शक नहीं कि सोहेल अपने विषयों में बड़े ब्लंट हैं मगर ब्लंटनेस ही सब कुछ नहीं है उनके मनोवैज्ञानिक तजुर्बात (अनुभव) और सर्वेक्षण बड़े अनोखे और वाकई चौंकाने वाले हैं और कुछ रूढ़िवादियों के लिए सदमा पहुँचाने वाले हैं. मगर वह विषय या समस्या को सौन्दर्य शिल्पों में ढालने की कोशिश करते हैं. वह सिर्फ़ संवाद के सहारे समस्याओं का बखान करते हैं या उन पर आलोचना करते हैं. मगर कला कुछ और वस्तु है. इसमें रचनात्मक प्रेरणा की कमी है. क़मर साहब ने बताया है कि उनके ताज़ा अफ़सानों में बड़ी शक्ति और पुख़्तगी (परिपक्वता) है जो अभी तक मेरी नज़र से नहीं गुजरे हैं.

जोगिन्दर पाल : मैं भी यही कहना चाहूँगा कि कहानी न सिर्फ़ बयान है न व्याख्या न विश्लेषण. जब तक कोई विषय आपका व्यवहार न बन जाय, आपकी वारदात न बन जाय, तब तक कहानी लबेगोया से वंचित रहती है. यह कला मुद्दतों में आती है. निरन्तर निराशाओं नाकामियों और सदमों से गुज़रकर आप कुछ सीखते हैं. यकायक कोई रातोंरात बड़ा नहीं बन जाता. कई दोज़खों (नर्क) से गुज़रकर कुन्दन बनता है. पिछले दिनों नये लिखने वालों ने बहुत तेज़ी के साथ अपने आपको मनवाने की कोशिश की और वह गुमराह हुए. थोड़े रंज (तकलीफ़) उठाओ, रचना की पीड़ा सहो, फिर आपकी आवाज़ में गूँज पैदा होगी. तब वह महानता दीर्घायु प्रमाणित होगी.

इर्तेज़ा करीम : पाल साहब, यह क्या डॉक्टर सोहेल के सम्बन्ध में आपने कहा है या...

जोगिन्दर पाल : सोहेल पर भी यह लागू होता है. अतीक़ुल्लाह से मैं सहमत हूँ कि अभी उन्हें अपनी और दूसरों की आग में तपना और झुलसना है. रुक-रुककर थम-थमकर चलेंगे तो देर से सही मगर मज़बूती के साथ अपनी मंज़िल तक पहुँचेंगे; और मेरे दोस्त ! इस सफ़र में मंज़िल भी कहाँ ? बस एक सिलसिला सा है मृत्यु के समय तक. हर नयी कहानी के साथ मैं पैदा होता है और मुद्दतों उसके साथ कहानी ब कहानी आवागमन का सिलसिला स्थापित रहता है.

शमीम निकहत : अभी तक समकालीन अफ़साना लिखने वालों की कुछ कहानियों की चर्चा हुई है. उनके फन (कला) पर कम ही बातचीत हुई है. बेहतर यह होगा कि हम यह भी देखें कि उनकी कला या उनके विषय उनकी पिछली नस्लों (पीढ़ियों) से किन-किन धरातलों पर भिन्न हैं. क़मर साहब ने विदेशी अफ़सानानिगारों में कुछ महत्त्वपूर्ण नाम भुला दिये. मुख्यतः खवातीन (महिला) अफ़साना-निगारों में चाँद किरण, खुफिया सिद्दकी और शाहेदा अहमद के कुछ अफ़साने बहुत अहम हैं.

निकहत रेहाना : और हमीदा मोईन और डॉक्टर अमीर ज़ोहरा और फिरोज़ा जाफर भी पिछले कई वर्षों से लिख रहे हैं. उनकी तकनीकों में समानता नहीं है और न ही नारीवादी आन्दोलन के प्रभाव के तहत लिख रही हैं. बल्कि विषय के चयन नाम की चीज़ उनकी कला में नहीं है.

अली जावेद : विषय का चयन तो प्रगतिशील अफ़सानानिगारों के यहाँ भी नहीं था जैसा कि उन्हें बदनाम किया जाता है. नये सिरे से वस्तुनिष्ठ आधार पर प्रगतिशील कहानी पर चर्चा होनी चाहिए क्योंकि कृश्न चन्दर, बेदी, इस्मत चुग़ताई, मंटो, अहमद नदीम कासमी, बलवन्त सिंह, महेन्द्रनाथ और ख्वाजा अहमद अब्बास आदि उल्लेखनीय लिखने वालों का अपना-अपना व्यक्तित्व है. यह तो सारा घपला संकीर्ण जेहनों के मालिक साहित्यकार करते हैं. हर काल में चन्द ही साहित्यकार अपनी पहचान बना पाते हैं.

खालिद अशरफ : हाँ, बिलकुल इसी तरह जैसे उनके बाद के अफ़सानानिगारों में से केवल चंद ही ज़िन्दा रहेंगे.

क़मर रईस : यकीनन जोगिन्दर पाल हमारे काल के एक ऐसे अकेले अफ़सानानिगार हैं जिन्होंने कहानी की कला को नयी बुलन्दियों से परिचित कराया है. उनके साथ रामलाल, गयास अहमद गद्दी की कुछ कहानियाँ, इलियास अहम गद्दी और इक़बाल मतीन आदि के अफ़साने नवीन चिन्तन शैली का आईना हैं. शफक, अब्दुलस्सदाद, सैयद मोहम्मद अशरफ, तारिक़ छतारी, हुसैन उल हक, सलाम बिन रज़ाक, अनवर क़मर, अनवर मेहदी टोंकी, अनवर खान, मोशर्रफ आलम जौकी, मुश्ताक़ मोमिन, शौकत हयात, साजिदा रशीद आदि ने उन्हीं की वर्णनात्मक शैली की परम्परा को आगे बढ़ाया है. जो चीज़ सबसे ज़्यादा मुखर होकर सामने आयी है वह यह कि 70 ई. और 75 ई. के इर्द-गिर्द जिस 'शबखूनी' आन्दोलन ने नये ज़हनों को गुमराह किया था उससे उसकी कला गन्दी नहीं हुई. उनकी कहानी अगर सांकेतिक है तो इसकी एक सतह वह है जिसे आप 'कंक्रीट' कह सकते हैं जिसे आप छू सकते हैं महसूस कर सकते हैं. जिसमें रेज़ा-ख़याली नहीं होती बल्कि निपुणता होती है. उनके यहाँ मुख्यतः सैयद मोहम्मद अशरफ, मुशर्रफ आलम ज़ौक़ी और सलाम बिन रजाक़ के यहाँ शुरू ही से कलात्मक सुदृढ़ता पायी जाती है जो आपसे चिन्तन, वैभव और रेयाज़ की माँग करती है.

मैं समकालीन अफ़साना से बेहद आशा रखता हूँ. मुझे उम्मीद है कि यथार्थवादी अफ़साना, वर्णनात्मक अफ़साने की परम्परा और सुदृढ़ होगी. आप हजरात ने अपना कीमती वक़्त देकर इस परिचर्चा को कामयाब बनाया. मैं सम्पादक 'इन्शा' और अपनी तरफ से आपका बेहद आभारी हूँ. ▣

रचनाएँ आमंत्रित

'कथादेश' के आगामी अंक से नवोदित रचनाकारों के लिए हम एक नया स्तम्भ शुरू करने जा रहे हैं :

होनहार बिरवान

इस स्तम्भ हेतु किसी भी साहित्यिक विधा की मौलिक एवं अप्रकाशित रचनाएँ आमंत्रित हैं. रचनाएँ साफ-साफ लिखीं अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए. रचनाओं के साथ रचनाकार अपना चित्र, संक्षिप्त परिचय एवं अस्वीकृति की स्थिति में वापसी हेतु उपयुक्त डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें.

इस स्तम्भ हेतु प्रेषित रचनाओं के लिफाफे पर 'होनहार बिरवान हेतु रचना' अवश्य लिखें.

इस स्तम्भ हेतु कोई उम्र सीमा निर्धारित नहीं है. रचनाएँ स्तरीय हों, इसका ध्यान रखें.

—सम्पादक

◆ आलेख ◆

उर्दू कहानी के पचास बरस

●

अतीक़ुल्लाह

उर्दू कहानी के पचास बरसों को सिर्फ़ एक लेख में समेटना बड़ा मुश्किल काम है. मुश्किल इस अर्थ में भी कि इन बरसों में कहानी बड़ी तेज़ी से विभिन्न बाहरी और अन्दरूनी परिवर्तनों से दो-चार होती रही है. हर तब्दीली के पीछे कोई न कोई नया रुझान ज़रूर काम करता रहा, जिसके कारण नयी कहानी के रिश्ते 1947 से पहले की परम्परा से ढीले पड़ते गये. परम्परा को तोड़ने या परम्परा से पीछा छुड़ाने के तर्क ने बेशक उर्दू कहानी के आन्तरिक कैनवस को बड़ा विस्तृत किया और शैली, शिल्प व तकीनक में प्रयोग की राहें हमवार हुईं. कुछ प्रयोग अस्थायी साबित हुए और कुछ प्रयोग हमारी कहानी की परम्परा में रच-बस गये.

उर्दू में प्रेमचन्द से पूर्व 'यलदरम' ने भी कुछ अफ़साने या अफ़साने-रूपी निबन्ध लिखे थे और स्वयं प्रेमचन्द ने भी अक्सर अपनी कहानी को मज़मून (निबन्ध) का नाम दिया था लेकिन कहानी की वास्तविक कला प्रेमचन्द ही की लेखन-शक्ति का नतीजा थी.

प्रेमचन्द के युग पर रूमानी कहानियों का बड़ा प्रभाव था. यलदरम के तुरन्त बाद नियाज़ फतहपुरी और मजनूँ गोरखपुरी के अफ़साने रूमानी मिज़ाज के धारक थे, जिनका सम्बन्ध संयोग से कम, वियोग से अधिक था, औरत अब भी स्पर्श के तज़र्बों से कोसों दूर थी. नौजवानों की बस एक समस्या थी : इश्क़ और तन्हाई, जिसकी तान एक लम्बे वियोग, विच्छेद, बे-मेल शादी या किसी एक की मौत पर टूटती थी. इन कहानीकारों का मुख्य रुझान ख़्वाब-परस्ती था, जिसका अंज़ाम हमेशा उल्टा निकलता था. बुनियादी तौर पर इनका जुड़ाव शेरयत से था और थोड़ी-बहुत गुंजाइशों का सम्मान करने के बावजूद परम्परा से ही उन्होंने जन्म लिया था. अफ़साने की कला में हर पहलू अपना एक मुक़ाम रखता है, दूसरे पहलुओं के साथ भी उनके सम्बन्ध की एक ख़ास सूरत होती है, जबकि प्रेमचन्द के उदय के ज़माने में इन कहानीकारों ने कहानी की तंग व सीमित चारदीवारी में दास्तान की आन्तरिक लहर और रफ़्तार को बनाये रखने की कोशिश की और एक ऐसी सजी-बनी हुई भाषा को अपना मुहावरा बनाया, जिसका सरोकार चीज़ों को खोलने से कम, उन्हें ऊपर ही ऊपर चमकाने से ज़्यादा था.

प्रेमचन्द ने जिस ढंग से उर्दू कहानी को ज़िन्दगी का सबक़ सिखाया था, हमारे कथा-साहित्य के इतिहास में वह एक इन्क़लाबी क़दम से कम न था. उर्दू कहानी एकदम एक अलग राह पर चल पड़ी, यह वही राह थी जो आगे चलकर मंटो, इस्मत चुग़ताई और बेदी की मंज़िलों से गुज़रती हुई हमारे काल के ज़मीर से अपने आयाम जोड़ लेती है.

प्रेमचन्द का इन्सान बुनियादी तौर पर नेक ही था और प्रेमचन्द का ईमान भी इन्सान की बुनियादी नेकी पर ही था. वह अपनी कहानी के ज़रिये यह भी साबित करते हैं कि इन्सान को समझना असम्भव नहीं है. जबकि मंटो ज़िन्दगी के इस गहरे विडम्बनापूर्ण पक्ष पर से निरन्तर पर्दा उठाने की कोशिश करता है कि न सिर्फ़ उसके लिए इन्सान की समझ बेहद मुश्किल है, बल्कि उसके चरित्र तक अपनी हक़ीक़त को नहीं समझ पाते हैं. जो कुछ हो रहा है, बस हो रहा है—एक ऐसे खेल की तरह, जिसके कलाकार स्वयं उसके दर्शक भी हैं, उसकी हर हालात का हिस्सा भी हैं और हर क्रिया में शरीक भी हैं. मंटो ने इन्सान के जिस पहलू को बुराई के तौर पर पेश किया है, वह बहुत स्पष्ट, साफ़ व तकलीफ़देह सही, लेकिन इन्सान की नेकियों और मासूमियतों के झुरमुट में या इन चरित्रों की भीड़ में वह बुराई किसी हाशिये में गुम हो जाती है, या उस का प्रभाव मिटने लगता है (मोजील); या जिनकी दिलचस्पी इन्सानी रिश्तों को एक नया सन्दर्भ, एक नया अर्थ जुटाने में होती है और यह सारी प्रक्रिया उनके हाथों बड़ी मासूमियत के साथ पूरी होती है (बाबू गोपी नाथ). एक दृष्टि से देखने पर मंटो की कहानी का सारा परिप्रेक्ष्य ही बड़ी सिनिकल होता है, लेकिन किसी न किसी सतह पर विडम्बना भी एक महत्त्वपूर्ण काम करती नज़र आती है और हम एकदम स्वयं से सवाल करने लगते हैं कि इन्सान की संरचना ही में कोई दोष तो नहीं !

मंटो का युग अफ़साने के फ़न को हज़ार तरीक़ों से आज़माने का युग था. कृश्न चन्दर ने लगभग हर तकनीक में कहानी लिखने की कोशिश की, चरित्रों में भी बड़ा फैलाव रखा, लेकिन क्राफ़्ट में वह चुस्ती और सघनता पैदा न हो सकी, जो बहुत-सी प्रतिक्रियाओं को बड़ी फ़नकारी के साथ किसी एक समग्रता में ढाल देती है. उनका यथार्थ-लेखन, भाषा और माहौल को रोमांटिक तौर पर आज़माने के कारण, सच के अनोखेपन से परिचित कराने में अकसर असफल साबित होता है. इसी तरह के बहुत से अंतर्विरोधों ने कृश्न चन्दर की कला को किसी एक सशक्त केन्द्र पर स्थापित नहीं रहने दिया. बेदी को यह कला आती है. इन्सानी रिश्तों के दरम्यान जो बहुत से रहस्य व भेद हैं और जो गाँठें पड़ जाती हैं और बग़ैर किसी स्पष्ट कारण के जो कड़वाहटें पैदा हो जाती हैं, बेदी ने चुन-चुनकर उन्हें न केवल स्पष्ट किया है, बल्कि उन्हें बहुत से नाम भी देने की कोशिश की है. एक विडम्बना वह थी जिसे मंटो ने एक बहुत बड़ी ट्रेजिडी के तौर पर पेश किया था और वहाँ-वहाँ बड़ी ज़बरदस्त पकड़ की थी, जहाँ इन्सानियत को बड़े नुक़सान का सामना था. बेदी ने मंटो के मुक़ाबले पर एक छोटे से कैनवस में इन्सानों की एक कटी-फटी दुनिया बसायी थी, जहाँ मुकम्मल कुछ नहीं था. सबके सब अधूरे, कच्चे और अपरिपक्व थे. यह चीज़ मंटो के यहाँ भी मौजूद है, लेकिन मंटो का कार्य-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र से अधिक मैदाने-क़यामत का दर्जा रखता है, जहाँ एक अधिक विस्तृत सतह पर आपा-धापी और हा-ओ-हू की स्थिति है. बेदी एक छोटी-सी दुनिया आबाद करते हैं, उसे बड़े चाव के

साथ बसाते हैं, फिर बड़ी गम्भीरता के साथ उसे टूटता-बिखरता हुआ देखते हैं. लेकिन फिर भी बनावट से वे हाथ नहीं उठाते यानी उन घोर अँधेरों में भी रौशनी की एक किरण कहीं न कहीं दबा-छुपाकर वे रख ही देते हैं. इस तरह बड़ी त्रासदी से उनकी कहानी बाल-बाल बच जाती है. इसी तौर पर 'लाजवन्ती' अपनी ट्रेजडी में 'खोल दो' से बहुत पीछे रह जाती है लेकिन प्रभाव में उसका अपना जादू है और इस जादू को बेदी के कहानी के बुनाव और उसकी एक ख़ास प्रकार के रख-रखाव का नतीजा भी कह सकते हैं.

इस्मत चुग़ताई हिन्दुस्तानी लेखिकाओं में सबसे ब्लंट और बे-ख़ौफ़ आवाज़ के तौर पर उभरीं. उन्होंने कला की सतह पर तो कोई प्रयोग नहीं किया, लेकिन जीवन के जिन पहलुओं की तरफ़ ध्यानाकर्षित किया और मर्द व औरत के मनोविज्ञान के जिन पहलुओं और ग्रन्थियों को अफ़साने की ज़बान दी, वे अभी तक पर्दे के पीछे ही थीं. इस्मत ने नैतिकता, धर्म और तहज़ीब के पाले हुए उन मूल्यों को पूरी ताक़त, व्यंग्य और तिरस्कार के साथ आलोचना का विषय भी बनाया, जिनसे विलास-कक्षों का संरक्षण होता है और जो लिंग व यौन शोषण पर समाप्त होते हैं. इस तरह वर्गों में बँटे हुए नैतिक मूल्यों और उनके ढकोसलों व भ्रमों को इस्मत ही ने पहली बार अपने कथा-साहित्य में समस्या के तौर पर जगह दी. जिन्सी आज़ादी की भी वह ज़बरदस्त समर्थक हैं और औरत की यौन वृत्ति, दबी-छुपी आरज़ुओं और दबी-कुचली यौन भावनाओं को उन्होंने हमदर्दीपूर्ण समझ के बजाय बड़ी बे-दर्दी के साथ उजागर किया है. वह औरत को उकसाती हैं, झिंझोड़ती हैं, यहाँ तक कि मर्द की तरह इधर-उधर मुँह मारने तक की आज़ादियों से उसे लाभान्वित करने पर उतारू नज़र आती हैं. इस्मत ने वर्ग संघर्ष की बजाय लैंगिक संघर्ष को अपनी कहानी में प्राथमिकता दी और इसी बुनियाद पर प्रगतिशील आलोचकों ने उन्हें मंटो की तरह अपनी सूची से बाहर कर दिया या औथेंटिक नहीं माना.

मंटो, बेदी, अहमद नदीम क़ासमी और इस्मत की रचनात्मक पहचान का ज़माना प्रगतिशील अदबी आन्दोलन के उत्कृष्ट का और फिर पतन का युग भी है. ब्रेदी नैतिक तौर पर अन्तिम साँस तक इसी आन्दोलन से जुड़े रहे. लेकिन अपने ठेठ राजनीतिक अर्थ में इन चारों कहानीकारों की कला और विषय न तो पत्रकारिता की श्रेणी के थे, न क्रान्तिकारी प्रकार के और न ही पार्टी लाइन के अनुसार. चारों ने अपनी कला को आम और प्रचलित नारेबाज़ी से काफ़ी दूर रखा. यही कारण है कि बाद की नस्लों को अपने आपको वैचारिक धरातल पर मंटो या बेदी से जोड़ने में कोई झिझक नहीं हुई. इसी तरह रशीद जहाँ के बाद इस्मत चुग़ताई के फ़ेमिनिस्ट रुझान में उन्हें ज़्यादा ईमानदारी और सच्चाई की झलक नज़र आयी. यह ज़रूर कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कहानी के प्रोपेगेंडा और सामयिक हिस्से को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाये तो मंटो, बेदी और इस्मत की कहानी के चिह्न उभर आते हैं. प्रगतिशील आन्दोलन ने फिक्शन के जिस माहौल को बढ़ावा दिया था और जिस विद्रोहपूर्ण संवेदनशीलता को सींचा था और जिस तौर पर बात करने का हौसला अता किया था, अहमद नदीम क़ासमी और इस्मत के रचनात्मक विवेक पर उसके सीधे प्रभाव को सहज ही महसूस किया जा सकता है.

प्रगतिशील आन्दोलन के उत्थान के समय में एक पीढ़ी तो कृश्न चन्दर और ख़्वाजा अहमद अब्बास की समकालीन थी, जिसमें मंटो और इस्मत भी थी, दूसरी वह थी, जिनकी उम्रों में पाँच-दस बरस का फ़र्क़ था और जो किसी नये रास्ते की तलाश में थी. इनमें भी दो मानसिकताओं के लोग थे. एक पीढ़ी समझौते की राह को तरजीह देती है, जिसमें रामलाल और जोगिन्दर पाल मुख्य थे, दूसरे कहानीकारों में थोड़ी बहुत उम्रों के फ़र्क़ के साथ हसन अस्करी, मुमताज़ शीरीं, अज़ीज़ अहमद, मुमताज़ मुफ़्ती, क़ुर्रतुल-ऐन-हैदर और इन्तज़ार हुसैन वग़ैरह थे.

अफ़साने को एक तजुर्बे के तौर पर हसन अस्करी, मुमताज़ शीरीं और अज़ीज़ अहमद ने आज़माया था और उसको इन्सान के अन्दर की दुनिया की ओर मोड़ने की कोशिश की थी. वे समस्याएँ और विषय, जो उर्दू अफ़साने का मुहावरा बन गये थे और जिनकी लय भी किसी क़दर ऊँची थी, और तकनीक में भी यकसानियत (एकरूपता) का शिकार थे, इन कहानीकारों ने उसे आदर्श मानने से इनकार कर दिया. मुमताज़ मुफ़्ती ने इन्सान की साइकी के पेचीदा और लगभग रहस्यमय पहलुओं में एक असीम दुनिया का अनुभव किया, जिसमें हैरत भी थी और ताज़गी भी. मुमताज़ मुफ़्ती के अलावा भी बहुत से कहानीकार थे, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक उलझनों पर अपने अफ़साने को आधारित किया, लेकिन मुफ़्ती ने मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सामाजिक सन्दर्भ में देखने की कोशिश की थी. मुमताज़ मुफ़्ती का महत्त्व इन अर्थों में भी है कि उनके चरित्रों के आन्तरिक विश्लेषण बेहद विस्तृत, संगठित और भरोसेमन्द हैं, वह केस हिस्ट्री से ज़्यादा इन्सान के अन्दर के उन संघर्षों और उलझनों का इक़रार हैं, जिनको समझने और जिनके भेद को जानने के लिए अभी तक हमारा समाज तैयार नहीं हो सका है. मुफ़्ती की तर्ज़ की कहानियों में उनसे बेहतर कोई और नहीं है.

इन्तज़ार हुसैन अपनी बेहतरीन रचना में हमें कहानी का वह पुराना सबक़ याद दिला रहे हैं, जो हमारे ज़हन की तहों में कहीं गुम हो गया है. कहानी न सच होती है न झूठ, वह किसी पुष्टि (वेरिफिकेशन) के लिए होती है न कि अस्वीकार (रिजेक्शन) के लिए, बस वह होती है, अपनी दलील आप, अपना औचित्य आप. इन्तज़ार हुसैन की कहानियाँ इन्हीं अर्थों में अपना औचित्य आप हैं. वह इन्सानी दुनिया के गुमशुदा ख़्वाबों, गुम-कर्दा नेकियों और इन्सान के खोये हुए या भूले हुए बचपन की मासूमियतों का बखान हैं. एक ऐसा शफ़्फ़ाफ़ आईना, जो हमें अपनी उन असल सूरतों से परिचित कराता है, जो किसी क़दर टूट-फूट गयी हैं, धुँध में अट गयी हैं. इन्तज़ार हुसैन ने इन्सान की इस महान त्रासदी का हमें एहसास दिलाया है कि हमने अन्धाधुँध पाने की होड़ में कैसी और कितनी क़ीमती धरोहर गँवा दी है.

इन्तज़ार हुसैन की कहानी पाश्चात्य कहानी की परिभाषा पर बहुत कम चुस्त बैठती है. उनके बेहतरीन अफ़सानों जैसे 'आख़िरी आदमी', 'ज़र्द कुत्ता', 'परछाई' और 'सीढ़ियाँ' आदि में प्लाट की वह चुस्ती या मूड या घटनाओं में वह तारतम्य नहीं है जो प्रभाव के सातत्य का सबब बनता है, क्योंकि इन्तज़ार हुसैन की एक कहानी में एक साथ कई कहानियाँ सिमट आती हैं. इस तरह एक ही कहानी अनेक बार कई इतिहासों से गुज़रती है. इन्तज़ार हुसैन की यह तकनीक पूर्व की कथाओं की परम्परा ही को पुनर्रचित करती है. इसी कारण उनके अफ़सानों में नये मिथक निर्माण का रुझान भी स्पष्ट है.

इन्तज़ार हुसैन की कहानी की तकनीक और उसकी शैली अत्यन्त एकाकी व अद्वितीय और भिन्न है और इन्तज़ार हुसैन ने इसी एक लीक पर चलकर कमोबेश आधी सदी गुज़ार

दी है, इसलिए इसमें अब कोई ताज़गी या नयापन बाक़ी नहीं रहा और न ही हमारे समय में इन्तज़ार हुसैन के अलावा, उनसे ज़्यादा कोई इस तकनीक व शैली में कामयाब है और न ही अब इसमें फलने-फूलने की सम्भावनाएँ बाक़ी हैं. स्वयं इन्तज़ार हुसैन ने अपने मुहावरे को इस कदर घोटा और पीटा है कि उनके पाठकों के लिए उसने एक क्लिशे (ठप्पे) की सूरत ग्रहण कर ली है.

क़ुर्रतुल ऐन हैदर की कहानियों में वह विषयगत गहराई तो नहीं पायी जाती, जो इन्तज़ार हुसैन की ज़्यादातर कहानियों के आन्तरिक कैनवस को काफ़ी विस्तृत कर देती है, लेकिन उनके यहाँ ज़िन्दगी के अनुभवों की रंगारंगी झलकियों में काफ़ी फैलाव मिलता है. ये झलकियाँ शुरू में बड़ी हद तक अन्दरूनी और किसी हद तक मनोवैज्ञानिक और बहुत छोटे-से क्षण पर आधारित होती थीं. इनमें बिखराव, टूट-फूट और असंगठन का भाव स्पष्ट होता था. इस प्रकार की शुरुआती कहानियों को बड़ी आसानी से प्रभाववादी टुकड़ों का नाम दिया जा सकता है. जबकि अपनाईयत का तज़र्बा दुख की एक अन्दरूनी लहर, खोने का एक नाजुक-सा अहसास, वजूद की समझ की एक गहरी तड़प, और इन तमाम सूरतों के अलावा लेखिका का अपने चरित्रों के साथ एक हमदर्दाना बल्कि साझेपन का रवैया अधिकतर कहानियों के अंतर में मौजूद है. शुरुआती कहानियों का बनावटीपन बाद में दूर हो जाता है और उसकी जगह बेतकल्लुफ़ी ले लेती है. समय के किसी भी मोड़ से कहानी शुरू हो जाती है और बग़ैर किसी रिजर्वेशन के एक ख़ास रफ़्तार पर क़ायम रहती है. यह रफ़्तार यक़ीनन उन अफ़सानों में बरक़रार नहीं रहती, जिनमें फैन्टेसी की बुनियाद पर हक़ीकत के अन्दर घुसकर या हक़ीक़त से परे और परे उन वैकल्पिक हक़ीक़तों और उनकी सम्भव और असम्भव सूरतों और आगहियों की जुस्तुजू फ़नकार का मक़सद होता है, जिन्हें तख़्लीक का भाव देना कल्पना की बेहतरीन रचनात्मक क्षमता ही से सम्भव है. कुर्रतुल ऐन के ज़्यादातर अफ़साने इन्सान की संकीर्ण दृष्टि, ख़ुदग़र्ज़ी, और अदूरदर्शिता का हवाला हैं और इस हवाले के परिप्रेक्ष्य में उनके उस मस्तिष्क को समझना बहुत मुश्किल भी नहीं है, जो नैतिकता को अपने एक विशेष अर्थ में देखता है और जिसकी कमी आहिस्ता-आहिस्ता इस ख़ूबसूरत दुनियावी स्वर्ग को दहकते हुए नरक में बदलती जा रही है.

वारिस अल्वी ने लिखा है कि रामलाल कहानी को क़ुदरती भाव से लिखते हैं और यह भाव वही है, जिसके तहत मोपासाँ, चेखव, मंटो और कृश्न चन्दर ने कहानियाँ लिखी हैं, वे अन्तः चेतना के ख़ास क्षणों में रचनात्मक विचारात्मकता की उन बुलन्दियों को छू लेते हैं, जो आम कलाकारों की पहुँच से परे हैं. उन्होंने मंटो और बेदी की तरह अफ़साने को सामाजिक उपयोगिता या क्षणिक राजनीतिक उद्देश्यों का समर्थक भी नहीं बनाया, जो वारिस अल्वी के अनुसार 'दुनिया के हर बड़े फ़नकार का रवैया होता है.' फिर भी वारिस की नज़रों में कल्पना शक्ति की कमज़ोरी के कारण वह एक मामूली फ़नकार हैं. दरअसल, रामलाल एक सादा-दिल क़िस्म के रचनाकार हैं, जिन्होंने अपने समकालीनों में सबसे ज़्यादा अफ़साने लिखे, झगड़े मोल लिये, सफ़ाइयाँ पेश कीं, दावों पर दावे किये, अपनी दक्षता मनवाने की निरन्तर कोशिश करते रहे. और इन सारे हंगामों के बीच उनकी साफ़-सुथरी तस्वीर धुँधली पड़ती गयी. अपनी कहानियों में उन्होंने ज़िन्दगी को बेशुमार पहलुओं से देखा, उसके हज़ार रंगों को समेटा, उसकी सारी बुराइयों व अच्छाइयों को अपनाने का प्रयास किया और दिखाया कि इन्सानी मुहब्बतों और नफ़रतों के अर्थ किस तरह समय, आयु और नित नये रिश्तों के हवाले से बनते-बिगड़ते रहते हैं. लेकिन इन तमाम तत्त्वों को बेहतर से बेहतर तौर पर आज़माने के लिए जिस ज़ालिमाना रचनात्मक प्रतिभा और कल्पना के साथ-साथ कला की बेहतरीन परम्पराओं और विधा के तक़ाज़ों की समझ चाहिए, उससे रामलाल पूरी तरह न्याय न कर सके. अफ़साने की जिन परम्पराओं के बीच उनकी मानसिक और रचनात्मक परवरिश हुई थी, उसकी सम्भावनाओं को वे पूरी तरह खँगाल नहीं सके. बेदी ने यह किया था और बाख़बरी के साथ किया था. मंटो ने भी यही किया था लेकिन किसी हद तक बेख़बरी के साथ. कभी-कभी किसी बड़ी छलाँग के लिए बाख़बरी से ज़्यादा बेख़बरी की ज़रूरत होती है, रामलाल इस भेद से बड़ी हद तक अनजान रहे.

जोगिन्दर पाल का सम्बन्ध इन्तज़ार हुसैन की कुर्रतुल ऐन हैदर की नस्ल ही से है लेकिन शुरू में उन्होंने कहानी की तकनीक को कोई समस्या बनाने की कोशिश नहीं की और न उन भाषाई या मनोवैज्ञानिक तजर्बों पर कहानी की बुनियाद रखी जिनसे कोई अलग प्रभाव पैदा होता हो. पाल ने इन्सानी रिश्तों, मानसिक वारदातों, परिचित और अपनी अधिकतर हालात में अपरिचित, ग्रन्थियों और भावनाओं पर अपने विषय आधारित किये और इन पहलुओं पर मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ पेश करने की बजाय अपने आन्तरिक विश्लेषणों को प्राथमिकता दी. इसी कारण कुछ आलोचकों ने उनके इस तौर को फ़ल्सफ़ातराज़ी का नाम दिया, जो केवल कल्पना की उड़ान है और भाषा का अपारम्परिक और रचनात्मक प्रयोग, जिसे कुछ और ही बना देता है. दरअसल, इस आयाम की बुनियाद पर पाल के अफ़साने को बड़ी सुविधा के साथ तख़्लीक़ी अफ़साने का नाम दिया जा सकता है. हालाँकि मेरे विचार में रचनात्मक कहानी या 'तख़्लीक़ी अफ़साने' का पारिभाषिक शब्द, जिसे महमूद हाशमी और कुमार पाशी ने प्रचलित करने की कोशिश की थी, निरर्थक है.

जोगिन्दर पाल की हर कहानी एक तजर्बा होती है, इसलिए कि पाल के तजर्बों में इस क़दर फैलाव, गहराई, ज़हन व समझ को हरकत में रखने की ऊर्जा और सार्थकता है, जितनी किसी और समसामयिक कहानीकार में मुझे नज़र नहीं आती. पाल ने इन्सान के झूठ, लालच, दुष्टता, आपराधिक मस्तिष्क और अन्दरूनी संघर्षों को सामाजिक व नैतिक मूल्यों की रौशनी में देखा या दिखाया नहीं है, बल्कि उन्हें इन्सानी तक़दीर और प्रकृति के हवाले से समझने की कोशिश की है. यही कारण है कि मंटो की तरह पाल का इन्सान भी अपनी बुनियाद में मासूम और अपने भीतर में स्वयं अपने लिए एक पहेली है और यही एक अटल हक़ीक़त भी है.

ग़यास अहमद गद्दी का फ़न बेदी से प्रभावित है. 'पहिया', 'परिन्दा पकड़ने वाली गाड़ी' और 'डूबने वाला सूरज' ऐसी अमूर्त और प्रतीकात्मक कहानियों के अतिरिक्त उनकी कला 'ख़ाने-तहख़ाने', 'नारद मुनी', 'तज दो तज दो', 'अन्धे परिन्दे का सफ़र', 'इमामबाड़े की ईंट', 'मंज़र-पस-मंज़र', और 'प्यासी चिड़िया' वग़ैरह में अपनी शिनाख़्त की सही दिशा तय करता है. गद्दी चारित्रिक विश्लेषणों में बड़ी बारीक़ी और आहिस्तगी के साथ मनोवैज्ञानिक आगाही से काम लेते हैं, जहाँ ज्ञान से अधिक ज़िन्दगी से उनकी गहरी पहचान का पता चलता है. गद्दी के अक़सर तकनीकी प्रयोग बड़े गूढ़ और पेचीदा हैं.

कभी-कभी कहानी क़तई तौर पर हाथ से निकलती हुई महसूस होती है कि शायद उसके ताने-बाने अब किसी तरह न जुड़ सकेंगे. लेकिन गद्दी बड़ी महारत से तमाम बिखरे हुए जोड़ों की आन्तरिक कड़ियाँ मिला देते हैं और कहते हैं कि कहानी इसे कहते हैं.

यहाँ मैं स्पष्ट करता चलूँ कि माहौल केवल वह नहीं है, जो अफ़साने के डिक्शन से ज़ाहिर है, बल्कि माहौल का वह भाव ज़्यादा अर्थपूर्ण है जिसे पाठक का ज़हन रचता है. गद्दी की कहानी 'धूप' या 'परिन्दा पकड़ने वाली गाड़ी' या 'डूबने वाला सूरज' और सुरेन्द्र प्रकाश की कहानी 'सूखा' को अगर मिसाल बना लिया जाये तो बात ज़्यादा स्पष्ट हो जाती है.

कहानीकार किसी ख़ास कैफ़ियत से, किसी ख़ास एहसास, किसी ख़ास सन्नाटा भरे, या शोर में डूबे तजर्बे को ज़्यादा से ज़्यादा संवेदनशीलता से पेश करने के लिए इमेजरी का सहारा लेता है और यह इमेजरी पाठक के मस्तिष्क में एक ख़ास वातावरण की रचना करती है. गद्दी के यहाँ यह ख़ास वातावरण सख़्त और खुरदरे प्रभाव के सम्प्रेषण से अस्तित्व में आया है, जिसमें ख़ौफ़ और दहशत की मिली-जुली कैफ़ियत भी शामिल है. 'एक खूँ-आशाम शाम' में यह कैफ़ियत ज़्यादा तीव्रता के साथ स्पष्ट है. हमारे समय में ख़ालिदा हुसैन ही ने वातावरण रचित करने वाली कहानी की बुनियाद डाली थी और उनके अफ़साने न सिर्फ़ रहस्यमय और सूफ़ियाना तजर्बों से गुज़ारते हैं बल्कि मानव के अचेतन में दबे हुए भय को भी तेज़ करते हैं. इक़बाल मजीद की कहानी 'हिकायत एक नेज़े की' को इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त सफल तज़र्बे का नाम दिया जा सकता है.

रामलाल, इक़बाल मतीन, जीलानी बानो और इक़बाल मजीद का सफ़र ही पारम्परिक कहानियों से हुआ था. प्रेमचन्द शैली की कहानियों की तुलना में ये अफ़साने इतने पारम्परिक भी न थे, लेकिन सीधे बात करने और कहने का तर्क ज़रूर इनमें कार्यरत था और यह तर्क 'दो भीगे हुए लोग' की अधिकतर कहानियों में मौजूद है. ऐसी कहानियाँ बड़े सब्र और ठहराव के साथ लिखी जाती हैं. प्लाट को बहुत ज़्यादा आघात पहुँचाये बग़ैर घटना के ताने-बाने कुछ इस तरह बुने जाते हैं कि पाठक को उन्हें दोबारा या समानान्तर तौर पर अपने ज़हन में संगठित करने में किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता. तथापि आन्तरिक चारित्रिक विश्लेषणों और एक-एक जुज़ की तफ़सील (विवरण) में जिस बारीक दृष्टि और संवेदना की ज़रूरत होती है, इक़बाल मजीद ने उसका लिहाज़ रखा है.

'दो भीगे हुए लोग' हो या 'पेट का केंचुआ', 'पेशाबघर आगे है' हो या 'पुराना नम्बर', इन कहानियों में नये दौर की बेचैनी आध्यात्मिक प्यास, परस्पर सम्प्रेषणहीनता और अलगाव जैसी मनोवैज्ञानिक और अस्तित्ववादी समस्याओं ने स्थान तो पाया है लेकिन इन समस्याओं को विषय बनाने के बावजूद क्या इन अफ़सानों को अपने काल के बड़े अफ़सानों या इक़बाल मजीद के बेहतरीन अफ़सानों में शुमार किया जा सकता है ? हम में से अधिकतर का जवाब 'नहीं' में होगा, क्योंकि इक़बाल मजीद के बुनियादी रचनात्मक मिज़ाज से ये कहानियाँ मेल ही नहीं खातीं. इक़बाल मजीद की रचनात्मक प्रतिभा को जो आबो-हवा वांछित थी, वो 80-85 के बाद पैदा हुई है. इस आबो-हवा की रचना में ग़ैर-महसूस तौर पर 'टूटी चिमनी', 'अद्दू चाचा', 'रगे-संग' और 'मेरे बाद' जैसी कहानियों का भी बड़ा हाथ रहा है.

दरअसल, इक़बाल मजीद ने समसामयिक जीवन के अनुभवों के एक बड़े संसार का जो मानचित्र बनाया है, उसी में रंग भरने का नाम उनकी मौजूदा कहानी है. इस रंग में सबसे गहरा रंग मानव ईर्ष्या, ख़ुदगर्जी, हिंसात्मकता, मानव दुश्मनी और अत्याचार आदि का है, जिसकी पहली मिसाल 'पोशाक' जैसी कहानी थी जिसे बड़ी कुशलता से पुनर्सृजित किया गया था और जिसकी सबसे सशक्त और भयावह मिसाल 'हिकायत एक नेज़े की' है. यह दोनों कहानियाँ और विशेषकर 'हिकायत...' अपनी वातावरण-रचना की दृष्टि से कलात्मक सम्पूर्णता का बेहतरीन नमूना है. इस प्रकार के तज़र्बे की दूसरी अच्छी मिसाल 'सुरंगें' है. 'शहरे-बदनसीब' में जनमानस की उस बेबसी पर गहरा कटाक्ष किया गया है, जो अपने वास्तविक अर्थ में बेहिसी है. अपने-अपने दुखों के बोझ में दबी-कुचली सृष्टि की इंनसेंस्टिविटी जिसकी नज़र पर ज़ंग चढ़ गया है और जिसकी श्रवणशक्ति कम हो गयी है, निरर्थकता की शिकार इन्सानियत. इक़बाल मजीद के सिर्फ़ एक भ्रम की सहायता से राजनीतिक व सामाजिक चहारदीवारी के बहुत से भेद खोले हैं.

बेदी की कहानी में जो गठाव और सघनता है, इससे उनकी हद से ज़्यादा सु-सभ्यता और कुशलता का पता चलता था. बेदी की कहानी के बड़े कैनवस में फैली हुई आकृति को अगर 'मिनियेचर' में बदल दें तो रतनसिंह के अफ़साने के चिह्न उभर आयेंगे. रतनसिंह बहुत सें खंडों की बजाय ज़िन्दगी के किसी एक तजुर्बे के केवल एक हल्के से प्रभाव को सरगोशी की शक्ल में बयान कर देते हैं. एक दर्दमन्दी का भाव उनकी कहानियों में धीमी-धीमी सी आँच रौशन कर देता है, जो देखने में हल्की होती है, लेकिन अन्दर से, जिसकी शिद्दत, हवास को 'भक' से उड़ाने के लिए पर्याप्त होती है. 'थके हुए लम्हे', 'जिस तन लागे', 'हजारों साल लम्बी रात', 'युगों की कहानी', 'पिंजरे का आदमी', 'आख़िरी उदास आदमी' और 'मैली गठरी का बोझ' जैसी कहानियाँ छोटी हैं लेकिन उनकी तकनीकों में बड़ा फैलाव और दृढ़ता पायी जाती है.

यह एक अजीब इत्तफ़ाक़ है कि अक़सर पाकिस्तानी महिला कहानीकारों के विपरीत जीलानी बानो ने न तो इस्मत चुग़ताई को अपना आदर्श बनाया और न कुर्रतुल ऐन हैदर के अनुभवों पर अपने फ़न की बुनियाद रखी. एक महिला कहानीकार के लिए इन उदाहरणों से दामन बचाकर गुज़र जाना आसान नहीं. जीलानी बानो ने सिर्फ़ क्राफ़्ट की सतह पर ही नहीं बल्कि विषयों की दुनिया भी अलग बसायी है. इन विषयों में व्यक्ति एक व्यक्ति के तौर पर भी है और उसकी एक सामूहिक पहचान भी है जो विभिन्न प्रकार के समाजी और सांस्कृतिक रिश्तों से पूर्ण होती है. इन रिश्तों की संरचना में उलझे हुए मर्द भी हैं और औरतें भी, लेकिन मर्द एक ज़बरदस्त शक्ति का नाम है जो टूट-फूटकर भी बहुत जल्द अपने आप को संगठित कर लेता है या कर सकता है. इसके विपरीत औरत केवल एक लगातार 'फार्मेशन' की हालत से गुज़रती होती है जिसके वजूद की एक सिलवट भी उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती बन जाती है. जीलानी बानो ने औरत की मासूमियत, रहम तलबी, भाग्यवाद और मजबूरी को कई नाम दिये हैं—क़ुदसिया, मुन्नी, अमीना, सितारा. जहाँ वह निडर और कुछ हद तक अपनी आवाज़ में बात करती हुई और अपनी राय रखती हुई दिखाई देती है (प्रकाशो, पूर्णिमा), वहाँ वह अपनी जंग में कितनी अकेली पड़ जाती है, इस नकरात्मकता की तरफ़ भी उन्होंने बड़े सार्थक इशारे किये हैं. बावजूद इसके, उनकी कहानी का धीमा

सुर भी कान के पर्दे चाक कर देता है. 'दश्ते-करबला से दूर' और 'नज़र न आने वाले लोग' में बड़ी फ़नकारी से जीलानी बानो ने इन्सानी प्रकृति के अत्यन्त स्याह पहलुओं को स्पष्ट किया है. यद्यपि यह स्पष्टता 'भँवर' और 'चराग़' जैसी कहानियों से इन अर्थों में भिन्न है कि यहाँ कलात्मक सतह पर परिपक्वता और निपुणता पायी जाती है. उन्हें इस्मत की तरह असुरक्षित होने की ज़रूरत नहीं पड़ती, वो बड़ी आहिस्तगी से चीज़ों से ताल-मेल पैदा कर लेती हैं, जहाँ भावुकता की धुँध गहरी होती चली जाती है, वहाँ भी एक हल्की-सी रौशनी की एक किरण की गुंजाइश ज़रूर छोड़ देती हैं और वह किरण ही चरित्रों के नश-शिख ज़्यादा से ज़्यादा रौशन करने के लिए काफ़ी होती है.

मैंने जान-बूझकर और बड़े सोच-समझकर उपरोक्त कहानीकारों यानी उन अफ़साना-निगारों से पूर्व सुरेन्द्र प्रकाश और बलराज मैनरा का ज़िक्र नहीं किया, जिनके यहाँ कहानी की रचना में किसी न किसी तौर पर कहानी की बेहतरीन परम्परा का सम्मान और अपनी रचनात्मक जुस्तुजुओं पर अधिक विश्वास था. इनमें से कुछ नाम वे हैं, जो पाँचवें दशक से लिख रहे हैं और जिनके अनुभवों की अपनी एक सृजनात्मक और कलात्मक पहचान है, जैसे इन्तज़ार हुसैन, मुमताज़ मुफ़्ती और क़ुर्रतुल ऐन हैदर. इन नामों के साथ ही अज़ीज़ अहमद, मुमताज़ शीरीं और हसन अस्करी को भी याद रखने की ज़रूरत है.

अहमद अली ने यथार्थवाद के हवाले से आन्तरिक मनोवैज्ञानिक सत्यों को बड़े दिलचस्प ढंग से बयान किया. अहमद अली और हसन अस्करी ही ने पहली बार इन्सान के असली चरित्र को अपने विषयों में अहमियत दी. उन्होंने 'हमारी गली' में सामूहिक रचनात्मकता का वह तजुर्बा भी किया, जिसकी बुनियाद पर बाद में 'डालन वाला' क़ुर्रतुल ऐन हैदर, 'स्काई स्क्रेपर' (जोगिन्दर पाल), 'सात मंज़िला भूत' (अनवर अज़ीम) और 'आनन्दी' (गुलाम अब्बास) जैसी कहानियाँ लिखी गयीं. अहमद अली ने अफ़साने की कला में जिस अनुशासन का सबूत दिया, वह पहला सबक़ था, जिससे राजेन्द्र सिंह बेदी ने सबसे ज़्यादा लाभ उठाया.

देश विभाजन से पूर्व और लगभग 1955-60 तक प्रगतिशील कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थवाद को आधार बनाकर कई यादगार कहानियों का सृजन किया, जो स्वयं एक नया तजुर्बा था और प्रेमचन्द व 'अंगारे' (1932) ग्रुप के अफ़साने से अगला क़दम था. इन प्रयोगों के अलावा पाकिस्तान में ख़ालिदा हुसैन और अनवर सज्जाद के अफ़साने अमूर्त तकनीक के शुरुआती हवाले थे, जो 1960 के बाद अपनी पहचान स्थापित करते हैं. इन्हीं के समकालीनों में मैनरा और सुरेन्द्र प्रकाश को भी शामिल करना चाहिए. अगरचे रशदी अमजद ने 1960 के बाद लिखना शुरू कर दिया था लेकिन उनकी कला में ताबदारी 1970 के बाद ही पैदा हुई. इस एतबार से ख़ालिदा असग़र (बाद में ख़ालिदा हुसैन बन गयीं), अनवर सज्जाद, मैनरा, सुरेन्द्र प्रकाश और रशीद अमजद ने अफ़साने की तकनीक और भाषा की प्रक्रिया, यानी शैली में प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया. इन कहानीकारों ने अपनी पहली कोशिश में प्लाट के संगठित रूप को नक़ारा. ड्रामे की तुलना में कथा साहित्य में इस तसव्वुर को नकारने के चिह्न चौथी शताब्दी ही से शुरू हो गये थे. समय-सातत्य (Continuity of time) से हट जाने के कारण इन सवालों का कोई महत्त्व नहीं रहा कि :

1. वह (जो घटना घटित हुई है) क्यों घटित हुआ ? (भूतकाल)
2. जो घटना हो रही है, क्यों घटित हो रही है ? (वर्तमान)
3. क्या घटना होने वाली है और क्यों ? (भविष्य)

इस तौर पर 'नैरेटिव' का पारम्परिक विचार ही लड़खड़ा गया, जिसके अनुसार 'फ़ैक्शन' घटित होता है और फ़ैक्शन चरित्र और घटना के पारस्परिक तालमेल या पारस्परिक सम्भावित तालमेल का नाम है. मैंने यहाँ कहानी की जगह 'फ़ैक्शन' 'टर्म' इस्तेमाल की है क्योंकि यह फैक्ट और फिक्शन की सम्मिश्रण है और आधुनिक कहानीकारों ने फैक्ट ही नहीं फिक्शन की इस बुनियादी शर्त तक को नकारा है, जिसे कहानी का नाम दिया जाता है. इस अर्थ में किसी कहानी में कहानीपन एक अतिरिक्त स्थिति का नाम ठहरा. इन कहानीकारों के नज़दीक कहानी एक रोज़मर्रा की चीज़ है जो न फ़िक्र को उत्प्रेरित करती है और न जिससे अर्थ के हजार रंग फूटते हैं. जहाँ स्पष्टता है, वहाँ पूर्णता है और जहाँ पूर्णता है, वहाँ ज़हनी आज़ादियों को फलने-फूलने का अवसर नहीं मिलता. इसलिए अस्पष्टता को पाठक की मानसिक अस्पष्टता और मानसिक 'एक्सक्यूज़' का नाम दिया गया. फलस्वरूप, घटना और चरित्र पर भाषा का अमल हावी हो गया. अफ़साना या तो टूटे-फूटे, हल्के-गहरे भावों की भौंडी तस्वीर बन गया या निबन्ध और रिपोर्ताज़ के बीच की चीज़. घटना अनावश्यक ठहरी, चरित्र बे-चेहरा, समय का निर्धारण समाप्त, स्थान की पहचान व्यर्थ—कोई बस वातावरण रचना का नमूना, कोई सिर्फ़ माहौल और पसमंज़र की सुन्दर तफ़सील, कोई केवल फ़लसफ़ा- तराज़ी से लथपथ. चरित्र व घटना का स्थान प्रतीक और बिम्ब ने ले लिया. अगरचे अधिकतर कहानीकार प्रतीकों के अर्थ व परिभाषा से भी परिचित न थे. भाषा के अपारम्परिक और सृजनात्मक प्रयोग के कारण कहानी और शायरी की सीमाएँ टूट गयीं और इस स्थिति को विधाई हदबन्दियों के टूटने की प्रक्रिया का नाम दिया गया. अगर किसी कहानी में चरित्र मौजूद भी हुआ तो उसे बेनाम ही रखा गया ताकि उसकी कोई पहचान न हो सके. क्योंकि मौजूदा दौर का हर व्यक्ति अपनी पहचान खो चुका है. घटना की अगर कोई स्थिति आती है तो उस पर इतनी धुँध चढ़ा दी जाती है कि कोई 'एक्शन' स्पष्ट नहीं होता. और यह कहा जाता है कि कहीं कुछ स्पष्ट नहीं है—रिश्तों और हर वास्तविकता पर अस्पष्टता की तह जमी हुई है. इसलिए कहानीकार वही कुछ पेश करता है, जो उसका वास्तविक और आन्तरिक तज़र्बा होता है. स्पष्टता और सामान्यीकरण को रद्द करने से विशेषीकरण का पहलू सामने आया और विशेषीकरण के पहलू से अमूर्तन की अवधारणा जुड़ी है. इसी अर्थ में आधुनिक कहानी अमूर्त कहलायी. प्रतीक से चूँकि बाहरी संक्षिप्तीकरण की सूरत भी स्पष्ट होती है और अन्दर ही अन्दर अर्थ के ऐसे सिलसिले की सम्भावना भी रौशन होती है, जो हमेशा अप्रत्याशित को राह देता है, इस दृष्टि से अमूर्तन तकनीक में प्रतीकात्मक शैली के द्वारा सृजनात्मक केन्द्रीकरण के प्रभाव को बड़ी ख़ूबी से उभारा जा सकता है. लेकिन यह एक मुश्किल काम है, जिसमें हमारे कहानीकार कम ही सफल हो पाये हैं.

इस दौरान यह भी हुआ कि अनवर सज्जाद ने 'मिर्गी', 'गेंग्रीन', या 'रेबीज़' जैसी तहरीरों के अफ़साने का नाम दिया—ये तहरीरें एक चिकित्सक की उस समझ और उस प्रक्रिया का प्रभाव हैं, जो आन्तरिक तनाव और तनाव के तज़र्बे को काग़ज़ पर उतार देता है. इसके विपरीत 'साज़िशी नं. 1' और

'साज़िशी नं. 2' जैसे अफ़साने राजनीतिक अत्याचार व तनाव से अपनी पहचान करते हैं. 'कोंपल' और 'गाय' या 'माँ बेटा' में इस जब्र के बहुत से नाम हैं और यह जब्र उन रोगों से ज़्यादा भयानक और भावनापूर्ण हैं, जिनकी दहशतनाक तस्वीरों ने अनवर सज्जाद के सौन्दर्य कक्ष को युद्ध स्थल में बदल दिया है.

मैनरा ने भी 'कम्पोज़ीशन' सीरीज़ की कहानियों में इस स्थिति को ड्रामाई परिप्रेक्ष्य के साथ पेश करने की कोशिश की थी. लेकिन 'माचिस' जैसे अफ़साने में जिस अमूर्तन के प्रभाव को उन्होंने उभारा था और तकनीक में भेद के जिन पहलुओं को स्पष्ट किया था, इसका वह विस्तार नहीं कर सके. इस अफ़साने में नये इन्सान की बेबसी और बे-चारगी के भाव का निशान बड़ा गहरा और सृजनात्मक निपुणता का नमूना है, लेकिन यह सृजनात्मक निपुणता बाद की कहानियों में बरक़रार न रह सकी. जबकि सुरेन्द्र प्रकाश ने 'तिलक़ार्रामस' को अपने लिए मिसाल नहीं बनाया. 'रोने की आवाज़', 'बिजूका', 'वनवास', 'बाज़गोई' और इनके बाद 'मुर्तज़ाभाई' जैसे अफ़साने सुरेन्द्र प्रकाश की कला व विचारधारा का कई नये आयाम के द्योतक हैं.

अफ़सानों के दृश्य व परिप्रेक्ष्य में वह जिस तौर पर भेदपूर्णता के भाव को उभारने और स्पष्ट व अस्पष्ट 'मूड' के तज़र्बों से परिचित कराते हैं, इनमें बड़ी शक्ति होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि एक जेनुइन फ़नकार जब परम्परा को तोड़ने का प्रयास करता है तो उसके पास कोई कारण ज़रूर होता है. उसमें रस्मी साँचों को तोड़कर दूसरी वैकल्पिक सूरतें भी रचने की ऊर्जा होती है. ऐसी सूरतें जो स्वयं रचना के 'आर्गनिज़्म' का एक आवश्यक अंग महसूस हों, न कि फालतू या बेजोड़. 'हम सिर्फ़ जंगल से गुज़र रहे थे' में कहानी है न कहानीपन लेकिन होनी की बजाय अनहोनी में जो दहशत है, सिर्फ़ इसी एक प्रभाव को जिस कामयाबी के साथ सुरेन्द्र प्रकाश ने विवरण में बाँधा है, रोने की आवाज़ें जिस तौर पर आन्तरिक रहस्य को एक विशेष अर्थ देती हैं, इसके विपरीत 'मुर्तज़ा भाई' में जिस इन्सानी बे-हिती को एक गहरी त्रासदी का रूप दे दिया है, कलात्मक परिपक्वता की महत्त्वपूर्ण मिसाल है.

हमारे समय में ख़ालिदा हुसैन से ज़्यादा सफ़लता के साथ रहस्यमय अति यथार्थवाद और मावराईयत का प्रयोग कोई और नहीं कर सका बल्कि वातावरण-रचना और अपने सही अर्थों में वातावरण को उन्होंने 'नैरेटिव' का अभिन्न अंग बना दिया. यह आर्ट 'सवारी' में अपनी बुलन्दियों पर है. 'सवारी', 'शहर पनाह', 'बायाँ हाथ' या 'हज़ार पाया' जैसी कहानियाँ, सामान्य अफ़साने के प्रचलित तर्क पर पूरी नहीं उतरतीं लेकिन जैसा कि मैंने सुरेन्द्र प्रकाश के सन्दर्भ में लिखा था कि कहानी या कहानीपन से अगर परहेज़ किया जाता है तो इसका कोई कारण होना चाहिए यानी कहानी के अवयवों के अन्दर महसूस व ग़ैर-महसूस कारण अर्थात कहानी या कहानीपन के बिना भी कहानीकार की भाषा और अनुभव में वह असाधारण शक्ति है कि घटना या चरित्र की गतिविधि या कार्य का एहसास ही लुप्त हो जाये. और केवल एक गहरा प्रभाव और 'मूड' की प्रतिक्रिया पाठक के ज़हन के पर्दे पर बे-लिखी कहानी और बे-लिखी घटना और दुर्घटना की गतिमान तस्वीरें उभार दे. 'सवारी' में अध-जगी सी कैफ़ियत या अतियर्थार्थवादी अतीन्द्रियता का जो पहलू उभरता है, वह शोर के अन्दर सन्नाटे के प्रभाव का द्योतक है. यह वही शोर है, जो अन्तर की गहराइयों में मचा रहता है और जिसका सारा परिप्रेक्ष्य धुँधला और स्याह होता है. अफ़साना कुछ सामने आ चुका है और कुछ सामने आने वाला है, के बीच लटका हुआ है और अचानक हम इस बे-लिखे सवाल का सामना करते हैं कि क्या सामने आ चुका है और क्या सामने आने वाला है. और जो कुछ कि सामने आ चुका है, वह भी कम डरावना नहीं था और जो सामने आने वाला है वह इससे भी अधिक भयावह होगा. इस तरह ख़ालिदा के यहाँ पूर्वछाया और उत्तर छाया जैसी दोनों स्थितियाँ मिलती हैं और अक़सर यह भी होता है कि संशय घटना में नहीं बदलता लेकिन घटना को लम्बे समय तक सम्भावना से बाहर भी क़रार नहीं दिया जा सकता. सम्भावना के क्षेत्र में सम्पूर्णता जैसी कोई स्थिति नहीं होती.

वह इमेजरी, जो ख़ालिदा हुसैन की कहानियों में एक आन्तरिक वार्ता से शक्ति पाती है, हमेशा एक कल्पनातीत परिप्रेक्ष्य की द्योतक होती है, जबकि रशीद अमजद की इमेजरी के परिप्रेक्ष्य बड़ा ठोस होता है. शब्दों से अधिक वह चीज़ों के ज़रिये सोचते और चीज़ों व तथ्यों के आपसी रिश्तों और उनके इंटरऐक्शन को ख़ास महत्त्व देते हैं. रशीद अमजद, 'ऐनालोग' और एसोसियेशन्स के बग़ैर कम ही कोई संवाद पूरा करते हैं. 1990-95 से पूर्व के अफ़सानों में जो छोटे-छोटे विवरण और छोटे-छोटे स्पष्टीकरण मिलते हैं, उनमें हवास का अमल दूसरी बहुत सी विशेषताओं से अधिक है. एक भाव दूसरे बहुत से भावों के साथ तजर्बे का हिस्सा बनता है. भाषाई सतह पर यह गुण उन बिम्बों के द्वारा बड़ी खूबी से स्पष्ट की जा सकती है, जिनमें अमूर्तता और मूतर्ता की विशेषताएँ एक ठोस रूप (कुल) में ढलती हुई महसूस होती हैं. अफ़साने में भाषा के प्रतीकात्मक प्रयोग से चीज़ों पर एक धुँध सी छा जाती है और सामान्यीकरण का दर्जा विशेषीकरण ले लेता है. इसी तरह प्रतीक की एक पहचान यह भी है कि वो केन्द्रीकरण से ज़्यादा संक्षेप की तलबगार होती है कि केन्द्रीकरण की प्रक्रिया में विचार या अनुभव के फलने-फूलने और तरक़्क़ी पाने की गुंजाइश कम से कम होती है. रशीद अमजद की विशेषता यह है कि एक तरह प्रतीकात्मक समझ से काम लेकर कवितात्मक संक्षेप जैसे प्रभाव को उभारने में कामयाब हैं तो दूसरी तरफ़ यही संक्षेप उनके ज़हन के ख़ास उस रवैये की नुमाइंदगी करता है, जिसका आधार ही अमूर्तन रखा हुआ है. 'बेज़ार आदम के बेटे' और 'रेत पर गिरफ़्त' में प्रतीकात्मक विचारधारा छाये होने के बावजूद चीज़ों का क्रियान्वन स्वप्निल है. जबकि 'सहपहर की ख़िज़ाँ' (1980) में ख़ौफ़ और धुँध की कैफ़ियतों में शिद्दत के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं. रौशनी और अँधेरे की खींचतान के अलावा ख़ौफ़ और दहशत का वह भाव जो स्नायुओं को तोड़ देता है और इन्द्रियों को हतप्रभ कर देता है, 'गमलों में उगा हुआ शहर' में अपने शिखर पर दिखाई देता है. 'अँधेरा, धुँध, तारीकी, रात, साया, सन्नाटा या गहरी चुप्पी जैसे शब्दों के लगातार प्रयोग से स्थिति के अन्दर दबे-छुपे हुए बेनाम भय को उजागर करना ही इनका उद्देश्य नहीं होता, कि जिनका असर हमेशा 'नर्वसनेस' को राह देता है, बल्कि एक ख़ास मक़सद यह जतलाना भी है कि हम इन्सानियत के लम्बे इतिहास के किस मोड़ पर हैं ? इन्सानी ज़िन्दगियों की विस्तृत सतह पर अपमान के बाद अब हम किस स्ट्रेजिक पतन की ओर बढ़ रहे हैं. कुछ मिलाकर इन्सानी साइकी के लिए अत्याचार व हिंसा की सूरतें किस हद तक भयावह सिद्ध हो सकती हैं ? 'सहपहर

ख़िज़ाँ', 'सन्नाटा बोलता है', 'रेज़ा-रेज़ा शहादत', 'पतझड़ में ख़ुद कलामी' और 'बाँझ रेत' और 'शाम' जैसे अफ़सानों के शीर्षक ही आज के समय की इन्सान की दुश्मन-ताक़तों का ताँडव नृत्य हैं. रशीद अमजद की कहानियों में कहानी और कहानीपन की फ़ज़ा ज़रूर मिलती है लेकिन हर अफ़साना किसी बड़ी और लम्बी कहानी का हिस्सा और कहीं-कहीं सिर्फ़ स्क्रीन प्ले मालूम होता है. इस तरह हर कहानी अपनी संक्षिप्तता के बावजूद अधूरेपन का एहसास दिलाती है लेकिन इधर 1990 के बाद की कहानियों जैसे 'धुँध', 'उलझाव' आदि में संक्षिप्तता के बावजूद कहानीपन का प्रभाव गहरा हुआ है. उम्र की इस मंज़िल में उनको बड़ी बेदर्दी से अपने मुहावरे को तोड़ने की ज़रूरत है, ज़िन्दगी की विविधता और नये-नये अनुभवों और घटनाओं की कमी सिर्फ़ तकनीक से पूरी नहीं की जा सकती. उनके 1990 के बाद के अफ़सानों में शैली और तकनीक की सतह पर एक तब्दीली का एहसास ज़रूर होता है लेकिन अभी उसकी दिशाएँ और स्पष्ट होनी हैं. अपने मुहावरे को तोड़े बग़ैर उनके फ़न में विविधता और फैलाव का पैदा होना मुझे मुश्किल ही नज़र आता है.

अहमद हमेश का नाम भी अनवर सज्जाद, मैनरा और सुरेन्द्र प्रकाश जैसे प्रयोगशील कहानीकारों के साथ लिया जाता है. 'मक्खी' और 'ड्रेनेज में डूबा हुआ क़लम' और 'गब्रोला' जैसी कहानियों में उनके उस नये एहसास का पता चलता है जो बदी में भी सौन्दर्य का नज़ारा कर लेता है और जिसके लिए 'रिफ़ाइनमेंट' और 'रिप्लसन' एक दूसरे से अलग नहीं है. लेकिन कहानी सिर्फ़ किसी तसव्वुर के बयान का नाम नहीं, न ही विचारों या विचारधाराओं का हवाला है, चरित्र, घटना या वारदात की क़ीमत पर ऐसी किसी तहरीर को अफ़साने का नाम नहीं दिया जा सकता, जिसमें कोई विचारधारा एक उद्देश्य के तौर पर अन्य तत्त्वों पर छा जाती है. बहुत कुशल, संगठित, और गठी हुई और हर ओर-छोर से सजी बनी हुई तहरीर का नाम भी अफ़साना नहीं है. अफ़साना लेखक के लिए सृजनात्मक भाषा एक धोखा साबित हो सकती है. सृजनात्मक भाषा के जौहर दिखाने के लिए शायरी एक बेहतर साधन है. जहाँ चरित्र और घटना की तुलना में भाव, ख़याल बल्कि महसूस ख़याल और कोई अमूर्त वारदात, और कभी-कभी केवल भाषा का एक भिन्न और अनोखा अमल ही पर्याप्त होता है. इसके विपरीत कहानीकार

अतीक़ुल्लाह

जन्म : 2 जुलाई 1942, स्थान : उज्जैन (म.प्र.)
शिक्षा : एम.ए. (अंग्रेज़ी, उर्दू), पी. एच- डी.
सम्प्रति : प्रोफेसर, उर्दू विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
कृतियाँ : 'एक सौ ग़ज़लें' (शायरी), 'हैद्राबाद बैन करता हुआ शहर' (शायरी), 'दिल्ली क़द्रशनासी' (आलोचना), 'दिल्ली तन्क़ीद का नया मुहावरा' (आलोचना), 'दिल्ली अदबी इस्तिलाहात की वज़ाहती फरहंग' (आलोचना), 'ग़ुबारे ख़ातिर' (त्रैमासिक), औरंगाबाद, महाराष्ट्र व तनाज़ुर (त्रैमासिक) दिल्ली का संपादन किया.
सम्पर्क : 221, ग़ालिब अपार्टमेंट्स, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

चरित्र, घटना और दुर्घटना और इन्हें पेश करने की प्रक्रिया में ऐसी बेशुमार तकनीकों को आज़मा सकता है जो किसी रूपक या प्रतीक से ज़्यादा अर्थपूर्ण सिद्ध हो सकती है और ज़हन को देर तक गर्दिश में रख सकती है. कहानी में किसी प्रतीकात्मक चरित्र का अफ़सानवी परिप्रेक्ष्य में चीज़ों की प्रतीकात्मक अन्तः- क्रिया की यक़ीनन गुंजाइश होती है, लेकिन इस तरह की रचनात्मक ज़िम्मेदारी के कामयाबी के साथ निभा पाना हर एक ऐरे-ग़ैरे के लिए आसान नहीं होता. आसान उनके लिए है, जो विभिन्न आगहियों और परस्पर विरोधी तत्त्वों को एक ही तनाव में बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ यकजा करने की प्रतिभा रखते हैं. प्रतीकात्मक कहानी को अपने 'सिम्बोलिक एसोसियेशन्स' के बावजूद अपने पहले पाठ ही में कहानी का एहसास दिलाना शर्त है. नैरेटिव की साहित्यिक भाषा के सृजनात्मक जौहर के साथ बँधी हुई नहीं है. वह बँधी हुई है जीवन के असीम, काल और स्थान के प्रयोगों के साथ. इन प्रयोगों में जहाँ जीवन के नज़दीकी परिप्रेक्ष्य और भावनात्मक एहसास तथा रिश्तों का 'पर्सपेक्टिव' एक बड़ा चरित्र अदा करता है, वहीं मौसिकी व रचनात्मक दुर्घटनाओं, सुपरसिसन्स और संशयों का भी महत्त्व कम नहीं होता. एक सृजनात्मक ज़हन तथ्यों में समानान्तर 'अल्टरनेटिव' तथ्य भी रचने की प्रतिभा रखता है जो टाइम एंड स्पेस की हदों को तोड़ भी सकता है और समय की तार्किक निरन्तरता को भी तोड़-फोड़ सकता है. इसके अलावा कहानी के गहरे आन्तरिक गठन में टाइम को एक नयी गति भी प्रदान कर सकता है। फैन्टेसी इन्हीं अर्थों में नैरेटिव की अपनी रचनात्मक प्रकृति से ज़ाहिर है. जिसके ज़रिये सिम्बल और रूपक से ज़्यादा अर्थ के एसोसियेन्स रचे जा सकते हैं.

वह पीढ़ी जो 1980 के बाद अपनी पहचान बनाती है और जिसकी मानसिक प्रशिक्षण ही आधुनिकता के चरम उत्कर्ष के युग में होती है, उसका एहसास एक नये तर्ज़ से ताल्लुक़ रखता है. सैयद मुहम्मद अशरफ़, सलाम बिन रज़्ज़ाक़, अनवर ख़ान, साजिद रशीद, अनवर क़मर, शौकत हयात, अली इमाम नक़वी, ग़ज़नफ़र, तारिक़ छतारी, शमोएल अहमद, आसिफ़ फर्रुख़ी, मो. मंशा याद, ज़ाहिदा हिना, गुलज़ार, जाबिर हुसैन और मुशर्रफ़ आलम जौक़ी आदि ने जहाँ आधुनिकता के मुहावरे को तोड़ने की कोशिश की है, वहीं आधुनिकता की सफलताओं और असफलताओं से बहुत कुछ सीखा भी है. ऐसा नहीं है कि 1960 के बाद की नस्ल के सारे तजर्बे कमतर थे और न ही प्रग्रतिशीलता के साथ सम्बद्ध होने के कारण प्रगतिशीलों की सारी कहानियाँ ही कमज़ोर थीं. प्रगतिशीलता और आधुनिकता जैसे लेबिल लगाकर देखने की बजाय हमें केवल इन चुनींदा कहानियों को अपने पठन का विषय बनाना चाहिए, जो इतना सारा समय गुज़र जाने के बाद भी आज ज़िन्दा हैं और अपना एक महत्त्व रखती हैं.

दरअसल, हर कहानी के साथ उसकी भरोसामन्दी या उसकी प्रासंगिकता की वजह भी भिन्न होती है. नये कहानीकार पिछली नस्लों के अलावा अपने ही काल के कहानीकारों की इस लोकप्रियता से भी प्रभावित नहीं हुए जो केवल प्रयोगवादी थे. उनकी मिसालों को हम सिर्फ़ प्रयोग का नाम भी नहीं दे सकते, क्योंकि उन्होंने प्रयोगों में भी अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का इतना प्रयोग नहीं किया जितना अपनी पिछली पीढ़ी के प्रयोगों को ऊर्जाओं का स्रोत समझा और सिर्फ़ अनुसरण को ही काफ़ी समझकर बैठ रहे. इसमें विडम्बना यह है कि हमारे दौर के कुछ बड़े आलोचकों का समर्थन भी इनका भाग्य न बदल सका. कुछ नये कहानीकारों की कला व सोच में यह स्थिति अब भी बरक़रार है लेकिन कुछ मतहों पर तब्दीलियों की ललक साफ़-साफ़ तौर पर महसूस भी की जा रही है. ▣

(उर्दू से अनुवाद : डॉ. ख़ालिद अशरफ़)

प्रियंवद की कहानियाँ : मनुष्यता के दर्प को बचाने की कोशिश

मुम्बई. सराफ़ मातृ मन्दिर, मालाड में आयोजित एक सादगीपूर्ण समारोह में इसी वर्ष से स्थापित पहला 'विजय वर्मा कथा-सम्मान' हिन्दी के चर्चित युवा कहानीकार प्रियंवद को उनके कहानी संग्रह 'एक अपवित्र पेड़' के लिए दिया गया. इस कथा सम्मान की योजना का प्रारूप लेखिका सन्तोष श्रीवास्तव ने प्रस्तुत किया.

कार्यक्रम का आरम्भ डॉ. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की अध्यक्षता में स्व. विजय वर्मा के परिचय एवं उनकी कथा-यात्रा से हुआ. अतिथियों का स्वागत करते हुए पत्रकार नन्दकिशोर नौटियाल ने पुरस्कार की राजनीति ही नहीं, पुरस्कार की चयन प्रकिया पर भी सवालिया निशान लगाये. अन्त में कथा सम्मान की संस्तुति प्रस्तुत करते हुए चयन मंडल के सदस्य भारत भारद्वाज ने कहा कि प्रियंवद की कहानियाँ अपने भाषिक संवेदना, अप्रतिम एवं हंसमुख गद्य से हमें उस दुनिया में गहरे विषाद के साथ ले जाती हैं, जो दुनिया हमसे पीछे छूट रही है और इस दुनिया में इतिहास, मिथक एवं स्मृतियों का घनघोर द्वन्द्व ही नहीं, अन्तर्विरोध भी है, लेकिन प्रियंवद हमारी संवेदना को बचाने के लिए ही नहीं, मनुष्यता के दर्प को बचाने की लड़ाई लड़ते हुए लहूलुहान भी होते हैं. उनकी भाषा शिल्प एवं कथ्य में हमेशा एक ताज़गी, नया प्रयोग एवं नवीनता होती है जो हमें भीतर से झकझोरती हैं. उन्होंने कहा कि समकालीन हिन्दी कहानी की तीसरी पीढ़ी के युवा कहानीकार प्रियंवद ने अपने पहले कहानी संग्रह 'बोसीदिनी' से चुपचाप हिन्दी कहानी की दुनिया में प्रवेश किया. लेकिन पिछले एक दशक की अपनी कहानी-यात्रा में अपने अनुभव शिल्प एवं कथ्य से कहानी की दुनिया में जो रचनात्मक तोड़-फोड़ उन्होंने किये, चमत्कृत करने वाला है. उनकी कहानियों की दुनिया न वीरान दुनिया है और न उदास दुनिया. उस दुनिया में यदि एक तरफ बिलकुल हमारे आज के समय के दुख-सुख का बचा हुआ एक छोटा-सा कोना है तो कहीं हमारा सच भी उसमें शामिल है. उनकी कहानियों के पात्र ऐसे सुख की तलाश में हैं, जहाँ मुसलसल ज़िन्दगी ही नहीं, सम्पूर्ण सुख भी नहीं तो आश्चर्य की बात नहीं. उनकी कहानियाँ क्रमशः विलुप्त हो रही मानवीय संवेदनशीलता ही नहीं, मानवीय सम्बन्धों के संकट से टकराती हिन्दी कहानी के वर्तमान परिप्रेक्ष्य को एक नया आयाम एवं विस्तार देती हैं.

उर्दू के मशहूर शायर निदा फाज़ली ने प्रियंवद का सम्मान ग्यारह हज़ार रुपये की राशि, स्मृति चिन्ह, शॉल तथा श्रीफल देकर किया. उन्होंने चयन मंडल के निर्णय से सहमति जताते हुए टेनीसन की काव्य पंक्तियों को दोहराया, 'आदमी आता है चला जाता है उसका काम पीछे रह जाता है. मौत नामों की होती है, कामों की नहीं. विजय वर्मा के जिन हाथों में उनकी बहनों ने कभी राखियाँ बाँधी थीं वह हाथ गायब हो गये. लेकिन उन हाथों की तलाश इस सम्मान से फिर शुरू होती है.' उन्होंने कहा कि एक युग था जब सामूहिक सच्चाई के पीछे चलनेवाला खुशनसीब समझा जाता था. लेकिन अब सारा परिदृश्य बदल गया है. उन्होंने बहुत ज़ोर देते हुए कहा कि आज हमें अपने शब्दों को बाज़ार से बचाना है. दूसरे व्यक्तिगत संघर्ष से जगाना है और यह काम प्रियंवद ने अपनी कहानियों के माध्यम से बहुत खूबसूरत ढंग से किया है. जिसके लिए मैं उनको बधाई देता हूँ.

प्रियंवद की प्रसिद्ध कहानी 'बोसीदिनी' का पाठ तेजेन्द्र शर्मा ने नाटकीयता के साथ ही नहीं बहुत कलात्मक काव्यात्मक ढंग से किया, कि कहानी का बिम्ब उपस्थित श्रोताओं के सामने उभर आया. कथा सम्मान के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कथाकार प्रियंवद ने इस शहर में पहली बार आने की सूचना देते हुए अपनी घबराहट का भी ज़िक्र किया, "शहरों में गये बगैर भी शहर आपके पास आ जाता है. कलकत्ता मैं कभी नहीं गया लेकिन बिमल मित्र, शंकर, समरेश बसु के उपन्यासों से पूरा का पूरा कलकत्ता मछली-भात, साड़ी का लाल बॉर्डर, खुले केश और रवीन्द्र संगीत के साथ मेरे पास आ जाता है. मास्को आता है टालस्टॉय और बोरिस पास्तरी नाक के माध्यम से और लखनऊ उमराव ज़ान अदा, गुजिरता लखनऊ और नागर जी के द्वारा, पर यह शहर कभी मुझ तक नहीं आया. न भारती के लेखन से न ही राही मासूम रज़ा के लेखन के माध्यम से. यह दूसरी तरह से मेरे पास आया. फिल्म के द्वारा. पंख कटे सपने, सन्नाटे एवं संवेदनाओं के साथ. आगे उन्होंने कहा, "उदासी मेरा दुर्ग है मेरे लेखन में. मैं कलम को लेकर इसी दुर्ग में छुप जाता हूँ." डॉ. सूर्यबाला ने कहा कि प्रियंवद को पढ़ते हुए महसूस होता है कि वे बहुत गहरी संवेदना के कथाकार हैं. एक अनवरत उदासी बारीक अहसासों के साथ उनकी कहानी की दुनिया में ले जाती है.

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने कहा कि रचना और रचनाकार के लिए पुरस्कार का कोई महत्व नहीं होता.

इस अवसर पर स्मारिका का विमोचन कहानीकार धीरेन्द्र अस्थाना ने किया. निर्णायक मंडल के सदस्यों माधुरी छेड़ा, सूर्यबाला तथा भारत भारद्वाज का स्वागत भी इस अवसर पर किया गया. समारोह का संचालन आलोक भट्टाचार्य ने किया. ब्रजभूषण साहनी ने आभार व्यक्त किया.

प्रस्तुति : सैलानी सिंह

अरुण कमल को साहित्य अकादमी पुरस्कार

साहित्य अकादमी के कार्यकारी मंडल की पिछले दिनों नयी दिल्ली में आयोजित एक बैठक में अपनी मान्यता प्रदत्त 22 भाषाओं में से 21 भाषाओं की उत्कृष्ट कृतियों को इस वर्ष पुरस्कृत करने की घोषणा की गयी. बैठक की अध्यक्षता अकादमी के अध्यक्ष श्री रामाकान्त रथ ने की. हिन्दी भाषा में, नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर अरुण कमल के काव्य संग्रह 'नये इलाके में' को इस साल के साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित करने की घोषणा की गयी है. साहित्य अकादमी ने इस वर्ष डोगरी भाषा में कोई पुरस्कार नहीं दिया है. श्री रथ आगामी 23 फरवरी को एक विशेष समारोह में पुरस्कृत पुस्तकों के लेखकों को पुरस्कार देंगे.

असमिया लेखक अरुण शर्मा को उनके उपन्यास 'अशीरबदररंग' के लिए, बंगला में दिवेयेन्दू पलित को उनके उपन्यास 'अनुभव' के लिए, अँग्रेज़ी भाषा में महेश दत्तानी को उनकी पुस्तक 'फाइनल साल्यूशन्स एंड अदर फलेस' के लिए, गुजराती भाषा में जयन्त कोठारी को 'बनका देखन बिवेचनो' (आलोचना) के लिए, कन्नड़ में बीसी रामचन्द्र शर्मा को उनके काव्य संग्रह 'सप्तवदी' के लिए पुरस्कृत किया जायेगा.

कश्मीरी भाषा में मोहम्मद पुस्तक ताइंग को 'महजूर शिनासी' (आलोचना) के लिए,

कोणकी भाषा में जेबी सिक्वेश को उनके काव्य संग्रह 'अशीन अस्लिम लहसन' के लिए, मैथिली भाषा में जीवकान्त को उनके काव्य संग्रह 'ताकेत अच्छी चिराई' के लिए तथा मलयालम भाषा में कोविलान वीवी अभ्याप्पन को उनके उपन्यास 'थट्टाकम' के लिए पुरस्कृत करने की घोषणा की गयी है.

मणिपुरी भाषा में के. प्रियोकुमार सिंह को उनकी लघु कथाओं 'नोंगदी तरक्खीदार' के लिए, मराठी में सदानन्द मोरे को 'तुकाराम दर्शन' (आलोचना) के लिए और नेपाली में मनप्रसाद सुब्बा को उनके काव्य संग्रह 'कुलदिन बस्ती' के लिए पुरस्कार दिया जायेगा.

उड़िया भाषा में चितरंजनदास को उनके लेख संग्रह 'बिस्वाकु गणराज्य' के लिए, पंजाबी में मोहन भंडारी को उनकी लघु कथाओं 'मून ली अरव' के लिए, राजस्थानी में शान्ती भारद्वाज राकेश को उनके उपन्यास 'उड़जा रे सुआ' के लिए, संस्कृत भाषा में आचार्य बच्चुलाल अवस्थी को उनके काव्य-संग्रह 'प्रतनिनी' के लिए इस महत्त्वपूर्ण पुरस्कार के लिए चुना गया है.

सिंधी भाषा में श्याम जय सिंहानी को उनके नाटक 'जलजलों' के लिए, तमिल में सा कन्दास्वामी को उनके उपन्यास 'विसारा नामक कमीशन' के लिए, तेलगू में बलीवदा कान्त राव को उनकी लघु कथाओं 'बलिवादा कान्ता राव कयालू' के लिए और उर्दू भाषा में निदा फ़ाज़ली को उनके काव्य संग्रह 'खोया हुआ सा कुछ' के लिए पुरस्कार दिया जायेगा. प्रत्येक पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं को पुरस्कार में एक ताम्रपत्र और 25 हज़ार रुपये का चेक दिया जायेगा.

हरिशंकर परसाई पुरस्कार '98 डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी को

हरदा. साहित्य की विधाओं का सम्मान करना समाज की परिपक्व रचनाधर्मिता का प्रतीक है. व्यंग्य के हस्ताक्षरों का सम्मान इस दिशा में उठाया गया एक प्रशंसनीय कदम है. बहुधा कहा जाता है कि हास्य व्यंग्य की गहरी समझ लेनी हो तो मध्य प्रदेश में जन्म लेना ज़रूरी है. मध्य प्रदेश के रचनाकारों ने उस ऊँचाई और श्रेष्ठता का प्रमाण सदैव ही दिया है. परसाई जी ने आज़ादी के बाद प्रेमचन्द की कमी को बखूबी पूरा किया और उनकी पीढ़ी के लेखकों की छाया में यहाँ के रचनाकारों ने व्यंग्य साहित्य को समृद्ध किया है. उपरोक्त बातें मुम्बई से पधारीं डॉ. सूर्यबाला ने व्यंग्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी को वर्ष 1998 का हरिशंकर परसाई स्मृति पुरस्कार प्रदान करते हुए कहीं. कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए साहित्यकार श्री ज्ञानरंजन ने श्री नरेन्द्र मौर्य एवं श्री श्याम साकल्ले के प्रयासों को समय की माँग के अनुसार विवेकपूर्ण पहल बतलाया.

कार्यक्रम के प्रारम्भ में भोपाल से आये प्रगतिशील चेतना के प्रखर कवि श्री राजेश जोशी ने परसाईजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर चर्चा करते हुए समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तनों में साहित्य की भूमिका के प्रश्न को जोड़ा. भोपाल, खंडवा, इन्दौर, देवास, नयी दिल्ली के मित्रों के बीच जनसत्ता मुम्बई के सहायक सम्पादक श्री धीरेन्द्र अस्थाना ने डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी के सम्मान को न्यायोचित कदम निरूपित किया. कार्यक्रम का संचालन व्यंग्यकार श्री श्याम साकल्ले ने किया. अतिथियों ने सम्पूर्ण कार्यक्रम के सूत्रधार श्री नरेन्द्र मौर्य की साहित्यिक अभिरुचि एवं प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव श्री राजेन्द्र शर्मा द्वारा इस कार्य को गति प्रदान करने के लिए बधाई दी.

हरदा के साहित्यकारों ने विगत दिनों बाबा नागार्जुन, के निधनोपरान्त आयोजित श्रद्धांजलि कार्यक्रम में नागार्जुन के हरदा प्रवास का भावपूर्ण स्मरण किया. इस अवसर पर डॉ. ओ. पी. यादव, श्री माणिक वर्मा, नरेन्द्र मौर्य, श्याम साकल्ले, चन्दन यादव, डॉ. धर्मेन्द्र पारे, दुर्गेश-नन्दन शर्मा, मीरा शर्मा एवं कामरेड सुन्दरसिंह सहित अनेक रचनाकारों ने बाबा के योगदान पर अपने विचार रखे. सतपुड़ा लोक संस्कृति परिषद के संयोजक श्री नरेन्द्र मौर्य ने नागार्जुन जी की स्मृति को यादगार बनाने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष ग्यारह हजार रुपये पुरस्कार देने की घोषणा की.

प्रस्तुति : श्याम साकल्ले

नवीन कुमार नैथानी को कथा अवार्ड

इंडिया इन्टरनेशनल सेंटर, दिल्ली में पिछले दिनों 'कथा' द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में प्रसिद्ध मूर्तिकार अमरनाथ सहगल ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के कथाकारों को 'कथा अवार्ड' 98 से सम्मानित किया. कथा अवार्ड के लिए प्रत्येक वर्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं से एक-एक कहानी का चयन किया जाता है एवं उन सबका अंग्रेजी में अनुवाद कराकर एक पुस्तक का प्रकाशन किया जाता है एवं कथाकारों को दो हज़ार रुपये एवं स्मृति चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है. वर्ष 97 में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न भाषाओं की एक-एक श्रेष्ठ कहानी का चयन कथा अवार्ड 98 के लिए किया गया था. हिन्दी भाषा का कथा अवार्ड 98 श्री नवीन कुमार नैथानी को उनकी कहानी 'चोर घटड़ा' के लिए दिया गया. यह कहानी 'कथादेश' के जुलाई 1997 के अंक में प्रकाशित हुई थी. इस वर्ष हिन्दी के अलावा असमिया, बंगला, गुजराती, कन्नड़, कोंकणी, मैथिली, मलयालम, मराठी, पंजाबी, राजस्थानी, तमिल, तेलगु एवं उर्दू भाषा में भी यह अवार्ड दिया गया. इस बार हिन्दी भाषा की कहानी का चयन कथाकार पंकज बिष्ट ने किया था.

वीणा सिन्हा को पाँचवाँ आर्य स्मृति साहित्य सम्मान

पाँचवाँ आर्य स्मृति साहित्य सम्मान युवा लेखिका वीणा सिन्हा को उनके उपन्यास की पांडुलिपि 'पथ प्रज्ञा' के लिए 16 दिसम्बर को त्रिवेणी सभागार में दिया गया. किताब घर प्रकाशन संस्था के संस्थापक पं. जगतराम आर्य की स्मृति में स्थापित इस वार्षिक साहित्यिक सम्मान के अन्तर्गत ग्यारह हज़ार रुपये की राशि तथा प्रतीक चिन्ह भेंट किया जाता है. इसके निर्णायक रामदरश मिश्र, गोविन्द मिश्र तथा रवीन्द्र कालिया थे.

इससे पहले यह सम्मान क्षितिज शर्मा को उनके उपन्यास 'उकाव', अलका पाठक को उनके व्यंग्य संग्रह 'समझौतों का देश', संजय खाती को उनके कहानी संग्रह 'पिंटी का साबुन' और नीलेश रघुवंशी को उनके कविता संग्रह 'घर निकासी' को मिल चुका है.

गोविन्द मिश्र को व्यास सम्मान

जाने माने कथाकार गोविन्द मिश्र को उनकी कृति 'पाँच आँगनों वाला घर' के लिए 'व्यास सम्मान' दिया गया. गत दिनों नयी दिल्ली में आयोजित एक सादे और गरिमापूर्ण समारोह में 'के. के. बिड़ला फाउंडेशन' के 'व्यास सम्मान' से केन्द्रीय गृहमंत्री लाल कृष्ण अडवानी ने श्री मिश्र को नवाजा. सम्मान में उन्हें ढाई लाख रुपये, प्रतीक चिन्ह, प्रशस्ति पत्र भेंट किया गया और शाल ओढ़ाकर सम्मानित किया गया. इस सम्मान से सम्मानित किये जाने वाले श्री मिश्र आठवें रचनाकार हैं.

इस अवसर पर श्री मिश्र ने कहा कि देशप्रेम की जो भावना कभी फाँसी पर झूल जाने को उत्प्रेरित करती थी वह जज़्बा अब धन्धा बन चुका है, और मैं एक रचनाकार की हैसियत से एक पुलिया पर बैठे हवा के बदलते इस रुख को बेबसी है सिर्फ़ निहार भर रहा हूँ. श्री मिश्र ने इस बात पर चिन्ता जाहिर की कि गम्भीर साहित्य के पाठक कम होते जा रहे हैं. श्री मिश्र ने कहा कि बड़े पुरस्कारों की जगह इस बात के

(शेष पृष्ठ 203 पर)

◆ कला ◆

अफ़ज़ल जो कलाकारों के कलाकार हैं

●

प्रभु जोशी

अफ़ज़ल हमारे कला-संसार के कदाचित् एकमात्र ऐसे 'अल्पज्ञात' नागरिक हैं, जिन्होंने अपनी उम्र के भरे-पूरे छह दशकों में शायद ही कभी किसी से अपनी कला के बारे में, किसी किस्म की टिप्पणी किये जाने की कोई रजीक-सी उम्मीद की हो. अलबत्ता, कहना चाहिये कि इसके विपरीत, उन्होंने अख़बारों के पृष्ठों पर फड़फड़ाती प्रशंसाओं और सरकारी, ग़ैर-सरकारी कला-प्रासादों के सभागारों में बजती तालियों की तरफ कान दिये बगैर खुद को निरन्तर अपने काम में जोते रखा. उन्होंने कभी भी, किसी से भी, कोई शिक़ायत भी नहीं की. न सत्ता से, न समाज से, ना ही कला की 'पहचान व परख' रखने वाली बिरादरी से. और, यदि उन्होंने कभी कोई शिक़ायत की भी तो वह सिर्फ खुद से ही कि 'आज पेंटिंग किये बग़ैर तूने कौर अपने गले के नीचे कैसे उतार लिया ?'

कहने की ज़रूरत नहीं कि आज आत्म-बखान की लत की मारी इस उजबक घड़ी में, जबकि नॉन-आर्टिस्ट भी कला के शिखर पुरुष बन गये हैं, तब लगभग हतप्रभ कर देने वाले अलभ्य धैर्य के साथ वे रंग को ही अपना अन्तरंग और अभीष्ट बनाये हुए हैं. मुझ कहने दीजिए, आदि से अन्त तक यदि उनका कुछ हो सकता था, या हो सकता है तो वह सिर्फ रंग ही है. क्योंकि रंग के अलावा और रंग से अलग उन्होंने अपना कोई और भरोसा ही नहीं रखा. या कहें कि तमाम भरोसों पर से ही उन्होंने अपना भरोसा उठा लिया था. देवास के महान संगीतज्ञ उस्ताद रज़बअली खाँ के लफ़्ज़ों की इमदाद लेते हुए अपने कथन को पुख़्ता करूँ तो यही कि 'उन्होंने धक्के खाये, चित्र बनाये; भूख रहे, चित्र बनाये. अमानुल हफीज, हर हाल में जो बनाया, वे चित्र ही बनाये.' बहरहाल, ऐसा इसलिए भी हुआ कि उन्होंने अपने एतमाद और एहतियात के चलते यह तय कर लिया था कि वे कला के 'उद्धारक' या 'आराधक' नहीं होंगे; बल्कि कला की टहल में ही अपने जीवन का समूचा अभिप्रेत खोजने वाले ईमानदार टहलकार होंगे. और, यह आकस्मिक नहीं कि ऐसे ही टहलकारों से ही उसकी साँस चलती रहती है. मुझे अच्छी तरह याद है मैंने पहली बार उन्हें सन् 65 में देवास में बड़े-बाजार की बायीं गली में, अँधेरे में अकेले मुड़ते हुए देखा था. वे चले जा रहे थे, अँधेरे में. खोये हुए से. उनके हाथों में एक खूब लम्बी टार्च थी. टार्च की लम्बाई देखकर लगता था, जैसे वे अँधेरे के हाथ-पैर तोड़ने निकले हों. वैसे, भी अफ़ज़ल उन दिनों अपनी काया से कलाकार कम, पहलवान अधिक दिखते थे. आर्मी के जूते, पुलिस की पैंट और मलमल का कुर्ता. कहीं कोई संगति नहीं. लेकिन, बाहर सारी असंगति सिर्फ इसलिए थी कि वे अपने भीतर की रचनात्मकता की संगति को बचाने की बदहवास कोशिश में थे. यही वजह है कि कागज या कैनवास पर लगाया गया, उनका एक-एक स्ट्रोक बताता है कि फार्म के स्तर पर अराजकता की सीमा तक पहुँचकर भी वे रचते हैं; उसमें 'कृति' का ही दर्ज़ा हासिल होना है. उनकी हर कृति ग़रेबान पकड़कर बताती है कि असली कला तथा 'आर्टिस्टिक-फ्लर्ट' में क्या भेद है. चमकीली व्याख्याओं की चलती चकाचौंध या

रतौंध में आप चाहे, 'कलर्ड-गारबेज़' को कितनी ही महानता से क्यों न नाप दें; लेकिन 'काल' एक दिन उन्हें चिथड़े-चिथड़े करके फेंक देगा. जे. स्वामीनाथन ने उनके काम को देखकर कहा था, 'ये काम इतना जबरदस्त है कि कोई आदमी एक जीवन में यह कर ही नहीं सकता.' रामकुमार भी उनके साथ थे. वे अफ़ज़ल के काम से अभिभूत हो उठे. उन्हें आश्चर्य हुआ कि देवास जैसी छोटी-सी जगह में इस तरह का रोमांचित कर देने वाला काम देखने को मिल सकता है.'

अभी एक दो वर्ष पूर्व ही उन्होंने अपने जीवन के साठ वर्ष पूरे किये. लेकिन, प्रदेश में कलाओं के घर के नाम से बहु-प्रचारित संस्थाओं का कभी ध्यान नहीं गया कि अफ़ज़ल के काम की कोई एकल प्रदर्शनी रखी जा सकती है. इसका कारण यह भी रहा कि ऐसी संस्थाएँ अकसर ही उसमें काम कर रहे लोगों की बौनी 'समझ' का शिकार बनी रहती हैं. वहाँ के कला-कर्मचारी अच्छे काम को आमन्त्रित करने को अपने अस्तित्व के खतरे के रूप में देखते हैं, नतीज़तन वहाँ अधकचरापन ही अपना रथ हाँकता रहता है. यों भी संस्थागत व्यवहार की चतुराई और सीमा भी यही होती है कि वे छछिया भरी छाछ पर नाचते रह सकने वाली आज्ञाकारी कतार को वशीभूत किये रखना, अपनी सुविधा मानती है. फिर उन्हें अपने बौद्धिक उपकरणों पर भी काफी भरोसा बना रहता है कि वे अन्ततः उन सबको 'सुजान' बना लेंगे. ऐसा न भी हुआ तो कम-अज-कम 'सुजान' बन गये हैं कि मिथ्या भ्रान्ति तो पैदा कर ही

चित्रकार : अफ़ज़ल

देती है. अतः अफ़ज़ल की अगर इरादतन उपेक्षा हुई है तो भी यह अनपेक्षित नहीं है. प्रथम श्रेणी की प्रतिभाएँ कई बार ऐसे ही दफनाये जाने के कुचक्र का सामना करती आयी हैं, यह इतिहास का सबब है.

बहरहाल, अफ़ज़ल अपनी तरह के अकेले कलाकार हैं. ऐसे कलाकार का काम सदियों तक ईमानदार कलाकार को रचनात्मक चुनौती देता है. हालाँकि वे शिखर पर नहीं हैं, लेकिन, 'शिखरस्थ', की सचाई अच्छी तरह से जानते हैं कि असली भूमिहीन तो वही होता है, पर वे अपनी भूमि पर हैं. फिर लोग चाहे उन्हें भूमिगत बनाने की कोशिश करें; लेकिन एक समय ज़रूर आता है, जब लोग कब्र से कंकाल को उखाड़ते हैं और माला पहनाते हैं. और, अफ़ज़ल के काम में यह पूरा-पूरा सामर्थ्य है कि इतिहास उनकी तरफ से हमेशा आँख फेरे नहीं खड़ा रहेगा. अफ़ज़ल के विषय में बोलते हुए शब्दों का गला भर आने की बात नहीं है, ना ही डबडबायी भाषा में उनके मूल्यांकन का प्रश्न उठाने की बात है; क्योंकि अफ़ज़ल अभी भी उसी तरह अद्वितीय दक्षता के साथ लगभग रोज ही काम करते हैं. उनके पास अपने 'रचे गये' का अकूत भंडार हैं, और वह जब भी कला पारखियों की आँख के नीचे से गुजरेगा, वे सचमुच ही फटी की फटी रह जायेंगी. उनकी भाषा, तब समय के छद्म को कोसे बगैर नहीं रहेगी. मैं उनसे जब भी मिलता हूँ, इस उम्र में भी उनके हाथ हमेशा की तरह रंग से सने मिलते हैं. कभी-कभी तो भद्रजन उनके टरपेंटाइन तथा लिसिंड ऑइल की गन्ध से भरे हाथों को देखकर, दूर से ही नमस्कार कर लेते हैं. उच्च-भू वर्ग के लोग उनके हाथों को देखकर उनसे हाथ मिलाने का इरादा ही छोड़ देते हैं. बहरहाल, मुझे पक्का यकीन है जीवन की तरफ भवें तानकर रहने वाली मृत्यु भी उनके रंग सने हाथों को देखकर दूर से ही गुजर जायेगी. हाथ नहीं मिलायेगी. और अफ़ज़ल साहब भी अपनी उम्र की सदी पूरी करने तक उस वाश-बेसिन की तरफ झाँकने की भी फुरसत नहीं पा सकेंगे, जो उनके हाथ से लगे रंग को छुड़ा सके. आमीन !.......

(पृष्ठ 201 का शेष)

प्रयास होने चाहिए कि अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ निकलें और उनके सम्पादक निष्ठावान हों. यह काम सेवा और उद्दात भावना से किया जाना चाहिए. उन्होंने इस बात पर तकलीफ जाहिर की कि कभी सेवा और त्याग का पर्याय रहा देशप्रेम अब 'धन्धा' बन चुका है.

अपने अध्यक्षीय भाषण में केन्द्रीय गृहमंत्री लाल कृष्ण अडवानी ने कहा कि साहित्यिक और साहित्यकारों को सम्मानित किये जाने वाले समारोहों में राजनेताओं को आमन्त्रित किये जाने की परम्परा कम होनी चाहिए. सम्मान समारोह में फाउंडेशन के कृष्णकान्त बिड़ला, उनकी पुत्री शोभना भरतिया, पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष प्रोफेसर भोला भाई पटेल, समिति के सदस्य सचिव विशन टंडन आदि उपस्थित थे.

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक नहीं रहे

हिन्दी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का 24 नवम्बर 98 को दिल्ली में देहान्त हो गया. वे 86 वर्ष के थे. डॉ. स्नातक काफी दिनों से बीमार चल रहे थे.

23 दिसम्बर 1912 में मथुरा के निकट के एक गाँव में जन्मे डॉ. स्नातक ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं की 26 पुस्तकों की रचना की. साथ ही आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया. डॉ. स्नातक को भारत-भारती और हिन्दी अकादमी के शलाका सम्मान जैसे प्रतिष्ठित पुरस्कारों से भी सम्मानित किया गया. इसके अलावा वे भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय सहित दर्जनों सरकारी और ग़ैर-सरकारी संगठनों से सम्बद्ध रहे.

नीलिमा सिन्हा को रामाकान्त स्मृति पुरस्कार

वर्ष 98 का रामाकान्त स्मृति पुरस्कार डॉ. नीलिमा सिन्हा को उनकी कहानी 'कुल्हाड़ी, गीदड़ और...' के लिए दिया गया. यह पुरस्कार नये रचनाकारों की कहानियों को रेखांकित करने के उद्देश्य से दिया जाता है जिसमें ढाई हजार रुपये और प्रशस्ति पत्र दिया जाता है. डॉ. सिन्हा को वर्ष '97 में प्रकाशित कहानी पर यह पुरस्कार दिया गया जिसके निर्णायक कवि-कथाकार विष्णु नागर थे.

किताबघर प्रकाशन

कुछ प्रमुख उपन्यास

पथ प्रज्ञा
वर्ष 1998

❑ वीणा सिन्हा

मिथकीय पृष्ठभूमि वाले इस उपन्यास की मुख्यधारा पुरुष की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए नारी का होम होना है । यह उपन्यास पाठक को अपने देश की प्राचीन संस्कृति के परिवेश से गुजारते हुए, खासे तीखेपन से स्त्री के 'इस्तेमाल' को उजागर करता है । अपने देश की संस्कृति के बारे में उन पाठकों को प्रशिक्षित भी करता है जो उससे अनभिज्ञ हैं ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 164 *मूल्य* : 100.00

एक और चन्द्रकान्ता ❶

❑ कमलेश्वर

सुविख्यात साहित्यकार तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के चर्चित लेखक कमलेश्वर की कलम से निकली 'एक और चन्द्रकान्ता' की महाकथा के प्रकाशन का पहला भाग । खत्री जी के उपन्यास से 'चन्द्रकान्ता' सीरियल जिस तरह अलग था, उसी तरह सीरियल से 'एक और चन्द्रकान्ता' का यह वृत्तांत अलग है ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 200 *मूल्य* : 125.00

प्रति 54 मिनट

❑ महाश्वेता देवी

भारत की शीर्ष साहित्यकार के इस उपन्यास में, इस देश में प्रति 54 मिनट पर एक स्त्री के बलात्कार का शिकार हो जाने की कथा को विविध शक्तियों, तथ्यों की रोशनी में देखा गया है । सामाजिक प्रतिबद्धता में अद्वितीय कृति । हिन्दी में अनुवाद किया है डॉ० माहेश्वर ने ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 95 *मूल्य* : 60.00

वाह कैंप

❑ द्रोणवीर कोहली

देश-विभाजन में शरणार्थी हो जाने की अप्रत्याशित एवं अनिवार्य त्रासदी को भोगते जनसमुदाय की मर्मांतक पीड़ा तथा अनंत वेदना को पात्रों की जबानी कहता यह उपन्यास, लेखक के विराट रचना-कर्म और कौशल की कहानी भी कहता है ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 416 *मूल्य* : 250.00

चलती रहो अनुपमा

❑ अभिमन्यु अनत

उपन्यास में उठाया गया है एक विषम विषय, मगर भाषा की सहजता और रचना की पूर्णाभिव्यक्ति के साथ । स्त्री-पुरुष के परस्पर संबंधों को यह उपन्यास नई रोशनी में देखता है ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 339 *मूल्य* : 200.00

पापा के जाने के बाद

❑ प्रकाश मनु

इस प्रायः कला-विरोधी समय में, कलाकार के अंतरतम अँधेरों और पीड़ाओं को शब्दों के रंगों में चित्रित करता है यह उपन्यास । मनुष्य के पक्ष में एक पुरजोर बयान ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 254 *मूल्य* : 150.00

आई०पी०सी० 375
वर्ष 1997

❑ महाश्वेता देवी

प्रख्यात उपन्यासकार ने इस कृति में वर्तमान के 'अप्रत्याशित' सामाजिक-राजनीतिक जीवन और इस जीवन में भटके-सिमटे युवावर्ग की भूमिका पर प्रखरता से प्रकाश डाला है । उपन्यास का अनुवाद किया है डॉ० माहेश्वर ने ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 128 *मूल्य* : 80.00

एक पत्नी के नोट्स

❑ ममता कालिया

चटपटी भाषा में कही गई दो आधुनिक प्रेमी-प्रेमिका उर्फ पति-पत्नी उर्फ स्त्री-पुरुष की अटपटी प्रेम-कथा । उच्चमध्यवर्गीय जीवन में पनपती बौद्धिकता, अहम्मन्यता और खुलेपन के बिखराव तथा समभाव की रोचक व्यथा-कथा ।

आकार : क्राउन *पृष्ठ* : 70 *मूल्य* : 40.00

प्रेमी-प्रेमिका संवाद

❑ शरद देवड़ा

जिन्दगी के लिए अहम मगर घोषित वर्जित विषय—काम मनोविज्ञान । संवादात्मक कथाशैली में लिखा नितांत अलग एवं उपयोगी कथा-प्रयोग । यह कृति पाठक को मात्र शिक्षित ही नहीं, दीक्षित भी करती है । पठनीयता से भरपूर ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 300 *मूल्य* : 150.00

महाराज

❑ राम अवतार अग्निहोत्री

एक ऐसे व्यक्ति का औपन्यासिक जीवन-वृत्तांत, जिसके व्यक्तित्व में असाधारण और सामान्य दोनों का ही अद्भुत सम्मिश्रण है । पठनीयता इस कृति का अतिरिक्त गुण है ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 104 *मूल्य* : 75.00

कोकिला

❑ रमणलाल वसन्तलाल देसाई

गुजराती के लोकप्रिय कथाकार के इस उपन्यास में एक आदर्श नारी जीवन का यथार्थ चित्रण है । कोकिला इस उपन्यास की प्राण है । अपने पति की सच्चरित्रता और नैतिक गुणों में पूर्ण आस्था रखकर वह संसार में अपने जीवन-पथ पर अनेकानेक कष्टों का बुद्धिमानी और धैर्यपूर्वक मुकाबला करते हुए आगे बढ़ती है ।

आकार : क्राउन *पृष्ठ* : 124 *मूल्य* : 50.00

विषय-पुरुष

❑ मस्तराम कपूर

स्त्री-स्वतंत्रता के दमन की पुरुष-प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में लिखा गया यह उपन्यास सशक्त कहानी के साथ-साथ एक वैचारिक प्रयोग भी है । इस पुरुष-समाज को यह कृति एक चुनौती देती भी प्रतीत होती है ।

आकार : डिमाई *पृष्ठ* : 151 *मूल्य* : 100.00

किताबघर प्रकाशन 24, अंसारी रोड, नयी दिल्ली-2 फोन : 3271844, 3281244 (फैक्स)

अगला अंक

मार्च 1999

- मैं और मेरा समय : **कथाकार प्रियवंद**
- कहानियाँ : **मनोहर श्याम जोशी, विजय, शैलेन्द्र सागर, गुरुदीप खुराना, नीलिमा सिन्हा, जगजीत बराड़ और वर्गिलो पिनेरा (क्यूबा)**
- व्यंग्य : **गौतम सान्याल**
- हिन्दी कहानी का प्रारम्भिक दौर : **खगेन्द्र ठाकुर**
- कविताएँ : **दिनेश कुमार शुक्ल और विनोद विट्ठल**
- फिल्म : **विष्णु खरे**
- अखबारनामा : **पंकज बिष्ट**
- कागद की लेखी : **राजेन्द्र शर्मा**
- नाटक : **अरविन्द गौड़**
- यायावर की डायरी : **सत्यनारायण**
- सोचो, साथ क्या जायेगा : **यानिस रित्सोस की कविताएँ** (प्रस्तुति : **विजय कुमार**)
- समीक्षा : **आलोक धन्वा के कविता-संग्रह पर ललित कार्तिकेय**

R.N. 37114/81 KATHADESH MONTHLY JANUARY-FEBRUARY 1999 PRICE 40/-